

ओ३म्

मनुस्मृति भाषानुवाद का

विषयसूचीपत्र

मनोभाषानुवादस्य तुलसीपुत्रशर्मणा (स्वामिना)

अनुक्रमाणिका सूची विमलप्रकाशमुदीर्यते ॥ १ ॥

भूमिका में-

विषय

पुस्तक के भाषानुवाद का कारण	पृष्ठ २७
जिन ३० पुस्तकों से पाठ की सहायता ली है उन के नगरों तथा स्वामियों के नाम	२७
किस २ अध्याय में कितने २ श्लोक प्रक्षिप्त हैं	२८
मनु के आरम्भ में एक नवीन श्लोक १९ पुस्तकों में मिला है	२८
अध्याय १ से २ तक में जो २ श्लोक किन्हीं २ पुस्तकों में हैं	२९-३२

प्रथमाध्याय में-

श्लोक

मनु जी से ऋषियों का धर्मज्ञानार्थ प्रश्न	१-३
मनु जी का उत्तर देने का आरम्भ	४
जगत् की उत्पत्ति से पूर्व अवस्था	५
परमेश्वर का जगत् को उत्पन्न करना	६-९
नारायण शब्द का निर्वचन	१०
ब्रह्मा शब्द का वाच्यार्थ	११
द्युलोक, भूलोक, अन्तरिक्ष, दिशा, जलस्थान की उत्पत्ति	१२-१३
मन और अहङ्कार, महत्तत्त्व, ३ गुण, ५ इन्द्रियों की उत्पत्ति	१४-१५
अन्य दैवी सृष्टि	१६-२२
वेदोत्पत्ति	२३
काल, कालविभाग, नदी, समुद्रादि की उत्पत्ति	२४
तप, वाणी रति आदि की उत्पत्ति	२५-३०
ब्राह्मणादि चार वर्णों की उत्पत्ति	३१
स्त्री पुरुषों और विराट् की उत्पत्ति	३२

विषय	श्लोक
"मनु और मरीचि आदि १७ प्रजापतियों और अन्य ७ मनुओं तथा यज्ञ राक्षसादि की उत्पत्ति प्रक्षिप्त श्लोकों में" प्रक्षिप्त	३३-४१
सब के धर्म वर्णनार्थ मनु की प्रतिज्ञा	४२
१ श्लोक जो ३ पुराने पुस्तकों में मिला है	०
जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्जों की उत्पत्ति	४३-४७
मनु ने अपनी उत्पत्ति के साथ जगदुत्पत्ति का उपसंहार किया है	४९
उत्पत्ति और प्रलय की अवस्थाओं का वर्णन	४२-४७
"मनु का कथन कि परमेश्वर ने मुझे यह शास्त्र पढ़ाया, मैंने मरीच्यादिको, इन में भृगु तुम्हें सुनावेगा" प्रक्षिप्त	५८-५९
"भृगु ने ७ मनुओं का वर्णन और नाम बताये" प्रक्षिप्त	६०-६३
निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त, मानुष, दैव, पित्र्य, दिन, रात्रि आदि काल के परिमाण	६४-७३
मन, आकाश, वायु आदि तत्त्व और इन के गुणों का वर्णन मन्वन्तर का परिमाण	न ७४-७८ ७९-८०
"युगों का प्रभाव" प्रक्षिप्त	८१-८६
ब्राह्मणादि वर्णों के कर्म	८७-८९
ब्राह्मण की प्रशंसा	९०-९१
प्राणियों में कौन किस से श्रेष्ठ है	९२-९५
पुनः सब में ब्राह्मण की श्रेष्ठता	९६-९७
"भृगु का कथन कि यह शास्त्र मनु ने बनाया और इस के पढ़ने का अधिकार और फल" प्रक्षिप्त	९८-१०१
आचार की प्रशंसा	१०२-१०७
"मनुस्मृति का संक्षिप्त सूचीपत्र" प्रक्षिप्त	१०८-११० १११-११९

द्वितीयाध्याय में-

धर्मोपदेश की प्रतिज्ञा	१
सकामता, निष्कामता का विवेक	२-५
वेद, स्मृति, शील, आत्मतुष्टि का धर्म में प्रमाण	६
"भृगुवचन से वेद प्रशंसा" प्रक्षिप्त	७
श्रुति स्मृति में कहे धर्म की प्रशंसा, न मानने की निन्दा	८-१३

विषय	इलाक-
श्रुतिद्वैध में दोनों की प्रमाणता	१४-१५
यहां दो विशेष श्लोक ३ पुस्तकों में मिले हैं	०
इस शास्त्र में गर्भाधानादि वेदोक्त कर्म धर्म का ही वर्णन है	१६
आर्यावर्त की उत्तर दक्षिण सीमा	१७
सदाचार का लक्षण	१८
एक अधिक श्लोक मेधातिथि के भाष्य से मिला	०
ब्राह्मण देश की सीमा	१९
इसी देश के ब्राह्मणों से सब देशों के लोग पढ़ें	२०
मध्यदेश की सीमा	२१
आर्यावर्त की पूर्व पश्चिम सीमा	२२
यज्ञयोम्य देश का लक्षण	२३
ऊपर के पवित्र देशों में द्विजों को वास करना चाहिये	२४
वर्णधर्मवर्णन की प्रतिष्ठा	२५
संस्कारों की प्रशंसा और आवश्यकता तथा फल	२६-२८
जातकर्म, नामकरण संस्कार	२९-३३
निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म संस्कार	३४-३५
उपनयन का काल और कालातिक्रम का दोष	३६-४०
चर्म, मेखला, उपवीत और दण्डों के वर्णन	४१-४८
भिक्षा का प्रकार, भोजन	४९-५१
“ किस ओर मुख करके भोजन का क्या फल है ” प्रश्न	५२
एक श्लोक यहां ३ पुस्तकों में अधिक है	०
भोजन का प्रकार, आचमनादि करना	५३-५८
ब्राह्मादि तीर्थों की संज्ञापरिभाषा	५९
आचमन, मुखप्रक्षालनादि का वर्णन	६०-६२
उपवीती, निवीती आदि संज्ञा	६३
मेखलादि टूटने पर नवीन का धारण	६४
केशान्त संस्कार का समय	६५
“ स्त्रियों के इन संस्कारों में मन्त्र न पढ़ें ” प्रश्न	६६
“ केवल विवाह ही स्त्रियों का वेदमन्त्रों से हो ” प्रश्न	६७

विषय	श्लोक-
उपनयन का उपसंहार	६८
शिष्य को गुरु किस प्रकार पढ़ाया करे, और शिष्य पढ़ते समय कैसा व्यवहार करे	६९-७५
ओंकार और गायत्री के ३ पादों के व्याहृतिपूर्वक जप का फल, त्याग की निन्दादि	७६-८४
विधियज्ञादि से जपयज्ञ की श्रेष्ठता	८५-८७
इन्द्रियों के नियंत्रण की कर्तव्यता, इन्द्रियों की गणना	८८-९३
भोग से काम शान्त नहीं होते, प्रत्युत बढ़ते हैं, इत्यादि से जितेन्द्रिय होने की आवश्यकता	९४-१००
प्रातः सायं सन्ध्या की कर्तव्यता, त्याग का दोष	१०१-१०४
वेदोपकरणादि में अनध्याय नहीं	१०५-१०६
स्वाध्याय का फल, समावर्तन तक अत्याज्य कर्म	१०७-१०८
आचार्यपुत्रादि १० धर्मानुसार पढ़ाने चाहियें	१०९
पठन पाठन वा उपदेश में नियम	११०-११६
लौकिक वा वैदिक विद्यादाला को प्रथम प्रणाम करे	११७
वेदपाठी अकर्मण्य से उत्पन्न कर्मनिष्ठ की प्रशंसा	११८
बड़ों की श्रद्धासनादि पर न बैठे इत्यादि	११९
बड़ों को प्रत्युत्थान की आवश्यकता	१२०
अभिवादन का फल, प्रकार न जानने की निन्दा, प्रत्यभिवादन का विधान	१२१-१२६
ब्राह्मणादि से कुशलादि भिन्न २ शब्दों से प्रश्नभेद	१२७
दीक्षित का नाम लेकर संभाषण न करे	१२८
परपत्नी, मामा, चाचा आदि सम्बन्धियों से अभिवादनादि में विशेष	१२९-१३३
पुरवासी आदि से कैसे व्यवहार माने	१३४
ब्राह्मण की आयु थोड़ी होने पर भी उच्चता	१३५
धन, बन्धु, आयु, कर्म, विद्या के कारण मान्यभेद	१३६-१३७
कौन किस को मार्ग छोड़े	१३८-१३९
आचार्य, उपाध्याय, गुरु, ऋत्विज के लक्षण	१४०-१४३
गुरु से द्रोह न करे	१४४

विषय	श्लोक
आचार्य, पिता माता आदि में किस की कैसी उच्चता है	१४५-१४७
‘आङ्गिरस कवि ने पितरों को अज्ञानी होने से पढ़ाया और पुत्र कहा’	१४९-१५२
ज्ञान से वृद्धता होती है, न कि आयु आदि से	१५३-१५४
ब्राह्मणादि भिन्न भिन्न वर्णों में भिन्न भिन्न कारण से बड़प्पन है	१५५
घाल पकने से वृद्ध नहीं होता, किन्तु विद्या से	१५६
विना पढ़े ब्राह्मणकुलोत्पन्न की निन्दा	१५७-१५८
मधुरवाणी से ही उपदेशादि करे, कटु से नहीं	१५९-१६१
ब्राह्मण मान की इच्छा न करे इत्यादि	१६२-१६४
द्विजों को वेदाध्ययन स्वाध्यायादि की आवश्यकता	१६५-१६८
द्विजों के तीन जन्म वेदोक्त हैं	१६९
दूसरे जन्म में माता गायत्री, पिता आचार्य है	१७०
आचार्य को पिता क्यों कहते हैं कि वह वेद देता है	१७१
उपनयन से पूर्व वेदाध्ययन का अनधिकार	१७२-१७३
व्रत समय भी अपने अपने विहित दण्डमेखलादि का चारण	१७४
ब्रह्मचारी को गुरुकुलवास के ये नियम सेवनीय हैं	१७५-१८२
भिक्षा और होम की आवश्यकता	१८३-१८८
भिक्षा की प्रशंसा में दो अधिक श्लोक-८ पुस्तकों से मिले	०
दैवपित्र्यादि कार्य में व्रत के तुल्य भोजन करे	१८९
यह (१९० का) नियम ब्राह्मण को ही है	१९०
गुरु के बिना कहे भी विद्योपार्जन में यत्न करे	१९१
गुरु से पढ़ते समय तथा अन्य समय कैसे बैठना उठना आदि करे	१९२-२००
१ पुस्तक में यहां १ अधिक श्लोक मिला है	०
गुरुनिन्दकादि की निन्दा	२०१
गुरु को दूर से प्रणाम न करे, न स्त्री के समीप में, किस और	
बैठे इत्यादि नियम	२०२-२०४
गुरु के गुरु से कैसे वर्त्ते, इत्यादि	२०५-२०८
गुरुपुत्र के चरण दाबना आदि न करे	२०९
गुरुपत्नियों के साथ किस प्रकार व्यवहार सेवा करे	२१०-२१७
गुरु की शुश्रूषा से विद्या की प्राप्ति	२१८
जटा रक्खे या सब मुंडावे, ग्राम में सूर्यास्त न होने दे, सूर्योदय	

विषय	श्लोक
तक सोता न रहे, सोवे तो प्रायश्चित्त	२१९-२२१
आचमनादि का नियम रखे, सब से उत्तम बात सीखे	२२२-२२३
त्रिवर्ग किन को कहते हैं	२२४
माता पिता आचार्यादि का अपमान न करे, दम की प्रतिष्ठा	२२५-२३७
विद्या, धर्म, स्त्री, नीच से भी ग्रहण करले	२३८-२४०
आपत्काल में ब्राह्मण से भी पढ़े इत्यादि	२४१-२४४
कोई वस्तु गुरु से पूर्व न भोगे, परन्तु गुरु की आज्ञा से स्नान	२४५-२४६
पूर्व भी करले	२४७-२४८
आचार्य के मरने पर गुरुपुत्रादि का मान्य करे इत्यादि	२४९-२४८

तृतीयाध्याय में

३६ वर्ष आदि का ब्रह्मचर्य रख कर वेद पढ़ कर जो गृहस्थ बने,	
उस समावर्तित को गोदान	१-४
सपिण्डादि स्त्रियों विवाह के अयोग्य हैं	५-११
“प्रक्षिप्त श्लोकों में असवर्णा विवाह के नियम”	१२-१३
शूद्रा आदि हीन स्त्री से विवाह न करे	१४-१५
शूद्राविवाह से पतित होने में अनेक मत	१६
शूद्रा से विवाह की निन्दा	१७-१८
आठ प्रकार के विवाह और उन के नाम	२०-२१
“आठ विवाहों में से किस वर्ण को कौन कौन विवाह धर्म्य है”	२२-२६
आठों विवाहों के भिन्न भिन्न लक्षण	२७-३४
ब्राह्मणों को कन्यादानसंकल्प की प्रशंसा	३५
“इन विवाहों के गुण दोषों के वर्णन में भृगु की प्रतिष्ठा” प्रक्षिप्त	३६
ब्राह्मणादि ४ विवाहों के पुत्रों की न्यूनाधिक प्रशंसा	३७-४२
“असवर्णा विवाह के विधान” प्रक्षिप्त	४३-४४
स्त्रियों के ऋतुकाल का सविस्तर वर्णन	४५-५०
कन्या के मूल्य लेने की निन्दा और निषेध	५१-५४
स्त्रियों की पूजा की प्रशंसा और निरादर की निन्दा	५५-६२
कुलीनता की हानि और उन्नति के कारण	६३-६६
पञ्चमहायज्ञों का वर्णन	६७-७५

विषय	श्लोक
अग्नि में दी हुई आहुति से जगदुपकार में युक्तिप्रमाण	96
गृहाश्रम की श्रेष्ठता	99-100
स्वाध्यायादि से ऋष्यादि की पूजा	101-103
वैश्वदेव यज्ञ की 10 आहुतियों और 16 बलि	104-109
कुत्तों आदि के 6 भाग, वैश्वदेव की प्रशंसा	109-113
अतिथियज्ञ की विधि, फल, अतिथिलक्षणादि	114-118
सद्योविवाहिता आदि स्त्रियों को अतिथि से पूर्व ही भोजन दे देना	118
इन सब को भोजन कराकर ही स्वयं भोजन करे	119-120
इस के बिना स्वयं भोजन करना पाप भोजन है	120
राजादि घर आवें तौ मधुपर्क सत्कार	120-121
सायङ्काल के भोजन में वैश्वदेवकर्म	121
“ नृतकआहु का प्रक्षिप्त वर्णन ”	122
“ आहु में कैसे ब्राह्मण जिमाने, कैसे नहीं ”	123-124
“ नाते सम्यन्ध वालों को आहु में जिमा सकते हैं ”	125-126
“ आहु में निन्दित अभोजनीय लोग ”	126-127
अयोग्य के जिमाने का दुष्ट फल	127
परिवेत्ता तथा परिवित्तिके लक्षण और उन के जिमाने का दोष	128-129
दिधिषूपति, कुण्ड, गोलक के लक्षण	130-131
“ किस प्रकार के अपाङ्ग्य को जिमाने में क्या 2 दोष है ”	132-133
“ पङ्क्तिपावन ब्राह्मणों के वर्णन ”	134-135
“ आहु में निमन्त्रण और निमन्त्रित के नियम ”	136-137
“ किन 2 मांसादि से कितने 2 दिन तक पितृवृत्ति होती है ”	138-139
“ त्रयोदशी आहुति विशेष आहुतियों का वर्णन ”	140-141
यसु रुद्र आदित्य संज्ञक पितर	142
यज्ञशेष भोजन की विधि और प्रशंसा	143
द्विजों में मुख्य ब्राह्मण की वृत्ति का प्रतिज्ञाकरण	144

चतुर्थाऽध्याय में-

आयु का दूसरा भाग गृहाश्रम में लगावे

विषय

जिन से किसी को कष्ट न हो वा अल्प कष्ट हो उन ऋत अमृत आदि वृत्तियों से जीवे	२-८
वृत्ति (जीवन) में एक श्लोक एक पुस्तक से मिला	०
कोई ब्राह्मण ६, कोई ३, कोई २ और कोई १ ही कर्म करके जीविका करते हैं, अन्तिम को पर्वान्तरादि इष्टि कर लेना ही पर्याप्त है	८-१०
ब्राह्मण लोकवृत्त न करे, संतोष से रहे	११-१२
जीविका में ब्राह्मण को स्वाध्यायादि के विघ्न घटाने चाहियें और नित्य शास्त्राभ्यास रखना	१३-२०
एक पुस्तक में शास्त्राभ्यासार्थ १ श्लोक पाया गया है	०
पशुयज्ञ न त्यागे और ज्ञानी के ज्ञान में ही ५ यज्ञ	२१-२४
अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास का समय और कर्त्तव्यता	२५
“ नवसुर्येष्टि और पशुयज्ञ प्रक्षिप्त ”	२६-२८
अपूजित अतिथि न रहने पावे, अतिथि कैसे न माने, कैसे माने	२९-३१
बलिवैश्वदेव भी यथाशक्ति अवश्य करना	३२
स्नातक विघ्न के दान लेने आदि में नियम और दण्डादि धारण रहने सहने के प्रकार	३३-३८
रजस्वलासे गमन न करना तथा स्त्री के साथ अन्य व्यवहारों का नियम	४०-४४
चार पुस्तकों में १ अधिक श्लोक मिला है	०
एक वस्त्र पहने भोजन न करे, न नम्र होकर करे, कई स्थानों में मल भूत्र त्याग का निषेध और विधि	४५-५२
अग्नि को मुख से न फूँके इत्यादि नियम	५३-५४
सन्ध्याकाल के निषिद्धकर्म, पुष्पमाला न उतारना	५५
जल में मल, भूत्र, थूक आदि न करे	५६
अकेले शयनादि का निषेध, दहिने हाथ के काम,	५७-५८
३ पुस्तकों में १ श्लोक मिला है कि अकेला इतने काम न करे	०
बछड़े की दूध पिलाती गौ को न रोके इत्यादि छोटे छोटे नियम	५९
अधार्मिक ग्रामादि में वास न करे	६०-६१
भोजन, पान, नाचना, गाना, पाँव धोना, जूता, उपवीत, पुष्पमालादि के नियम	६२-६६

विषय	श्लोक
निषिद्ध और विहित सवारी	६७-६८
धूप, धुवां, आसन के नियम, तृण तोड़ना आदि वृथा चेष्टा का निषेध	६९-७१
उद्वेगता से बात न करना, बैल की पीठ पर न चढ़ना, विना द्वार न घुसना, रात्रि में वृक्षच्छाया का त्याग, फाँसे न खेलना, शय्या आसन वा हाथ पर भोजन न करना, सूर्यास्त समय तिलयुक्त भोजन न करना, नंगे न सोना, झूठे मुंह बाहर न जाना, गीले पाँव खाना, पर सोना नहीं	७२-७६
विना देखे दुर्ग में न जाना, मल मूत्र न देखना, नदी की बाहु से न तिरना, बाल आदि पर न बैठना, चखडालादि में न बसना	७७-७९
“ शूद्र को सुमति न दे । इत्यादि ” प्रतिषेध	८०-८१
दोनों हाथों से शिर न खुजावे, शिर में चोट न मारे इत्यादि	८२-८३
राजा का प्रतिग्रह लेने वाला तामिस्रादि २१ नरकों में जाता है	८४-८९
ब्राह्म मुहूर्त में सोकर जगना आदि	९२-९४
आवणी वा भाद्री पौर्णमासी में वेदाध्ययनारम्भ, पौषी वा माघी में त्याग, उपरान्त शुक्ल पक्ष में वेद, कृष्णपक्ष में अन्य ग्रन्थ पढ़ना, वेदपाठ में निन्दित स्थान	९५-१००
अनध्यायों का वर्णन	१०१-१२७
अमावास्या, अष्टमी, पौर्णिमा, चतुर्दशी में मैथुनत्याग, भोजनोत्तरादि काल में स्नानत्याग, गुरु आदि की छाया न लांघना, चतुष्पथ सेवन का निषेध, उबटनादि पर न बैठना	१२८-१३२
वैरी आदि के पास न जाना, परस्त्रीगमनत्याग, क्षत्रियादि का तथा अपना अपमान न करना, सत्य प्रिय बोलना, बहुत अन्धेरे में न चलना, हीनाङ्ग आदि को न चिड़ाना, झूठे हाथों ब्राह्मणादि को न छूना इत्यादि	१३३-१४४
मङ्गलाचारादियुक्त रहना, जप हवन नित्य करना, वेदाभ्यास परम तप है, वेदाभ्यासादि ४ उपायों से पूर्वजातिज्ञान, सावित्र होम, शान्ति होम, अष्टका अन्वष्टका आहुती की कर्तव्यता	१४५-१५०

विषय	श्लोक
रहने के स्थानादि से दूर भूत्रादि करना, स्नानादि कई कार्य दो पहर से पहले ही करना, पर्वों पर धार्मिकादि के दर्शनार्थ जाना, वृद्धों को अभिवादन, जातों के पीछे जाना, सदाचार का सेवन और फल, दुराचारी की निन्दा	१५१-१५८
परवश कामों को खवश करना, आचार्यादि को दुःख न देना, नास्तिकत्वादि न करना, दूसरों को न मारें, शिष्य पुत्र की ताड़ना का नियम, ब्राह्मण को धमकी न देना आदि, अधार्मिकादि सुख नहीं पाते, अधर्म कभी भी न करे, अधर्म शीघ्र नहीं तौ देर में अवश्य नाश करेगा, इत्यादि	१५९-१७६
हाथ पांव नेत्रादि से चपलता न करे, वाप दादों के सम्मार्ग पर चले, ऋत्विज् आदि से विवाद न करे	१७७-१८१
आचार्य आदि ब्रह्मलोकादि के स्वामी हैं	१८२-१८५
प्रतिग्रह लेने से बचे, प्रतिग्रह के नियम	१८६-१८९
बैडालव्रतिकादि को दान न देना इत्यादि	१९०-२००
पराये जलाशय में न नहाना, विना दिये यानादि वर्तने वाला स्वामी के चतुर्थांश पाप का भागी है, नद्यादि में स्नान करना, यमों का अवश्य सेवन करना, यम नियमों की गणना	२०१-२०४
अश्रोत्रियादि के रचित यज्ञ में भोजन न करना, मदमत्तादि का भोजन, गौ आदि का सूँघा भोजनादि, घौरादि का भोजन, सूतकान्त, असत्कृतादि अन्न और पिशुनादि का अन्न त्याज्य हैं	२०५-२१७
त्याज्यान्न भक्षण के भिन्न २ दुष्फल, निन्दा, ब्राह्मणान्न की प्रशंसा, श्रद्धा से दिये की प्रशंसा	२१८-२२६
दान प्रशंसा, भिन्न २ दानों के भिन्न २ फल, ब्रह्मदान की श्रेष्ठता, तप से गर्व न करना इत्यादि	२२७-२३७
धर्म की प्रशंसा, मृत्यु होने पर भी धर्म का साथ जाना	२३८-२४३
उच्चों से सम्बन्धादि करना	२४४-२४५
शुद्ध, जितेन्द्रियादि की प्रशंसा	२४६
"एधोदकादि भिक्षा को निषेध न करे" इत्यादि प्रतिज्ञा	२४७-२५३

विषय	श्लोक-
भीतर बाहर एकसा वर्त्ताव रखना, अन्यथा नहीं	२५४-२५६
वानप्रस्थधर्म वर्णन की प्रतिज्ञा, गृहस्थधर्मवर्णन का उपसंहार	२५७-२६०

पञ्चमाऽध्याय में-

“ ऋषियों का भृगु से संवाद ” प्रक्षिप्त	१-३
आलस्यादि दोषों से मृत्यु की समीपता	४
लशुनादि अभक्ष्य द्रव्यगणना	५-१०
“ अभक्ष्य मांसों की गणना और मांस भक्षणमें दोष न माननेके हेतु ” प्रक्षिप्त ११-२३	
अभक्ष्य द्रव्यों में अपवादरूप भक्ष्य द्रव्यादि	२४-२५
“ मांस भक्षण के विधि और निषेध, यज्ञार्थमांस भक्षण की निर्दोषता, इस में हेतु ” इत्यादि प्रक्षिप्त	२६-४२
(महाभारत के प्रमाण से मनु की मांसविरुद्ध सम्मति)	१
वैदविहित हिंसा अहिंसा, मांस भक्षण के दोष, न भक्षण की प्रशंसा	४३-५५
“ मद्य मांस मैथुन में दोष नहीं ” प्रक्षिप्त	५६
प्रेतशुद्धि, मृतक का अशौच	५७-७४
परदेश में मृत की सूचना पर अशौचादि	७५-८४
शवस्पर्शादि की अशुद्धि	८५-८८
सङ्करजातादि का सूतकादि नहीं, न उदकक्रिया	८९-९०
आचार्यादि मृतक को उठाने से ब्रती का व्रत भङ्ग नहीं होता	९१
शूद्रादि मृतकों को दक्षिणादि नियत दिशाओं से निकालना	९२
राजा आदि जिन को वा जिन का अशौच नहीं होता	९३-९८
ब्राह्मणादि की शुद्धि के जलस्पर्शादि भिन्न २ साधन	९९
असपिण्ड प्रेतशुद्धि की व्यवस्था	१००-१०३
ब्राह्मण मृतक को शूद्र से न उठवावे	१०४
ज्ञान तप अग्नि आदि १२ शुद्धिकारक पदार्थ	१०५
अर्थशुद्धि (इमान्दारी) वही भारी शुद्धि है	१०६
विद्वान् आदि क्षमादि से शुद्ध होते हैं	१०७
भिन्न २ पात्रादि भिन्न २ मृत्तिकादि से शुद्ध होते हैं	१०८-१०९
अट्टादि की शुद्ध मानना, अधिक जल की शुद्ध मानना	११०-११८

विषय	श्लोक-
कारीगर आदि के हाथ आदि शुद्ध मानने	१२९
“ स्त्रीमुख और शिंकार का सांसादि शुद्ध मानना ” प्रक्षिप्त	१३०-१३१
नाभि से ऊपर की इन्द्रियों की शुद्धता (मेध्यता)	१३२
मक्खी आदि को अशुद्ध न मानना	१३३
मल मूत्रादि त्यागार्थ कितना जल मिट्टी लेना	१३४
देह के १२ सलों की संख्या	१३५
गुदा आदि में कितनी बार मिट्टी लगाना	१३६
गृहस्थादि आश्रमभेद से शुद्धिभेद	१३७
मलमूत्रत्यागोत्तर आचमनादि	१३८-१३९
शूद्र सेवकों के नासिक वपनादि	१४०
जलविन्दु आदि को अशुद्ध न मानना	१४१-१४२
स्त्रीधर्म, स्त्रियों की परतन्त्रता, भर्ता आदि से वियुक्त न रहना, उच्छिष्ट को कूने आदि की अशुद्धि पर कर्त्तव्य	१४३-१४६
प्रसन्न रहना, स्त्री पुरुष का सम्बन्ध, पति की प्रशंसा, पति- शुश्रूषा, और पर पुरुष का त्याग	१४७-१५८
सन्तानार्थ भी व्यभिचार न करना, अपुत्र की भी सद्गति व्यभिचार निन्दा, पतिव्रतप्रशंसा	१५९-१६६
भार्या पूर्व मर जावे तौ अग्निहोत्री का कर्त्तव्य	१६७-१६८
गृहस्थ धर्म का उपसंहार	१६९

षष्ठाऽध्याय में-

वानप्रस्थ होने की आज्ञा और समय	१-२
वनी को ग्राम्याद्वारत्याग, अग्निहोत्र का साथ, वन में वास, शाक मूल फलों से निर्वाह, पञ्चयज्ञानुष्ठान, जितेन्द्रियादि रहने का विधान	३-१३
सद्य मांस भौम-कबकादि न खाना	१४-१६
क्या २ खावे, कब २ खावे, संग्रह कितना रखे, भूमि में सोवे इत्यादि नियम	१७-२२
शीतल में पशुतपा, जाड़े में जल में खड़ा होना आदि सहनशीलता	२३-२४
आत्मामें वैतानिक अग्नि का समारोपण, सुखार्थ यत्न न करना, खान पान की साधारणता, वा सरण पर्यन्त जल वायु आदि से ही निर्वाह	२५-३१

विषय	श्लोक-
ज्ञानप्रस्थ धर्म से मुक्ति	३२
संन्यासाश्रम की आज्ञा, समय, तीन ऋणों को चुकाने की आवश्यकता, विना चुकाये संन्यास लेने से अधोगति	३३-३८
सब प्राणियों को अभयदान, निष्कामता, एकाकी रहना, अग्नि का त्याग, वृक्षमूलादि में रहना आदि, जीवन मरण की उपेक्षा, खान कर जल पीना आदि, निन्दा का सहना और क्रोध, वैर, असत्यादि का त्याग	३९-४८
ध्यान में रहना, गणितादि विद्या से जीविका न करना, अन्यो से बसी जगह में न रहना, डाढ़ी मूँछ मुँडायें रहना	४९-५२
"धातु के पात्र न हों इत्यादि" प्रतिज्ञा	५३-५४
एक काल भोजन, गृहस्थों की आवश्यकता पूरी होने पर भिक्षा खाना, सादा भोजन, भोजन न मिले तो भी शोक न करना, अल्पभोजी होना, इन्द्रियदमनादि	५५-६०
मनुष्यों की कर्मगतियों पर दृष्टि डालना, मृत्यु, शोक, भय, उत्पत्ति, परमात्मा की सूक्ष्मता का विचार करना	६१-६५
निन्दा करने पर भी धर्म करना, लिङ्ग धर्म का कारण नहीं	६६
नाम मात्र से शुद्धि नहीं होती	६७
पृथिवी को देखकर चलना, अज्ञात जन्तु के मर जाने का प्रायश्चित्त, प्राणायाम का फल, अन्तरात्मगति का विचार, देह की घृणितता का विचार, इस के त्याग की प्रशंसा	६८-७८
प्रियाऽप्रिय में एकभाव, द्वन्द्वत्याग, वेदान्तादि पाठ, संन्यास की प्रशंसा, मुक्ति की प्राप्ति, धर्मपूर्वक सभी आश्रमों से मुक्ति-प्राप्ति, गृहस्थ की बड़ाई, दश लक्षण वाला धर्मसेवनीय है	७९-९४
गृहस्थ में ही संन्यासफलप्राप्ति, संन्यासी को वेद न त्यागना, संन्यास से मुक्ति, संन्यासधर्म का उपसंहार, राजधर्मवर्णन की प्रतिज्ञा	९५-९७

सप्तमाऽध्याय में-

राजधर्मवर्णन की प्रतिज्ञा, राजा के विना हानि, राजोत्पत्तिका प्रयोजन, राजा का दैव बल, सूर्यादि के समान तेज, राजा का प्रभाव, राजनियम का मान्य, दण्ड की उत्पत्ति	१-१४
---	------

विषय

श्लोक—

दण्ड की बड़ाई, न्यायपूर्वक दण्ड चलाना, दण्ड न हो तो हानि,

अनुचित दण्ड देने से राजा प्रजा का नाश

१५-२६

मूढत्वादिदोषयुक्त राजा दण्ड को न्यायपूर्वक नहीं दे सकता, किन्तु

पवित्र सत्यवादित्वादि गुणवान् ही दे सकता है, स्वराज्य

परराज्यादि में वर्त्ताव का भेद, इस प्रकार के राजा के लाभ, विष-

रीत की हानियाँ, उत्तम राजा के कर्त्तव्यवर्णन की पुनः प्रतिज्ञा,

राजा को ब्राह्मणादि वृद्धों का मान्य करना, उन से विनय

सीखना, अविनय से हानि और विनय के लाभ

६०-४०

“प्रक्षिप्त २ श्लोकों में विनय अविनय के ऐतिहासिक प्रमाण”

४१-४२

राजा को त्रयीविद्यादि सीखना, जितेन्द्रिय होना, काम के १० और

क्रोध के ८ व्यसनों से बचना, लोभ १८ हों का मूल है, किन लक्षणों

के ७ वा ८ मन्त्री रखने, उन से मन्त्र (सलाह) करना

४३-५६

मन्त्रियों से मन्त्र करने की रीति, उन का विश्वास करना, अन्य

अधिक अपेक्षित मन्त्री बढ़ाना, दूत का वर्णन, लक्षण,

बड़ाई और दूत से स्वयं सावधान रहना

५७-६८

राजा कैसे देश में बसे, छः प्रकार के दुर्ग (किले), सब दुर्गों में

पहाड़ी दुर्ग की उत्तमता, जहाँ दुर्गों में से किन २ के सहारे

से सृगादि कौन २ बचते हैं, दुर्ग के लाभ, दुर्ग की सामग्री,

उस में राजगृह और उस में पत्नीसहित रहना

६९-७७

राजा को पुरोहित रखना, ब्राह्मणसत्कार, आम्रपुरुषों से राजकर

उगहवाना, कार्यकर्त्ताओं पर अध्यक्ष (इन्स्पेक्टर) रखना,

समावर्त्तित ब्रह्मचारियों का सत्कार, ब्राह्मणसत्कार में व्यय

किये धनादि की सफलता

७८-८६

संग्राम में कोई ललकारे तो पीछे न हटना, युद्ध में न हटने वालों की

सद्गति, कूट हथियार आदि से न लड़ना, नपुंसकादि किन २

पर शस्त्र न चलाना, रथादि वस्तु जो २ योद्धा जीते उस २

को दे देना, वे योद्धा लूट में से राजा को भेंट दें

८७-९८

विषय	श्लोक
अलठध लाभादि ४ चेष्टा, नित्यदण्ड को उद्यत रखना आदि, छल न करना और शत्रु के छल को समझना, अपने छिद्र छिपाना, शत्रु के छिद्र जानना, बक, सिंह आदि के सी वृत्ति रखना, शत्रुवशीकरण, सामादि ४ उपाय, प्रजा को सुताने से राजा का नाश ९९-११२	
राज्यरक्षार्थ देश विभाग करके काम बांटना, नीचे के शासक ऊपर वालों को सूचना दें, राजा के देय पदार्थ ग्राम का शासक प्राप्त करे, छोटे बड़े शासकों की कितनी कितनी जीविका हों, उन पर राजसन्त्री दृष्टि रखे, बड़े बड़े नगरों में प्रधान शासक रखना, रिश्वत न चलने देना, छोटे नौकर चाकर स्त्री आदि की प्रतिदिन की मजदूरी देना और वेतन विभाग ११३-१२६	
व्यापारियों से कर लेने का विचार, किस वस्तु पर कितना कर लगाना, शिल्पी लोगों से क्या कर लेवे, अधिक कर से न दबावे, नञ और क्रूर दोनों भाव रखे १२७-१४०	
अपने को रोगादि हो तौ मन्त्री से काम ले, प्रजारक्षा न करने की निन्दा, ब्राह्ममुहूर्त में उठना, सन्ध्या अग्निहोत्र ब्राह्मण शुश्रूषा करना, राजसभा में जाकर प्रजा के व्यवहार (मुकुटमे) देखना प्रजा को विसर्जन करके एकान्त देश में मन्त्र करना, गुंगे बहरे आदि को मन्त्रसमय दूर भगाना परन्तु आदरपूर्वक मन्त्रियों की परस्पर विरुद्ध सम्मतियों से सार निकालना, कन्या और कुमारों पर राजा का कर्तव्य, दूत भेजना, कार्यशेष को जानना १४१-१५३	
आदान विसर्गादि ८ कर्म, ५ वर्ग आदि का विचार, शत्रु मित्र उदासीन की चेष्टाओं पर ध्यान, अमात्य आदि ७२ प्रकृतियों का वर्णन, सामादि उपायों का प्रयोग, सन्धिविग्रहादि ६ गुण, सन्धिविग्रहादि के अवसर और भेद १५४-१६२	
कय सन्धि, कय विग्रहादि, कै २ प्रकार के करने, यदि मित्रों में भी भीतरी दुर्भाव देखे तौ उन से भी लड़े १६३-१७६	
मित्रादि अधिक न बढ़ावे, वर्तमान और भविष्यत् का विचार रखे, चढ़ाई कैसे समय में किस प्रकार करे, चढ़ाई के समय अन्य मित्रोदासीनादि से कैसा व्यवहार रखे, दण्ड शकटादि व्यूह रचना और आप पद्मव्यूह में रहे १७७-१८८	

विषय

श्लोक

सेनापति सेनाध्यक्ष के संग्राम में कार्यभाग, कैसे २ स्थान में किन २ साधनों से लड़े, कुरुक्षेत्रादि वीरभूमि के वीरों को आगे रखे, उन्हें प्रसन्न रखे, लड़ते हुओं पर भी दृष्टि रखे, शत्रु के भोजनादि को बिगाड़े, शत्रु के मन्त्री आदि को फोड़े, यथाशक्ति युद्ध को बचावे, जीतकर ब्राह्मणों का सत्कार करे, अभय की डैण्डी पिटवावे, जीते हुवे राजा को गद्दी से उतार कर उसी वंश के योग्य पुरुष को बैठावे १८९-२०२
 शत्रु के प्राचीन रिवाजों का प्रमाण नाने, रत्नों से शत्रु का सत्कार करे, देने से सब प्रसन्न और लेने से अप्रसन्न होते हैं, दैव की चिन्ता न करे, मानुष में यत्न करे वा शत्रु से मिल कर लौट आवे, किस प्रकार के मनुष्य को मित्र वा पाष्णिग्राहादि बनावे, शत्रु मित्र उदासीन के लक्षण, अपनी रक्षा के लिये उत्तम से उत्तम भूमि को भी त्याग दे २०३-२१२

धन स्त्री आत्मा में उत्तरोत्तर रक्षा, बहुत आपत्तियों में सामादि सब उपाय एक साथ करना, राजा का व्यायाम, स्नान, अन्तःपुर में विश्वासपात्रादि के हाथ का भोजन, भोजन में विष की परीक्षा, भोजन शयनादि में यत्न रखना, स्त्रीक्रीड़ा, फिर वाहनायुधादि की संभाल, सायं सन्ध्या करके बाहर के गुप्त विचार और सूचनाओं का सुनना, फिर भोजनार्थ अन्तःपुर में जाना २१३-२२६

अष्टमाऽध्याय में

व्यवहार (मुकुटमे) देखने में मन्त्रियों की सहायता लेनी, शास्त्रीय और लौकिक हेतुओं से निश्चय करना और ऋण न देना आदि १८ विवाद के स्थान १-९

सनातनधर्मानुसार निर्णय करना, राजा स्वयं न करे तौ विद्वान् ब्राह्मण से निर्णय करावे, उस अधिकारी और अन्य ३ सभ्यों की सावधानी और सावधानी न करे तौ उन को दोष ८-१२

या तौ सभा में न जावे, जावे तौ धर्मानुसार कहे, विपरीत कहने वा चुप रहने का दोष, धर्म का महत्त्व, अधर्म करने से राजा मन्त्री साक्षी आदि को दोष के भाग, शूद्र को न्यायासन न देना १३-२०

विषय	श्लोक
राज्य में शूद्रवृद्धि न होने देना, न्यायासन पर बैठने का प्रकार, क्रमपूर्वक कार्य (मुक्रद्दमे) देखना	२०-२४
चेष्टा आकारादि से हृदय भाव पहचानना, बालकों वा स्त्रियों आदि के स्वत्व की राजा समावर्तनादि तक रक्षा करे, जीवती स्त्रियों का भाग छीनने वाले कुटुम्बियों को चौरदण्ड, नष्ट- स्वामिक द्रव्य की रक्षा, उसके लौटाने में छान बीन, उस में से राजभाग लेना और उसकी रक्षा करना इत्यादि	२५-३६
ब्राह्मण को धरा दवा धन मिल जावे तो स्वयं रक्खे, राजा को मिले तो आधा दान करे, चोरी का माल राजा स्वयं न ले, जाति- धर्मादि के अनुसार विचार करना, राजा वा राजपुरुष स्वयं मुक्रद्दमे न उत्पन्न करें, अनुमान से न्याय में काम लेना, सत्य साक्षी, देशकालादि का विचार, देशधर्मादि के अविरोध से निर्णय करना	३७-४६
उत्तमर्ण का धन अधमर्ण से दिलाना, नटने वाले को दण्ड, अधमर्ण नटे तो उत्तमर्ण को प्रमाण देने चाहिये, राजपुरुष अधमर्ण से प्रश्न (जिरह) करे, सिद्ध न कर पावे तो धन न पावे, नालिश करके फिर पैरवी न करे तो दण्ड, १॥ मास तक उपस्थित न हो तो हार जावे, नटने वाले को नटने अनुसार दण्ड इत्यादि	४७-६०
कैसे लोग साक्षी करने, कैसे न करने, कौन साक्ष्ययोग्य है, कौन नहीं, बाल वृद्ध रोगी आदि को साक्ष्य में स्थिरमति न मानना, साहसादि में उक्त लक्षण के ही साक्षियों की आवश्यकता नहीं, साक्षियों के परस्परविरोध में राजा का कर्तव्य	६१-७४
साक्षी को धर्मवित्तु असत्य से वचना, राजसभा में आये साक्षियों से साक्ष्य लेने का प्रकार, सत्य साक्ष्य की स्तुति, असत्य की निन्दा	७५-८४
साक्षी असत्य कहते हुवे यह न समझे कि हमें कोई देखता नहीं, ब्राह्मणादि वर्णों से भिन्न २ प्रकार साक्ष्य पूछे, असत्य से बचने के लिये साक्षी को कई प्रकार के शपथ करना, सत्यवादी की प्रशंसा	८५-९६
किस २ साक्ष्य में झूठ बोलने से कितने २ बान्धवों के मारने का पाप है, भिन्न २ पदार्थों के असत्यसाक्ष्य में भिन्न २ पाप, गोरजकादि विप्रीं से शूद्र के समान साक्ष्य पूछे, दो श्लोक अधिक भी	९७-१०२

विषय	श्लोक
“शूद्रादि के बचाने को असत्य साक्ष्य में दोष नहीं” प्रक्षिप्त	१०३-१०४
“किन्तु वे असत्यवादी एक प्रकार का प्रायश्चित्त होम करें” प्रक्षिप्त	१०५-१०६
साक्ष्य न दे सकने की अवधि (मियाद), साक्षी न हों तो शपथ से निश्चय करना	१०७-१०८
“शपथ (कसम) करने में इतिहासप्रमाण” प्रक्षिप्त	११०
झूठा शपथ न करना, करने से नाश	१११
“स्त्री आदि के निमित्त झूठ शपथ भी करे” प्रक्षिप्त	११२
ब्राह्मणादि वर्णों को भिन्न २ शपथ करावे	११३
“सत्यपरीक्षार्थ अग्निदाहादि न लगे तो सत्य जाने” प्रक्षिप्त	११४-११६
असत्य साक्ष्य के निर्णय अनिर्णय हैं, जिस साक्ष्य में जो २ जिस २ कामादि कारण से असत्य बोले उस २ को भिन्न २ दण्ड	११७-१२२
दण्ड के हस्तच्छेदादि १० स्थान, ब्राह्मण को न्यून दण्ड, अधर्मे दण्डादि की निन्दा, वाग्दण्डादि ४ दण्ड	१२३-१२०
त्रसरेणु से लेकर उत्तम साहस पर्यन्त विविध सिक्के, संज्ञा, नाप वा तौल, व्याज लेने का प्रकार, धरोहर (अमानत), गिरवी, आड़ आदि का निर्णय	१२१-१४८
आधि, सीमा आदि भोगने से नहीं छुटती, अर्धवृद्धि का भोग, वृद्धि (व्याज) के प्रकार और परिमाण, ऋण का कागज आदि बदलवाना, प्रतिमू (ज़ामिन) आदि होना पिता का पुत्र पर आवश्यक नहीं, देने की ज़मानत-दायादों से भी दिलानी, ज़मानत के अन्य विचार	१४९-१६२
मत्त उन्मत्तादि के चलाये मुकद्दमे नहीं चलते, कानून विरुद्ध शर्त सत्य न होगी, बलरुत गिरवी आदि लौटाने योग्य हैं, कुटुम्बार्थ ऋण लेने वाला मर जावे तो अलग हुवे दायादों को भी देना चाहिये, कुटुम्बार्थ पुत्रादिकृत लेन देन का भार कुटुम्बी पर है, बलात् कराये दान भोग आदि अकृत हैं, तीन परार्थ क्लेश पाते, चार समूह होते हैं, राजा अग्राह्य न ले, ग्राह्य न छोड़े, राजा की यमवृत्ति, अधर्मों राजा का नाश	१६३-१७४
राजा का संयम, ऋणी का ऋण दिलाना, धरोहर कैसे पुरुष के यहाँ रखनी, धरोहर के मुकद्दमे	१७५-१८६

विषय	श्लोक
जो जिस वस्तु का स्वामी नहीं वह उस को बेच डाले तो उस के न्याय, भोग, कब्जा आदि विवादनिर्णय, खलविक्रय, खलकृत कन्यादान, ऋत्विजों की दक्षिणा का विवादनिर्णय, दान का लौटाना वा न देना	१९७-२१३
वैतन न देने के विवाद, प्रतिज्ञाभङ्गविवादनिर्णय, बेचने खरीदने में नापसन्द का १० दिन में लौटा सकना, दुष्ट कन्यादान पर दण्ड, काम ठहर कर नापसन्द रहने के निर्णय, गोस्वामी गोपाल आदि के विवाद, ग्राम की छुटी भूमि, खेत की याद, उस पर चरने से पशुपालादि का विवाद	२१४-२४४
सीमाविवादनिर्णय, सीमाधिह्न साक्षी, सीमा कमीशन इत्यादि विवाद निर्णय, दण्ड आदि	२४५-२६४
वाक्पारुष्य (गाली) आदि का विवादनिर्णय	२६५-२७७
दण्डपारुष्य-अङ्गच्छेदनादि दण्डविवरण, फौजदारी के विवाद, रथी की हानि आदि, रथ से किसी की हानि, इत्यादि	२७७-३००
चोरी के विवाद का निर्णय, राजा को अवश्य रक्षा करना, अरक्षक राजा को दोष, भिन्न २ चोरियों के भिन्न २ दण्ड	३००-३४४
साहसिक बलात्कारादि पर राजकर्तव्य, आततायिवध, परस्त्री- गमनादि में राजदण्ड, कन्यादूषण का नियम, भिन्न २ वर्णों के व्यभिचार में दण्ड भेद	३४५-३९८
“ब्राह्मण अग्रव्य है” प्रतिज्ञा	३९९-४०९
परस्त्रीगमन में ब्राह्मणादि के दण्डभेद, ऋत्विज का त्याग, पिता माता आदि के त्याग पर राजदण्ड	४०९-४२८
वानप्रस्थों के विवाद में दण्ड न देकर समझाना, सत्कारार्ह के सत्कार न करने पर राजा की ओर से शिक्षा, सूत और जुलाहे के निर्णय, राजा के विक्रय द्रव्यों का विचार, क्रयविक्रय में राज- नियम, भाव नियत करना, नाप तोल घाट आदि की परीक्षा	४२९-४७३
पुल वा मौका के महसूल इत्यादि	४७४-४८९
ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रों की वृत्ति में राजा का हस्तक्षेप, शूद्रों (दासों) के ७ भेद, इत्यादि	४९०-४९८
राजा की कोषादि निरीक्षण में सावधानी, धर्मी राजा की मुक्ति	४९९-४२०

विषय

श्लोक

नवमाऽध्याय में-

स्त्री पुरुष के धर्म, स्त्री की परतन्त्रता, स्त्री की रक्षा, जाया शब्द का निर्वचन, स्त्रीरक्षा के काम वा उपाय, स्त्री के ६ दूषण	१-१३
“स्त्रियों की वृथा निन्दा,” स्त्रीपुं धर्म का उपसंहार	१४-२४
सन्तानधर्म—सन्तान में स्त्री की बड़ाई, क्षेत्र बीज का वर्णन	२६-४१
“पर स्त्री में बीज न बीने के लिये इतिहास” प्रक्षिप्त	४२-४४
स्त्री पुरुष की एकाङ्गता, कन्यादानादि ३ कार्य का १ ही बार होना, क्षेत्र बीज आदि विवाद	४४-५४
स्त्रियों का आपद्दुर्म, नियोग का निर्णय “देन कया” प्रक्षिप्त	५६-६८
देवर से नियोग, उस की विधि, कन्या का पुनर्दान न करना, स्त्री की वृत्ति करके परदेश जाना, परदेशगत की प्रतीक्षा की अवधि, स्त्री की प्रतीक्षा की अवधि	६९-९७
स्त्रीपरित्याग, उस के समय की मर्यादा	९८-१०४
“असवर्णाविवाह में स्त्रीसत्कारभेदादि” प्रक्षिप्त	१०५-१०७
कन्यादान का समय, वर परीक्षा, स्वयंवर	१०८-११२
“क्षतुमती कन्या के हरण का वर्णन” प्रक्षिप्त	११३-११४
स्त्री पुरुष की धर्मानुसार सहस्थिति	११५-११६
“कन्याविक्रय का विधान” प्रक्षिप्त	११७
कन्याविक्रय का निषेध, स्त्री पुरुषों का परस्पर व्यभिचारत्याग	११८-१२२
दायभाग—माता पिता के पश्चात् ही पुत्र स्वामी है, पिता के धन में ज्येष्ठ पुत्र की श्रेष्ठता, ज्येष्ठ का कनिष्ठों के प्रति धर्म, ज्येष्ठ का अधिक दाय, ज्येष्ठ कनिष्ठों के अंशभेद, ज्येष्ठ की सेवनीयता	१२३-१२९
“दो स्त्रियों में उत्पन्न पुत्रों के ज्येष्ठ भागादि का निर्णय” प्रक्षिप्त	१२९-१३४
जौड़ियों में कौन ज्येष्ठ है, अपुत्र को पुत्रिका का विधान	१३६-१३७
“दत्त प्रजापति की पुत्रियों का पुत्रिकात्व और विभाग” प्रक्षिप्त	१३८-१४०
पुत्र पुत्री की वरावरी, माता का धन पुत्री ले, धेवते का भाग, पुत्रिका के पुत्र और निज पुत्र में समता, पुत्रिका का पुत्र न हो तौ जामाता धन पावे, पुत्र की बड़ाई, दौहित्र पुत्रादि कैसे पिण्डदान का भेद करें, दत्तपुत्र का भाग	१४०-१४२

विषय	श्लोक-
नियुक्तापुत्र के भाग, आवृत्ती का धनादि सन्तान होने पर उसे ही दे देना आदि	१४३-१४७
“असवर्णाविवाहजनित सन्तानों के भागादि” प्रक्षिप्त	१४८-१५८
१२ प्रकार के पुत्र, उन के भाग, औरस पुत्र की बड़ाई, कुपुत्रनिन्दा औरसादि १२ पुत्रों के लक्षणादि	१५९-१८१
भाइयों में एक की सन्तान से सब का सपुत्रत्व, कई स्त्रियों में १ के पुत्र हो तो सब का सपुत्रीत्व, पुत्रों में नीचोच्चत्व से भागभेद, अपुत्र के मरने पर दायभागी, किस अपुत्र का दाय राजा ले, पुत्रों के भागविवाद में निर्णय, स्त्री मरने पर भर्ता का धन हो	१८२-१९६
स्त्रीधन के अन्य निर्णय, स्त्रियों के आभूषण को न बांटना, दाय-भाग के अनधिकारी, माता पिता और भाइयों के भाग, वस्त्रादि कई वस्तु बांटने योग्य नहीं	१९७-२२०
द्यूत और समाहूय का भेद, द्यूतादि क्रीडकों, रिश्वतखोरो, छल से शासन करने वालों, प्रजादूषकादिकों को दण्ड, अपील नामंजूर करना, मंजूर करना, अन्यायपूर्वक निर्णयकारी अमात्यादि को दण्ड और मुकुटमा फिर से करना, ब्रह्महत्यारे आदि ४ महापातकियों को दण्ड, उस दण्डधन को राजा क्या करे, ब्राह्मणों के दाधक का नियम, अवध्यवधादि से राजा को बचना, १८ विवादों का उपसंहार	२२१-२५०
राजा को न्यायपूर्वक प्रजारक्षा करते हुवे राज्यवृद्ध्यादि उपाय, प्रकाश और अप्रकाश दो प्रकार के तस्कर, उन का पता लगा कर शासन, सभा प्याऊ चौराहे आदि पर चौकी बैठाना, वहाँ के तस्करों का नियम दमन और दण्ड	२५१-२६९
मालसहित ही चोर को दण्ड देना, चोरों के सहायकों का नियम, स्वधर्मत्यागियों को दण्ड, यथाशक्ति राजा की सहायता न करने वालों को ग्रामघातादि में दण्ड, राजकोष के चोरों, संध लगाने वालों, अग्नि लगाने वालों, जलभेदकों इत्यादिकों को दण्ड	२७०-२८०

विषय

श्लोक-

तड़ाभादि के जलचोर, राजमार्ग में मैला गेरने वाले, चिकित्सक,
पुल आदि तोड़ने वाले, बराबर के मूल्य से घटिया वस्तु
देने वाले इत्यादि के भिन्न २ दण्ड

१८१-२८३

जेलघर मार्ग पर बनवाने, छारदिवारी तोड़ने वाले-नारणादि
प्रयोग करने वाले-अबीजविक्रयी आदि-चोर सुनार खेती का
सामान चुराने वाले-शस्त्र वा औपध के चोर इत्यादि के दण्ड २८८-२९६

स्वामी अमात्यादि ७ प्रकृति, चार (गुप्तदूत) आदि रखना, सदा
आरम्भ रखने वाले को लक्ष्मीलाभ, राजा ही युग है, इन्द्र

सूर्यादि के तेजोवृत्त पर राजा चले, ब्राह्मणों के कोप से बचे २९४-३१३

" ६ श्लोकों में ब्राह्मणों की असंभव प्रशंसा " प्रक्षिप्त

३१४-३१८

राजा का शासन ब्राह्मण ही कर सकते हैं, ब्राह्मण क्षत्रियों को

मिल कर काम करना, राजा का वानप्रस्थ, राजधर्म का

उपसंहार, वैश्यधर्म का व्यौरेवार वर्णन, शूद्रधर्म का वर्णन ३२०-३३६

दशमाऽध्याय में-

ब्राह्मण अन्य सब वर्णों को स्ववर्णधर्मशिक्षादि दें, अन्य केवल शिक्षा

ग्रहण करें, ब्राह्मणप्रभुता, चार वर्ण, स्ववर्ण में उत्पन्न सन्तान

का जातिवर्ण, हीनवर्णोत्पन्न सन्तानों का वर्ण, उनके अन्यथादि

भेद, वर्णसङ्करों का उपसंहार

१-२४

अनुलोमप्रतिलोमज संकीर्ण योनि, सूत वैदेह चण्डाल आदि भेद २५-४१

तप और बीजादि के प्रभाव से उच्चनीचता, क्षत्रियों की अधम जातियें

पौरुडक कम्बोजादि, दस्यु, इन सब की जीविकाओं के भेद ४२-५६

वर्णसङ्करादि की पहचान, अधिक वर्णसङ्कर वाले राज्य का नाश

ब्राह्मण के प्राणरक्षणादि कर्मों के प्रभाव से पतितों की उच्चता,

अहिंसादि चातुर्वर्ण्यधर्म, शूद्रादि का ब्राह्मणत्वादि वा ब्राह्म-

णादि का शूद्रत्वादि को प्राप्त होना, आर्य से अनार्य वा

अनार्य से आर्य में उत्पन्न सन्तान का अधिकार, बीज और

योनि का बलाज्वल

५७-७२

अनार्य आर्यकर्मी वा आर्य अनार्यकर्मी में विवेक, ब्राह्मणादि के

षट् कर्मादि वर्णधर्म और आपद्धर्म

७३-८४

विषय	श्लोक
“बहुत से व्यापारों को वृथा वर्जित करना” प्रतिज्ञा	८५-८४
नीचे को ऊंच जीविका न करना, शूद्र के आपद्धर्म, “ब्राह्मण की आपत्ति में वृत्ति”	८५-१०८
प्रतिग्रह की निन्दा, जप होम शिलोष्कादि वृत्ति, राजा से ब्राह्मण जीविका कब २ मांग सकता है, दाय आदि ७ धर्म्य धनागम, विद्या शिल्पादि १० जीविकार्यें, ब्राह्मण क्षत्रिय को व्याज न खाना, आपत्ति में क्षत्रिय को व्याज खाने का नियम, क्षत्रिय को वैश्य आदि से बलिग्रहण	१०९-१२०
शूद्र की उच्च सेवा में प्रशंसा, धर्मात्मा शूद्रों की प्रशंसा, उच्चता, शूद्र को धन सञ्चय का निषेध, वर्णधर्म का उपसंहार, प्रायश्चित्त की प्रतिज्ञा	१२१-१३१

एकादशाऽध्याय में-

नव ९ प्रकार के स्नातक धर्मभिक्षुक हैं, राजा को इन का सत्कार करना, सत्कार की प्रशंसा, सोमयाग का अधिकारी कौन है, कुटुम्बादि का पोषण न करके यज्ञादि पुण्य की निन्दा, यज्ञ रुका हो तो यजमान ब्राह्मण को वैश्य से राजा धन दिलावे, शूद्र से या अन्यो से भी सहायता कराना	१-१९
देवधन धौर असुरधन, ब्राह्मण को राजा क्षुत्पीड़ा से बचावे, यज्ञार्थ शूद्र से धन मांगने का दुष्फल, देवधनहरणादि की निन्दा, अनापद् में आपत्कर्म की निन्दा	२०-३०
ब्राह्मण को कोई सतावे तो यथाशक्ति ब्रह्मबल से ही रोके, राजा से निवेदन न करे, क्षत्रिय और वैश्य शूद्र किन उपायों से आपत् का निवारण करें	३१-३४
ब्राह्मण की श्रेष्ठता के कारण, कन्यादि होता नहीं हो सकते, दक्षिणा न देने पर अनाहिताग्निपना, दक्षिणा का संकोच हो तो अन्य पुण्य करे-यज्ञ का नाम न ले, अग्नि के अपवेध, विहित कर्म का त्याग, निषिद्ध का अनुष्ठान करने से प्रायश्चित्त, विना जाने वा जाने कर्म के भी प्रायश्चित्त	३५-४६

विषय	प्रलोक-
प्रायश्चित्त पर विचार, प्रायश्चित्त न होने तक अलग रहना, पूर्व जन्म वा इस जन्म के प्रायश्चित्तियों के कुनख होने आदि लक्षण, ब्रह्म-हत्यादि ४ महापातक और अन्यकर्म जो महापातकों के समान हैं ४३-५८	५८-६६
गोवधादि उपपातकों की गणना	६७-७०
जातिभ्रंशकर ३ कर्म, सङ्करीकरण, अपात्रीकरण, मलिनीकरण कर्म	७१-८६
ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्तों के भेद	८७-९८
भूषहत्या, यजमानवध, इत्यादि में यही ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त, जानकर ब्रह्महत्या करने का उपाय नहीं, मद्यपान का प्रायश्चित्त, मद्यकी निन्दा, मद्यके भेद, मद्य मांसादि यत्तरजः पिशाचान्न है, मद्यपान की हानियें	९९-१०८
सुवर्ण की चोरी, उस के दण्ड, प्रायश्चित्तादि	१०९-११०
गुरुपत्नीगामी के प्रायश्चित्त तप आदि	१११-११२
उपपातकियों के प्रायश्चित्त, गोवधादि का प्रायश्चित्त	११३-११४
अन्यों की भी गोवध का प्रायश्चित्त, ब्रह्मचर्य नष्ट करने वाले और जातिभ्रंशकर कर्म का प्रायश्चित्त	११५-११६
सङ्करीकरण और अपात्रीकरण तथा मलिनीकरण के प्रायश्चित्त, अन्य वर्णों के वध में ब्रह्महत्याकी अपेक्षा अंशन्यून प्रायश्चित्त इत्यादि ११७-१२०	१२१-१२२
मांजारादि के वधों के प्रायश्चित्त भेद	१२३-१२४
अभक्ष्यभक्षण के प्रायश्चित्त, वारुणी मदिरापान प्रायश्चित्त	१२५-१२६
पुनः संस्कार में क्या २ काम प्रथम संस्कार से न्यून हों	१२७
अभोज्यों के अन्न, उच्छिष्ट, मांस वा अन्य अभक्ष्य, अत्यन्त सहे सड़े द्रव्य, जन्तुओं के मूत्र पुरीष, कवक, शुष्कमांस इत्यादि भक्षण पर प्रायश्चित्त	१२८-१२९
“क्रव्यादि के भक्षण पर प्रायश्चित्त” प्रतिषेध	१३०-१३१
विडालादि के उच्छिष्टादि खाने पर प्रायश्चित्त	१३२-१३३
धान्यादि चुराने, मनुष्यों के हरण, भक्ष्य, वृण, काष्ठ, मणिसु-कादि, धातु, कर्पास इत्यादि चुराने के प्रायश्चित्त व्रत	१३४-१३५
अगन्धागमन के प्रायश्चित्त व्रतादि	१३६-१३७
पतितों से मेल संवासादि के प्रायश्चित्त	१३८-१३९

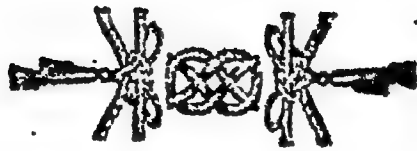
विषय	श्लोक
“पतित का ऊर्ध्वदेहकत्यादि निर्णय” प्रतिज्ञा	१८२-१८८
प्रायश्चित्तीय होकर प्रायश्चित्त न करने वालों का संगत्याग, बाल- हत्यादिकारकों से प्रायश्चित्त करने पर भी संगत्याग, सावि- त्रीपतितों, अन्य कुकर्मी द्विजों, निन्दिताजीवी ब्राह्मणों, अस- त्प्रतिग्राहियों, ब्राह्मणों को यज्ञ कराने वालों, शरणागत के त्यागियों, इत्यादिकों के प्रायश्चित्त व्रतादि	१८९-१९८
कुत्ते आदि के काटखाने, अपाङ्गुल भोजन, खरयानादि निन्दित- यान पर सवारी करने, वेदोदित कर्मत्याग, स्नातक के व्रत- लोप, ब्राह्मण को धमकाने आदि के प्रायश्चित्त	१९९-२०५
“ब्राह्मण को धमकाने आदि का दुष्फल” प्रतिज्ञा	२०६-२०९
ब्राह्मण के रक्तनिपातनान्त कर्म, अनुक्त प्रायश्चित्तों का देश कालादि विचारपूर्वक प्रायश्चित्तकल्पना	२१०-२१६
प्रायश्चित्तार्थ व्रतों में क्या २ उपाय करने होते हैं	२१७
प्राजापत्य, रुक्छ, सान्तपन, अतिरुक्छ, तप्त रुक्छ, पराक रुक्छ, चान्द्रायण	२१९-२२९
व्रतियों को किन नियमों से रहना चाहिये, तप की बड़ाई	२३०-२४४
वेदाभ्यास, जप, ज्ञान की बड़ाई, “रहस्य प्रायश्चित्त”	२४५-२५२
तरत्समन्दीयादि सूक्तजपों के विधान फल प्रयोगादि	२५३-२५६

द्वादशाध्याय में-

“मृगसंवाद” प्रतिज्ञा	१-२
कर्म का प्रवर्तक मन है, मन वचन देह के कार्य, तीनों का भोग- साधन, फल, योनि, संयमी को सिद्धि, क्षेत्रज्ञ और भूतात्मा, जीव, शरीरोत्पत्ति के वर्णन	३-१६
यमयातनभोग, फिर मात्राओं में लय, उन्नति, स्वर्गप्राप्ति, नरक- प्राप्ति, धर्म में ही मन लगाना, सखादि ३ गुण, सब भूतों का गुणों से व्याप्त होना	१७-२६
३ गुणों की पहचान, तीनों गुणों की तीन तीन=९ शक्ति	२७-५२
किस २ कर्म से क्या २ योनि मिलती है, उन के अनेक दुःख	५३-८२

विषय

- वेदाभ्यासादि नैश्रेयसकर्मों का वर्णन, प्रवृत्ति निवृत्ति मार्ग, वेद चतु है, वेदविरुद्ध स्मृति अमान्य तथा नश्वर हैं ८३-८६
- सब कुछ चातुर्वर्ण्योदि वेद से प्रसिद्ध हुवा है, वेद सर्वाधार है, सब अधिकार वेदज्ञ को योग्य हैं, वेदज्ञ दुष्ट कर्म से वचता है, वेदज्ञ की मुक्ति, ज्ञान की अपेक्षा उच्च नीचता का तारतम्य ८७-१०३
- तप और विद्या का फल, प्रत्यक्ष अनुमान और शास्त्र को जानना उचित है, जिन धर्मों का शास्त्रों में वर्णन न हो वहां शिष्ट ब्राह्मणवचन प्रमाण, शिष्ट ब्राह्मण का लक्षण १०४-१०८
- १० वा ३ विद्वानों की सभा वा १ भी विद्वान् का धर्म में प्रामाण्य अज्ञानी बहुतों का भी अप्रामाण्य, मूर्खनिर्धारित धर्माभास का दुष्ट फल, धर्मानुयायी की मुक्ति, आत्मज्ञान ११०-१२५
- “फलश्रुति” १२६



निवेदन

मनु के भाषानुवाद की धर्मजिज्ञासुओं को जितनी अधिक आवश्यकता है, उसे जिज्ञासु ही जानते हैं और सम्प्रति मनु पर अनेक संस्कृत टीका और भाषाटीकाओं के होते हुवे भी एक ऐसे अनुवाद की आवश्यकता थी जो सुगम हो, अल्प मूल्य का हो, संक्षिप्त और मूल का आशय भले प्रकार स्पष्ट करने वाला हो, जिसके अर्थों में खेंचातानी और पक्षपात न हो। इस पर भी यह जाना जासके कि कितने और कौन २ से श्लोक लोगों ने पश्चात् मिला दिये हैं। यह एक ऐसा कठिन काम है, जैसे दूध में मिले पानी का पृथक् करना। इसी लिये हमने ऊपर लिखे गुणों से युक्त यह टीका छापी है और जो श्लोक हमारी समझ में पीछे से औरों ने मिला दिये हैं, उनको ठीक उसी स्थान पर कुछ छोटे अक्षरों में उपस्थित रक्खा है और “ ” चिन्ह उन के ऊपर कर दिया है तथा संक्षेप से उन के प्रक्षिप्त मानने के हेतु दिखलाते हुवे उस के अर्थ में कुछ हस्तक्षेप न करके अपनी सम्मति () चिन्ह के भीतर लिख दी है। जिस में जिन सज्जनों को उन २ श्लोकों के प्रक्षिप्त मानने के हेतु पर्याप्त (काफ़ी) प्रतीत हों, वे श्रद्धा करें और जिन की दृष्टि में अप्राप्त हों, वे न मानें। क्योंकि हम निर्भ्रान्त वा सर्वज्ञ नहीं हैं और न मनुष्य सर्वज्ञ हो सक्ता है। इसी से अपनी सम्मति को सर्वोपरि मानकर पुस्तक में से वे श्लोक निकाल नहीं दिये हैं। जहां तक बना छान यौन बहुत की है। कितने ही ऐसे श्लोकों का भी पता लगता है जो अथ मूल में से निकल गये, प्राचीनकाल में थे वा अभी सय पुस्तकों में नहीं मिल पाये। हमने उनको भी [] कोष्ठक में रक्खा है। जिन श्लोकों को स्वामी जी ने अपने ग्रन्थों में माना है, उन में से हमने किसी को प्रक्षिप्त नहीं माना। मुम्बई के एक पुस्तक से, जिस में मेधातिथि, सर्वज्ञनारायण, कुल्लूक, राघवानन्द, नन्दन और रामचन्द्र; इन परिश्रमी और प्रसिद्ध टीकाकारों की टीकाओं के अतिरिक्त १-वङ्गाल ऐसियाटिक सोसाइटी। २-उज्जैन के सोरठी बाबा रामभाऊ। ३-उज्जैन के आठवले नाना साहय। ४-९-मुन्शी हनुमान्प्रसाद प्रयाग। ५-खण्डवा के राववहादुर खरे वङ्गालात्मज वासुदेव शर्मा। ९-१०-मिरज के महाबल वामन भट्ट। ११-यौतेश्वर के रामचन्द्र। १२-१४-पूना के ज्योतिषी बलवन्तराव। १५

अहमदाबाद के सेठ बेचरदास । १६-शम्भुमहादेव क्षेत्र के जावड़े बलवन्त-
राव । १७-बङ्गाल ऐसि० के मूल पुस्तक । १८-आस्ट्रेलिये के गोविन्द ।
१९-लण्डन का मूल पुस्तक । २०-कलिकाता राजधानी का छपा । २१-मिरज
के वामन भट्ट का राघवानन्दी टीका का । २२-बड़ौदे के वासुदेव । २३-
जयपुर के लक्ष्मीनाथ शास्त्री (राघ०) । २४-मद्रास के दीवान बहादुर रघुनाथ
राव । २५-पूने के गणेश ज्योतिर्विद् । २६-पूना के गोखले भट्ट नारायण ।
२७-जयपुर के लक्ष्मीनाथ शास्त्री का मूलमात्र । २८-सर्वज्ञना० टी० । २९-३०
आस्ट्रेलिये के गोविन्द राघवा० टीका । इन ३० प्राचीन पुस्तकों का संग्रह
किया है; पाठान्तर, पाठाधिक्य, श्लोकाधिक्य आदि को देख भाल कर यथा
सम्भव अपनी सम्मति लिखने में सावधानी की है । और अब तक जो
कुछ विचार किया उस से “ चिह्नयुक्त प्रति अध्याय क्रम से ३४ । ४ ।
१६७ । २० । ४१ । ०० । ३ । १९ । ४९ । १९ । २२ । ४ सब ३२२ श्लोक प्रतिष्ठित जान
पड़े हैं । परन्तु अभी कई विचारणीय भी हैं । आशा है कि सज्जन इस
क्रम से प्रसन्न होंगे ॥

मनुस्मृति के प्रथमाध्याय के आरम्भ में ही सब से प्रथम ३० प्रकार के
प्राचीन लिखे पुस्तकों में से १९ प्रकार के पुस्तकों में एक श्लोक अधिक पाया
जाता है और श्लोकसंख्या उस पर नहीं है । इस से भी पाया जाता है कि
वर्तमान में जो मनुस्मृति का पुस्तक मिलता है, यह मनुप्रोक्त नहीं, किन्तु
अन्य का बनाया है । इसी में यथार्थ मनु के आशय भी हैं । वह श्लोक यह है:-

स्वयंभुवे नमस्कृत्य ब्रह्मणेऽमिततेजसे ।

मनुप्रणीतान्विविधान्धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥ १॥

अर्थात्-मैं (सम्पादक) अनन्त तेजस्वी स्वयम्भू ब्रह्मा को नमस्कार
करके मनुप्रोक्त सनातन विविध धर्मों का वर्णन करूंगा ॥ अध्याय एक श्लोक
२ में “ अन्तरप्रभवाणाम् ” के स्थान में ३ पुस्तकों में “ सङ्करप्रभवाणाम् ”
पाठ देखा जाता है ॥

अध्याय १ श्लोक ७ में सर्वज्ञनारायण टीकाकार “अतीन्द्रियोऽग्राह्यः” मानते
हैं और इसी श्लोक में ८ पुस्तकों में “सएव=सएषः” पाठ देखा जाता है ॥
१ । ८ में कई पुस्तकों का पाठ अभिधाय=अभिधायन् । बीजम्=वीर्यम् ।
असृजत्=अक्षिपत्, है ॥ १ । ९ में दो पुस्तकों “तस्मिन्=यस्मिन्” पाठ है ।

१।१० में तीन पुस्तकों में “अयनं तस्य ताः पूर्व” पाठ है ॥ १।१० के आगे:-

नारायणपरोव्यक्तादण्डमव्यक्तसंभवम् ।

अण्डस्यान्तस्त्वमे लोकाः सप्तद्वीपाऽत्र मेदिनी ॥

यह श्लोक दो पुस्तकों के मूल में और एक की टीका में देखा जाता है और एक पुस्तक में उक्त श्लोक के स्थान में निम्नलिखित प्रक्षिप्त श्लोक पाया जाता है:-

सहस्रशीर्षा पुरुषोरुक्मबाहुस्त्वतीन्द्रियः ।

ब्रह्मा नारायणाख्यस्तु सुष्वाप सलिले तदा ॥

एक पुस्तक में १।११ में “नित्यम्=लोके” देखा जाता है ॥ १।१३ में-
ताभ्यां स शकलाभ्याम्=ताभ्यां च शकलाभ्याम्=ताभ्यां मुण्डकपालाभ्यां, भी
देखे जाते हैं ॥ तथा-स्थानं च शाश्वतं=स्थानं प्रकल्पयत्-भी है ॥ तथा इस
के आगे निम्नस्थ षेड् श्लोक ३ पुस्तकों में अधिक है:-

वैकारिकं तैजसं च तथा भूतादिमेव च ।

एकमेव त्रिधाभूतं महानित्येव संस्थितम् ॥

इन्द्रियाणां समस्तानां प्रभवं प्रलयं तथा ।

१।१५ से आगे:-

अविशेषान्विशेषांश्च विषयांश्च पृथग्विधान् ।

यह अर्थ श्लोक दो पुस्तकों में अधिक मिलता है ॥ १।१६ में १ पुस्तक में
षण्मासप्यमि=परमयानपि । मात्रासु=मात्रास्तु, देखा जाता है ॥ १।१७ में १
पुस्तक में तस्येमानि=तानीमानि, है ॥ १।२५ के १ पुस्तक में वाचं=बलं है ॥
१।२७ के १ पुस्तक में सार्धं=विश्वं, है ॥ १।४६ के ७ पुस्तकों में स्थावराः=तरवः,
है ॥ १।४९ के १ पुस्तक में-अन्तःसंज्ञा=अतःसंज्ञा, और ४ पुस्तकों में-
अन्तःसंज्ञाः, और दो पुस्तकों में-सुखदुःखसम०=फलपुष्पसम०, पाठ हैं ।
चन पाठों से वृत्त सुखदुःखयुक्त नहीं सिद्ध होते ॥ १। ६३ से आगे १ पुस्तक
में और दूसरी में ७० वें श्लोक में यह अर्थ श्लोक अधिक है:-

कालप्रमाणं वक्ष्यामि यथावत्तं निबोधत ॥

१।७८ से आगे ३ पुस्तकों में आगे कहा श्लोक अधिक है:-

परस्परानुप्रवेशाद्वारयन्ति परस्परम् ।

गुणं पूर्वस्य पूर्वस्य धारयन्त्युत्तरोत्तरम् ॥

१।८५ में—युगहासानुरूपतः=तत्तद्गुणानुरूपतः, पाठ है और इस से आगे १ पुस्तक में निम्नस्थ श्लोक अधिक है, जिस की व्याख्या केवल रामचन्द्र टीका-वाले ने, जो सब से नवीन है, की है। जिस से प्रतीत होता है कि अति नवीन समय तक युग २ के पृथक् २ धर्मों की शिक्षा की मिलावट होती रही है:—

ब्राह्मं कृतयुगं प्रोक्तं त्रेता तु क्षत्रियं युगम् ।

वैश्योद्वापरमित्याहुः शूद्रः कलियुगः स्मृतः ॥

१।८७ से आगे दो पुस्तकों में यह श्लोक और अधिक है कि:—

तेषां न पूजनीयोऽन्यस्त्रिषु लोकेषु विद्यते ।

तपोविद्याविशेषेण पूजयन्ति परस्परम् ॥

तथा अन्य दो पुस्तकों में आधा श्लोक और अधिक है कि:—

ब्रह्मत्रिद्वयः परं भूतं न किञ्चिदिह विद्यते ॥

१।९० से आगे दो पुस्तकों और रामचन्द्रकृत टीका में यह श्लोक अधिक है:—

यथा त्रिवेदाध्ययनं धर्मशास्त्रमिदं तथा ।

अध्येतव्यं ब्राह्मणेन नियतं स्वर्गमिच्छता ॥

२।५ से आगे दो पुस्तकों में ये दो श्लोक अधिक हैं:—

असद्वृत्तस्तु कामेषु कामोपहतचेतनः । नरकं संमवाप्नोति
तत्फलं न समश्नुते ॥१॥ तस्माच्छ्रुतिस्मृतिप्रोक्तं यथाविध्यु-
पपादितम् । काम्यं कर्मैह भवति श्रेयसे न विपर्ययः ॥ २ ॥

२।१५ से आगे भी ३ पुस्तकों में दो श्लोक अधिक हैं, जो हमने उसी स्थान पर छापे हैं ॥ २।३१ के उत्तरार्ध का ३ पुस्तकों में—

शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम्

पाठभेद है ॥ २।३२ में भी एक पुस्तक में:—

राज्ञोरक्षासमन्वितम्=राज्ञोवर्मसमन्वितम् ।

पाठ भेद है ॥ २।५१ के ९ यावदन्तः=यावदर्थः, पाठों में मेधातिथि के भाष्यानुसार भेद है ॥ २।६७ वें प्रक्षिप्त श्लोक के पाठ में भी बड़ा अन्तर है कि एक पुस्तक में—

संस्कारोवैदिकः स्मृतः=औपनायनिकः स्मृतः ।

पाठ भेद है । दूसरे एक पुस्तक में—

गृहार्थोग्निपरिक्रिया=गृहार्थोग्निपरिग्रहः ।

पाठ है और अन्य दो पुस्तकों में इसी की जगह—

गृहार्थोग्निपरिक्रिया

पाठान्तर है । तौ क्या ठिकाना है कि यह श्लोक मनुप्रोक्त है ॥ इसी ६७ वें से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:—

अग्निहोत्रस्य शुश्रूषा सायमुद्वासमेव च ।

कार्यं पत्न्या प्रतिदिनमिति कर्म च वैदिकम् ॥

ऐसे ही एक पुस्तक में यह श्लोक ११७ से आगे मिलाया गया है कि:—

जन्मप्रभृति यत्किञ्चिच्चेतसा धर्ममाचरेत् ॥

तत्सर्वं विफलं ज्ञेयमेकहस्ताभिवादनात् ॥

एक हाथ से सलाम करने की निन्दा यवनकालीन जान पड़ती है ॥

नन्दन भाष्यकारके मत में “भोःशब्दं कीर्त्त०” यह १२४ वां श्लोक १२३ वें “नामधेयस्य” के स्थान में पाया जाता है ॥

इस से आगे १२ वें अध्याय तक पाठ भेद पाठाधिक्य वा जो २ अधिक श्लोक किन्हीं पुस्तकों में पाये गये वे अनुमान ११९ के हैं और उसी स्थान पर [] चिन्ह के भीतर हम छापते गये हैं ॥

एकादशाध्याय में प्रायश्चित्तार्थ जिन २ वेदमन्त्रों के प्रतीक श्लोकों में आये हैं वे २ मन्त्र वेदों के मण्डल सूक्त अध्याय आदि पते खोज कर लिख दिये हैं ॥

इस पुस्तक का विषयसूची पृथक् भी इस लिये छपा दिया है कि यद्यपि अध्याय १ श्लोक १११ से ११८ तक १२ हों अध्यायों का भिन्न २ विषयसूची किसी ने श्लोक बना कर मिलाया है उस की भाषाटीका भी हमने की है परन्तु वहां जिन की विस्तार से कोई विषय जानना हो, नहीं जान सकते । बहुत शीघ्र मैंने यह बनाया और छपाया था । इस से बहुत सुधारने पर भी जहां

जहां जो कुछ अशुद्धि रह गई हो और पाठकगण को दृष्टि पड़े ती सरलता से मुझे लिखें, आठवीं बार छपेगा उस में भी और ठीक कर दिया जायगा ॥

इस के अतिरिक्त हेमाद्रि आदि लोगों ने ऐसे कई वचन कहे हैं जो उन्होंने ने मनुवचन कहके लिखे हैं, परन्तु वे वचन अब मनु में नहीं मिलते । ऐसे वचनों का संग्रह ४६६ श्लोकों के अनुमान ज्ञात हो चुका है । जैसा कि धर्माब्धिसार में १ स्मृतिचन्द्रिका में ३२ दानहेमाद्रि में ११ व्रतहेमाद्रि में १ आहुहेमाद्रि में ३१ स्मृतिरत्नाकर में ५३ शूद्रकमलाकर में १४ पराशरमाधव में ४७ निर्णयसिन्धु में १५ मिताक्षरा में १३ संस्कारकौस्तुभ में ६ विवाद भङ्गार्णव में १७ नारायणभट्टकृत प्रयोगरत्न संस्कारमयूख में २ व्यवहारतत्त्व में १ दायक्रमसंग्रह में २ श्रीमद्भागवत ३।१।३६ की टीका में १ शङ्करदिग्विजय १ प्रकरण में २ संस्कारमयूख में ४ आचारमयूख में ८ आहुमयूख में २ व्यवहारमयूख में २ प्रायश्चित्तमयूख में १० और षड्मनु के नाम से १७४ दृहन्मनु के नाम से १७ इस प्रकार श्लोक ४६६ हुवे । तथा मेधातिथि के समस्त पाठभेद ५०० के लगभग हैं । कुल्लूक के पाठभेद भी ६५० के ऊपर हैं । राघवानन्द ने भी ३०० से ऊपर पाठभेद माने हैं । नन्दन ने १०० के लगभग पाठभेद माने हैं । इत्यादि अनेक हेतु इस पुस्तक के (जो वर्तमान समय में मिलता है) ठीक २ मनुकृत होने में पूर्ण सन्देहजनक हैं ॥

मेरठ २२।५।१९१४

तुलसीराम स्वामी



ओ३म्
श्री परमात्मने नमः
अथ

मनुस्मृति-भाषानुवादः

प्रणम्य जगदाधारं वाक्पतिं परमेश्वरम् । क्रियते
मानवी टीका तुलसीरामशर्मणा (स्वामिना) ॥१॥

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः ।

प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥ १ ॥

अर्थ-महर्षि लोग एकान्त में विराजमान मनु जी के निकट जाकर (सन
का) यथोचित प्रतिपूजन कर, यह वचन बोले कि-॥ १ ॥

भगवन्सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः । अन्तरप्रभन्नाणां च
धर्मानो वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥ त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य
स्वयंभुवः । अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थविरप्रभो ॥३॥

अर्थ-महाराज । संपूर्ण वर्णों और वर्णसङ्करों के धर्मोंका यथावत् क्रम
से हम लोगों को उपदेश करने में आप समर्थ हैं ॥ २ ॥ क्योंकि संपूर्ण वेद
(ऋग्यजुः साम अथर्व) के कार्यों (ज्योतिष्टोमादि यज्ञ और नित्यकर्म
संध्यावन्दनादि) के यथार्थ तात्पर्य के जानने वाले आप एक ही हैं । जो
(वेद) कि अचिन्त्य, अप्रमेय, अनादि=परमात्मा का विधान (कानून है) ॥३॥

स तैः पृष्टस्तथा सम्यगभितौजा महात्मभिः । प्रत्युवाचार्य
तान् सर्वान्महर्षीन्श्रूयतामिति ॥ ४ ॥ आसीदिदं तमोभूत-
मप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥५॥

अर्थ-जब इन महात्माओं ने महात्मा मनु से इस प्रकार प्रश्न किया, तब
मनु जी ने इन सब महर्षियों का सत्कार करके कहा कि श्रवण कीजिये ॥४॥

यह विश्व (महाप्रलयकाल में) अन्धकारयुक्त और लक्षणों से रहित, सङ्केत के अयोग्य तथा तर्क द्वारा और स्वरूप से जानने के अयोग्य, सब ओर से निद्रा की सी दशा में था ॥

(यहाँ यह प्रश्न-होता है कि ऋषियों ने तौ धर्म पूछा था, मनु जी सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन क्यों करने लगे ? मनु के सब टीकाकारों (१ मेधातिथि, २ सर्वज्ञनारायण, ३ कुल्लूक, ४ राघवानन्द, ५ नन्दन) ने एक छठे रामचन्द्र टीकाकार को छोड़कर यह प्रश्न उठाया है और धोड़े से भाव में भेद करते हुवे प्रायः सब का तात्पर्य उत्तर में यह है कि सृष्टि का वर्णन करते हुये, चारों वर्णों के धर्म क्रमशः वर्णन करने के लिये प्रथम सृष्टि की उत्पत्ति से आरम्भ करना साङ्गोपाङ्ग धर्म का वर्णन कहा जा सकता है । इस लिये और ब्रह्म-ज्ञान की सब धर्मों में उत्तमता होने से मनु जी ने परमात्मा से जगत् की उत्पत्ति दिखाते हुवे धर्मोपदेश का आरम्भ किया । परन्तु दूसरे श्लोक के आगे अन्य दो श्लोक भी चार प्राचीन लिखित पुस्तकों में देखे जाते हैं और नन्दन तथा रामचन्द्र ने इन पर टीका भी की है । वे ये हैं:-

[जरायुजाण्डजानां च तथा संस्वेदजोद्भिदाम् । भूतग्रामस्य सर्वस्य प्रभवं प्रलयं तथा ॥१॥ आचारांश्चैव सर्वेषां कार्याकार्य-विनिर्णयम् । यथाकालं (कामं) यथायोगं वक्तुमर्हस्यशेषतः ॥२॥]

अर्थात्-जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज्ज और सब प्राणिमात्र की उत्पत्ति और प्रलय ॥१॥ और सब के आचार और कार्य अकार्य का निर्णय, काल (वा इच्छा) और योग के अनुसार समस्त कहिये ॥२॥ तीन पुस्तकों में “कालम्” पाठ देखा जाता है । यदि ये श्लोक प्राचीन माने जाय तो यह संग्रह सर्वथा नहीं रहता कि मुनियों ने धर्म पूछा था, मनु जी सृष्टि का वर्णन क्यों करने लगे ? हमारे विचार में तौ जैसे बहुत श्लोक मनु में नये मिल गये, वैसे ही ऐसे २ श्लोक मनु से जाते रहे और किन्हीं २ पुस्तकों में रह गये) ॥ ५ ॥

ततः स्वयं भूर्भगवानऽव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् । महाभूतादिवृत्तौ-
जाः प्रादुरासीत्तमो नुदः ॥ ६ ॥ यो सावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मो
ऽव्यक्तः सनातनः । सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्भूतः ॥ ७ ॥

अर्थ—इस (दशा) के अनन्तर उत्पत्तिरहित, सर्वशक्तिमान्, इन्द्रियों से अतीत, (प्रलयकाल के अन्त में) प्रकृति की प्रेरणा करने वाले, महत्तत्त्व (आकाश वायु अग्नि जल पृथ्वी) आदि कारणों में युक्त है बल जिसका, उस परमात्मा ने इन को प्रकाशित करके अपने को प्रकट किया । (परमेश्वर का प्रकट होना यही है कि, जगत् की रचना और जगत् के लोगों को अपना ज्ञान कराना) ॥ ६ ॥ जो कि इन्द्रियों से नहीं (किन्तु आत्मा से) जाना जाता और परम सूक्ष्म, अव्यक्त, सनातन, संपूर्ण विश्व में व्याप्त तथा अचिन्त्य है वही अपने आप प्रकट हुआ ॥ ७ ॥

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वातिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः । अपएव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ ८ ॥ तदण्डमभवद्वैमं सह-
स्रांशुसमप्रभम् । तस्मिञ्छजे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ९

अर्थ—उस (स्वस्वामिभावसंबन्ध से=मालिक और मिलकियत् के लिहाज से) अपने शरीर से नाना प्रकार की प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा करने वाले ने ध्यान करके प्रथम अप् तत्त्व ही उत्पन्न किया, उस में बीज को आरोपित किया । (यहां शरीर शब्द से उपादानकारण का ग्रहण है * । परमेश्वर उस का अधिष्ठाता=स्वामी [मालिक] है, इस लिये उसे “परमेश्वर का” कहा गया है) ॥

अप् शब्द का अर्थ अमृतत्व है, जल नहीं । वास्तव में पञ्च भूतों में से एक भूत जल का अर्थ लेना यहां संगत भी नहीं, किन्तु प्रकृति को जब परमात्मा कार्योन्मुख करके सृष्टि को उत्पन्न करना आरम्भ करता है तब जो तत्त्व प्रकृति का सब से पहला कार्य वा सब से पहला परिणाम होता है उसी को “अमृतत्व” कहा समझना चाहिये क्योंकि इस के आगे १।११ में—

“यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।”

इस लोक में अव्यक्त (प्रकृति) का वर्णन प्रकरण में है । उसी को १।८ में शरीर कहा है । शरीर, से अप् को उत्पन्न करना कहा गया है । अप् वही वस्तु जान पड़ती है जिस को सांख्य मत में—

प्रकृतेर्महान्

* प्रधानमेव तस्येदं शरीरम्=प्रकृति ही उस पुरुष का शरीर है । मेधा-
तिथि टीकाकार ॥

कह कर महत्तरु संज्ञा दी है। यदि हम अप् का अर्थ जल मात्र लें तो यह किसी शास्त्र वा दर्शन से अनुमोदित नहीं हो सकता ॥ ऐतरेय आरण्यक पृ० ११२ में सायणाचार्य कहते हैं कि—

“अप् शब्देन पञ्चभूतान्युपलक्ष्यन्ते,” (नथा—)

“अप् शब्देन सर्वेषां देहबीजभूतानां सूक्ष्मभूतानां ग्रहणम्”

यह सायणीय वा माधवीय शङ्करदिग्विजय के सर्ग ७ श्लोक ७ की टीका टिप्पणी में कहा गया है। इन दोनों वाक्यों का अर्थ यही है कि अप् शब्द से देह के बीजभूत सब सूक्ष्म भूत समझने चाहिये ॥

ऋग्वेद १०।१२१।७ में जो मन्त्र है कि—

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन्

गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।

ततो देवानां समवर्त्ततासुरेकः

कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

इस में अप् शब्द के विशेषण—गर्भं दधानाः, अग्निं जनयन्तीः, दत्तं दधानाः, यज्ञं जनयन्तीः आये हैं सो केवल जल साधारण से गर्भ का धारण, अग्नि का उत्पादन, बल का धारण, यज्ञ का उत्पादन नहीं संभव होता, किन्तु प्रकृति की पहली विकृति में ही घट सकता है और यही कारण संस्कृत में ‘अप्’ शब्द के स्त्रीलिङ्ग होने का भी जान पड़ता है। पीछे ‘अप्’ के जल तुल्य द्रव (रक्तीक) पदार्थ होने से उस का नाम जल पड़ गया और लिङ्ग वही स्त्रीलिङ्ग प्रयुक्त होता रहा जान पड़ता है। यही मन्त्र यजुर्वेद २७।२५ में भी आया है, जिस का भाष्य करते हुवे महीधर ने शतपथ ११।१।६।१ का प्रमाण दिया है कि—

आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेषास ।

इस में भी जगत् की प्रथम कार्यावस्था वाले तत्त्व को ही ‘अप्’ तत्त्व कहा जान पड़ता है ॥

इसी यजुः २७।२५ में—स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने भी (आपः) = “व्यापिकास्तन्मात्राः” । व्यापक = जलों की सूक्ष्म मात्रा, कहा है और यजुर्वेद ३२।७ में पुनः इस मन्त्र का प्रतीक आने पर भी उक्त स्वामी

जी ने (आपः) व्याप्ताः, (आपः) आकाशाः अर्थ किया है, जिस से मेरे लिये सन्ध्या पुस्तकस्य अर्णवः समुद्रः के अर्थ=जल भरा समुद्र=आकाश अर्थ की पुष्टि होती है । इसी को आकाशतत्त्व भी कह सकते हैं ॥

वास्तव में जगत् की उत्पत्ति के प्रकरण में आपः शब्द योगरूढ है, जो वेदों और अन्य सब शास्त्रों में जहां सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है, बाहुल्य से प्रयोग में आया है, इसी से पौराणिक समुद्र से कमलनाल में ब्रह्मा की उत्पत्ति वाली कथा पढ़ी गई जान पड़ती है और इसी से ईसाइयों के उत्पत्ति प्रकरण के वाक्य कि ईश्वर का आत्मा जल पर डोलता था, इत्यादि घड़े गये अनुमान होते हैं ॥८॥ वह (बीज) चमकीला सूर्य के समान अण्डाकार बना था । उस में परमात्मा (ब्रह्मा) सर्वलोक का पितामह आप प्रकट हुआ (अर्थात् प्रथम उपादान कारण का एक चमकीला गोला सा बनाया) ॥ ९ ॥

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः । ता यदस्यायनं पूर्व तेन नारायणः स्मृतः ॥१०॥ यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सद-सदात्मकम् । तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥११॥

अर्थ—अप् को “नाराः” कहते हैं क्योंकि नर=परमात्मा से अप् उत्पन्न हुआ है । वह नारा प्रथम स्थान है जिस का, इस कारण परमात्मा को “नारायण ” कहते हैं ॥१०॥ जो सम्पूर्ण जगत् का उपादान और नेत्रादि से देखने में नहीं आता तथा नित्य और सत् असत् वस्तुओं का मूलभूत प्रधान (प्रकृति) है, उस सहित परमात्मा लोक में “ ब्रह्मा ” कहता है ॥ ११ ॥

तस्मिन्नाण्डे स भगवानुपित्वा परिवत्सरम् । स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद् द्विधा ॥१२॥ ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिंच निर्ममे । मध्येऽथोमदिशश्चाष्टावपांस्थानंच शाश्वतम् ॥१३॥

अर्थ—उस आण्डे में परिवत्सरसंज्ञक कालपर्यन्त स्थित होकर, उस परमात्मा ने आप ही अपने ध्यान से उस आण्डे के दो (कल्पित) टुकड़े किये ॥

(कल्प के समय का १०० वां भाग परिवत्सर जानो । जिस प्रकार १०० वर्ष की सामान्य आयु वाला मनुष्य एक वर्ष के लगभग गर्भ में तैयार होता है, इसी प्रकार यह जगत् भी अपने १०० वें कालभाग तक गर्भ के सी अवस्था में रहा)

॥१२॥ उसने उन दो-दुकड़ों से द्युलोक और पृथिवी, बीच में आकाश और आठ दिशा तथा जल का सनातन स्थान बनाया ॥ १३ ॥

उद्भवबर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम् । मनसश्चाप्यहंकार-
मभिमन्तारमीश्वरम् ॥१४॥ महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगु-
णानि च । त्रिषयाणां ग्रहीतृणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च ॥१५॥

अर्थ—और अपने स्वभूत (मिलकियत) प्रकृति से उस (जगत्कर्त्ता) ने सङ्कल्पविकल्पात्मक मन और मन से अभिमानी सामर्थ्य वाले अहंत्व को उत्पन्न किया ॥ १४ ॥ महान् आत्मा=महत्तत्त्व और रजः, सत्त्व, तमः और विषयों की ग्रहण करने वाली पांच इन्द्रियां शनैः (उत्पन्न कीं) ॥ १५ ॥

तेषां त्ववयवान्सूक्ष्माण्णामप्यमितौजसाम् । सन्निवेश्या-
त्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे ॥१६॥ यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्ये-
मान्याश्चरन्ति षट् । तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्यमूर्तिमनीषिणः

अर्थ—बड़े बल वाले पूर्वोक्त छः ६ (५ इन्द्रियां और १ अहङ्कार=६) के सूक्ष्म अवयवों को अपनी २ मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) में योजना करके सब प्राणियों को बनाया ॥१६॥ क्योंकि शरीर के सूक्ष्म छः अवयव (अर्थात् अहङ्कार और पांच इन्द्रियों से पांच महाभूत=६) सब काव्यों के हेतुरूप होकर उस परमात्मा के आश्रय में रहते हैं, इस कारण उस ज्ञान-स्वरूप परमात्मा के रचित (मूर्ति) जगत् को उस का शरीर कहते हैं । (यद्यपि परमात्मा निराकार=शरीररहित है । यह वेदों का सिद्धान्त है । और पूर्व छठे श्लोक में यहां मनु जी ने भी उसे [अव्यक्त] निराकार इन्द्रियाऽतीत कहा है । परन्तु कल्पना की रीति से जैसे शरीर में जीवात्मा रहता है, वैसे जगत् में परमात्मा रहता है । इस एकदेशीय दृष्टान्त से इस सारे जगत् को परमात्मा का शरीर कल्पित कर लिया जाता है । वेदों में इस प्रकार के अलङ्कार की शैली बहुत आई है ॥ १७ ॥

तदाविशन्तिभूतानि महान्ति सह कर्मभिः । मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः
सर्वभूतकृदवययम् ॥१८॥ तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौ-
जसाम् । सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः संभवत्यवययाद्वययम् ॥१९॥

अर्थ—५ महाभूत और मन जो सब का कर्ता और (अन्त्यों की अपेक्षा) अविनाशी है, ये ६ सब पूर्वोक्त जगतरूपी शरीर में अपने २ कामों और सूक्ष्म अवयवों सहित प्रविष्ट होते हैं ॥ १८ ॥ पूर्वोक्त सात पुरुष (जगतरूप पुर में रहने वाले १ अहङ्कार, २ महत्तत्त्व और आकाशादि पांच, इस प्रकार ७ सात) जो कि बड़े सामर्थ्य वाले हैं, इन की सूक्ष्म मूर्तिमात्राओं (पञ्चतन्मात्राओं) से अविनाशी परमात्मा नाशवान् जगत् को उत्पन्न किया करता है ॥ १९ ॥

आद्यादस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः। यो यो यावत्तिथश्चैषां
स स तावद्गुणः स्मृतः ॥ २० ॥ सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च
पृथक् पृथक् । वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ २१ ॥

अर्थ—इन (पञ्चमहाभूतों) में से पूर्व २ के गुण को परला २ प्राप्त होता है (आकाश का गुण शब्द परले वायु में व्याप्त हुआ । ऐसे ही वायु का स्पर्श अग्नि में, अग्नि का रूप जल में, जल का रस पृथ्वी में । इसी से पृथ्वी के शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध ५ गुण हैं) इन में जो २ जितनी संख्या वाला है, वह २ उतने २ गुण वाला कहलाता है ॥ २० ॥ उस (परमात्मा) ने सृष्टि के आरम्भ में उन सब के पृथक् २ नाम और कर्म और व्यवस्था वेद शब्दों से रचीं ॥ २१ ॥

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत् प्राणिनां प्रभुः । साध्यानां च
गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैत्र सनातनम् ॥ २२ ॥ अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं
ब्रह्म सनातनम् । दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं मृग्यजुः सामलक्षणम् ॥ २३ ॥

अर्थ—उस प्राणियों के प्रभु ने, कर्म है स्वभाव जिन का ऐसे देवों (अग्नि वायु आदित्यादि), साध्यों के सूक्ष्म समुदाय और सनातन (ज्योतिष्टोमादि) यज्ञ को उत्पन्न किया ॥ २२ ॥ (उस ने) यज्ञ के अर्थ सनातन वेद, जिस के ३ भेद=ऋग्यजुः सान हैं, इन को अग्नि वायु सूर्य से (अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, सूर्य से सामवेद) प्रकट किया ॥ २३ ॥

कालं कालविभक्तीश्च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा ।

सरितः सागरान् शैलान् समानि विषमाणि च ॥ २४ ॥

अर्थ—समय, (वर्ष मास पक्ष तिथि प्रहर घटिका पल कला काष्ठादि) काल-विभाग तथा नक्षत्र ग्रह नदी समुद्र पर्वत और ऊँची नीची (भूमि उत्पन्न किये) २४

तपो वाचं रतिं चैव कामं च क्रोधमेव च। सृष्टिं ससर्जं चै
वेमां सृष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः॥२५॥ कर्मणां च विवेकार्थं धर्मा-
ऽधर्मौ व्यवेचयत्। द्वन्द्वैरयोजयञ्चेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः॥२६॥

अर्थ—प्रजा के उत्पन्न करने की इच्छा करते हुवे ने तप, वाणी, रति
(जिस से चित्त को प्रसन्नता होती है), काम तथा क्रोध को उत्पन्न किया ॥२५॥
कर्मों के विवेक के लिये धर्म अधर्म को जताया (और धर्माधर्मानुसार)
सुख दुःखादि द्वन्द्वों से प्रजा का योजन किया ॥ २६ ॥

अण्वयो मात्राविनाशिन्यो दशाहुनां तु याः स्मृताः। ताभिः
सार्द्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः॥२७॥ यं तु कर्मणि यस्मिन्स
न्ययुङ्क्तप्रथमं प्रभुः। स तदेव स्वयं भजे सृज्यमानः पुनः पुनः॥२८॥

अर्थ—सूदन जो दश की आधी विनाशिनी (पाँच) तन्मात्रा (शब्द स्पर्श
रूप रस गन्ध) कहीं हैं, उन के साथ यह सम्पूर्ण सृष्टि क्रम से उत्पन्न है ॥२७॥
उस प्रभु ने सृष्टि के आदि में जिस स्वाभाविक कर्म में जिस की योजना की
उसने पुनः २ जन्म उत्पन्न हुवा, स्वयं वही स्वाभाविक कर्म अपने आप किया २
हिंसा हिंसे मृदु क्रूर धर्माधर्मावृतानृते। यदास्य सोऽदधात्सर्गे
तत्तस्य स्वयमाविशत् ॥२९॥ यथर्तुलिङ्गान्यृतत्रः स्वयमेव तं
पर्यये। स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः॥३०॥

अर्थ—हिंस्रकर्म—अहिंस्र, मृदु (दयाप्रधान) क्रूर, धर्म पृत्यादि—अधर्म,
सत्य,—असत्य, जिस का जो कुछ (पूर्व कल्प का) स्वयं प्रविष्ट था, वह २
उस २ को सृष्टि के समय उस ने धारण कराया ॥ २९ ॥ जैसे वसन्त आदि
ऋतुओं अपने अपने समय में निज २ ऋतुचिन्हों को प्राप्त हो जाते हैं, उसी
प्रकार मनुष्यादि भी अपने २ कर्मों को पूर्वकल्प के यत्ने कर्मानुसार प्राप्त
हो जाते हैं ॥ ३० ॥

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः। ब्राह्मणं क्षत्रियं
वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत् ॥३१॥ द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन
पुरुषोऽभवत्। अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः॥३२॥

अर्थ-लोकों की वृद्धि के लिये मुख ब्राह्मण, बाहू क्षत्रिय, उरू वैश्य, प्राद शूद्र (इस क्रम से सृष्टिकर्ता ने) उत्पन्न किये ॥ ३१ ॥ उस प्रभु ने अपने जगत् रूपी शरीर के दो भाग किये, अर्द्धभाग से पुरुष और अर्द्धभाग से स्त्री हुई, उस स्त्री में विराट् (सारे जगत् को एक पुरुषरूपक में) उत्पन्न किया ॥

(यहां सब जगत् को एक पुरुष माना है। जिस में अर्द्धभाग स्त्रीपने का और अर्द्ध पुरुषपने का है। मनुष्य पशु पक्षी वृक्ष और पृथिव्यादि लोक इत्यादि सब में स्त्री भाव और पुरुषभाव है) ॥ ३२ ॥

“तपस्तप्त्वासृजदं तु स स्वयं पुरुषोविराट्। तं मां वित्तास्य सर्वस्य सृष्टारं द्विजसतमाः ॥ ३३ ॥ अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वासुदुश्चरम्। पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीनादितोदश ॥ ३४ ॥”

अर्थ-हे द्विजश्रेष्ठो! उसी विराट् पुरुष ने तप करके जिस को उत्पन्न किया, वह सब का उत्पन्न करने वाला मुझे जानो ॥ ३३ ॥ मैंने प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा से उग्र तप करके प्रजा के पति दश १० महर्षियों को प्रथम उत्पन्न किया ३४

“मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्। प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥ ३५ ॥ एते मनूस्तु सप्तान्यान्सृजन्भूरि तेजसः। देवान्देवनिकायांश्च ब्रह्मर्षींश्चामितौजसः ॥ ३६ ॥”

अर्थ-(उन दश महर्षियों के नाम) मरीचि १ अत्रि २ अङ्गिरस् ३ पुलस्त्य ४ पुलह ५ क्रतु ६ प्रचेतस् ७ वसिष्ठ ८ भृगु ९ और नारद १० को ॥ ३५ ॥ इन बड़े प्रकाशवाले दश प्रजापतियों ने अन्य बड़े कान्तिवाले सात मनु तथा देवतों और उन के स्थानों और ब्रह्मर्षियों को उत्पन्न किया ॥ ३६ ॥

“यक्षरक्षः पिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान्। नागान्सर्पान्सुपर्णांश्च पितॄणां च पृथग्गणान् ॥ ३७ ॥ विद्युतोऽशनिमेघांश्च रोहितेन्द्रधनूपि च। उल्कानिर्घातकेतूश्च ज्योतींश्चुच्चावचानि च ३८”

अर्थ-और यक्षरक्षः पिशाच गन्धर्व अप्सरा असुर नाग सर्प सुपर्ण और पितरों के गण (समूह) को ॥ ३७ ॥ और विद्युत् (जो बिजली बादलों में चमकती है), अशनि (जो बिजली लोह आदि पर गिरती है), मेघ=बादल, रोहित (जो नानावर्ण दगडाकार आकाश में दिखाई देते हैं वर्षा ऋतु में) इन्द्र

धनुष् (प्रसिद्ध), उत्का (जो रेखाकार आकाश से गिरती है), निर्घात= अन्तरिक्ष या पृथिवी से उत्पातशब्द, केतु (पंखवाले तारे) और नाना प्रकार के तारे ॥ ३८ ॥

“किन्नरान्वानरान्मत्स्यान्त्रिविधांश्च विहंगमान्। पशून्मृगान् मनुष्यांश्च व्यालांश्चोभयतोदतः ॥३९॥ कृमिकीटपतङ्गांश्च यूका मक्षिकमत्कुणम्। सर्वे च दंशमशकं स्यावरं च पृथग्विधम् ४०”

अर्थ—किन्नर, वानर, मत्स्य, नानाप्रकार के पक्षी, पशु, मृग, मनुष्य, सर्प और जिनके ऊपर नीचे दांत होते हैं ॥३९॥ कृमि, कीट, पतङ्ग, जूका, खटमल और सम्पूर्ण (क्षुद्र जीव) सच्छर इत्यादि काटने वाले और स्यावर नामा प्रकार के (वृक्ष लता बल्ली इत्यादि) ॥ ४० ॥

“एवमेतैरिदं सर्वं सन्नियोगान्महात्मभिः ।

यथाकर्म तपोयोगात्सृष्टं स्यावरजङ्गमम् ॥ ४१ ॥”

येषां तु यादृशं कर्म भूतानाभिह कीर्तितम् ।

तत्तथा वोभिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि ॥ ४२ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त (मरीचि आदि) महात्माओं ने मेरी आज्ञा तथा अपने तप के प्रभाव से यह सम्पूर्ण स्यावर जङ्गम कर्म के अनुसार रचा ॥ ४१ ॥

(३३ से ४१ तक ९ श्लोक हमारी सम्मति में अवश्य पीछे से मिलाये गये हैं ॥ परमात्मा ने लोक, मनुष्य, ब्राह्मणादि वर्ण, वेद तथा अन्य सब जगत् बनाया यहां ४ जगत्कर्ता पाये जाते हैं, १ परमात्मा, २ विराट्, ३ मनु, ४ मरीच्यादि । इन में ३६ वें श्लोक में मरीच्यादि ऋषियों से अन्य ७ मनुओं का उत्पन्न होना कहा है । सब लोग ब्रह्मा का पुत्र मनु को मानते हैं, यहां विराट् का पुत्र मनु कहा है । ३३ वें श्लोक में मनु अपने को सब जगत् का बनाने वाला बताते हैं जो इसी मनु के पूर्व श्लोकों, वेदों और पुराणों तक के विरुद्ध है । तथा १ श्लोक ४० वें के आगे और भी किन्हीं पुस्तकों में पाया जाता है, सबों में नहीं । इस से जाना जाता है कि वह तौ बहुत ही थोड़े समय से मिलाया गया है, वह यह है ॥

“यथाकर्म यथाकालं यथाप्रज्ञं यथाश्रुतम् ।

यथायुगं यथादेशं यथावृत्ति (यथोत्पत्ति) यथाक्रमम्” ॥१॥

“इस श्लोक का (यद्योत्पत्तिः) पाठ उज्जैन नगरी के (आठवले) नाना साहेब के रामकृत टीकायुक्त पुस्तक में पाया जाता है। यह श्लोक सितारा के समीपवर्ती यतिेश्वर स्थान के द्रविड़ शङ्करात्मज रामचन्द्र के मूलभात्र पुस्तक में भी पाया जाता है। तथा उज्जैन के (सोरठी दादा) रामभाऊ शर्मा के मूल पुस्तक में भी पाया जाता है। शेष २७ प्रकार के पुराणे लिखे पुस्तकों में यह श्लोक नहीं है। हम को आश्चर्य यह है कि मेधातिथि आदि ६ टीकाकारों ने न जाने क्यों इस विरोध पर दृष्टि भी नहीं की) ॥ ४१ ॥

इस संसार में जिन प्राणियों का जो कर्म कहा है उसी प्रकार हम कहेंगे तथा उन के जन्म में क्रम भी (कहेंगे) ॥ ४२ ॥

पशवश्चमृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः। रक्षांसि च पिशाचाश्च
मनुष्याश्च जरायुजाः ॥४३॥ अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा म-
त्स्याश्च कच्छपाः। यानि चैवंप्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च ४४

अर्थ—[जरायु (गर्भ की भित्री) से जो उत्पन्न हो उसे जरायुज कहते हैं] गाय आदि पशु, हरिणादि मृग, सिंह और जिन के ऊपर नीचे दांत होते हैं वे, और राजस (स्वार्षी), पिशाच (कच्चे मांस खाने वाले), मनुष्य ये सब जरायुज हैं ॥४३॥ और पक्षी (परंद), सर्प, नाके, कछुवे इत्यादि इसी प्रकार के भूमि पर तथा पानी में उत्पन्न होने वाले भी सब अण्डज कहलाते हैं ॥ ४४ ॥

स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम् । ऊष्मणश्चोपजा-
यन्ते यच्चान्यत्किंचिदीदृशम् ॥४५॥ उद्भिज्जाः स्यावराः सर्वे बीज
काण्डप्ररोहिणः । ओषधयः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ४६

अर्थ—मच्छर और काटने वाले क्षुद्र जीव जुआं मक्षिका खटमल इत्यादि और जो गरमी से उत्पन्न होते हैं। और जो इन्हीं के सदृश (चींटियां इत्यादि) स्वेदज अर्थात् पसीने से उत्पन्न होने वाले हैं ॥ ४५ ॥ जो भूमि को फाड़ कर ऊपर निकलें, उन को उद्भिज्ज कहते हैं, ये ये हैं—स्यावर अर्थात् वृक्षादि। इन में दो प्रकार हैं, एक बीज से उत्पन्न होने वाले, दूसरे शाखा से, (धान यद्य इत्यादि) जिन का फलपाक में अन्त हो जाता है और पुष्प फल जिन में अधिक होते हैं, उन को ओषधि कहते हैं (उद्भिज्ज हैं) ॥४६॥

अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः । पुष्पिणः फलि-
नश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः ॥४७॥ गुच्छं गुल्मं तु विविधं तथैव
तृणजातयः । बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना बल्लय एव च ॥४८॥

अर्थ—जिन में पुष्प नहीं किन्तु फल ही होता है उन को वनस्पति कहते हैं और जो पुष्प फल से युक्त हों उन को वृक्ष कहते हैं ॥ ४७ ॥ जिस में जड़ से ही लता का मूल हो और शाखा इत्यादि न हो उस को गुच्छ कहते हैं (जैसे मल्लिका) गुल्म (जैसे इक्षुप्रभृति) तृणजाति, नाना प्रकार के बीज शाखा से उत्पन्न होने वाले और प्रतान (जिन में सूत सा निकले जैसे कट्टी सीरा इत्यादि) और बल्ली (जैसे गुडूच्यादि,) उद्भिज्ज हैं ॥ ४८ ॥

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना । अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते
सुखदुःखसमन्विताः ॥ ४९ ॥ एतदन्तास्तु गतयो ब्रह्माद्याः
समुदाहृताः । घोरेस्मिन्भूतसंसारे नित्यं सततयायिनि ॥५०॥

अर्थ—ये (वृक्ष) अधिक तमोगुण और (दुःख देने वाले अधर्म) कर्मों से व्याप्त हैं, इन के भीतर लुपा ज्ञान रहता है, सुख दुःख से युक्त रहते हैं* ॥४९॥ इस नाशवान्, प्राणियों को भयङ्कर और सदा चल संसार में ब्रह्मा से स्थावरपर्यन्त ये गतियों कहीं ॥ ५० ॥

एवं सर्वं स सृष्टेदं मां च । चिन्त्य पराक्रमः । आत्मन्यन्तर्दधेभूयः
कालं कालेन पीडयन् ॥५१॥ यदा स देशो जागर्ति तदेदं चेष्टते
जगत् । यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥५२॥

अर्थ—उस अचिन्त्यपराक्रम ईश्वर ने संपूर्ण (स्थावरजङ्गमरूप) सृष्टि और मुक्त मनु को ऐसे उत्पन्न करके सृष्टिकाल को प्रलयकाल से नाश करते हुवे अपने में लुपा लिया है (अर्थात् प्राणियों के कर्मवश से पुनः पुनः सृष्टि प्रलय करता है) ॥५१॥ जब प्रजापति जागता=(सृष्टि करने की इच्छा करता) है उस समय यह संपूर्ण जगत् चेष्टायुक्त हो जाता है और जब निवृत्ति की इच्छा होती है तब संपूर्ण लय को प्राप्त होता है (यही उस का सोना जागना है) ॥५२॥ तस्मिन् स्वपिति तु स्वस्थे कर्मात्मानः शरीरिणः । स्वकर्मभ्यो नि

*जिस प्रकार जलादि के न मिलनेसे मनुष्यादि मरजाते हैं वैसे वृक्षादिभी॥

वर्तन्ते मनश्चलानिमृच्छति॥५३॥युगपत्तुप्रलीयन्तेयदातस्मिन्
महात्मनि । तदायं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः ॥५४॥

अर्थ—जब वह व्यापारों से रहित हो शयन करता है उस समय कर्मात्मा (जो कि शरीर के साथ तक कर्म बन्धन से नहीं छूटते हैं) प्राणी अपने २ कर्म से निवृत्त हो जाते हैं और मनस्तव भी क्षीण हो जाता है ॥५३॥ एक ही समय जब वे संपूर्ण ईश्वर में प्रलय को प्राप्त होते हैं उस समय (सुख दुःखादि से रहित जीवों को सुषुप्ति का सुख प्राप्त हो, इस लिये) यह परमात्मा निवृत्त और सोता कहा जाता है ॥

(कभी भी अनुभव न किया हुआ प्रलय का वर्णन लोगों की समझ में कुछ न कुछ आजावे, इस लिये प्रलय को परमात्मा की रात्रि करके वर्णन किया गया है । वस्तुतः परमात्मा चेतनस्वरूप सदा जागने वाला ही है । जिस प्रकार सूर्य वनस्पतियों के उगने और सूखने का हेतु है परन्तु किसी वृक्षादि को उगाने वा सुखाने के समय सूर्य का स्वरूप नहीं बदलता किन्तु एकसा ही रहता हुआ सूर्य उगाता और सुखाता भी है । किन्तु वे वृक्षादि अपने स्वभाव, भेद और अवस्थाभेद से सूर्य का प्रभाव अपने ऊपर अनेक प्रकार का डालते हैं । यद्यपि सूर्य का प्रभाव है एक ही प्रकार का । ऐसे ही परमात्मा के सब गुण सदा एक से ही रहते हैं, परन्तु प्रकृति कभी विकृत होती है, कभी प्रकृत और इसी से जब विकृत होती है तब परमात्मा की व्यापकता का फल उत्पत्ति और जब प्रकृत होती है तब उस की व्यापकता का फल प्रलय हो जाता है) ॥५४॥

तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः । न च स्वङ्कुरुते
कर्म तदोत्क्रामतिमूर्ततः॥५५॥यदाणुमात्रिकोभूत्वा बीजं स्या-
न्नु चरिणु च । समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्तं विमुञ्चति ॥५६॥

अर्थ—जब यह जीव इन्द्रियों सहित बहुत कालपर्यन्त तम (सुषुप्ति) को आश्रय करके रहता है और अपना कर्म (श्वासप्रश्वासादि) भी नहीं करता तब शरीर से पृथक् हुवा रहता है ॥५५॥ जब अणुमात्रिक होकर (अर्थात् अणु हैं मात्रायें जिस की उस अणुमात्र को पुर्यष्टक कहते हैं अर्थात् अरीर प्राप्त होने की आठ सामग्री—जीव १ इन्द्रिय २ मन ३ बुद्धि ४ वासना ५ कर्म ६ वायु ७ अविद्या ८ ये आठ मिल कर अणुमात्र कहलाते हैं तौ प्रथम अणुमात्रिक

होकर) अचर (वृक्षादि) वा चर (मनुष्यादि) के हेतुभूत बीजों में प्रविष्ट होता है, तब उन में मिल कर शरीर को धारण करता है ॥ ५६ ॥

एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम् ।

सञ्जीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः ॥५७॥

अर्थ—ऐसे वह अविनाशी परमात्मा शयन और जाग्रत् से इस संपूर्ण चराचर को निरन्तर उत्पन्न और नष्ट करता है ॥ ५७ ॥

“इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः ।

विधिब्रह्म ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ॥५८॥”

“मनु जी कहते हैं कि इस (ब्रह्मा) ने सृष्टि के प्रथम इस धर्मशास्त्र का निर्माण करके विधिवत् मुक्त को उपदेश किया, अनन्तर मैंने मरीच्यादि मुनियों को पढ़ाया ॥ ५८ ॥”

“एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः ।

एतद्भि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ॥५९॥

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः ।

तानब्रवीदृषीन्सर्वान्प्रोतात्मा श्रूयतामिति ॥६०॥”

अर्थ—“ यह संपूर्ण शास्त्र भृगु आप लोगों को सुनावेगा, जो मुक्त से संपूर्ण पढ़ा है ॥५९॥ अनन्तर महर्षि भृगु ने मनु की आज्ञा पाकर प्रसन्नचित्त होकर उन सब ऋषियों के प्रति कहा कि सुनिये ॥ ६० ॥

स्वायंभुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे ।

सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वामहात्मानोमहौजसः ॥६१॥

स्वारोचिषश्चौत्तमश्च तामसोरैवतस्तथा ।

चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च ॥६२॥”

अर्थ—इस स्वायंभुव मनु के वंश में उत्पन्न हुवे छः मनु और हैं, उन बड़े पराक्रम वाले महात्माओं ने अपनी २ सृष्टि उत्पन्न की थीं ॥६१॥ (उन के नाम) स्वरोचिष १ औत्तम २ तामस ३ रैवत ४ चाक्षुष ५ और विवस्वत ६ ये छः बड़े कान्ति वाले हैं ॥ ६२ ॥”

“स्वायंभुवाद्याः सप्तैतेः मनत्रोभूरितेजसः ।

स्वे स्वेन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्यापुरचराचरम् ॥ ६३ ॥”

अर्थ—“स्वायंभुव आदि सात मनु बड़े तेजस्वी हुवे जिन्होंने ने अपने २ अधिकार में सम्पूर्ण चर अचर सृष्टि को उत्पन्न करके पालन किया ।” (५८ से ६३ तक ६ श्लोक असङ्गत जान पड़ते हैं । ५८ वें में मनु का यह कहना असङ्गत है कि मैंने यह शास्त्र परमात्मा से ग्रहण किया । यदि वेदों का तात्पर्य लेकर बनाये हुवे को भी ईश्वरीय कहें तो न्यायशास्त्रादि सब ग्रन्थ परमेश्वर से ही ऋषियों ने पढ़े मानने पड़ेंगे । और मनु का ऋषियों से यहां तक अविच्छिन्न संवाद चला आता है इस लिये यह वाक्य भृगु की ओर से नहीं माना जा सकता । और ५८ वें में यह कह कर कि मैंने परमात्मा से पढ़ा और फिर मरीच्यादि को पढ़ाया । ५९ वें में आगे यह कथन है कि “सो मेरा पढ़ाया हुवा शास्त्र भृगु तुम को सुनावेगा ” इस से भी मनु का ही ऋषियों से संवाद चलता रहना पाया जाता है । किन्तु ये श्लोक, बनाने वाले ने इस ग्रन्थ की अपौरुषेयता सिद्ध करने और यह सिद्ध करने को कि मैं साक्षात् मनु से पढ़ा, बनाये हैं । आगे ६१, ६२, ६३ श्लोकों में यह वर्णन है कि स्वायंभुव के वंश में छः और मनु हुवे थे, जिन्होंने अपने २ समय में चराचर जगत् बनाये और पाले । इस से यह फलकता है कि श्लोककर्ता से पूर्व छः मन्वन्तर बीत चुके थे । ती छः मन्वन्तर बीतने पर इस भृगु को उपदेश करने स्वायंभुव मनु कहां से आया । इन श्लोकों का यह कहना भी असत्य है कि मनु के वंश में कोई देहधारी मनु नामक मनुष्य हुवे और उन्होंने अपनी २ प्रजा बनायीं । ७१ चतुर्युगियों का १ मन्वन्तर आगे श्लोक ७९ में कहेंगे । फिर कोई राजा इतने दिनों तक कैसे वर्तमान रह सकता है । पुराणों में सत्ययुग में एक लक्ष, त्रेता में १० सहस्र, द्वापर में एक सहस्र और कलि में १०० वर्ष की आयु लिखी है । यह भृगु तो उस से भी आगे बढ़ गया । मन्वन्तर किसी पुरुष का नाम भी नहीं है किन्तु जैसे सत्ययुग आदि चार युग काल की संज्ञा हैं वैसे मन्वन्तर भी आगे ७९ वें श्लोक में कहे प्रमाण ७१ चतुर्युगियों के बराबर काल की संज्ञा हैं । काल के नाम पर राजा का नाम संभव मानें तो भी एक मनु के वंश में दूसरा मनु कैसे रहे । और इतने दीर्घकाल तक एक २ पुरुष की आयु कैसे रहे । क्योंकि ६३ वें श्लोक में (स्वे स्वेन्तरे) कहा है कि अपने २ काल के

अन्तर (मन्वन्तर) में उस २ मनु ने अपनी २ प्रजा रची और पाली। और मन्वन्तर का वर्णन काल के विभागों (निमेष से लेकर) को बतलाते हुवे ३१ वें श्लोक में आवेगा। फिर निमेष काष्ठा, कला, मुहूर्त, दिन, रात, वर्ष, युग इत्यादि के पश्चात् वर्णन करने योग्य मन्वन्तर का यहां प्रथम ही वर्णन करना असङ्गत और पुनरुक्त भी है। श्लोक ५९ में (अशेषतः) (सर्वम्) (अखिलम्) यह तीन पद एक ही अर्थ में पुराणों की शैली के से व्यर्थ भी हैं) ॥ ६३ ॥

निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला ।

त्रिंशत्कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ॥ ६४ ॥

अर्थ—(सृष्टि का समय जानने के लिये समय की संज्ञा निरूपण करते हैं) आंख की पलक गिरने के समय का नाम निमेष है, अठारह निमेष की १ काष्ठा होती है, तीस काष्ठा की १ कला, तीस कला का १ मुहूर्त, तीस मुहूर्त का १ दिन रात होता है ॥ ६४ ॥

अहोरात्रे विभजते सूर्योमानुषदैविके । रात्रिः स्वप्नाय भूतानां
चेष्टायै कर्मणामहः ॥ ६५ ॥ पितृये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तु
पक्षयोः । कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरो ॥ ६६ ॥

अर्थ—सूर्य, मनुष्य देव सम्बन्धी रात दिन का विभाग करता है, उस में मनुष्यादि के शयन को रात्रि और कर्म करने को दिन है ॥ ६५ ॥ (मनुष्य) के एक मास का १ रात दिन पितरों का होता है, उस में कृष्णपक्ष दिन कर्म करने के लिये और शुक्लपक्ष रात्रि शयन करने के लिये है ॥ ६६ ॥

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः । अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः
स्यादक्षिणायनम् ॥ ६७ ॥ ब्रह्मस्य तु क्षपाऽहस्य यत्प्रमाणं
समासतः । एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ६८ ॥

अर्थ—मनुष्यों के एक वर्ष में देवतों का रात्रिदिवस होता है, फिर उनका विभाग यह है कि उस में उत्तरायण दिन है और दक्षिणायन रात्रि है ॥ (पितरों की दिनरात्रि का तात्पर्य चन्द्रलोक वालों की दिनरात्रि है। उपनिषदों में पितृगतिको चन्द्रलोक की गति और दैवगति को सूर्यलोक की गति करके कहा है। सूर्य की परिक्रमा पृथिवी एक वर्ष में करती है, इस विचार से सूर्यापेक्षा उत्तरायण प्रकाश की वृद्धि से दैव दिन और दक्षिणायन प्रकाश

की घटती से दैवी रात्रि माना गया है। चन्द्रलोक पृथिवी की परिक्रमा एक मास में करता है इस से चन्द्र=पितृलोक की १५ दिन की १ रात्रि और १५ दिन का १ दिन कहा है) ॥६७॥ अब ब्राह्मरात्रि दिवस और (कृत त्रेता द्वापर कलि) प्रत्येक युगों का भी परिमाण क्रम से सुनो ॥ ६८ ॥

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम् । तस्य तावच्छती
संध्या संध्यांशश्च तथाविधः ॥६९॥ इतरेषु ससंध्येषु ससंध्यांशेषु
च त्रिषु । एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ ७० ॥

अर्थ—(मनुष्यों के ३६० वर्ष का १ दैव वर्ष, ऐसे) चार हजार वर्ष की कृत युग कहते हैं और उसकी सन्ध्या (युग का पूर्वकाल) चार सौ वर्ष का होता है और सन्ध्यांश (युग का परकाल) भी चार सौ वर्ष का होता है । (सन्ध्या और सन्ध्यांश मिलकर कृतयुग ४८०० दैव वर्ष का होता है) ॥६९॥ अन्य तीन (त्रेता द्वापर कलि) की सन्ध्या और सन्ध्यांश के साथ जो संख्या होती है वह क्रम से सहस्र में की और शत में की एक २ संख्या घटाने से तीनों की संख्या पूरी होती है (जैसे कृतयुग ४८०० = १७२८००० त्रेता ३६०० = १२९६००० द्वापर २४०० = ९६४००० कलि १२०० = ४३२००० चारों १२००० = ४४२०००० वर्ष १ चतुर्युगी) ॥७०॥

यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम् । एतद् द्वादशसाहस्रं
देवानां युगमुच्यते ॥७१॥ दैविकानां युगानां तु सहस्रं परि-
संख्यया । ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिरेव च ॥ ७२ ॥

अर्थ—यह जो प्रथम गिनाये, इन्हीं चार युगों को बारह हजार १२००० गुणा करके १ दैव युग कहाता है ॥७१॥ दैव सहस्र युगों का ब्रह्मा का एक दिन और सहस्र युगों की रात्रि (अर्थात् दैव दो सहस्रयुग होने से ब्रह्मा का रात्रि दिन होता है) दैव १२००० वर्ष का एक युग, इसे १००० गुणा करने से १२०००००० दैववर्ष का १ ब्राह्मदिन हुवा । इसे ३६० गुणा करने से ४३२००००००० चार अर्ब यत्तीस कोड़ मानुष वर्षों का ब्राह्म दिन और इतनी ही रात्रि हुई ॥ ७२ ॥

तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुराणमहर्विदुः । रात्रिं च तावतीमेव
तेऽहोरात्रविदोजनाः ॥७३॥ तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रति
बुद्ध्यते । प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदऽसदात्मकम् ॥ ७४ ॥

अर्थ-सहस्र युग से अन्त अर्थात् समाप्ति है जिस की उसे ब्रह्मा का पुण्य दिवस और उतनी ही रात्रिकी वे अहोरात्र जानते हैं ॥७३॥ पूर्वोक्त अहोरात्र के अन्त में वह (ब्रह्मा) सोते से जाग्रत होता है और जागकर संकल्प विकल्पात्मक मन को उत्पन्न करता है ॥ ७४ ॥

मनः सृष्टिं विकुरुते चोदमानं सिसृक्षया । आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः ॥७५॥ आकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्वं गन्धवहः शुचिः । बलवान् जायते वायुः सर्वैस्पर्शगुणो मतः ॥७६॥

अर्थ-(परमात्मा की) रचने की इच्छासे प्रेरित किया हुआ मन सृष्टि को विकृत करता है, मनस्तत्त्व से आकाश उत्पन्न होता है, उसके गुणको शब्द कहते हैं ॥ ७५ ॥ आकाश के विकार से सब गन्ध को ले चलने वाला पवित्र बलवान् वायु उत्पन्न होता है, वह स्पर्श गुणवाला माना है ॥ ७६ ॥

वायोऽपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णु तमोऽनुदम् । ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते ॥७७॥ ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापोरस गुणाः स्मृताः । अद्भ्योगन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः ७८

अर्थ-वायु के विकार से तम का नाश करने वाला प्रकाशित चमकीला अग्नि उत्पन्न होता है, उसका गुण रूप है ॥ ७७ ॥ अग्नि के विकार से जल उत्पन्न होता है जिसका गुण रस है और जल से पृथिवी, जिसका गुण गन्ध है । प्रथम से सृष्टि का यह क्रम है ॥ ७८ ॥

यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम् । तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥७९॥ मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च । क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ ८० ॥

अर्थ-पूर्व जो बारह सहस्र वर्ष का दैव युग कहा था, ऐसे एकहत्तर युग का एक मन्वन्तर होता है ॥७९॥ मन्वन्तर असंख्य हैं । सृष्टि और संहार=प्रलय भी असंख्य हैं । इन को बारबार प्रजापति क्रीडावत् (बिना श्रम) ही किया करता है ॥ ८० ॥

“चतुष्पात्सकलोऽधर्मः सत्यं चैव कृते युगे । नाधर्मैणागमः कश्चिन् मनुष्यान् प्रतिवर्त्तते ॥८१॥ इतरैर्वागमादधर्मः पादशस्त्वऽव

रोपितः । चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः ॥ ८२ ॥ ”

“ अर्थ—सत्ययुग में धर्म पूर्ण चतुष्पाद् और सत्य रहता है क्योंकि तब अधर्म से मनुष्यों को धन प्राप्त नहीं होता ॥ ८१ ॥ इतर (तीन=त्रेता द्वापर कलि) में वेद से प्रतिपादित धर्म क्रमशः चोरी, झूठ, माया; इन से धर्म चौथाई २ हीन होता है ॥ ८२ ॥ ”

“अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः । कृते त्रेतादिषु ह्येषा-
भायुर्हसति पादशः ॥ ८३ ॥ वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषश्चैव
कर्मणाम् । फलन्त्यनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम् ॥ ८४ ॥ ”

“ अर्थ—सत्ययुग में सब रोगरहित होते हैं और संपूर्ण मनोरथ पूरे होते हैं । आयु ४०० वर्ष की होती है । आगे त्रेतादि में इन की चौथाई २ आयु घटती है ॥ ८३ ॥ मनुष्यों की वेदानुकूल आयु, कर्मों के फल और शरीरधारियों के प्रभाव, सब युगानुकूल फलते हैं ॥ ८४ ॥ ”

“अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे । अन्ये कलियुगे नृणां
युगहासानुरूपतः ॥ ८५ ॥ तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमु-
च्यते । द्वापरे यज्ञमेवादुर्दानमेकं कलौ युगे ॥ ८६ ॥ ”

“ अर्थ—युगों की हीनता के अनुसार मनुष्यों के धर्म सत्ययुग के और हैं, त्रेता के दूसरे हैं, द्वापर के अन्य और कलियुग के और ही हैं ॥ ८५ ॥ कृतयुग में तप मुख्य धर्म है, त्रेता में ज्ञान प्रधान है, द्वापर में यज्ञ कहते हैं और कलि में एक दान ही प्रधान है ” ॥

(८१ से ८६ तक छः श्लोक भी प्रसिद्ध जान पड़ते हैं । क्योंकि मनु सा धर्मात्मा सत्यवादी पुरुष ऐसा असत्य लिखे, सो संभव नहीं प्रतीत होता । जैसा कि ८१ श्लोक में कहा है कि सत्ययुग में धर्म पूरा होता है, अधर्म की मनुष्यों में प्रवृत्ति नहीं होती । यह बात प्रथम तो “काल क्या वस्तु है ” इस बात पर विचार करने से ज्ञात हो सकती है:-

अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि ॥

वैशेषिकदर्शन अ० २ आ० २

पहले, पीछे, एक साथ और शीघ्र; ये काल के चिह्न हैं । इस में धर्म वा अधर्म में प्रवृत्त करना काल का काम नहीं । तथा यह इतिहासप्रमाण के-

भी विरुद्ध है कि सत्ययुग में अधर्म न हुआ हो। इतिहासों के विचार से ज्ञात होता है कि सब युगों में पापी पुण्यात्मा देव असुर इत्यादि होते रहे हैं। और यह लेख मनु के ही पूर्व लेख के प्रतिकूल है। मनु में पूर्व श्लोक २६ में लिखा है कि प्रजा प्रथम धर्माधर्म सुख दुःख से युक्त हुई। तौ सृष्टि के आरम्भ में पहले सत्ययुग होता है उसमें अधर्म और दुःख कैसे उत्पन्न हुवे। श्लोक २९ में हिंसक अहिंसक, सृष्ट कूर, धर्माधर्म, सत्यासत्य ये, तौ सत्ययुग में क्यों थे ? इत्यादि प्रकार से और इस कारण से भी कि इन युगों की व्याख्या श्लोक ६९। ७० में हो चुकी, मनुजी युग में धर्माधर्म का प्रभाव बताते तो उसी के आगे लिखते। अतः ये श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं। ८२ वें में त्रेता में चोरी, द्वापर में असत्य और कलि में छल होना बताना भी पूर्वोक्त कारणों से माननीय नहीं। ८३ में सत्ययुग में सब का नीरोग रहना बताना भी उक्त कारणों से अग्राह्य है। ८४। ८५ और ८६ में जो काल के प्रभाव लिखे हैं, वे भी उक्त प्रकार से शास्त्रों, इतिहासों और मनुवचनों से भी विरुद्ध हैं। श्लोक ८० का ८१ के साथ संबन्ध भी ऐसा ठीक मिलता है, जिस से बीच के ६ श्लोक अनावश्यक जान पड़ते हैं) ॥ ८६ ॥

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः । मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत् ॥ ८७ ॥ अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ ८८ ॥

अर्थ—उस महातेजस्वी ने इस सब सृष्टि की रक्षार्थ ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रों के कर्मों को पृथक् २ बताया ॥ ८७ ॥ ब्राह्मणों के षट् कर्म—पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, कराना, दान देना और लेना बताये हैं ॥ ८८ ॥

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च । विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ ८९ ॥ पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च । वणिक्पथं कुशीदं च वैश्यस्य कृपिमेव च ॥ ९० ॥

अर्थ—प्रजा की रक्षा, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना और विषयों में न फँसना; ये संक्षेप से क्षत्रिय के कर्म हैं ॥ ८९ ॥ पशुओं का पोषण, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार करना, व्याज लेना और खेती, ये वैश्य के हैं ॥ ९० ॥

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् । एतेषामेव वर्णानां

शुश्रूषामनसूयया ॥ ६१ ॥ ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परि
कीर्तितः । तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वधंभुवा ॥ ६२ ॥

अर्थ—प्रभु ने शूद्रों का एक ही कर्म बताया कि इन (तीनों) वर्णों की
निन्दारहित (जिसमें कोई निन्दा नहीं) सेवा करनी ॥ ६१ ॥ पुरुष नाभि के ऊपर
पवित्रतर कहा है, इस से परमात्मा ने उसका मुख उस से भी पवित्र कहा है ॥ ६२ ॥
उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद्ब्राह्मणश्चैवभारणात्सर्वस्यैवास्य सर्ग-
स्य धर्मतोब्राह्मणः प्रभुः ॥ ६३ ॥ तं हि स्वयंभूः स्वादास्यात्तपस्तप्त्वा
ऽऽदितोऽसृजत् । हव्यकव्याभिवाह्याय सर्वस्याऽस्य च गुप्स्ये ॥ ६४ ॥

अर्थ—उत्तमाङ्गोद्भव (मुखतुल्य होने) और ज्येष्ठता और वेद के धारण कराने से
ब्राह्मण संपूर्ण जगत् का धर्म से प्रभु है ॥ ६३ ॥ क्योंकि ब्राह्मण को परमात्मा ने
देवता और पितरों के हव्य कव्य पहुंचाने और सम्पूर्ण जगत् की रक्षा के लिये
(ज्ञानमय) तप करके (स्वस्वामिभाव से) अपने मुख से उत्पन्न किया है ॥
(देवता—वायु आदि और पितर—चन्द्रकिरणादि को हव्य कव्य नामक पदार्थ
अग्नि में होमे जाते हैं, उसे यज्ञ कहते हैं। यज्ञ कराना ब्राह्मण का कर्म बताया
जा चुका है । इस लिये हव्य कव्य पहुंचाने का काम ब्राह्मणों का हुवा ।
“परमात्मा ने अपने मुख से रचा” इस का तात्पर्य श्लोक ८८ के अनुसार यही है
कि पढ़ना मुख से, पढ़ाना मुख से, यज्ञ करने कराने में वेदपाठ मुख से, दान
और आदान का वाक्य उच्चारण करना, प्रायः ये सब काम मुख से ब्राह्मण
करता है । परमात्मा ने वेद द्वारा जो धर्मोपदेश किया है सो भी ब्राह्मण श्रवियों
के मुख द्वारा किया है । यथार्थ में परमात्मा तौ [सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रिय
विवर्जितम् । श्वेताब्दित्यादि प्रमाणों से] मुखादिरहित ही है) ॥ ६४ ॥

यस्यास्येन सदाऽश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः । कव्यानि चैव
पितरः किंभूतमधिकं ततः ॥ ६५ ॥ भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां
बुद्धिजीविनः । बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥ ६६ ॥

अर्थ—हवन में जिस के मुख से (मुखोच्चारित मन्त्र के हाथ) त्रिदिवौ-
कम् (पृथिवी अन्तरिक्ष दिव के रहने वाले निरुक्तोक्त वायु आदि) देवता हव्यों
और पितर कव्यों को पाते हैं, उस से अधिक कौन प्राणी होगा ॥ ६५ ॥ भूतों

(स्थावरजङ्गमों) में प्राणी (कीटादि) श्रेष्ठ हैं, इन में भी बुद्धिजीवी (पशवादि), इन सब में मनुष्य श्रेष्ठ है और मनुष्यों में ब्राह्मण ॥८६॥

ब्राह्मणेषु च विद्वांसोविद्वत्सु कृतबुद्धयः । कृतबुद्धिषु कर्तारः
कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥ ८७ ॥ उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य
शाश्वती । स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥८८॥

अर्थ—ब्राह्मणों में अधिक विद्यायुक्त श्रेष्ठ हैं, विद्वानों में जिन की श्रुतोक कर्मों के विषय कर्तव्यबुद्धि हो, और उन से करने वाले और करने वालों से ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ हैं ॥ ८७ ॥ ब्रह्मज्ञ की उत्पत्ति ही धर्म की शाश्वत मूर्ति है, क्योंकि वह ब्राह्मण धर्मार्थ उत्पन्न हुवा है । मोक्ष का अधिकारी है ॥

(ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य द्विज कहाते हैं अर्थात् इन का जन्म एकबार माता के गर्भ से, दूसरा जन्म गायत्री माता और गुरु पिता से होता है । यह द्विज कहाने का अधिकारी यथार्थ में दूसरे जन्म से होता है । इस लिये यहां ब्राह्मण की उत्पत्ति का तात्पर्य दूसरे विद्यासम्बन्धी जन्म से है) ॥ ८८ ॥

ब्राह्मणोजायमानोहि पृथिव्यामधिजायते। ईश्वरः सर्वभूतानां
धर्मकोशस्य गुप्तये ॥८९॥ सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज्ज-
गतीगतम् । श्रेष्ठेनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥९०॥

अर्थ—ब्राह्मण का उत्पन्न होना ही पृथिवी में श्रेष्ठ होता है, क्योंकि संपूर्ण जीवों के धर्मरूपी स्रजाने की रक्षार्थ वह प्रभु है (अर्थात् धर्म का उप-देश ब्राह्मण द्वारा ही होता है) ॥८९॥ जो कुछ जगत् के पदार्थ हैं वे सब ब्राह्मण के हैं । ब्रह्मोत्पत्तिरूप श्रेष्ठता के कारण ब्राह्मण संपूर्ण को ग्रहण करने योग्य है । (यह ब्राह्मण की प्रशंसा है कि संपूर्ण को ब्राह्मण अपने सा जामे किन्तु ब्राह्मण यह नहीं समझे कि पराये धन को चोरी आदि से ग्रहण कर लें । क्योंकि ब्राह्मणों को भी चोरी का दण्ड आगे लिखा है) ॥९०॥

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ।

आनृशंस्याद्ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥९०१॥

“ तस्य कर्म विवेकार्थं शेषाणामनुपूर्वशः ।

स्वायंभुवोमनुर्वीमानिदं शास्त्रमकल्पयत् ॥९०२॥ ”

अर्थ—(जोकि) ब्राह्मण (दूसरे का भी दिया अन्न) भोजन करे या (दूसरे का दिया वस्त्र) पहिने या (दूसरे का दिया लेकर और, को) देवे, सो सब ब्राह्मण का अपना ही है । अन्य लोग जो भोजनादि करते हैं वे केवल ब्राह्मण की कृपा से ॥ (तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण के द्द कर्मों में व्यापारादि करना, धन कमाना नहीं कहा, केवल दान और यज्ञ कराने आदि कर्मों में दक्षिणा लेना ही उस की जीविका है । इस पर कोई कदाचित् यह समझे कि ब्राह्मण “सैत मँत खावा” (मुफ्तखोरे) रहे, सो नहीं किन्तु ब्राह्मण धर्मानुसार सब जगत् को चला कर जगत् का उपकार करता है और इस से अर्थ (धनादि) प्राप्त होते हैं तो एक प्रकार से धर्मोपदेष्टा होने से सब जगत् की कमाई का ब्राह्मण प्रधान सहायक होने से किसी को यह न समझना चाहिये कि ब्राह्मण अर्थभोजी (मुफ्तखोर) है, किन्तु सब को ब्राह्मण के मुख्य कर्म धर्मोपदेश से जीविका है, यही उस की कृपा जानो, परन्तु यह प्रशंसा जन्ममात्र के ब्राह्मण ब्रुवों की नहीं । ऐसा यथार्थ ब्राह्मण बड़े तप से कभी कठिन से कोई हो पाता है) ॥ १०१ ॥ “उस ब्राह्मण के और शेष क्षत्रियादि के भी कर्म क्रमशः जानने के लिये युद्धिमान् स्वायंभुव मनु ने यह धर्मशास्त्र बनाया ॥ १०२ ॥”

“विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः । शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यह्नान्येन केनचित् ॥ १०३ ॥ इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः शंसितव्रतः । मनोवाग्देहजैर्नित्यं कर्मदोषैर्न लिप्यते ॥ १०४ ॥”

अर्थ—विद्वान् ब्राह्मण को यह धर्मशास्त्र पढ़ना और शिष्यों को पढ़ाना योग्य है, परन्तु अन्य किसी को नहीं ॥ १०३ ॥ इस शास्त्र को पढ़ा, इस शास्त्र की आज्ञानुसार कर्म करने वाला ब्राह्मण मन वाणी और देह से उत्पन्न होने वाले पापों से लिप्त नहीं होता ॥ १०४ ॥

“पुनाति पङ्क्तिं वंश्यांश्च सप्त सप्त परावरान् । पृथिवीमपि चैवेमां कृत्स्नामेकोपि सोऽर्हति ॥ १०५ ॥ इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमिदं बुद्धिविवर्धनम् । इदं यशस्यमायुष्यमिदं निःश्रेयसं परम् ॥ १०६ ॥”

अर्थ—“अपवित्र पांति को (इस धर्मशास्त्र का जानने वाला) पवित्र कर देता है और अपने वंश के सात पिता प्रपिता आदि और सात पुत्रादि क्रम से इन सब १४ को पवित्र कर देता है तथा इस सम्पूर्ण पृथिवी को भी

वह (लेने) योग्य है ॥ १०३ ॥ यह शास्त्र कल्याण देने वाला और बुद्धि का बढ़ाने वाला तथा यश का देने वाला और आयु का बढ़ाने वाला है और मोक्ष का भी सहायक है ॥ १०६ ॥

“अस्मिन्धर्मोऽखिलेनोक्तोगुणदोषौ च कर्मणाम् ।

चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः ॥ १०७ ॥”

अर्थ—“इस (स्मृति) में सम्पूर्ण धर्म कहा है और कर्मों के गुण दोष तथा चारों वर्णों का शाश्वत (परम्परा से होता आया) आचार भी कथन किया है ॥ १०७ ॥

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च ।

तस्मादस्मिन्सदायुक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः १०८ ॥

अर्थ—श्रुति (वेद) और स्मृति में कहा हुआ आचार परम धर्म है । इस लिये अपना कल्याण चाहने वाला द्विज सदा आचारयुक्त रहे ॥ १०८ ॥

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते । आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभागभवेत् ॥ १०९ ॥ एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम् । सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥ ११० ॥

अर्थ—आचार से छुटा हुआ विप्र वेद के फल को नहीं पाता और जो आचार से युक्त है, वह सम्पूर्ण के फल का भागी होगा ॥ १०९ ॥ मुनियों ने आचार से धर्म की प्राप्ति इस प्रकार से देख कर धर्म के परम मूल आचार को ग्रहण किया था ॥ ११० ॥

“जगतश्च समुत्पत्तिं संस्कारविधिमेव च । व्रतचर्योपचारं च स्नानस्य च परं विधिम् ॥ १११ ॥ दाराजधिगमनं चैव विवाहानां च लक्षणम् । महायज्ञविधानं च आहुकल्पश्च शाश्वतः ॥ ११२ ॥”

अर्थ—जगत की उत्पत्ति (प्रथम अध्याय में कही है) और संस्कारों की विधि और ब्रह्मचारियों के व्रतधारण और स्नान की परमविधि ॥ १११ ॥ तथा गुरु के अभिवादन का प्रकार और उपासनादि (दूसरे अध्याय में लिखे हैं) गुरु के पास से विद्याभ्यास कर स्त्रीगमन और [ब्राह्मादि ८] विवाहों का लक्षण, महायज्ञविधि और आहुकल्प जो * अनादि समय से चला आता है (तीसरे अध्याय का विषय) है ॥ (आहु को ही * अनादि

काल से सनातन करके लिखा है । इस से सूची बनाने वाले को यह शङ्का भूलकती है कि कोई इसे नवीन न समझे ॥ ११२ ॥

“वृत्तीनां लक्षणं चैव स्नातकस्य व्रतानि च । भक्ष्याभक्ष्यं च शौचं च
द्रव्याणां शुद्धिमेव च ॥ ११३ ॥ स्त्रीधर्मयोगं तापस्यं मोक्षं संन्यास
मेव च । राज्ञश्च धर्ममखिलं कार्याणां च विनिर्णयम् ॥ ११४ ॥”

“अर्थ—वृत्तियों के लक्षण और स्नातक के व्रत (चतुर्थ अध्याय में) भक्ष्य अभक्ष्य, शौच, द्रव्यों की शुद्धि ॥ ११३ ॥ स्त्रियों का धर्मोपाय (पांचवें अध्याय में) वानप्रस्थ आदि तपस्वियों का धर्म और मोक्ष तथा संन्यासधर्म (षष्ठाध्याय में) और राजा का सम्पूर्ण धर्म (सप्तमाध्याय में) और कार्यों का निर्णय (मुकुटधर्मों की छानबीन) ॥ ११४ ॥

“साक्षिप्रश्नविधानं च धर्मं स्त्रीपुंसयोरपि । विभागधर्मं द्यूतञ्च
कण्टकानां च शोधनम् ॥ ११५ ॥ वैश्यशूद्रोपचारं च संकीर्णानां च
सम्भवम् । आपद्दुर्मञ्च वर्णाणां प्रायश्चित्तविधिं तथा ॥ ११६ ॥”

“अर्थ—साक्षिप्रश्न [गवाहों से सवाल] (अष्टमाध्याय में) स्त्री पुरुष के धर्म और विभाग [हिस्सा] तथा जुवारी चोर इत्यादि का शोधन ॥ ११५ ॥ वैश्य शूद्रों के धर्म का अनुष्ठान प्रकार (नवमें अध्याय में) वर्णसङ्करों की उत्पत्ति और वर्णों का आपद्दुर्म (दशमाध्याय में) और प्रायश्चित्तविधि (एकादश में) ॥ ११६ ॥

“संसारगमनं चैव त्रिविधं कर्मसम्भवम् । निःश्रेयसं कर्मणां च गुण
दोषपरीक्षणम् ॥ ११७ ॥ देशधर्माज्जातिधर्मान्कुलधर्माश्च शास्त्र-
तान् । पाषण्डगणधर्माश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान्मनुः ॥ ११८ ॥”

“अर्थ—देहान्तरप्राप्ति जो तीन प्रकार के कर्म (उत्तम मध्यम अधम) से होती है और मोक्ष का स्वरूप और कर्मों के गुणदोष की परीक्षा (द्वादश में) ॥ ११७ ॥ देशधर्म (जो प्रचार जिस देश में बहुत काल से चला आता है) और जो धर्म जाति में नियत है और जो कुल परम्परा से चला आता है और पाषण्ड (वेद शास्त्र में निषिद्ध कर्म) और गणधर्म इस शास्त्र में * मनु ने कहे हैं ॥ ११८ ॥”

* इस से स्पष्ट है कि ये श्लोक अन्यने संपादित करके कभी सूचीपत्र बनाया है ॥

“यथेदमुक्तवान्शास्त्रं पुरा पृष्टोमनुर्मया ।
तथेदं यूयमप्यद्य मत्सकाशान्निबोधत ॥११६॥”
इति मानवे धर्मशास्त्रे (भृगुप्रोक्तायां संहितायां)
प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

“अर्थ—जिस प्रकार मनु जी से पूर्व मैंने पूछा तब यह शास्त्र उन्होंने उपदेश किया । उसी प्रकार अब आप मुझ से सुनिये ॥”

(१०२ वां श्लोक इस पुस्तक के सम्पादक का वचन है । मनु का नहीं । यह श्लोक ही से स्पष्ट पाया जाता है ॥ १०३ में इस ग्रन्थ पर ब्राह्मणों का अधिकार जमाना पक्षपात है । अन्यत्र यह कहीं नहीं लिखा कि स्मृति पर ब्राह्मणों का ही अधिकार है । जो ग्रन्थ शूद्र को वेदार्ध्ययन का निषेध भी लिखते हैं वे भी शूद्र को स्मृति पढ़ने का निषेध नहीं करते और द्विज मात्र को तो वेद के अधिकार में भी कोई नवीन वा प्राचीन ग्रन्थ निषेध नहीं करता, फिर यह पक्षपात नहीं तो क्या है ॥ १०४ में इस ग्रन्थ के पढ़ने से पापों का नाश लिखा है और कर्मदोष न लगना कहा है, यह भी ग्रन्थ की अत्युक्ति करके प्रशंसा है ॥ १०५, १०६ में भी यही बात है ॥ १०७ वें श्लोक में इस ग्रन्थ के संपादक ने इस ग्रन्थ का सूचीपत्र आरम्भ किया परन्तु १०८ से ११० तक ३ श्लोकों में धर्मशास्त्र की आज्ञा है और १११ से फिर सूचीपत्र है जो ११८ तक चला गया है ॥ ११९ में पुस्तक का संपादक कहता है कि मैंने मनु से जैसे सुना वैसे मैं आप को सुनाता हूँ । सो संपादक का मनु के समकाल होता तो असम्भावित है । हां मनु के धर्मशास्त्र से जो कि पूर्व सूत्ररूप में था इस भद्रपुरुष ने उस मूल से आशय लिया हो और वही मनु से सुनना समझा जाय तो दूसरी बात है) ॥११६॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते मनुस्मृतिभाषानुवादे

प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः । हृदयेनाभ्यनुज्ञातो
यो धर्मस्तं निबोधत ॥ १ ॥ कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहा-
स्त्यकामता । काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥ २ ॥

अर्थ—वेद के जानने वाले और रागद्वेषादि से रहित महात्माओं ने जिस
धर्म का सेवन किया और हृदय से जिस को अच्छे प्रकार जाना, उस धर्म को
सुनो ॥१॥ न तो कामात्मा होना और न केवल निष्काम होना ही अच्छा है
क्योंकि वेद की प्राप्ति और वेदोक्त कर्मानुष्ठान कामना करने के ही योग्य हैं ॥२॥

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः । व्रतानियमधर्माश्च
सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥ ३ ॥ अकामस्य क्रिया काचिद्दुश्यते नेह
कहिंचित् । यदाट्टि कुरुते किञ्चित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥ ४ ॥

अर्थ—(इस कर्म से यह इष्ट फल प्राप्त होगा, इस को संकल्प कहते हैं ।
किर जब पूरा विश्वास होता है तब) संकल्प से उस के करने की इच्छा
होती है । यज्ञादि सब संकल्प ही से होते हैं और व्रत, नियम, धर्म; ये सब
संकल्प ही से होते हैं (अर्थात् संकल्प बिना कुछ भी नहीं होता) ॥३॥ लोक
में भी कोई क्रिया (भोजन गमनादि) बिना इच्छा कभी देखने में नहीं आती
इस कारण जो कुछ कर्म पुरुष करता है, वह संपूर्ण काम ही से करता है ॥४॥

तेषु सम्यग्वर्त्तमानो गच्छत्यमरलोकताम् । यथासंकल्पितां
श्रेह सर्वान्कामान्समश्नुते ॥ ५ ॥ वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृति
शीले च तद्विदाम् । आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ६

अर्थ—उन शास्त्रोक्त कर्मों में अच्छे प्रकार आचरण करने वाला अमरलोकता
अर्थात् अविनाशी भाव को प्राप्त होता है और जो २ यहां संकल्प करता है वह २
संपूर्ण पदार्थ भी प्राप्त होते हैं ॥५॥ संपूर्ण वेद धर्ममूल है और वेद के जानने

वालों की स्मृति तथा शील भी धर्ममूल है। इसी प्रकार साधुजनों का आचार और आत्मा का सन्तोष भी धर्ममूल है ॥ ६ ॥

“यः कश्चित्कस्य चिदुर्मामनुना परिकीर्तितः ।

स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः” ॥७॥

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।

श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत् वै ॥ ८ ॥

अर्थ—“जिस वर्ण के लिये जो धर्म मनु ने कहा है, वह संपूर्ण वेद में कहा है क्योंकि वेद सब विद्याओं का भण्डार है ॥ अर्थात् संपूर्ण वेद को जान कर यह स्मृति बनाई, इस से सब स्मृतियों से इस की उत्कृष्टता दिखाई है” ॥

इस ७ वें श्लोक में ग्रन्थके सम्पादकने तनु की प्रशंसा और वेदानुकूलता पुष्ट की है) ॥ ७ ॥

(ग्रन्थकार कहता है कि) विद्वान् को चाहिये कि इस सब धर्मशास्त्र को ज्ञान की आंख से वेद के प्रमाण से जांचे और अपने धर्म में श्रद्धा करे ॥८॥

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः । इह कीर्तिमवाप्नोति
प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥९॥ श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै
स्मृतिः । ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताम्यां धर्मो हि निर्वभौ ॥१०॥

अर्थ—वेद और स्मृतियों में कहे धर्म को जो मनुष्य करता है, उस की यहां कीर्ति होती है और परलोक में अनुत्तम सुख की प्राप्ति होती है ॥९॥
श्रुति वेद है और (मन्वादिकों का) धर्मशास्त्र स्मृति है । ये दोनों संपूर्ण अर्थों में निर्विवाद हैं, क्योंकि इन से धर्म का प्रकाश हुवा है ॥ १० ॥

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्रा श्रयाद् द्विजः । स साधुभिर्वहिष्कार्यो
नास्तिको वेदनिन्दकः ॥११॥ वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च
प्रियमात्मनः । एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षादुर्मस्य लक्षणम् ॥१२॥

अर्थ—जो द्विज कुतर्कादि से इन (धर्ममूलों) का अपमान करे, वह साधुओं को निकाल देने योग्य है क्योंकि वेदनिन्दक नास्तिक है ॥११॥ वेद=श्रुति, स्मृति (मन्वादिकों की), सदाचार शीलादि और अपना सन्तोष; यह चार प्रकार का साक्षात् धर्म का लक्षण (मुनि लोग) कहते हैं ॥ १२ ॥

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते । धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥१३॥ श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ । उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥१४॥

अर्थ-अर्थ और काम में जो पुरुष नहीं फंसे हैं उन को धर्मोपदेश का विधान है और जो पुरुष धर्म जानने की इच्छा रखते हैं उन को परमप्रमाण वेद है ॥१३॥ श्रुतियों के जहां दो प्रकार हों (अर्थात् भिन्न भिन्न अर्थ का प्रतिपादन हो) वहां वेदों (तुल्य बल के कारण) ही धर्म हैं, दोनों विकल्प से अनुष्ठेय हैं । यह ऋषियों ने कहा है ॥ १४ ॥

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्यपिते तथा । सर्वथा वर्तन्ते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः १५ निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः । तस्य शास्त्रेधिकारोऽस्मिन्ज्ञेयोनान्यस्य कस्यचित्

अर्थ-(पूर्व जो कहा कि श्रुतिभेद दोनों माननीय हैं, उस को यहां दिखाते हैं, जैसे-) उदित समय में अर्थात् सूर्य के प्रादुर्भाव के समय में, अनुदित उस के विरुद्ध और समयाध्यपित अर्थात् सूर्यनक्षत्ररहित काल में, सर्वथा यज्ञ (होम) होता है । यह वैदिकी श्रुति है अर्थात् वेदमूलक वाक्य सुनते हैं ॥ (श्लोक १५ के आगे ३० प्रकार के पुस्तकों में से ३ में ये दो श्लोक अधिक पाये जाते हैं:-

[श्रुतिं पश्यन्ति मुनयः स्मरन्ति तु यथा स्मृति ।

तस्मात्प्रमाणं मुनयः प्रमाणं प्रथितं भुवि ॥ १ ॥

धर्मव्यतिक्रमोदृष्टः श्रेष्ठानां साहसं तथा ।

तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानाः सीदन्त्यपरधर्मजाः ॥ २ ॥]

हमारा तात्पर्य इन के लिखने से यह है कि लोग यह जान लें कि मनुस्मृति में पाठों की अधिकता अवश्य होती आई है) ॥१५॥ गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टिपर्यन्त जिस कर्म की वेदोक्त मन्त्रों ने विधि कही है उस कर्म का अधिकार (प्रकरण) इस (मानवधर्मशास्त्र) में जानिये, अन्य किसी का नहीं ॥ १६ ॥

सुरस्वतीदृपद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् । तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते ॥१७॥ तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्यं

क्रमागतः । वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥१८॥

अर्थ—सरस्वती और दृपद्वती इन देवनदियों के मध्य में जो देश है, वह देवतों से बनाया गया है, उस को ब्रह्मावर्त कहते हैं ॥१७॥ उस देश में परंपरा से प्राप्त जो वर्णों (अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र) और वर्णसङ्करों का आचार है, उस को सदाचार (सदा का आचार) कहते हैं ॥ (१८ वें के आगे एक श्लोक मेधातिथि के भाष्य में पाया जाता है, अन्यत्र कहीं नहीं । वह यह है—

[विरुद्धा च त्रिगीता च दृष्टार्था दिष्टकारणे ।

स्मृतिर्न श्रुतिमूला स्याद्वा चैषाऽसंभवश्रुतिः ॥ १ ॥]

इस से हमारा सन्देह पुष्ट होता है कि मनु में कुछ पीछे की मिलावट अवश्य है, और वेदविरुद्ध स्मृतियों का होना भी इस से पाया जाता है) ॥१८॥

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः । एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः ॥१९॥ एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः । स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ २० ॥

अर्थ—कुरुक्षेत्र और मत्स्य देश, पञ्चाल और शूरसेनक, यह ब्रह्मर्षि देश है जो ब्रह्मावर्त्त से समीप है ॥ १९ ॥ इन (कुरुक्षेत्रादि) देशों में उत्पन्न ब्राह्मण से पृथिवी के सम्पूर्ण मनुष्य अपने २ कामों की शिक्षा पावे ॥ २० ॥

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ये यत्प्राग्विनशनादपि । प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ २१ ॥ आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् । तयोरेवान्तरं गिर्योरायावर्त्तं त्रिदुर्बुधाः ॥ २२ ॥

अर्थ—हिमवान् और विन्ध्याचल के बीच में जो सरस्वती के पूर्व और प्रयाग के पश्चिम में देश है उस को मध्यदेश कहते हैं ॥ २१ ॥ पूर्व समुद्र से पश्चिम के समुद्र तक और हिमाचल से विन्ध्याचल के बीच में जो देश है, उस को विद्वान् लोग आर्यावर्त्त कहते हैं ॥ २२ ॥

कृष्णसारस्तु चरति मृगोयत्र स्वभावतः । स ज्ञेयोयज्ञियोदेशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥२३॥ एतान् द्विजातयोदेशान् संश्रयेरन् प्रयत्नतः । शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन्वा निवसेद्वृत्तिकर्षितः ॥२४॥

अर्थ—कृष्णसार मृग जहां स्वभाव से विचरता है (अर्थात् बलात्कार से न छोड़ा हो) वह यज्ञिय देश है (अर्थात् यज्ञ करने योग्य देश है) इस से परे जो देश है, वह श्लेच्छ देश है ॥ २३ ॥ इस देश को द्विजाति लोग प्रयत्न के साथ आश्रय करें और शूद्र चाहे किसी देश में वृत्तिपीडित हुवा निवास करे ॥

(यद्यपि धर्मानुष्ठान मनुष्य के अधीन है, देश के अधीन नहीं, तथापि जिस देश में धर्मात्मा लोग अधिक रहते हैं, वहां धर्मानुष्ठान में बाधा कम होती है और धर्मानुष्ठान के साधन सुगमता से मिलते हैं; इस लिये देश का धर्म से संबन्ध होजाता है। पूर्वजों ने स्वाभाविक (नेचुलर) रीति पर भी इस देश को अच्छा और यज्ञादि धर्मानुष्ठान के लिये उत्तम जान कर यहां ही रहना स्वीकार किया था। इसी से मनु ने १७ से २३ श्लोक तक धर्म के उपयोगी देश का वर्णन किया है और २३ वें में तो यज्ञयोग्य देश की पहचान ही बतलाई है कि “कृष्णसार” मृग, जिस का चर्म ऊपर से काला होता है, जिस देश में स्वभाव से उत्पन्न हो और विचरे, उस देश को जानों कि यह यज्ञयोग्य देश है, इसमें वे बूटी उत्पन्न होती हैं जिन से यज्ञानुष्ठान होता है) ॥ २४ ॥

एषा धर्मस्य वीयोनिः समासेन प्रकीर्तिता । संभवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥ वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् । कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥ २६ ॥

अर्थ—यह धर्म की योनि (अर्थात् जामने का कारण) और इस सब (जगत्) की उत्पत्ति तुम से संक्षेप से कही, अब वर्णधर्मों को सुनो ॥ २५ ॥ वैदिक जो पुण्य कर्म हैं उन से ब्राह्मणादि तीन वर्णों का (गर्भाधानादि) शरीरसंस्कार, जो दोनों लोक में पवित्र करने वाला है, करना चाहिये ॥ २६ ॥ गर्भहोमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः । वैजिकं गार्भिकं चैतौ द्विजानामपमृज्यते ॥ २७ ॥ स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः । महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ २८ ॥

अर्थ—गर्भाधान संस्कार, जातकर्म, चूड़ाकर्म और मौञ्जीबन्धन; इन में के होमों से द्विजों के गर्भ और बीज के दोषादि की शुद्धि होती है ॥ २७ ॥ वेदत्रयी का पढ़ना, व्रत, होम, इज्याकर्म, पुत्रोत्पादनादि तथा पञ्च महायज्ञों और यज्ञों से यह तनु ब्राह्मी होती है ॥ (होम=पर्वादि सम्यक् का । इज्या=अग्निहोमादि । यज्ञ=पौर्णमासादि । व्रत=सत्यभाषणादि) ॥ २८ ॥

प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते । मन्त्रवत्प्राशनं
चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥२९॥ नामधेयं दशाम्यां तु द्वा-
दश्यां वाऽस्य कारयेत् । पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा
गुणान्विते ॥ ३० ॥ मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य व-
लान्वितम् । वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥३१॥
शर्मवद्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम् । वैश्यस्य पु-
ष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेण्यसंयुतम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—नाभि छेदने के पूर्व पुरुष का जातकर्म संस्कार करे और गृह्योक्त
वेदमन्त्रों से सुवर्ण मधु घृत का प्राशन करावे (चटावे) ॥२९॥ दशवें या बारहवें
दिन नामकरण करे अथवा जब शुद्ध तिथि मुहूर्त (दी घड़ी) नक्षत्र हो ॥
(इस का तात्पर्य साफ़ दिन और समय से है, जिस में मेघाच्छन्नादि दुर्दिन
न हो) ॥३०॥ सुखवाचक शब्दयुक्त ब्राह्मण का नाम हो, क्षत्रिय का वलयुक्त,
वैश्य का धनयुक्त और शूद्र का दास्ययुक्त नाम होवे ॥३१॥ ब्राह्मण के नाम
शर्मा, क्षत्रिय के वर्मादि, वैश्य के भूतियुक्त और शूद्र के दासयुक्त रखे ॥३२॥

स्त्रीणां सुखोदमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम् । मङ्गल्यं दीर्घवर्णा-
न्तमाशीर्वादाभिधानवत् ॥३३॥ चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्नि-
ष्क्रमणं गृहात् । षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले ॥३४॥

अर्थ—और स्त्रियों का नाम सुख से उच्चारण करने योग्य हो, क्रूर न हो,
जिस के अन्तर स्पष्ट होवें और प्रीति का देने वाला और मङ्गलवाची, दीर्घ
स्वर जिस के अन्त में हो और आशीर्वादात्मक शब्द से युक्त हो, ऐसा रखे
(जैसे यशोदा देवी इत्यादि) ॥ ३३ ॥ चतुर्थ मास में बालक को घर से बाहर
निकालने का संस्कार और छठे मास में अन्नप्राशन संस्कार करावे वा जिस
प्रकार कुलाचार हो उस समय करे ॥ ३४ ॥

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः । प्रथमेऽब्दे तृतीये वा
कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥३५॥ गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्यो-
पनायनम् । गर्भादिकादशे राज्ञोगर्भात्तु द्वादशे विशः ॥ ३६ ॥

अर्थ-ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य का चूड़ाकर्म धर्मानुसार प्रथम वा तीसरे वर्ष में वेद की आज्ञा से करना चाहिये ॥३५॥ गर्भ से अष्टम वर्ष में ब्राह्मण का और गर्भ से एकादश में क्षत्रिय का और द्वादशमें वैश्य का उपनयन करे ॥३६॥

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे । राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे
वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ ३७ ॥ आपोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री
नातिवर्तते । आद्वाविंशात्क्षत्रवन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ॥३८॥

अर्थ-वेदाध्ययन के अर्थ ज्ञानादि से बड़ा तेज ब्रह्मवर्चस कहाता है, उस की इच्छा करने वाले विप्र का पांचवें वर्ष में उपनयन करे और बलार्थी क्षत्रियका छठे वर्ष और कृष्यादिकर्म की इच्छावाले वैश्य का ८ वें में उपनयन करे ॥३९॥ सोलह वर्षपर्यन्त ब्राह्मण की सावित्री नहीं जाती और क्षत्रिय की बाईस वर्ष पर्यन्त, वैश्यकी ४४वर्ष पर्यन्त (अर्थात् उपनयन कालकी यह परमावधि है) ॥३८॥

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते तथा कालमसंस्कृताः । सावित्रीपतिता
ब्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥३९॥ नैतैरपूतैर्विधिवदापदापि हि
कहिंचित् । ब्राह्मणान्योनांश्च संबन्धानाचरेद्ब्राह्मणः सह ॥४०॥

अर्थ-इस के उपरान्त ये तीनों सावित्री पतित होजाते हैं, अपने अपने कालमें उपनयन से रहित होनेसे इनकी संज्ञा 'ब्रात्य' होती है और शिष्टों से निन्दित होते हैं ॥ ३९ ॥ इन अपवित्र ब्रात्यों के साथ जिन का प्रायश्चित्तादि विधिपूर्वक नहीं हुवा, आपत्काल में भी ब्राह्मणादि विद्या वा योनि का सम्बन्ध न करे ॥ ४० ॥

कार्णरौरवयास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः । असीरन्तानुपूर्व्येण
शाणक्षौमाविकानि च ॥४१॥ मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्षणा कार्या
विप्रस्य मेखला । क्षत्रियस्य तु मौर्वीज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ४२

अर्थ-कण्ठमृग, रुरुमृग, अण, इन के चर्मोंका वस्त्र ३ वर्णों के ब्रह्मचारी क्रमशः रक्खें और सन, क्षौम (अलसी) तथा जन का भी ॥ ४१ ॥ ब्राह्मण की मेखला तिलड़ी और चिकनी सुखस्पर्शवाली मूझ की और क्षत्रिय की मूर्वा वृण से धनुष के गुणसी और वैश्य की सन के डोरे की बनावे ॥४२॥

मुञ्जालाभे तु कर्तव्याः कुशाशमन्तकबल्वजैः । त्रिवृता ग्रन्थिनै
केन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा ॥४३॥ कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्वं
वृत्तं त्रिवृत् । शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्य विकसौ त्रिकम् ॥४४॥

अर्थ—मूँज के न मिलनेपर कुश, अशमन्तक, बल्वज वर्णोंकी क्रमसे तीनों
वर्णोंकी सेखल तीन लर वाली, १ या, ३ या ५ ग्रन्थि लगाकर बनावे ॥ ४३ ॥
कपास का जनेक ब्राह्मण का ऊपर की बटा हुआ और त्रिगुण (३ लर) होवे ।
और सन के डोरे का क्षत्रिय का और वैश्य का भेड़ की जन का होवे ॥ ४४ ॥

ब्राह्मणो बिल्बपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ । पौपलीदुम्बरौ
वैश्योदण्डानर्हन्ति धर्मतः ॥ केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः
प्रमाणतः । ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विश्वः ॥४५॥

अर्थ—ब्राह्मण बेल वा पलाश के दण्ड, क्षत्रिय घट वा खदिर के तथा
वैश्य पीपल या गूलर के दण्ड, क्रमसे सब धर्मादुसार बनायें ॥ (इस श्लोक
में चन्दव टीकाकार ने ब्राह्मणादि ग्रन्थों के प्रमाण देकर बिल्वादि के साथ
ब्राह्मणादि की समानता दिखाई है । वह लिखता है कि १—असौ वा आदित्यो
यतो जायत ततो बिल्व उदतिष्ठत स योन्यैव ब्रह्मवर्चसमवरुन्धे इति श्रुतेः=
अर्थात् जिस कारण की प्रधानता से सूर्य बना है, उसी से बिल्व का वृक्ष भी
उपजा है, इस लिये वह जन्म से ही ब्रह्मवर्चस का प्रभाव (असर) धारण
करता है । इस कारण ब्राह्मण बेलका दण्ड धारण करे । २—तदुक्तमैतरेयब्रा-
ह्मणे-क्षत्रं वा एतद्वनस्पतीनां यन्न्यग्रोधः । क्षत्रं वै राजन्य इति=अर्थात् ऐत-
रेय ब्राह्मण में यह लिखा है कि घट वृक्ष वनस्पतियों में क्षत्रिय है । क्षत्रिय
राजा है । इस लिये क्षत्रिय बड़ का दण्ड रखे । ३—मरुतो वा एतदोजो यद-
श्वत्थः । मरुतो वै देवानां विश्वः इति श्रुतेः=अर्थात् अश्वत्थ (पीपल) वायु
के बल से प्रधानता से युक्त है और वायु देवतों का वैश्य है, क्योंकि देवतों
के हव्य पदार्थ इधर उधर ले चलता है, जैसे वैश्य लोग भोजनादि के अन्नादि
एक देश से दूसरे देश में लेजाते हैं । इस लिये वैश्य पीपल का दण्ड बनावे ।
इस के अतिरिक्त अन्य जिन वृक्षों वा वर्णों के दण्ड वा सेखला का विधान
है, उन में भी उस उस वर्ण के साथ किसी स्वाभाविक समानता का अनु-

मान होता है, जो ब्राह्मणग्रन्थों के खोजने से मिल सकता है। किन्हीं पुस्तकों में “पैलवौदुम्बरौ” भी पाठ है) ॥ ४५ ॥ ब्राह्मण का केशान्तिक अर्थात् शिर के बाल तक लम्बाई का दण्ड होवे और ललाट तक क्षत्रिय का तथा वैश्य का दण्ड नाक तक लम्बा होवे ॥ ४६ ॥

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरब्रणाः सौम्यदर्शनाः । अनुद्वेगकरा नृणां सत्वघोनाग्निदूषिताः ॥ ४७ ॥ प्रतिगृह्योप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम् । प्रदक्षिणं परीत्यग्निं चरेद्वैक्षं यथाविधि ॥ ४८ ॥

अर्थ—और वे सब (दण्ड) सीधे हों, कटे न हों, देखने में सुन्दर हों तथा मनुष्यों को डरावने न हों, बल्कलसहित हों और आग से जले न हों ॥ ४७ ॥ यथेष्ट दण्ड को ग्रहण करके और आदित्य के सम्मुख स्थित होकर, अग्नि को प्रदक्षिणा देकर, यथा विधिभिक्षा करे ॥ ४८ ॥

भवत्पूर्वं चरेद्वैक्षमुपनीतोद्विजोत्तमः । भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भद्रदुत्तरम् ॥ ४९ ॥ मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम् । भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नाघमानयेत् ॥ ५० ॥

अर्थ—उपनीत ब्राह्मण भवत् शब्द को प्रथम उच्चारण करके भिक्षा करे। क्षत्रिय भवत् शब्द को मध्य में। वैश्य अन्त में (अर्थात् ब्राह्मण—“भवती भिक्षां ददातु” इस प्रकार उच्चारण करे। क्षत्रिय “भिक्षां भवती ददातु”, वैश्य “भिक्षां ददातु भवती” इस प्रकार तीनों का क्रम है) ॥ ४९ ॥ प्रथम माता से भिक्षा मांगे या मौसी या अपनी भगिनी से और जो कोई इस का अपमान न करे ॥ ५० ॥

समाहृत्य तु तद्वैक्षं यावदर्थममायया ।

निवेद्य गुरुवेऽशनीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः ॥ ५१ ॥

“आयुष्यं प्राङ्मुखोभुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः ।

श्रियं प्रत्यङ्मुखोभुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः ५२”

अर्थ—वह भिक्षा लाकर निष्कपट होके गुरुको वृत्तिभर देकर आप आचमन करके पूर्वाभिमुख होकर भोजन करे ॥ ५१ ॥ “आयु के हित के लिये पूर्वाभिमुख होकर, यश के अर्थ दक्षिण की ओर होकर, संपत्ति के निमित्त पश्चिम और सत्य को चाहे ती उत्तर की ओर मुख करके भोजन करे ॥”

(पूर्वादि दिशाओं का आयु आदि के साथ कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। केवल किन्हीं टीकाकारोंने इसे काम्यवचन कहा है। यदि उन का कहना माने तौ आयु आदिकी कामनावाले क्रमशः पूर्वादि नियत दिशाओं में मुखकरके भोजन किया करें। यह मानना होगा। ब्रह्मचारी के कर्तव्यों में यह कोई आवश्यक भी कर्तव्य नहीं। इस लिये हमको यह श्लोक प्रक्षिप्त सा प्रतीत होता है और इस से आगे एक अन्य श्लोक है जो कि उज्जैन के (आठवले) नाना साहेब के रामचन्द्रकृत टीकायुक्त पुस्तक और पूना के (जोशी) बलवन्तराव के मूल पुस्तक में पाया जाता है। तथा प्रयाग के (मुन्शी) हनुमान्प्रसाद जी के मूल पुस्तक में (*श्रुतिनोदितम्) पाठभेद है। शेष २७ पुस्तकों में नहीं पायाजाता। इससे जान पड़ता है कि छोड़े समय से ही बढ़ाया गया है। तथा रामचन्द्र टीकाकार के अतिरिक्त शेष ५ में से किसीने भी इस पर टीका नहीं की और रामचन्द्र सबसे अन्तिम समय के टीकाकार हैं। इससे भी प्रतीत होता है कि सेधातिथि आदि रामचन्द्र से पुराने टीकाकारों के समय में यह श्लोक न था, जिसका पाठ इस प्रकार है:

[सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं स्मृति (*श्रुति) नोदितम् ।
नान्तरे भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमोविधिः ॥]

इस का अर्थ यह है कि द्विजों को (श्रुतिवा, स्मृतिने सायंप्रातः दोबार भोजन की आज्ञा दी है। बीच में भोजन न करे। इसकी विधि अग्निहोत्र के समान है ॥ यद्यपि हम को इस में कोई युराई नहीं प्रतीत होती परन्तु यह श्लोक नवीन समयका है और कुछ आश्चर्य नहीं कि वह पहला श्लोक जो अब सब पुस्तकों और टीकाओं में उपस्थित है, वह भी कुछ पुराने समय में मिलाया गया हो) ॥ ५२ ॥

उपस्पृश्यद्विजोनित्यमन्नमद्यात्समाहितः। भुक्त्वा चोपस्पृशेत्
सम्यग्द्विः खानि च संस्पृशेत् ॥५३॥ पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चै-
तदकुत्सयन् । दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ॥ ५४ ॥

अर्थ—ब्राह्मणादि नित्य आचमनादिकरके, एकाग्र हो, भोजन करे। भोजन करनेके पश्चात् भी भले प्रकार आचमन करे और चक्षुरादिका जल से स्पर्श करे ॥५३॥ और भोजन के समय अन्न का प्रतिदिन संस्कार करे, निन्दान

करके भोजन करे और देखके हृष्ट प्रसन्न होवे और सर्वथा प्रशंसा करे ॥५४॥
पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति। अपूजितं तु तद्भुक्तमु-
भयं नाशयेदिदम् ॥५५॥ नोच्छिष्टं कस्यचिद्ब्रह्मन्नादाच्चैव तथा-
न्तरा। न चैवाध्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद् ब्रजेत् ॥५६॥

अर्थ—क्योंकि संस्कृत अन्न—बलवीर्य को देता है और असंस्कृत बल सामर्थ्य इन दोनों का नाश करता है (इसलिये संस्कार करके भोजन करना चाहिये) ॥५५॥ उच्छिष्ट अन्न किसी को न दे, भोजन के बीच में ठहर २ कर भोजन न करे, अधिक भोजन भी न करे और उच्छिष्ट कहीं गमन न करे ॥ ५६ ॥

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्। अपुण्यं लोकवि-
द्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥५७॥ ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्य-
कालमुपस्पृशेत्। कायत्रैदशिकाभ्यांवा नपित्र्येण कदाचन ५८

अर्थ—अतिभोजन करना आरोग्य, आयु तथा सुख नहीं देता और पुण्य भी नहीं होता और लोगों में निन्दा होती है, इस लिये अतिभोजन न करे ॥५७॥ विप्र सर्वदा ब्राह्म तीर्थ से आचमन करे अथवा प्राजापत्य वा देव तीर्थ से करे, परन्तु पित्र्य तीर्थ से न करे ॥ ५८ ॥

(हाथसे काम करने के वा आचमन करने के वा आहुति छोड़ने के चार (तीर्थ) उतारने के स्थान हैं। उन में ब्राह्मादि उत्तरोत्तर अच्छे हैं अर्थात् सुगमता से काम कर सकने योग्य हैं। पित्र्यतीर्थ से आचमन न करने का हेतु येदङ्गापन है क्योंकि अगले श्लोक में तर्जनी अङ्गुलि और अंगूठे के नीचे के स्थान को पित्र्यतीर्थ कहा है, उससे आचमन करना अत्यन्त कठिन होने से वर्जित है। वह तीर्थ अग्निमें पित्र्य आहुति देने के लिये सुगम पड़ता है॥
अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते। कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे
दैवं पित्र्यं तयोरधः ॥५९॥ त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो
मुखम्। खानि चैव स्पृशेदद्विरात्मानं शिर एव च ॥६०॥

अर्थ—अङ्गुष्ठमूल के नीचे (कलाई) को ब्राह्मतीर्थ कहते हैं और कनिष्ठाङ्गुलि के मूल में कायतीर्थ और उसी के अग्रभाग में देवतीर्थ और अङ्गुष्ठ तथा तर्जनी के मध्यमें पित्र्य तीर्थ है ॥ (यज्ञादि में आहुति आदि कामों के

विभागार्थं यह कल्पा की प्रतीत होती है । विशेष प्रयोजन कुछ नहीं जान पड़ता) ॥५९॥ प्रथम जल से तीन बार आचमन करे, अनन्तर दो बार मुख धोवे, पश्चात् इन्द्रियों, शिर और हृदय का जल से स्पर्श करे ॥ ६० ॥ अनुष्णाभिरफेनाभिरद्विस्तीर्थेन धर्मवित् । शौचेप्सुः सर्वदा चा-
मेदेकान्ते प्रागुदङ्मुख ॥ ६१ ॥ हृद्गामिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः । वैश्योद्विः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः ॥ ६२ ॥

अर्थ—फेनरहित शीतल जल से पवित्र होने की इच्छा करने वाला धर्मज्ञ एकान्त में पूर्व या उत्तर को मुख करके आचमन करे ॥ ६१ ॥ (इस पूर्वोक्त आचमन का जल) हृदय में पहुंचने से ब्राह्मण पवित्र होता है, कण्ठ में प्राप्त होने से क्षत्रिय और मुख में पहुंचने से वैश्य, तथा स्पर्श मात्र से शूद्र पवित्र होता है ॥ ६२ ॥

उदधृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः । सव्ये प्राचीन आवीती निवीती कण्ठसज्जने ॥ ६३ ॥ मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् । अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत् ॥ ६४ ॥

अर्थ—दक्षिण हाथ को बाहर निकालने (दायें के ऊपर जनेऊ कर लेने) पर द्विज “उपवीती” कहा जाता है । इस के विपरीत करने पर “प्राचीन आवीती” और जब जनेऊ कण्ठ से लगा हो तब “निवीती” कहा जाता है ॥ ६३ ॥ मेखला और मृगचर्मादि तथा दण्ड, जनेऊ और कमण्डलु; इन टूटे हुओं को पानी में डालकर और नवीन को मन्त्र पढ़ कर ग्रहण करे ॥ ६४ ॥

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।

राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥ ६५ ॥

“अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः ।

संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—ब्राह्मण का केशान्त संस्कार सोलहवें वर्ष में करे और क्षत्रिय का २२ बार्हसर्वे में तथा उस से २ अधिक (२४ चौबीसवें वर्ष) में वैश्य का ॥ ६५ ॥ “ यह (जातकर्मोदि) संपूर्ण कार्य, उक्त काल और क्रम से शरीर के संस्कारार्थ स्त्रियों के अमन्त्रक करे अर्थात् स्त्रियों के इन संस्कारों में वेदोक्त मन्त्र न पढ़े ॥ ६६ ॥

“वैवाहिकोविधिः स्त्रोणां संस्कारोवैदिकः स्मृतः ।

पतिसेवा गुणै वासोगृहार्योऽग्निपरिक्रिया ” ॥ ६७ ॥

एष प्रोक्तोद्विजातीनामौपनायनिकोविधिः ।

उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः कर्मयोगं निबोधत ॥ ६८ ॥

अर्थ—“स्त्रियों के विवाहसम्बन्धी जो विधि है, वही केवल वेदोक्त कही है और पतिसेवा=गुरुकुलवास, गृहकृत्यादि=सायंप्रातर्होम है ॥ ” (६६ वें श्लोक का यह कहना तो ठीक है कि स्त्रियों के भी गर्भाधान से लेकर केशान्त संस्कारपर्यन्त सब संस्कार करने चाहियें, परन्तु इस के लिये किसी पृथक् विधान की आवश्यकता नहीं। क्योंकि तीनों वर्णों के जो जो संस्कार पूर्व कह आये हैं, वे सब कन्या और पुत्र दोनों ही के हैं। पुष्पिङ्ग निर्देश अवि-
यक्षित है। अर्थात् वक्ता का तात्पर्य वर्णमात्र में है, चाहे कन्या हो, वा पुत्र। जैसे कोई कहे कि (योत्राऽऽगमिष्यति स मृत्युमाप्स्यति=जो यहां आवेगा वह मर जायगा) इस दशा में यद्यपि पुष्पिङ्ग का निर्देश है, परन्तु कहने वाले का तात्पर्य स्त्री पुरुष दोनों से है। अथवा वैदिक शास्त्र में पुष्पिङ्गकरके निर्देश करते हुये जो सामान्य विधि निषेध किये हैं, वे सब स्त्री पुरुष दोनों को समझे जाते हैं। ऐसे ही जो साधारण संस्कार हैं, वे सब स्त्री पुरुषों के एक से और एकही विधि वाक्य से विहित समझने चाहियें और कन्याओं के विवाह संस्कार को छोड़कर अन्य संस्कारों में वेदमन्त्र पढ़ने का निषेध भी प्रक्षिप्त है। जहां तक हमने देखा और विचारा है, वहां तक वेदों में कहीं यह निषेध नहीं पाया जाता। इस लिये ६६।६७ श्लोक स्त्री जाति के विद्वेयी अन्य मतों के संसर्ग से प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं। तथा ६५ वें श्लोक को ६८ वें श्लोक के साथ मिलाकर पढ़िये तो ठीक सम्बन्ध चला जाता है) ॥६७॥ यह ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य का उपनयन सम्बन्धी विधि कहा। यह विधि जन्म का जललाने वाला और पवित्रकारक है (अब आगे) कर्तव्य को सुनो ॥ ६८ ॥
उपनीयगुरुःशिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।आचारमग्निंकार्यं च
संध्योपासनमेव च ॥६९॥ अध्येयमाणस्त्वाचान्तोयथाशास्त्र-
मुदङ्मुखः।ब्रह्माञ्जलिं कृतोऽध्याप्योलघुवासाजितेन्द्रियः॥७०॥

अर्थ—गुरु उपनयन कराकर शिष्य को प्रथम शीघ्र, आचार, सायं प्रात-
होम तथा संध्योपासन सिखावे ॥६९॥ पढ़ने वाले शिष्य को शास्त्र विधि से
आचमन करके, हाथ जोड़कर, उत्तर मुख हो, हलका वस्त्र पहिर, जितेन्द्रिय
होकर पढ़ना चाहिये ॥ ७० ॥

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा । संहृत्य हस्तावध्येयं
स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥ ७१ ॥ व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसं-
ग्रहणं गुरोः । सव्येन सव्यः स्पृष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥ ७२ ॥

अर्थ—वेदाध्ययन के आरम्भ और समाप्ति के समय सदा गुरु के चरण छुवे
और हाथ जोड़ के पढ़े । इस को ब्रह्माञ्जलि कहते हैं ॥ ७१ ॥ अलग २ हाथ
करके गुरु के पैर छुवे, दहिने से दहिना और बाँधे से बाँधा ॥ ७२ ॥

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः । अधीष्वभोऽति ब्रू-
याद्विरामोस्त्विति चारमेत् ॥ ७३ ॥ ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते
च सर्वदा । स्रवत्यऽनोक्तं पूर्वं पुरस्ताच्च विशीर्यति ॥ ७४ ॥

अर्थ—आलस्यरहित गुरु सर्वदा पढ़ने वाले शिष्य के प्रति प्रथम पढ़ने
के समय “अधीष्वभो” अर्थात् ‘हे शिष्य पढ़’ ऐसे कहै । पश्चात् “विरामो-
स्त्विति” अर्थात् ‘अब बस करो’ ऐसे कहै, तब पढ़ना बन्द करे ॥ ७३ ॥ वेद
के पढ़ने के प्रारम्भ में सदा प्रणव (ओ३म्) का उच्चारण करे और अन्त में
भी । यदि आदि में और अन्त में ओ३म् का उच्चारण न करे तो उस का
पढ़ा हुआ धीरे २ नष्ट होजाता है ॥ ७४ ॥

प्राक्कूलान्पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः । प्राणायामैस्त्रिभिः
पूतस्तत ओङ्कारमर्हति ॥ ७५ ॥ अकारं चाप्युकारं च मकारं च
प्रजापतिः । वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवःस्वरिति च ॥ ७६ ॥

अर्थ—पूर्वाग्र दमौ को बिछा कर उसपर बैठे और पवित्रों से मार्जनकर
पवित्र होकर, तीन बार प्राणायामों से पवित्र हो, ओङ्कारके उच्चारण करने
योग्य होता है ॥ ७५ ॥ ब्रह्मा ने तीनों वेदों से अकार उकार मकार और
भूर्भुवः स्वरः यह तीन व्याहृति सार निकाली हैं ॥ ७६ ॥

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्वा तदित्यूचोऽस्याः सावि-
त्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥७७॥ एतदक्षरमेतां च जपन् व्या-
हृतिपूर्विकाम् । संध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥७८॥

अर्थ—प्रजापति ब्रह्मा ने तीनों वेदों से “तत्सवितुर्वरेण्यं” इस सावित्री ऋचा के एक एक पाद को दुहा है ॥७७॥ इस (ओङ्काररूप) अक्षर और त्रिपादयुक्त सावित्री को, तीनों व्याहृति पूर्व लगाकर, वेदका जानने वाला दोनों संध्याओं में जपता हुवा विप्र वेद पढ़ने के फल को प्राप्त होता है ॥ ७८ ॥

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः । महतोऽप्येन सो मा-
सात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥७९॥ एतयर्चा विसंयुक्तः काले च
क्रियया स्वया ब्रह्मक्षत्रियविड्यो निर्गर्हणां याति साधुषु ॥८०॥

अर्थ—और इस त्रिक (अर्थात् प्रणव, व्याहृति, त्रिपादयुक्त गायत्री) को सहस्रवार ग्रामके बाहर (नदी तीर वा अरण्य में) एक मास जपने से द्विज महापाप से भी छूटजाता है । जैसे सर्प कंचली से (यह १ प्रायश्चित्त जानो । प्रायश्चित्त से पाप छूटने का एकादशाध्याय में व्याख्यान लिखेंगे) ॥ ७९ ॥ इस गायत्री के जपसे रहित और सायंप्रातः स्वक्रिया (अग्निहोत्रादि) से रहित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ण सज्जनों में निन्दा को पाता है ॥ ८० ॥

ओङ्कारपूर्विकास्तिस्त्रीमहाव्याहृतयोऽव्ययाः । त्रिपदा चैव सा
वित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥८१॥ योऽधीतेऽहन्यन्येतां स्त्रीणि
वर्षाण्यतन्द्रितः । स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्त्तिमान् ॥८२॥

अर्थ—ओंकार से युक्त तीन अविनाशिनी महाव्याहृति और त्रिपदा गायत्री को वेद का मुख जानना (वेद के अध्ययन के पूर्व में पढ़ी जाती हैं और ब्रह्म जो परमात्मा, उसकी प्राप्ति हेतु है) ॥ ८१ ॥ जो पुरुष प्रतिदिन आलस्य रहित होकर तीन वर्ष पर्यन्त ओं, व्याहृति और गायत्री का जप करता है वह परब्रह्म को प्राप्त होता है, वायुवत् स्वतन्त्रचारी होकर खमूर्त्तिमान् शरीरबन्धन से रहित होजाता है ॥ ८२ ॥

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परंतपः । सावित्र्यास्तु परं नास्ति
मौनात्सत्यं विशिष्यते ॥८३॥ क्षरन्ति सर्वा वैदिक्ये । जहाति-

यजत्तिक्रियाः । अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः ॥८४॥

अर्थ—ओ३म् यह एक अक्षर परब्रह्मका वाचक है और प्राणायाम बड़ा तप है और गायत्रीसे श्रेष्ठ कोई मन्त्र नहीं, तथा मौन से सत्यभाषण श्रेष्ठ है ॥८३॥ सम्पूर्ण वेदविहित क्रिया (यज्ञयागादि) नाशवान् है, परन्तु कठिन से जानने योग्य प्रजापति ब्रह्म का प्रतिपादक ओ३म् अक्षर अविनाशी है ॥८४॥

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः । उपांशुः स्याच्छतगुणः

साहस्रो मानसः स्मृतः ॥८५॥ ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञ समन्विताः । सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ८६

अर्थ—विधियज्ञ (वैश्वदेवादिकों) से जपयज्ञ दशगुण अधिक है और वही यदि दूसरोंके श्रवण में न आवे, ऐसा जप शतगुण अधिक है । और (जिह्वाके न हिलनेसे) केवल मन से जो जप किया जावे, यह सहस्रगुण अधिक कहा है ॥८५॥ ये जो ४ पाकयज्ञ हैं (अर्थात् वैश्वदेव १ दलिकर्म २ नित्यश्राद्ध ३ अतिथिमोजन ४) यज्ञ (पीर्णमासादि) से युक्त, ये सब, जपयज्ञ के षोडश भाग को भी नहीं पाते (अर्थात् जप यज्ञ सब से श्रेष्ठ है) ॥८६॥

जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः । कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान् मैत्रे ब्राह्मण उच्यते ॥८७॥ इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु । संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम् ॥ ८८ ॥

अर्थ—ब्राह्मण जप करने ही से सिद्धि को प्राप्त होता है (अर्थात् मोक्ष प्राप्त होनेके योग्य होता है) और अन्य कुछ (यागादि) करे अथवा न करे वह नैत्र अर्थात् सर्वप्रिय कहा है । इसमें संशय नहीं ॥८७॥ अपनी ओर खेंचने के स्वभाव वाले विषयों में विचरने वाली इन्द्रियों के संयम में विद्वान् यत्न करे । जैसे सारथि घोड़ों के रोकने में यत्न करता है ॥ ८८ ॥

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वमनीषिणः । तानि सम्यक् प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥८९॥ श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी । पायूपस्यं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता ९०

अर्थ—पूर्व मुनियों ने जो एकादश ११ इन्द्रियें कही हैं, उनको क्रमशः ठीकर अच्छे प्रकार कहता हूँ कि—॥८९॥ कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और पांचवीं नाक और गुदा, शिश्न, हस्त, पाद और १० वीं वाणी कही है ॥ ९० ॥

बुद्ध्यान्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः । कर्मेन्द्रियाणि प-
ञ्चैषां पाखादीनि प्रचक्षते ॥६२॥ एकादशं मनोज्ञेयं स्वगुणेना-
भयात्मकम् । यस्मिन् जिते जितावेतौभवतः पञ्चकौगणौ ॥६२॥

अर्थ—उन में श्रोत्रादि क्रमशः पांच बुद्धीन्द्रिय अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय हैं और
उन में गुदा आदि पांच को कर्मेन्द्रिय कहते हैं ॥ ६१ ॥ एकादशवां मन
अपने गुण से दोनों (ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों) को चलाने वाला है । जिस
के वश्य होने से यह दोनों पांच २ के गण वश में होजाते हैं ॥ ६२ ॥

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् । सन्नियम्य तु तान्येव
ततः सिद्धिं नियच्छति ॥६३॥ न जातु कामः कामानामुपभोगेन
शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एषाऽभिवर्धते ॥ ६४ ॥

अर्थ—इन्द्रियों के विषयों में फंसने से निःसंदेह दोष को प्राप्त होता है
और उन्हीं के रोकने से फिर सिद्धि को प्राप्त होता है ॥ ६३ ॥ विषय भोग
की इच्छा विषयों के भोग से कभी शान्त नहीं होती, जैसे घृत से अग्नि
(कभी शमन नहीं होता किन्तु) अधिक ही बढ़ता है ॥ ६४ ॥

यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान्यश्चैतान्केवलान्स्त्यजेत् । प्रापणात्सर्व
कामानां परित्यागो विशिष्यते ॥६५॥ न तथैतानि शक्यन्ते
संनियन्तुमसेवया । विषयेषु प्रजुष्टानि यथाज्ञानेन नित्यशः ६६

अर्थ—जो इन सब विषयों को भोगे और जो इन को केवल छोड़ देवे,
(उन दोनों में) संपूर्ण कामनाओं को भोगने से छोड़ना बड़ कर है ॥ ६५ ॥
ये विषयासक्त इन्द्रिये विषयों के सेवन बिना भी उस प्रकार नहीं जीती जा
सकतीं, जैसे कि सर्वदा (विषयों के दोष के) ज्ञान से ॥ ६६ ॥

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च । न विप्रदुष्टभावस्य
सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ६७ श्रुत्वा सृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा प्रा-
त्वा च येनरः । न हृष्यति ग्लायति वा सविज्ञेये । जितेन्द्रियः ६८

अर्थ—वेदाध्ययन, दान, यज्ञ, नियम और तप; ये दुष्ट भाववाले को कभी सिद्ध
नहीं होते ॥ ६७ ॥ जिस पुरुष को (निन्दा या स्तुति के) सुनने से और (कोमल
वा कड़ी वस्तु के) स्पर्श करने से तथा (सुन्दर वा असुन्दर वस्तु के) देखने

से और (अच्छे भोजन या सामान्य) भोजन से और (सुगन्ध वा दुर्गन्ध)
पदार्थ के सूँघने से हर्ष विषाद न हो, उस को जितेन्द्रिय जानना ॥ ९८ ॥
इन्द्रियाणांतु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् । तेनास्यक्षरतिप्रज्ञा
दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥ ९९ ॥ वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मन-
स्तथा । सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिणत्रययोगतस्तनुम् ॥ १०० ॥

अर्थ—संपूर्ण इन्द्रियों में यदि एक भी इन्द्रिय का विषय में झुकाव हो
तो तत्त्वज्ञानी की बुद्धि उस से नष्ट होती है । जैसे दूति—मशक (वा फूटे
पात्र) से (उसका) पानी ॥ ९९ ॥ इन्द्रियों के गणों को स्वाधीन करके
और मन का भी संयम करके युक्ति से शरीर को पीड़ा न देता हुआ सम्पूर्ण
अर्थों (पुरुषार्थचतुष्टय) को साधे ॥ १०० ॥

पूर्वा संध्यां जपं स्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात् । पश्चिमांतु समा-
सीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ १०१ ॥ पूर्वा संध्यां जपं स्तिष्ठन्नैशमे-
नाव्यपोहति । पश्चिमांतु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥ १०२ ॥

अर्थ—प्रातःकाल की संध्या की गायत्री का जप करता हुवा सूर्यदर्शन
होने तक स्थित होकर और सायंकाल की संध्या की नक्षत्रदर्शन ठीक २ होने
तक बैठ कर करे ॥ १०१ ॥ प्रातः संध्या के जप से रात्रि भर की और सायं
संध्या से दिन भर की दुर्वासना का नाश होता है ॥ १०२ ॥

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्तेयश्च पश्चिमाम् । स शूद्रवद्वहिष्कार्यः
सर्वस्मादुद्विजकर्मणः ॥ १०३ ॥ अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधि-
मास्थितः । सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः ॥ १०४ ॥

अर्थ—जो प्रातःकाल की संध्या न करे और जो सायंकाल की भी न
करे, वह सम्पूर्ण द्विजों के कर्म से शूद्रवत् बहिष्कार्य है ॥ १०३ ॥ जल के
समीप एकाग्रचित्त से वन (वा एकान्त) में जाकर (संध्या वन्दनादि)
नैत्य कर्म और गायत्री का जप भी करे ॥ १०४ ॥

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके । नानुरोधोऽस्त्यनध्याये
होममन्त्रेषु चैव हि ॥ १०५ ॥ नैत्यके नास्त्यनध्याये ब्रह्मसत्रं हि
तत्स्मृतम् । ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥ १०६ ॥

अर्थ—शिक्षादि के पढ़ने और नित्य के स्वाध्याय और होमसन्त्रोंमें अनध्याय के दिन भी मनाई नहीं है ॥ १०५ ॥ नित्य के कर्म में अनध्याय नहीं है क्योंकि उस को ब्रह्मयज्ञ कहा है । उस में ब्रह्माहुति का ही होम है और (उस) अनध्याय में भी वषट्कार (समाप्तिबुचक) शब्द किया जाता है ॥ १०६ ॥

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः । तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ॥ १०७ ॥ अर्गन्धनं भैक्षचर्यामघः शय्यांगुरोर्हितम् । आसमावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनोद्विजः ॥

अर्थ—जो पुरुष एक वर्षपर्यन्त विधियुक्त नियम से पवित्र होकर स्वाध्याय पढ़ता है, उस के लिये वह (स्वाध्याय) दूध, दधि, घृत, मधु को वर्णाता है ॥ १०७ ॥ उपनयन किया हुआ द्विज, ब्रह्मचर्य व्रत को जब तक समावर्तन न हो, इस प्रकार करे—(समावर्तन उस को कहते हैं, जो गुरु से सम्पूर्ण विद्या पढ़ कर घर जाने की अवधि है) सायंप्रातर्होम, भिक्षा, भूमि पर शयन तथा गुरु का हित किया करे ॥ १०८ ॥

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदोधार्मिकः शुचिः । आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोध्याप्या दश धर्मतः ॥ १०९ ॥ नापृष्टः कस्यचिद्भूयान्न चाऽन्यायेन पृच्छतः । जानन्नपि हि मेधावी जडब्रह्मलोक आचरेत् ॥

अर्थ—आचार्यपुत्र, सेवक, ज्ञानान्तरदाता, धर्मात्मा, पवित्र, प्रामाणिक, धारणाशक्तिवाला, धन देने वाला, हितेच्छु और ज्ञाति; ये दश धर्म से पढ़ाने योग्य हैं (अर्थात् इन को पढ़ाना फ़र्ज है) ॥ १०९ ॥ विना किसी के पूछे न बोले और अन्याय से पूछते हुवे से भी न बोले, किन्तु जानकर भी बुद्धिमान् उन लोगों में अनजान सा रहे ॥ ११० ॥

अधर्मेण च यः प्राहु यश्चाधर्मेण पृच्छति । तयोरन्यतरः प्रैति त्रिद्वेषं वाधिगच्छति ॥ १११ ॥ धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विद्या । तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥ ११२ ॥

अर्थ—क्योंकि जो अधर्म से उत्तर देता और जो अधर्म से पूछता है, उन दोनों में एक मर जाता वा द्वेषी हो जाता है ॥ १११ ॥ जिस (शिष्य के पढ़ाने) में धर्म और अर्थ न हों और वैसी गुरु में भक्ति भी न हो, उस को विद्या न पढ़ावे । जैसे अच्छा बीज ऊसर में न बोवे (बोने से कुछ उत्पन्न नहीं होता) ॥ ११२ ॥

विद्यायैव समकामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना। आपदापि हि घोरायां
न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥११३॥ विद्या ब्राह्मणमेत्याह शैवधिस्तेस्मि
रक्ष माम्। असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥११४॥

अर्थ—चाहे विद्या के साथ सरना पड़े, परन्तु वेदाध्यापक घोर आपत्ति
में भी अयोग्य शिष्य को विद्या न देवे ॥११३॥ विद्या ब्राह्मण के पास आकर
बोली कि मैं तेरी निधि हूँ, मेरी रक्षा कर, असूयकादि दोष वाले पुरुष को
मुझे मत दे। इस प्रकार करने से मैं बलवती होऊंगी ॥ ११४ ॥

यमेव तु शुचिं विद्या नियतब्रह्मचारिणम्। तस्मै मां ब्रूहि वि-
प्राय निधिपायाऽप्रमादिने ॥११५॥ ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीया-
नादवाप्नुयात्। स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥ ११६ ॥

अर्थ जिस को पवित्र, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी जाने और जो मुक्त निधि
रूप की रक्षा करनेवाला हो, ऐसे प्रमादरहित विप्र को पढ़ावो ॥ ११५ ॥
और जो कोई अन्य पढ़ रहा हो, उस से विना उसके पढ़ाने वाले की आज्ञा
के सीख लेवे, वह विद्या की चोरी से युक्त नरक को प्राप्त होता है (इससे
ऐसा न करे। जो आशय यहां मनु में श्लोक ११४। ११५ और ११६ का है,
वही आशय निरुक्त २। ३-४ से भी प्रमाणित होता है। यथा—

नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूयोपसन्नाय तु निर्वृयाद्यो वाऽलं
विज्ञातुं स्यान्मेधाविने तपस्विने वा ॥३॥ विद्या ह वै ब्राह्म-
णमाजुगाम गोपाय मा शैवधिष्टेहमस्मि। असूयकायानृजवे
ऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम ॥ य आनृणत्यवितथेन
कर्णाविऽदुःखं कुर्वन्मृतं संप्रयच्छन्। तं मन्येत पितरं मातरं
च तस्मै न द्रुह्येत्कृतमञ्चनाहं ॥ अध्यापिता ये गुरुं नाद्रिय-
न्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा। यथैव ते न गुरोर्भोजनी-
यास्तथैव तान्नुभुनक्ति श्रुतं तत् ॥ यमेव विद्याः शुचिर्मप्रमत्तं
मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्। यस्ते न द्रुह्येत्कृतमञ्चनाहं तस्मै
मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥ इति, निधिः शैवधिरिति ॥ ४ ॥

भावार्थ:-विद्या ने (अध्यापक) ब्राह्मण से कहा कि मेरी रक्षा कर, मैं तेरा (संजाना) निधि हूँ। चुगली करने वाले, क्रूर और ब्रह्मचर्यरहित को मेरा उपदेश न कर, जिससे मैं बलवती रहूँ ॥ जो सत्य से दोनों कान भरता है दुःख दूर करता और अमृत पिलाता है, उसे माता पिता करके मानना चाहिये, उस से कभी द्वेष न करना चाहिये ॥ जो पद लिख कर बुद्धिमान् हो, अपने गुरु का मन वचन वा कर्म से आदर नहीं करते, वे जिस प्रकार गुरु के भोजनीय नहीं, इसी प्रकार उन का पढ़ना सुफल नहीं ॥ किन्तु हे ब्रह्मन् ! जिस को तू शुद्ध, अप्रमादी, बुद्धिमान्, ब्रह्मचर्य से युक्त समझे और जो तुझ से कभी द्वेष न करे, उस निधि के रक्षक शिष्य को मेरा दान दे) ॥ ११६ ॥

लौकिकं वैदिकं वापि तथा ध्यात्मिकमेव च । आदू दीत यते ज्ञानं
तं पूर्वमभिवादयेत् ॥ ११७ ॥ सावित्री मात्रा सारोऽपि वरं विप्रः
सुयन्त्रितः ॥ नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वांशी सर्वविक्रयी ॥ ११८ ॥

अर्थ-जिस से लौकिक विद्या वा वेदीय कर्मकाण्ड तथा ब्रह्मविद्या पढ़े उस (प्रतिष्ठितों के बीच बैठे हुए) को प्रथम नमस्कार करे (पश्चात् अन्यो को) ॥ ११७ ॥ जो गायत्री मात्रा का जानने वाला भी जितेन्द्रिय विप्र है, वह शिष्टों में मान्य है और जो तीनों वेदों को भी पढ़ा हो परन्तु भक्ष्याभक्ष्य का विचार न रखता हो तथा संपूर्ण वस्तुओं का विक्रय करता हो वह अजितेन्द्रिय शिष्टों में माननीय नहीं है ॥ ११८ ॥

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसान समाविशेत् । शय्यासनस्थश्चै-
वैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥ ११९ ॥ ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः
स्थविर आयति । प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते ॥ १२० ॥

अर्थ-जो शय्या वा आसन विद्यादि से अधिक वा गुरु के स्वीकार किये हुवे हों उन पर आप बराबर न बैठे और वह (गुरु) आवे तो आप शय्या वा आसन पर बैठा हुआ भी उठ कर नमस्कार करे ॥ ११९ ॥ बड़े आदमी के घर आने पर छोटे आदमी के प्राण ऊपर की उभरने लगते हैं । वे (प्राण) उठ कर नमस्कारादि करने से स्वस्थता को प्राप्त होते हैं (इस से अवश्य अपने से विद्यादि में अधिकों को उठ कर नमस्कार करे) ॥ १२० ॥

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपिसेविनः । चत्वारि तस्य वधन्ते
आयुर्विद्या यशोबलम् ॥१२१॥ अभिवादात्परं विप्रोज्यायांस-
मभिवादयन् । असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ॥१२२॥

अर्थ—जो प्रति दिन वृद्धों की सेवा करता है और नमस्कार करने के
स्वभाव वाला है, उस की चार वस्तु बढ़ती हैं; आयु, विद्या, यश और
बल ॥ १२१ ॥ वृद्ध को नमस्कार करता हुआ विप्र, “मैं नमस्कार करता हूँ”
इस अभिवादनवाक्य के अन्त में “अमुक नाम वाला हूँ” ऐसे अपना
नाम कहे ॥ १२२ ॥

नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते । तान्प्राज्ञोहमिति ब्रूयात्
स्त्रियः सर्वास्तथैव च ॥१२३॥ भोः शब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नो
ऽभिवादने नाम्नां स्वरूपभावा हि भोभावत्तृपिभिः स्मृतः ॥१२४॥

अर्थ—जो कोई नामधेय के उच्चारणपूर्वक नमस्कार करना नहीं जानते,
उन से बुद्धिमान् ऐसा कह दे कि “मैं नमस्कार करता हूँ” और संपूर्ण मान्य
स्त्रियों को भी ऐसे ही कह दे ॥१२३॥ अभिवाद्य के नामों के स्वरूप में “भोः”
यह सम्बोधन ऋषियों ने कहा है। इस से अपना नाम लेकर अन्त में “भोः”
शब्द कहा करे (अर्थात् अपने से बड़े अभिवादन्य पुरुष का नाम न ले,
किन्तु उस के नाम की जगह “भोः” शब्द कहे) ॥ १२४ ॥

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने । अकारश्चास्य
नाम्नोन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः ॥१२५॥ येन वेत्त्यभिवादस्य
विप्रः प्रत्यभिवादनम् । नाभिवादाः सविदुषा यथाशूद्रस्तथैव सः

अर्थ—नमस्कार करने पर “आयुष्मान्भव सौम्य” ऐसा ब्राह्मण से कहे ।
नमस्कार करने वाले के नाम के अन्त के व्यञ्जन (शर्मन् इत्यादि) से पूर्व
अकार (वा किसी स्वर) को प्लुत करे (इस से उसका आदर होता है)
॥ १२५ ॥ जो ब्राह्मण नमस्कार करने पर क्या कहना चाहिये, इस को नहीं
जानता, वह शूद्रतुल्य है, नमस्कार करने के योग्य नहीं है ॥ १२६ ॥

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रवन्धुमनामयम् । वैश्यं क्षेमं समागम्य

शूद्रमारोग्यमेवच॥१२७॥अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत् । भोभवत्पूर्वकत्वेनमभिभाषेत धर्मवित् ॥ १२८ ॥

अर्थ—(नमस्कार के अनन्तर) मिलाप होने पर ब्राह्मण से “कुशल” पूछे, क्षत्रिय से “अनामय” वैश्य से “क्षेम” और शूद्र से “आरोग्य” ही पूछे ॥१२७॥ यदि दीक्षित कनिष्ठ (छोटा) भी हो तथापि उस का नाम लेकर न बोले । (जो कुछ बोलना ही तो) धर्म का जानने वाला भोः दीक्षित । वा आप (भवान्) कह कर बोले ॥ १२८ ॥

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसंबन्धा च योनितः । तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च ॥१२९॥ मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरुन् । असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युरयाय यवीयसः ॥ १३० ॥

अर्थ—पर स्त्री जो योनि सम्बन्ध (रिश्ते) वाली न हो, उस को (बोलने के समय में) कहे कि भवति । सुभगे ! भगिनि ॥ १२९ ॥ मातुल, पितृव्य, श्वशुर, ऋत्विज्, गुरु; यदि ये कनिष्ठ (छोटे) हों तौ भी इन के आने पर उठ कर “असौ अहम्” ऐसा कहे (अर्थात् अपना नाम प्रकट करे) ॥ १३० ॥

मातृष्वसा मातुलानि श्वशूरथ पितृष्वसा । संपूज्या गुरुपत्नीवत् समास्ता गुरुभार्याया ॥ १३१ ॥ भ्रातृभार्यापसंग्राह्या सवर्णा ऽहन्यहन्यपि विप्रोप्य तूपसंग्राह्या ज्ञातिसंबन्धियोपितः ॥ १३२ ॥

अर्थ—माता की भगिनी, मामी, सास और पितृभगिनी; ये संपूर्ण गुरुभार्या के तुल्य हैं, इस से इन का आदर सत्कार गुरुभार्यावत् करे ॥१३१॥ (ज्येष्ठ) भ्राता की सवर्णा भार्या से प्रतिदिन नमस्कारादि करे और ज्ञातिसम्बन्धिनी जो स्त्री हैं (मातृपत्नी की मातुलानी इत्यादि और पितृपक्ष के पितृव्यादिकों की स्त्रियें) इन को परदेश से आने पर नमस्कार करे ॥ १३२ ॥

पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसूर्यापि मातृवद्दृष्टिमातिष्ठे न्माता सा भ्योगरीयसी ॥ १३३ ॥ दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पञ्चाब्दाख्यं कलाभृताम् । त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापि स्वयोनिषु ॥ १३४ ॥

अर्थ—पितृभगिनी, मातृभगिनी और अपनी ज्येष्ठा भगिनी इन का माता के समान आदर करे परन्तु माता इनसे अधिकतर है ॥१३३॥ एकपुत्रनिवा-

सियों का दश वर्ष बड़ा होने तक सख्य (बराबरी) होता है और यदि सङ्गीतादि कला के जानने वाले हों तो पांचवर्ष बड़ा होने तक सख्य (बराबरी) होता है और श्रोत्रियों में तीन वर्ष की ज्येष्ठता तक और अपने ज्ञातियों में थोड़े ही दिनों में सख्य (बराबरी) होता है ॥१३४॥

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम् । पिता पुत्रौ विजानीयात्
ब्राह्मणस्तुतयोः पिता ॥१३५॥ वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति
पञ्चमी । एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥१३६॥

अर्थ—दश वर्ष का ब्राह्मण और सौ वर्ष का क्षत्रिय हो तो पिता पुत्र के समान जाने और ब्राह्मण उन में पिता के समान है ॥१३५॥ १ वित्त=न्यायो-पार्जित द्रव्य, २ पितृव्यादि=बन्धु, ३ श्रौतस्मार्तादि कर्म, ४ आयु और ५ विद्या ये पांच बड़ाई के स्थान हैं । इन में उत्तरोत्तर एक से एक अधिक है ॥१३६॥

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च । यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः
शूद्रोऽपि दशमीं गतः १३७ चक्रिणो दशमीस्यस्य रोगिणो भारिणः
स्त्रियाः । स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च ॥ १३८ ॥

अर्थ—तीन वर्णों (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य) में पूर्वोक्त पांच गुणों में से जिस में जितने अधिक हों वह उतना अधिक माननीय है और शूद्र भी सौ वर्ष का हुवा माननीय है ॥ १३७ ॥ चक्रयुक्त रथादि पर सवार हुवे और ९०-१०० वर्ष के वृद्ध, रोगी, बोझ वाले, स्त्री, स्नातक, राजा और वर=जिस का विवाह हो, इन सब को मार्ग (रास्ता) छोड़ देवे ॥ १३८ ॥

तेषां तु समवेतानां मान्यो स्नातकपार्थिवौ । राजस्नातकयोश्चैव
स्नातको नृपमानभाक् ॥१३९॥ उपनीय तु यः शिष्यं वेदम-
ध्यापयेद् द्विजः । सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥१४०॥

अर्थ—ये सब जहां इकट्ठे हों वहां राजा और स्नातक अधिक माननीय हैं । उन में भी राजा और स्नातक एक साथ मिल जावें तो राजा स्नातक को मान (रास्ता) देवे (स्नातक उस ब्रह्मचारी को कहते हैं जिस का समावर्त्तन हो चुका हो) ॥१३९॥ जो द्विज शिष्य का उपनयन करके कल्प और रहस्य के साथ वेद पढ़ावे उस को “आचार्य” कहते हैं (कल्प=यज्ञविधि । रहस्य=उपनिषद्) ॥१४०॥

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः। यो ध्यापयति वृत्त्यर्थ-
मुपाध्यायः स उच्यते॥१४१॥ निषेकादीनि कर्माणि यः करोति
यथाविधि। संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरु उच्यते ॥१४२॥

अर्थ—वेद के एक देश वा वेद के अङ्ग (ज्योतिष व्याकरणादि) वृत्ति के लिये
जो पढ़ावे, उस को “उपाध्याय” कहते हैं॥१४१॥ जो गर्भाधानादि शास्त्रोक्त कर्म
कराता है और जो अन्नसे पोषण करता है, उस ब्राह्मण को “गुरु” कहते हैं १४२
अग्न्याधेयं पाकयज्ञानऽग्निष्टोमादिकान्मखान्। यः करोति
वृत्तो यस्य स तस्य त्विगिहोच्यते॥१४३॥ य आ वृणोत्यवितथं ब्रह्म-
णा श्रवणावुभौ। स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन॥१४४॥

अर्थ—(जो आहवनीय अग्नि को उत्पन्न करके कर्म किया जाता है उस को)
अग्न्याधेय (कहते हैं) और पाकयज्ञ (वैश्वदेयादि) और अग्निष्टोमादि यज्ञों
को वरुण लेकर जो जिसे करावे उसको इस शास्त्रमें उस का “अत्विज्” कहते हैं
॥१४३॥ जो (गुरु) सत्यविद्या वेद से दोनों कर्णों को भरता है वह माता
पिता के तुल्य जानने योग्य है, उससे कभी द्रोह न करे ॥ १४४ ॥

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता। सहस्रं तु पितृन्मा-
ता गौरवेणातिरिच्यते॥१४५॥ उत्पादक ब्रह्मदा प्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः
पिता। ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥१४६॥

अर्थ—दश १० उपाध्यायों के तुल्य गौरव (बड़ाई) एक आचार्य में और
शत १०० आचार्यों के समान पिता में, और पिता से सहस्रगुणित माता में
होता है ॥ १४५ ॥ उत्पन्न करने वाला और वेद का पढ़ाने वाला (ये दोनों
पिता हैं) इन में ब्रह्म का देने वाला बड़ा है क्योंकि विप्र का ब्रह्मजन्म ही
इस लोक तथा परलोक में शाश्वत (स्थिर फल का हेतु) है ॥ १४६ ॥

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतोमियः। संभूतिं तस्य तां वि-
द्यादयो नावभिजायते॥१४७॥ आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधि-
वद्वेदपारगः। उत्पादयति सा विद्या सा सत्या साऽजराऽमरा १४८

अर्थ—माता और पिता तौ कामवश होकर भी इस बालक को उत्पन्न करते हैं इस से जिस योनि में वह जाता है, उसी प्रकार उस के हस्त पादादि हो जाते हैं ॥१४७॥ परन्तु सम्पूर्ण वेद का जानने वाला आचार्य इस बालक की विधिवत् गायत्री उपदेश द्वारा जो जाति उत्पन्न करता है वह जाति सत्य है और अजर अमर है (क्योंकि उसी से शाश्वत ब्रह्म की प्राप्ति होती है) ॥१४८॥

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोतियः। तमपीह गुरुं विद्या-
च्छुनोपक्रियया तया ॥१४९॥ ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च
शासिता। बालोपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः ॥१५०॥

अर्थ—जो (उपाध्याय) जिस को अल्प वा बहुत वेदाध्ययनादि कराकर उपकार करे, उस को भी इस लोक में पढ़ाई के उपकार करने से “ गुरु ” जाने ॥ १४९ ॥ ब्रह्म (वेद) के पढ़ाने से जन्म दिया है जिसने और स्वधर्म की शिक्षा करने वाला, ऐसा (आयु से) बालक भी विद्वान् पुरुष, (आ-
युमात्र से) वृद्ध (मूर्ख) का धर्म से पिता है ॥ १५० ॥

“अध्यापयामास पितृन् शिशुराङ्गिरसः कविः। पुत्रका इति होवाच
ज्ञानेन परिगृह्यतान् ॥ १५१ ॥ ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः।
देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥ १५२ ॥”

“अर्थ—अङ्गिरस् मुनि के विद्वान् पुत्र ने अपने पितृव्यादि को पढ़ाया और अपने अधिक विद्या ज्ञान से उन को शिष्य जान कर हे—पुत्रकाः ! अर्थात् “ हे लड़को ,, ऐसा कहा ॥ १५१ ॥ वे क्रोधयुक्त होकर देवताओं से “पुत्र” के शब्दार्थ को पूछने गये, देवताओं ने मिल कर उन से कहा कि उस लड़के ने तुम से ठीक कहा है ॥”

(मनु के पश्चात् अङ्गिरस् गोत्र कवि हुआ और उस को भी लिट् लकार परोक्ष भूत से बहुत पुराना करके इन श्लोकों में कहा होने से ये दोनों श्लोक नवीन ज्ञात हैं) ॥ १५२ ॥

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः। अज्ञं हि बालमि-
त्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥१५३॥ न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन
न बन्धुभिः। ऋपयश्चक्रिरे धर्मं योनूचानः स नो महान् ॥१५४॥

अर्थ—अज्ञानी ही बालक है और मन्त्र का देने वाला पिता है इस से अज्ञ को बालक और मन्त्रदाता को पिता कहते हैं ॥ १५३ ॥ न बहुत आयु से, न श्वेत बालों से, न द्रव्य से, न नाते में बड़ाई से बड़ाई है, किन्तु जो वेदाध्ययनपूर्वक धर्म का जानने और करने वाला है वही हम ऋषियों में बड़ा है । यह धर्मव्यवस्था ऋषियों ने की है ॥ १५४ ॥

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः । वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः १५५ न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः । यौवै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्यविरं विदुः १५६

अर्थ—ब्राह्मणों का ज्ञान की अधिकता से बड़प्पन होता है और क्षत्रियों का पराक्रम से, वैश्यों का धन धान्य की समृद्धि से और शूद्रों का जन्म से ॥ १५५ ॥ शिर के केश श्वेत होने से वृद्ध नहीं होता, यदि युवा भी लिखा पढ़ा हो तो उस को देवता 'वृद्ध' जानते हैं ॥ १५६ ॥

यथा काष्ठमयोहस्ती यथा चर्ममयोमृगः । यश्च विप्रो न धीयानस्त्रयस्ते नाम विभ्रति १५७ यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गविचां फलाय याचाज्ञोऽफलं दानं तथा विप्रो नृचोऽफलः १५८

अर्थ—जैसे काष्ठ का हाथी और चमड़े का मृग है वैसे बिना पढ़ा ब्राह्मण का पुत्र, ये तीनों नाममात्र को धारण करते हैं १५७ जैसा स्त्रियों में नपुंसक निष्फल और गौ में गौ, तथा अज्ञानी में दान निष्फल है, वैसे ही वेदरहित ब्राह्मण निष्फल है ॥ १५८ ॥

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् । वाक्चैव मधुरा श्लाक्षणा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥ १५९ ॥ यस्य वाङ्मनसो शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा । स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥ १६० ॥

अर्थ—प्राणियों को श्रेय अर्थात् कल्याणरूपी अर्थ की शिक्षा अहिंसा (दुःख न देकर) ही से करे और वाणी मधुर और स्पष्ट कहे, धर्म की इच्छा करने वाला (क्रूर भाषणादि न करे) ॥ १५९ ॥ जिस के वाणी और मन शुद्ध और (क्रोध मिथ्याभाषणादिकों से) सदा सुरक्षित हों, वह वेदान्त के यथार्थ सब फल को प्राप्त होता है (मोक्ष लाभ करता है) ॥ १६० ॥

नारुन्तुदः स्यादातीपि न परद्रोहकर्मधीः। ययास्योद्विजतेवाचा
नालोक्यां तामुदीरयेत्॥१६१॥ संमानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत
विषादिव । अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥१६२॥

अर्थ—दबाव पड़ने पर भी किसी के मर्मच्छेदन करने वाली बात न बोलें। दूसरे के साथ द्रोह करने वाली वृद्धि न करे और जिस वाणी से दूसरा हरे, लोक की अहित करने वाली, ऐसी कोई बात न बोले ॥१६१॥ ब्राह्मण सम्मान से सर्वदा (सुख नहीं माने) विषयतः हरे और सर्वदा अपमान की अमृतवत् इच्छा करे (मान अपमान से उस को दुःखादि न होवे) ॥१६२॥

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते । सुखं चरति लोके स्म-
न्नावमन्ता विनश्यति ॥१६३॥ अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा
द्विजः शनैः। गुरौ वसन्संचिनुयाद्ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥ १६४ ॥

अर्थ—दूसरे से अपमान किये जाने पर भी खेद न करता हुआ पुरुष सुख पूर्वक शयन करता है सुखपूर्वक जागता है। लोगों में सुखपूर्वक व्यवहार करता है और अपमान करने वाला (उस पाप से) नष्ट हो जाता है ॥१६३॥ इस क्रम से (जातकर्म से उपनयनपर्यन्त) संस्कार किया हुआ द्विज, गुरु के समीप वास करता हुआ वेद के ग्रहणार्थ तप का सञ्चय करे ॥ १६४ ॥

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिषोदितैः । वेदः कृत्स्नोऽधिगन्त-
व्यः सरहस्योद्विजन्मना ॥१६५॥ वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तपस्यन्
द्विजोत्तमः । वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥१६६॥

अर्थ—विधिविहित विविध तपोविशेष (समयनियमादि) और व्रतों (गुरुसेवादि) से सम्पूर्ण वेद उपनिषदों के सहित, द्विजन्मा—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य को पढ़ना योग्य है ॥१६५॥ तप करना हो तो ब्राह्मण वेद ही का सदा अभ्यास करे । वेदाभ्यास ही ब्राह्मण का परम तप कहा है ॥ १६६ ॥

आहैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः। यः स्वगव्यपि द्विजोऽधीते
स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥१६७॥ योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र
कुरुते श्रमम् । स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥१६८॥

अर्थ—जो द्विज पुष्पमाला को भी धारण करके (ब्रह्मचर्य समाप्त करके भी) प्रतिदिन यथाशक्ति वेदाध्ययन करता है वह निश्चय नख शिख तक परम तप करता है (अर्थात् इस से अधिक कोई तप नहीं है) ॥१६७॥ जो द्विज वेद को बिना पढ़े अन्य कार्य में श्रम करे, वह जीता हुवा ही वंश के सहित शूद्रता को प्राप्त होता है ॥ १६८ ॥

मातुरग्रेधिजननं द्वितीयं मौञ्जिवन्धने । तृतीयं यज्ञदीक्षायां
द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥१६९॥ तत्र यद्रहजन्मास्य मौञ्जीबन्धन-
चिन्हितम् । तत्रास्य मातासावित्री पितात्वाचार्य उच्यते १७०

अर्थ—श्रुति की आज्ञा से द्विज के, प्रथम माता से जन्म, दूसरे मौञ्जी-
बन्धन, तीसरे यज्ञ की दीक्षा में, ये तीन जन्म होते हैं ॥१६९॥ इन पूर्वोक्त
तीनों जन्मों में वेदग्रहणार्थ उपनयन संस्काररूप जो जन्म है, उस जन्म
में उस बालक की माता सावित्री और पिता आचार्य कहाते हैं ॥१७०॥

वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते । नह्यस्मिन्युज्यते कर्म किं-
चिदामौञ्जिवन्धनात् ॥१७१॥ नाभिष्याहारयेद्रह स्वधानिनय-
नादृते । शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते ॥ १७२ ॥

अर्थ—वेद के प्रदान से आचार्य को पिता कहते हैं । उस बालक की
मौञ्जीबन्धन से पूर्व कोई (श्रौतस्मार्तादि) क्रिया ठीक नहीं है ॥ १७१ ॥
(मौञ्जीबन्धन से पूर्व) वेद का उच्चारण न करावे, परन्तु मृतक संस्कार में
वेदमन्त्रों का उच्चारण वर्जित नहीं है । जब तक वेद में जन्म नहीं हुआ
तब तक शूद्र के तुल्य है ॥ १७२ ॥

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते । ब्रह्मणो ग्रहणं चैव
क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥१७३॥ यद्यस्य विहितं चर्म यत्सूत्रं या
च मेखला । यो दण्डो यच्च वसनं तत्तदस्य व्रतेष्वपि ॥१७४॥

अर्थ—इस बालक को (सायं प्रातः होम करना और दिन में न सोना
इत्यादि) व्रत और क्रमपूर्वक विधि से वेद का अध्ययन, उपनयन हुवे को
कहा है (इस लिये पूर्व न करे) ॥१७३॥ जो जिस की चर्म, सूत्र, मेखला, दण्ड
और वस्त्र, (उपनयन में) कहा है वही उस को व्रतों में भी जानों ॥१७४॥

सेवेतेमांस्तुनियमान्ब्रह्मचारीगुरौवसन् । सन्नियम्येन्द्रियग्रामं
तपोवृद्धयर्थमात्मनः ॥१७५॥ नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवार्पि
पितृतर्पणम् । देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥१७६॥

अर्थ—ब्रह्मचारी गुरु के पास रहता हुआ इन्द्रियों का संयम करके अपने
तप की वृद्धि के लिये इन (जो आगे वर्णित हैं) नियमों का पालन करे ॥१७५॥
प्रतिदिन स्नान करके पवित्र होके, देव, ऋषि और पितृसंज्ञक पुरुषों का जलादि
से तर्पण करे और समिधों का आधान कर होम से देवतों का पूजन करे ॥१७६॥

वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धंमाल्यंरसान्स्त्रियः । शुक्तानियानिसर्वा
णि प्राणिनांचैव हिंसनम् ॥१७७॥ अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्षणोरुपान-
च्छत्रधारणम् । कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥१७८॥

अर्थ—इन वस्तुओं को छोड़ देवे—मधु, मांस, गन्ध, माल्य, अण्डे मधु-
रादि रस स्त्री (सिरका इत्यादि) जो सड़ी वस्तु हैं वे सब और प्राणियों
की हिंसा ॥१७७॥ तैलादि का मर्दन, आंखों में अञ्जन, जूता पहनना, छत्र
धारण, काम, क्रोध, लोभ, नाचना, गाना और बजाना ॥ १७८ ॥

द्यूतं च जनवादं च परिवादंतथानृतम् । स्त्रीणां च प्रेक्षणा लम्भ
मुपघातं परस्य च ॥१७९॥ एकः शयीत सर्वत्र न रेतः सकन्दयेत्क्व-
चित् । कामाद्वि सकन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥१८०॥

अर्थ—जुआ, झगड़ा, दूसरे की निन्दा, झूठ, स्त्रियों के साथ देखना
वा दिखानी करना और दूसरे का उपघात (न करे) ॥१७९॥ सर्वदा एकाकी
शयन करे और शुक्र (वीर्य) को न गिरावे क्योंकि इच्छा से शुक्र का पात
करे तो अपने व्रत का नाश करता है ॥ १८० ॥

स्वप्नेसिक्ता ब्रह्मचारीद्विजः शुक्रमकामतः । स्नात्वा कर्मचर्यित्वा
त्रिः पुनर्मांमित्यृचं जपेत् ॥१८१॥ उदकुम्भं सुमनसोगोशकृन्मृ-
त्तिकाकुशान् । आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत् ॥१८२॥

अर्थ—स्वप्न में द्विज ब्रह्मचारी का बिना इच्छा के शुक्र गिर जावे,
तो स्नान कर परमात्मा का पूजन करके, तीन बार “पुनर्मांसेत्यिन्द्रियम्” इस

अन्ना को पढ़े ॥ १८१ ॥ पानी का घड़ा, पुष्प, गोबर, मही, कुशा; इन को जितना आवश्यक हो ले आवे और प्रतिदिन भिक्षा ले आवे ॥ १८२ ॥

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु । ब्रह्मचार्याहरेद्वैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥ १८३ ॥ गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु । अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ॥ १८४ ॥

अर्थ—वेद और यज्ञ से जो हीन नहीं हैं और अपने नित्यकर्म में प्रतिष्ठित हैं, ऐसों के घरों से ब्रह्मचारी प्रतिदिन नियम से भिक्षा लावे ॥ १८३ ॥ गुरु और गुरु के ज्ञाति वाले कुल और बन्धु, इन के कुल से भिक्षा न मांगे । यदि और जगह न मिले तो (इन में से) पहिले पहिलों को छोड़ देवे ॥ १८४ ॥

सर्ववापिचरेदुग्रामं पूर्वोक्तानामसंभवे । नियम्य प्रयतोवाचमभिश्चस्तांस्तु वर्जयेत् ॥ १८५ ॥ दूरादाहृत्य समिधः संनिदध्या द्विहायसि । सायं प्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥ १८६ ॥

अर्थ—पूर्वोक्तों (वेदयज्ञसहितों) से कहीं न मिले तो चाहे और सब ग्राम से भिक्षा मांगे, परन्तु बहुत न घोल कर, और उन में भी महापातकी आदि को छोड़ दे ॥ १८५ ॥ दूर से समिधा लाकर ऊँचे पर रखले, आलस्य छोड़ कर सायं प्रातः उन से अग्नि में होम किया करे ॥ १८६ ॥

अकृत्वा भैक्षचरणमसमिधयः स पावकम् । अनातुरः सपरात्रमवकीर्णव्रतं चरेत् ॥ १८७ ॥ भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकाब्जादी भवेद्भूतो । भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता ॥ १८८ ॥

अर्थ—[यदि] बिना रोगादि बाधा ब्रह्मचारी सात दिन भिक्षावृत्ति और अग्नि में समिधों से सायं प्रातर्होम न करे तो [ब्रह्मचर्यव्रत नष्ट होता है] उस पर अवकीर्णव्रत (११ अध्यायोक्त) प्रायश्चित्त करे ॥ १८७ ॥ ब्रह्मचारी भिक्षा करके नित्य भोजन करे और एक का अन्न भोजन न करे (किन्तु बहुत घरों से भिक्षा मांग के भोजन करे) क्योंकि भिक्षा समूह से जो ब्रह्मचारी की वृत्ति है वह उपवास के तुल्य (मुनियों ने कही) है ॥

(१८८ के आगे ३० पुराने पुस्तकों में से ८ जगह के पुस्तकों की टीका में मूल के स्थान में ये दो श्लोक अधिक पाये जाते हैं । शेष २२ पुस्तकों में नहीं । वे ये हैं:—

[न भैक्ष्यं परपाकः स्यान्न च भैक्ष्यं प्रतिग्रहः ।

सोमपानसमं भैक्ष्यं तस्माद्भैक्ष्येण वर्त्तयेत् ॥

भैक्ष्यस्यागमशुद्धस्य प्रोक्षितस्य हुतस्य च ।

यांस्तस्य ग्रसते ग्रासांस्ते तस्य क्रतुभिः समाः ॥]

ये किसी ने भिक्षा की निन्दा वा ग्लानि देख कर बर्ना दिये हैं । जिन का अर्थ यह है कि "भिक्षा का अन्न न तो परपाक है, न प्रतिग्रह है, किन्तु सोमपान के तुल्य है, इस लिये भिक्षा के अन्न से वृत्ति करे । भिक्षा का अन्न शास्त्र से विहित, शुद्ध, प्रोक्षित, हुत हो तो उस के जितने ग्रास खाता है उतने यज्ञों का फल खाने वाले को होता है" ॥ इस से भी जाना जाता है कि समय २ पर मनु में प्रक्षेप होता रहा है) ॥ १८८ ॥

व्रतवद्देवदैवत्ये पित्र्ये कर्मण्यथर्षिवत् । कर्ममभ्यर्षितोऽश्वनी-

याद् व्रतमस्य न लुप्यते ॥१८९॥ ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्टं

मनीषिभिः । राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते ॥१९०॥

अर्थ-परन्तु देवतोद्देश (देवयज्ञसम्बन्धी ब्रह्मभोज) में निमग्नित ब्रह्म-चारी व्रतवत् (एक के घर भी चाहे) भोजन करे, तो उस का व्रत लुप्त नहीं होता । तथा जीवित पितृनिमित्तक आहुति में मुन्यन्तों के ऋषितुल्य भोजन करने से भी (व्रत नष्ट नहीं होता) ॥१८९॥ परन्तु मनीषियों ने यह कर्म ब्राह्मण ब्रह्मचारी को कहा है, क्षत्रिय वैश्यों को यह कर्म ऐसा नहीं है ॥ १९० ॥

चोदितो गुरुणानित्यमप्रधोदितएष वा । कुर्यादध्ययने यत्नमा-
चार्यस्य हितेषु च ॥१९१॥ शरीरं चैव वाचं च शुद्धोन्द्रियम-
नांसि चानियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्बोक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥१९२॥

अर्थ-गुरु प्रतिदिन कहे वा न कहे, पढ़ने में तथा गुरु की हित सेवा में यत्न करे ॥ १९१ ॥ शरीर, वाणी, ज्ञानेन्द्रिय और मन का संयम कर, हाथ जोड़ गुरु का मुख देखता हुआ (सामने) रहा करे ॥ १९२ ॥

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साधवाचारः सुसंयतः । आस्यतामिति
चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः ॥१९३॥ हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्स-
र्वदा गुरुसन्निधौ । उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत् ॥१९४॥

अर्थ-निरन्तर (ओढ़ने के वस्त्र से) दक्षिण हाथ बाहर निकाले रहे और अच्छे आचार से युक्त "बैठो" ऐसा (गुरु) कहे तब गुरु के सम्मुख बैठे ॥ १९३ ॥ सदा गुरु से हीन (घटिया) अन्न वस्त्र वेप रख कर गुरु के पास रहे, गुरु से प्रथम जाने और गुरु के पश्चात् सोवे ॥ १९४ ॥

प्रतिश्रवणसंभाषेशयानो न समाचरेत् । नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन् पराङ्मुखः ॥ १९५ ॥ आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छन्-स्तुतिष्ठतः । प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्वावस्तुधावतः ॥ १९६ ॥

अर्थ-सोता हुआ या आसन पर बैठा हुआ या भोजना करता हुआ या और ओर मुल करके खड़ा हुआ गुरु से आज्ञा का उत्तर या संभाषण न करे ॥ १९५ ॥ आसन पर बैठे हुये गुरु आज्ञा दें तो आप आसन से उठकर और गुरु खड़े हों तो आप समीप चलके और गुरु अपनी ओर आवें तो आप भी उन की ओर जाके और गुरु चलते २ बोलें तो आप उन के पीछे चलता हुआ (संभाषणादि करे) ॥ १९६ ॥

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैतद्य चान्तिकम् । प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥ १९७ ॥ नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ । गुरोस्तु चक्षुर्विपये न यथेष्टासनो भवेत् ॥ १९८ ॥

अर्थ-गुरु पीछे हों तो सम्मुख होकर और दूर हों तो निकट आकर और लेटे हों तो नमस्कार करके और खड़े हों तो समीप होकर (कहें सो सुने) ॥ १९७ ॥ गुरु के समीप इस (शिष्य) का बिल्लीना या आसन उन से सदा नीचा हो और गुरु के सामने मनमानी बैठक से न रहे ॥ १९८ ॥

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् । न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥ १९९ ॥ गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते । कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यौ वा ततोऽन्यतः ॥ २०० ॥

अर्थ-गुरु का केवल नाम परोक्ष में भी न लेवे और गुरु के चलने बोलने या चेष्टा की नकल न करे (१९९ के पूर्वार्द्ध से आगे भी एक श्लोक मु० हनुमानप्रसाद प्रयाग के पुस्तक में पाया जाता है कि-

[परोक्षं सत्कृपापूर्वं प्रत्यक्षं न कथंचन ।

दुष्टानुधारी च गुरोरिहवाऽमुत्र चैत्यधः ॥]

अर्थ—गुरु का नाम परोक्ष में लेना हो तौ नाम से पूर्व “ सत्कृपा ” लगा कर नाम लेवे, प्रत्यक्ष में सर्वथा नहीं । गुरु का दुष्टाचारी शिष्य इस लोक और परलोक में नीचता को प्राप्त होता है । इस से भी पाया जाता है कि मनु में लोक प्रायः मिलाये गये हैं । क्योंकि यह श्लोक शेष २८ पुस्तकों में नहीं पाया गया ॥१९९॥ जहां पर कोई गुरु के दोष कहता हो वा निन्दा करता हो वहां पर कान बन्द कर लेवे या वहां से और जगह चला जावे ॥२००॥
परीवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः । परिभोक्ता कृमि-
भवति कीटो भवति मत्सरी ॥२०१॥ दूरस्यो नार्चयेदेनं न क्रुदो ना-
न्तिके स्त्रियाः । या नासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत् ॥२०२॥

अर्थ—गुरु की निन्दा सुनने से (मर कर) गधा होता है और निन्दा करने से (दूसरे जन्म में) कुत्ता होता है और गुरु के अनुचित द्रव्य का भोक्ता शिष्य कृमि होता है और मत्सरता करने वाला कीट होता है ॥२०१॥
गुरु की दूर से पूजा न करे, क्रोधयुक्त हुवा भी न करे और जय गुरु अपनी स्त्री के साथ बैठे हों तब भी । स्वयं यान वा आसन पर बैठा हुवा इन को उतर कर नमस्कार करे ॥ २०२ ॥

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह । असंश्रवे चैव गुरोर्न कि-
ञ्चिदपि कीर्त्तयेत् ॥२०३॥ गोऽश्वोऽपूयानप्रासादस्त्वस्तरेषु कटेषु
च । आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च ॥ २०४ ॥

अर्थ—जब सम्मुख शिष्य की ओर से गुरु की ओर वायु आवे वह प्रति-
वात है ऐसी जगह गुरु के साथ न बैठे और अनुवात (जहां गुरु का वायु
अपने ऊपर आता हो) वहां भी न बैठे (किन्तु दायें बायें बैठे) और गुरु जो
न सुन सकें तो कुछ न कहे ॥ २०३ ॥ बैल, घोड़े, कंट की जोती हुई गाड़ी
में और मकान की छत पर, पुराल तथा चटाई और पत्थर पर या लकड़ी
की बड़ी चौकियों या नाव पर गुरु के साथ शिष्य बैठ सकता है ॥ २०४ ॥

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् । न चानिसृष्टो गुरुणा
स्वान्गुरु नभिवादयेत् ॥२०५॥ विद्यागुरुष्वेतदेव नित्यावृत्तिः
स्वयोनिषु । प्रतिषेधत्सु चाधर्माहितं चोपदिशत्स्वपि ॥२०६॥

अर्थ-गुरु का गुरु समीप आवे, तो उस से भी गुरुवत् वर्त्ताव करे। गुरु के घर में रहने वाला शिष्य (गुरु के बिना कहे अपने गुरु) माता पित्रादि को नमस्कार न करे ॥२०५॥ विद्यागुरु पूर्वोक्त उपाध्यायादि और पिता आदि लोग तथा जो अधर्म से रोकने वाले और हित के उपदेश करनेवाले हैं, उन में भी यही वृत्ति रखे (आचार्यवत् भक्ति रखे और नमस्कारादि प्रति-दिन विधि के अनुकूल करे) ॥ २०६ ॥

अर्थ-सुगुरुश्रद्धवृत्तिं नित्यमेश समाचरेत्। गुरुपुत्रेषु चार्थेषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु ॥ २०७ ॥ बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि। अध्यापयन्गुरुसुतो गुरुवन्मानमहंति ॥ २०८ ॥

अर्थ-विद्या तप से अधिकों और आर्य गुरुपुत्रों तथा गुरु के बन्धुओं में नित्य गुरु के सी वृत्ति रखे ॥२०७॥ छोटा हो वा समान आयु वाला हो वा अपना पढ़ाया हुआ हो परन्तु यज्ञ में आकर ऋत्विज् हुआ हो तब गुरुपुत्र पढ़ाता हुआ गुरु के समान पूजा पाने के योग्य है ॥ २०८ ॥

उत्सादनं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने। न कुर्याद्गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम् ॥ २०९ ॥ गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोपिताः। असवर्णास्तु संपूज्याः प्रत्युत्थानाभिधादिनैः ॥ २१० ॥

अर्थ-शरीर मलना, न्हिलाना, उच्छिष्ट (शेष स्वच्छ) भोजन करना और पैर, घोमा, इतनी सेवा गुरुपुत्र की न करे (अर्थात् ये गुरु ही की करनी चाहियें) ॥ २०९ ॥ सवर्णा गुरु की स्त्रियों का गुरुवत् पूजन करे और (अपने से) सवर्णा न हों ती उठकर नमस्कार करके ही उन का सत्कार करे (विशेष न करे) ॥ २१० ॥

अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमैव च। गुरुपत्न्या न कार्याणि केरानां च प्रसाधनम् ॥ २११ ॥ गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः। पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता ॥ २१२ ॥

अर्थ-उबटना लगाना, स्नान कराना, देह दवाना, बाल फूलों से गूँथना (ये सेवा) गुरुपत्नी की न करे ॥ २११ ॥ पूर्ण २० वर्ष का (शिष्य) गुणदोष का जानने वाला युवति गुरुपत्नी को पैर छूकर नमस्कार न करे (अर्थात् दूर से भूमि पर प्रणाम करले) ॥ २१२ ॥

स्वभाव एष नारीणां नराणां मिह दूषणम् । अतो यांश्च प्रमादयन्ति
प्रमदासु विपश्चितः ॥२१३॥ अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि
वा पुनः । प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम् ॥२१४॥

अर्थ—यह स्त्रियों का स्वभाव है कि पुरुषों को दोष लगा देना, इस से
दण्डित लोग स्त्रियों में प्रसन्न नहीं होते (बड़े सावधान रहते हैं) ॥२१३॥
काम क्रोध के वश हुआ पुरुष विद्वान् वा मूर्ख हो, उस को बुरे मार्ग पर
ले जाने को स्त्री समर्थ है ॥ २१४ ॥

मात्रा स्वस्व । दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् । अलवानिन्द्रिय-
ग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥२१५॥ कामं तु गुरु पत्नीनां युवती-
नां युवा भुवि । विधिबद्धन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ॥२१६॥

अर्थ—मा या वहिन या लड़की के साथ भी एकान्त स्थान में न बैठे,
क्योंकि अतिबलवान् इन्द्रियों का गण, विद्वान् पुरुष को भी खींच सकता है
॥२१५॥ युवती गुरुपत्नी हों और आप भी युवा हो तो चाहे यथोक्तविधि से “अमुक
शर्माहम्” यह कहकर (पैर बिना छुये) पृथिवी पर नमस्कार करले ॥२१६॥
विप्रोष्यपादग्रहणमन्त्रं हंचाभिवादनम् गुरुदारेषु कुर्वीत सतां
धर्ममनुस्मरन् ॥ २१७ ॥ यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिग-
च्छति । तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रुपुरधिगच्छति ॥ २१८ ॥

अर्थ—प्रवास से आकर पादस्पर्श करके और प्रतिदिन सत्पुरुषों के धर्म
को स्मरण करता हुआ गुरुपत्नियों को (बिना पांव छुये) नमस्कार मात्र कर
ले ॥२१७॥ जैसे कोई पुरुष कुदाल (फावड़े) से भूमि खोदता हुआ पानी को
पाता है, वैसे ही गुरु में की विद्या को सेवा करने वाला पाता है ॥२१८॥

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः । नैनं ग्रामेऽभि-
निस्तोचेत्सूर्यो नाभ्युदयात्क्वचित् ॥२१९॥ तं चेदभ्युदयात्सूर्यः
शयानं कामचारतः । निस्तोचेद्वाप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्विनम्

अर्थ—मुण्डित अथवा शिखा वाला वा जटायुक्त, इन तीन प्रकार में से
ब्रह्मचारी कोई प्रकार रखे । ग्राम में इस को कभी सूर्य अस्त वा उदित
न हो ॥२१९॥ यदि ज्ञानपूर्वक शयन करते हुवे को सूर्य उदय वा अस्तान से
अस्त हो जावे तो दिन भर (गायत्री) जप करके उपवास करे ॥ २२० ॥

सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः । प्रायश्चित्तमकुर्वाणो
युक्तः स्यान्महतैनसा ॥ २२१ ॥ आचम्य प्रयतो नित्यमुभे
सन्ध्ये समाहितः । शुचौ देशे जपज्जप्यमुपासीत यथाविधि ॥ २२२ ॥
यदि स्त्री यद्वा वरजः श्रेयः किञ्चित्समाचरेत् । तत्सर्वमाचरेद्युक्तो
यत्र वास्य रमेन्मनः ॥ २२३ ॥ धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थो धर्म
एव च । अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥ २२४ ॥

अर्थ—यदि सूर्य के उदय वा अस्त के समय सो जाय और प्रायश्चित्त न करे
तो महापाप के युक्त होता है ॥ २२१ ॥ आचमन करके प्रतिदिन एकाग्र चित्त होकर
दोनों सन्ध्याओं को पवित्र देश में यथाविधि जप करता हुवा उपासनां
करे ॥ २२२ ॥ जिस किसी धर्म का स्त्री वा शूद्र भी आचरण करता हो और
उन में इस का चित्त लगे, उस को भी मन लगा कर करे ॥ २२३ ॥ धर्म अर्थ
ये दोनों श्रेय कहाते हैं । कोई काम को भी श्रेय मानते हैं और अन्यो का
मत यह है कि अर्थ ही श्रेय है । (अपमान मत मनु बताते हैं कि) तीनों
(पुरुषार्थ) त्रिवर्ग श्रेय हैं ॥ २२४ ॥

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पितामूर्तिः प्रजापतेः । माता पृथिव्या मू-
र्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः ॥ २२५ ॥ आचार्यश्च पिता चैव माता
भ्राता च पूर्वजः । नार्त्तनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥ २२६ ॥

अर्थ—आचार्य वेद की मूर्ति है और पिता ब्रह्मा की मूर्ति है, माता
पृथिवी की और भ्राता आत्मा की मूर्ति है (इस लिये किसी का अपमान
न करे) ॥ २२५ ॥ ब्राह्मण को विशेष करके चाहिये कि आचार्य पिता माता
और ज्येष्ठ भ्राता, इन का अपमान स्वयं क्लेषित होने पर भी न करे ॥ २२६ ॥
यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम् । न तस्य निष्कृतिः शक्या
कर्तुं वर्षशतैरपि ॥ २२७ ॥ तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च
सर्वदा । तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥ २२८ ॥

अर्थ—मनुष्यों की उत्पत्ति और पालनादि में जो क्लेश माता पिता सहते
हैं, उस क्लेश का बदला सौ वर्ष में भी नहीं हो सकता ॥ २२७ ॥ माता पिता
और गुरु का सर्वकाल में नित्य प्रिय करे । इन तीनों की ही प्रसन्नता होने
पर सम्पूर्ण तप पूरा होता है ॥ २२८ ॥

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते । न तैरभ्यननुज्ञातो धर्म-
मन्यं समाचरेत् ॥२२९॥ त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आ-

श्रमाः । त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥ २३० ॥

अर्थ—उन तीनों की शुश्रूषा परम तप कहाती है और कुछ अन्य धर्म उन की
आज्ञा के बिना न करे ॥२२९॥ माता पिता और गुरु ही तीनों लोक हैं और
वही तीनों आश्रम हैं और वही तीनों वेद हैं और वही तीनों अग्नि हैं ॥२३०॥

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः । गुरुराहवनीयस्तु
साग्नित्रेत गरीयसी ॥२३१॥ त्रिष्वप्रमादक्षैतेषु त्रीं लोकांश्च-
जयेद्गृही । दीप्यमानः स्वपुपा देववद्विव मोदते ॥२३२॥

अर्थ—(जिन में) पिता तौ गार्हपत्याग्नि और माता दक्षिणाग्नि और गुरु
आहवनीयाग्नि हैं । ये तीन अग्नि प्रसिद्ध तीन अग्नियों से बड़े हैं ॥ २३१ ॥
गृहस्थ इन तीनों के विषय में प्रमाद को त्यागता हुआ (शुश्रूषा करे तो)
मानो तीनों लोकों को जीते और अपने शरीर से प्रकाशमान होकर देव-
ताओं के समान सुख में प्रसन्न रहे ॥ २३२ ॥

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् । गुरुशुश्रूषया त्वेवं
ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥२३३॥ सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्य ते त्रय आ-
दृताः । अनादृतास्तु यस्य ते सर्वास्तस्याऽफलाः क्रियाः ॥२३४॥

अर्थ—माता की भक्ति से मानों इस लोक को जीतता है और पिता की
भक्ति से मध्य (अन्तरिक्ष) लोक को और ऐसे ही गुरु की शुश्रूषा से ब्रह्म-
लोक को प्राप्त होता है ॥ २३३ ॥ जिस पुरुष ने माता पिता और गुरु का
सत्कार किया, उस को सम्पूर्ण धर्म फल देते हैं और जिस के इन तीनों का
सत्कार नहीं होता, उस के (और स्मार्त) कर्म सब निष्फल होते हैं ॥ २३४ ॥

यावत्त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत् । तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां
कुर्यात्प्रियहिते रतः ॥२३५॥ तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यदादा-
चरेत् । तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः ॥ २३६ ॥

अर्थ—इस कारण उन की प्रीति और हित में परायण होता हुआ जब तक वे
जीवें तब तक चाहे और कुछ न करे, किन्तु उन की नित्य शुश्रूषा करे ॥२३५॥ माता

पिता और गुरु की आज्ञा के अनुसार जो परलोक के निमित्त कर्म करे, सो मन, वचन और कर्म से उन ही के निवेदन करदे ॥ २३६ ॥

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते। एषधर्मः परः साक्षा-
दुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ २३७ ॥ अद्धानः शुभां विद्यामाददी-
तावरादपि। अन्त्यादपि परं धर्मं स्वीरत्नं दुष्कुलादपि ॥ २३८ ॥

अर्थ—माता पिता और गुरु की शुश्रूषा से पुरुष के सम्पूर्ण कर्म पूरे होते हैं। इस कारण यही साक्षात् परम धर्म है और अन्य उपधर्म हैं ॥ २३७ ॥
अज्ञात होता हुआ उत्तम विद्या शूद्र से भी ग्रहण करले और चारणाल से भी परम धर्म ग्रहण करले और स्वीरत्न अपने से नीचे कुल की हो उसे भी (विवाह के निमित्त) अङ्गीकार करले ॥ २३८ ॥

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम्। अमित्रादपि सद्-
वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम् ॥ २३९ ॥ स्त्रियोरत्नान्ययो विद्याधर्मः
शीघ्रं सुभाषितम्। त्रिविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः

अर्थ—(विष और अमृत मिले हों तो) विष से अमृत और बालक से भी हित वचन ग्रहण करले। शत्रु से भी अच्छा कर्म और अमेध्य में से भी सुवर्णादि ग्रहण करले ॥ २३९ ॥ स्त्री, रत्न, विद्या, धर्म, शीघ्र, अच्छे वचन और अनेक प्रकार की शिल्पविद्या सबसे ग्रहण करले ॥ २४० ॥

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते। अनुब्रज्या च शुश्रूषा
यावदध्ययनं गुरोः २४१ नाऽब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वा समात्यन्तिकं
वसेत्। ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन् गतिमनुत्तमाम् ॥ २४२ ॥

अर्थ—आपत्तिमय में ब्राह्मण के बिना (क्षत्रिय और वैश्य से) भी पढ़ना कहा है और गुरु की आज्ञा में चलना और शुश्रूषा जब तक पढ़े तब तक करे ॥ २४१ ॥ ब्राह्मण गुरु न हो तो शिष्य सदा गुरुकुल निवास न करे ब्राह्मण भी साङ्ग येदों का पढ़ाने वाला न हो तो मोक्ष की इच्छा करता हुआ शिष्य सदा गुरुकुल निवास न करे ॥ २४२ ॥

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत् गुरोः कुले। युक्तः परिचरेदेन-
माशरीरविमोक्षणम् ॥ २४३ ॥ आसमाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रू-

षते गुरुम् । स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सदा शाश्वतम् २४४

अर्थ—जो गुरुकुल में सदा वास की रुचि ही हो तो सावधानी से जब तक जीवे गुरु की शुश्रूषा करता रहे और (ब्रह्मचर्य में) युक्त रहे ॥ २४३ ॥ जो शरीर समाप्त होने तक गुरु की शुश्रूषा करता है वह ब्राह्मण अनायास मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ २४४ ॥

न पूर्वं गुरवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्मवित् । स्नास्यंस्तु गुरुणाज्ञप्तः
शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥ २४५ ॥ क्षेत्रं हिरण्यं गामश्च छत्रोपा-
नहमासनम् । धान्यं शाकं च वासंसि गुरवे प्रीतिमावहेत् २४६

अर्थ—धर्म का जानने वाला स्नान के अतिरिक्त कोई वस्तु गुरु से पूर्व न वर्त्ते । गुरु की आज्ञा से यथाशक्ति गुरु के लिये जलादि ला देवे ॥ २४५ ॥ पृथिवी, सुवर्ण, गौ, घोड़ा, छत्र, जूता, आसन, अन्न, शाक और वस्त्र गुरु के निमित्त प्रीतिपूर्वक निवेदित करे ॥ २४६ ॥

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते । गुरुदारे सपिण्डे वा
गुरुवद्भृत्यमाचरेत् ॥ २४७ ॥ एतेष्वविदमानेषु स्नानासनवि-
हारवान् । प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः ॥ २४८ ॥

अर्थ—गुरु के मरे पीछे गुरु का पुत्र गुणों से युक्त हो और गुरु की स्त्री हो और गुरु के सपिण्ड अर्थात् स्नाता आदि होवें तो उन को भी गुरु के तुल्य माचता रहे ॥ २४७ ॥ और ये (गुरुपुत्र, गुरु की स्त्री और गुरु के पितृव्यादि) न होवें तो स्नानादि और होमादि करता हुआ अपने शरीरको साथे (ब्रह्म की प्राप्ति के योग्य करे) ॥ २४८ ॥

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः ।

स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहाजायते पुनः ॥ २४९ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे (भृगुप्रोक्तायां संहितायां)

द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अर्थ—जो ब्राह्मण ऐसे अखण्डित ब्रह्मचर्य करता है वह ब्रह्म को प्राप्त होता है और फिर पृथिवी पर जन्म नहीं लेता ॥ २४९ ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामि-विरचिते मनुस्मृतिभाषानुवादे

द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

ओ३म्

अथ तृतीयोऽध्यायः

षट्त्रिंशदादिकं चर्यं गुरो त्रैवैदिकं व्रतम् । तदर्धिकं पादिकं
वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥१॥ वेदानधीत्यवेदौ वा वेदं वापि
यथाक्रमम् । अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥२॥

अर्थ—गुरुकुल में (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) तीनों वेद छत्तीस वर्ष पर्यन्त
अथवा अठारह वर्ष पर्यन्त वा नव वर्ष पर्यन्त पढ़े अथवा जितने काल में
पढ़ने की शक्ति होवे उतने ही काल तक पढ़े और ब्रह्मचर्य रखे ॥१॥ क्रम
से तीनों वेद वा दो वेद अथवा एक ही पढ़कर ब्रह्मचर्य खण्डित न करके
गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे ॥ २ ॥

तं प्रसीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः । सग्विणं तल्पभासीन-
मर्हयेत्प्रथमं गवा ॥३॥ गुरुणानुमतःस्नात्वा समावृतोऽथया-
विधि । उद्वहेत् द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥ ४ ॥

अर्थ—अपने धर्म के अनुसार पिता (आचार्य) से वेदरूपी दायभाग लाते
हुए लौटकर आये, उस माला से अलंकृत और शय्या पर स्थित हुवे को (पिता)
गोदान से पूजित करे ॥३॥ गुरु की आज्ञा से यथाविधि स्नान और समावर्तन
करके द्विज अपने वर्ण की शुभलक्षणों से युक्त स्त्री से विवाह करे ॥ ४ ॥

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः । साप्रशस्ताद्विजा-
सीनां दारकर्मणि मैथुने ॥५॥ महान्त्यपि समृद्धानि गोजावि-
धनधान्यतः । स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥६॥

अर्थ—जो माता की सपिण्ड (सात पीढ़ी में) न हो और पिता के गोत्र
में न हो (ऐसी स्त्री) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को स्त्री कर्म=मैथुन में श्रेष्ठ है
॥५॥ यदि गौ, बकरी, भेड़, द्रव्य और अन्न से बहुत समृद्ध भी हों तो भी
इन आगे कहे (दोषयुक्त) दश कुलों की कन्या से विवाह न करे ॥ ६ ॥

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दोरोमशार्शसम् । क्षय्यामयाव्यप-
स्मारिश्चित्रिकुष्ठिकुलानिच ७ नोद्वहेत्कपिलांकन्यांनाधिकाङ्गीं
न रोगिणीम् । नालोमिकांनातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम् ८

अर्थ—(वे कुल ये हैं) हीनक्रिय (जातकर्मादिरहित) १, पुरुषद्विरत २, वेदपाठरहित ३, बहुत बड़े बालों वाला ४, बवासीरयुक्त ५, क्षय व्याधि से युक्त ६, मन्दाग्नि ७, मिरगी ८, श्वेतकुष्ठी ९, और गलितकुष्ठी १० (इन दश कुलों को छोड़ देवे) ॥७॥ कपिल रङ्ग वाली, अधिक अङ्ग वाली, रोगिणी, विना बालों वाली, बहुत बालों वाली, कठोर बोलने वाली और कांयरी कन्या से विवाह न करे ॥ ८ ॥

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् । न पक्ष्यहिम्रेष्पना-
म्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥८॥ अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंस-
वारणगामिनीम् । तनुलोमके गदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम् ॥९॥

अर्थ—नक्षत्र, वृक्ष, नदी, अन्त्यज, पहाड़, पक्षी, सर्प, शूद्र, (आदि) नामों और भयङ्कर नामों वाली से भी न करे ॥८॥ सुन्दर अङ्ग वाली, अच्छे नाम वाली, हंस और गज के सदृश गमन वाली, पतले रोमाक्षों, बालों और दांतों और कोमल शरीर वाली से विवाह करे ॥ ९ ॥

यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता ।

नोपयच्छेत्तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥ ११ ॥

“सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि ।

कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशोवराः ॥१२॥”

अर्थ—जिसके भाई न हो वा (जिस के) पिता का पता न लगे, ज्ञानवान् पुरुष (जिस का प्रथम पुत्र अपने नाना की गोद धर्म से देना पड़े उस को “पुत्रिका” कहते हैं) “पुत्रिका” धर्म से डर कर उस से विवाह न करे ॥११॥ “ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों को स्त्री करने में प्रथम अपने वर्ण की कन्या से विवाह श्रेष्ठ है और कामाधीन विवाह करे तौ क्रम से ये नीची भी श्रेष्ठ हैं ॥ १२ ॥

“शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते ।

ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाऽग्रजन्मनः ॥ १३ ॥”

न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापदापि हि तिष्ठतोः ।

कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते ॥ १४ ॥

“अर्थ—शूद्र को शूद्र ही की कन्या से, वैश्य को वैश्य की और शूद्र की कन्या से, क्षत्रिय को शूद्र वैश्य और क्षत्रिय की कन्या से और ब्राह्मण को शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण की (कन्या से विवाह करलेना भी बुरा नहीं है) ॥” (१२। १३ श्लोक स्वयं मनु के ही अगले १४। १५। १७। १८ और १९ वें श्लोकों से विरुद्ध हैं) ॥ १३ ॥ ब्राह्मण क्षत्रिय को आपत्काल में रहती को भी किसी भी दृष्टान्त में शूद्रा भार्या नहीं बताई गई है ॥ १४ ॥

हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तोद्विजातयः ।

कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम् ॥ १५ ॥

“शूद्रावेदी पतत्यत्रेकतथ्यतनयस्य च ।

शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भृगोः ॥ १६ ॥”

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य मोहवश अपने वर्ण से हीन वर्णस्य स्त्री से विवाह करें तो सन्तानसमेत अपने कुल को शूद्रता को प्राप्त करते हैं ॥ १५ ॥ “शूद्रा से विवाह करने से पतित होता है, यह अत्रि और उत्तथ्य के पुत्र का मत है। शूद्रा से सन्तान उत्पन्न करने से पतित होता है, यह शौनक का मत है। और उस सन्तान के सन्तान होने से पतित हो, यह भृगु का वचन है” । (स्पष्ट है कि यह श्लोक मनु का नहीं है) ॥ १६ ॥

शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणोयात्यधोगतिम् । जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते १७ दैवपित्र्यातिथेयानि तत्प्रधानानि यस्य तु । नाश्नन्ति पितृदेवास्तन्न च स्वर्गं स गच्छति ॥ १८ ॥

अर्थ—शूद्रा के शय्या पर आरोपण करने से ब्राह्मण नीच गति को प्राप्त होता है और उस के सन्तान उत्पन्न करके तो ब्राह्मणत्व से ही हीन हो जाता है ॥ १७ ॥ और जिस ब्राह्मण ने शूद्रा स्त्री के प्रधानत्व से होम, आहु और अतिथिभोजन कराया चाहा है, उस का अन्न पितृसंज्ञक और देवतासंज्ञक पुरुष ग्रहण नहीं करते और वह पुरुष स्वर्ग को प्राप्त नहीं होता ॥ १८ ॥

वृषलीफेनपीतस्य निःश्वासोपहतस्य च । तस्यां चैव प्रसूतस्य
निष्कृतिर्न विधीयते ॥ १९ ॥ चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिता-
ऽहितान् । अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत ॥ २० ॥

अर्थ—शूद्रा के मुख चुम्बन करने वाले पुरुष की और उस के मुंह की
भाफ़ लगने से उस पुरुष और उस से उत्पन्न सन्तान की शुद्धि नहीं होती
॥ १९ ॥ चारों वर्णों के परलोक और इस लोक में अच्छे दुरे आठ प्रकार
के विवाहों को संक्षेप से सुनो ॥ २० ॥

ब्राह्मोदैवस्तथैवार्थः प्राजापत्यस्तथासुरः ।

गान्धर्वोराक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ २१ ॥

“ यो यस्य धर्मो वर्णस्य गुणदोषौ च यस्य यौ ।

तद्वः सर्वं प्रवक्ष्यामि प्रसवे च गुणाऽगुणान् ॥ २२ ॥ ”

अर्थ—ब्राह्म १ दैव २ आर्य ३ प्राजापत्य ४ आसुर ५ गान्धर्व ६ राक्षस ७
और आठवां पैशाच ८ अतिनिन्दित है ॥ २१ ॥ “जो (विवाह) जिस वर्ण
को योग्य है और जो गुण दोष जिस में हैं, सो तुम से कहता हूँ और स-
न्तान के गुण दोष भी (कहता हूँ) ॥ २२ ॥ ”

“ पठानुपूर्व्या विप्रस्य क्षत्रस्य चतुरोवरान् । विदूश्शूद्रयोस्तु ता-
नेव विद्याद्विभक्त्या नराक्षसान् ॥ २३ ॥ चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान्मग्न-
स्तान्कवयो विदुः । राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः ॥ २४ ॥ ”

“अर्थ—ब्राह्मण को क्रम से (ब्राह्म दैव आर्य प्राजापत्य आसुर गान्धर्व)
छः विवाह धर्म्य हैं और क्षत्रिय को (आर्य प्राजापत्य आसुर गान्धर्व) चार
विवाह श्रेष्ठ हैं । वैश्य और शूद्र को भी ये ही (चारों) विवाह धर्मसम्बन्धी
हैं, परन्तु किसी को भी राक्षस विवाह योग्य नहीं ॥ २३ ॥ ब्राह्मण को (ब्राह्म
दैव आर्य प्राजापत्य) पहले चार विवाह उत्तम हैं । क्षत्रिय को राक्षस विवाह
श्रेष्ठ है और वैश्य शूद्र को एक आसुर विवाह उत्तम है ॥ २४ ॥ ”

“ पञ्चानां तु त्रयोधर्म्या द्वावधर्म्यौ स्मृताविह । पैशाचश्चासुरश्चैव
न कर्तव्यौ कदाचन ॥ २५ ॥ पृथक्पृथक्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्व-
चोदितौ । गान्धर्वोराक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ ॥ २६ ॥ ”

“अर्थ—पांच विवाहों में तीन धर्मसम्बन्धी और दो अधर्मसम्बन्धी हैं। पैशाच और आसुर कभी करने योग्य नहीं हैं ॥ २५ ॥ पहले कहे हुवे न्यारे न्यारे अथवा मिले हुवे गान्धर्व और राक्षस विवाह क्षत्रियों के धर्मसम्बन्धी कहे हैं।” (२२।२३।२४।२५।२६ श्लोक प्रक्षिप्त ज्ञान पड़ते हैं । क्योंकि प्रथम ती २१ वें में जो ८ विवाह कहे हैं, उन के लक्षण क्रम से २७ वें से वर्णन किये गये हैं। इस लिये उन से ठीक सम्बन्ध मिल जाता है। दूसरे ये श्लोक स्वयं परस्पर विरुद्ध हैं। क्योंकि आगे ३९।४०।४१ वें श्लोकों में प्रथम के ब्राह्मणादि विवाह उत्तम और पिछले ४ निन्दित बताये जायेंगे और यही उन के लक्षणों से पाया जाता है। परन्तु उस के विरुद्ध यहां २३ वें में ब्राह्मण को छः विवाह धर्मयुक्त बताये हैं। २५ वें में पैशाच और आसुर को वर्जित किया है, २३ और २४ वें में उन्हें विहित बताया है। इत्यादि बहुत विरोध हैं, जो स्पष्ट हैं) ॥ २६ ॥

आच्छाद चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम् । आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥२७॥ यज्ञे तु वितते सम्य- गृत्विजे कर्म कुर्वते । अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मे प्रचक्षते ॥२८॥

अर्थ—विद्यायुक्त शीलवान् वर को बुला कर वस्त्र तथा भूषणादि से सज्जित करके कन्यादान करने को “ ब्राह्म ” विवाह कहते हैं ॥ २७ ॥ (ज्योतिष्टोमादि) यज्ञ में अच्छे प्रकार यज्ञ कराने वाले ऋत्विज् वर को भूषण पहिरा कर कन्यादान करने को “ दैव ” विवाह कहते हैं ॥ २८ ॥

एकंगोमिथुनद्वेवावरादादाय धर्मतः । कन्याप्रदानं त्रिधिवदार्थो धर्मः स उच्यते ॥२९॥ सहोमी धरतं धर्ममिति वाचानुभाष्य च । कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्योविधिः स्मृतः ॥ ३० ॥

अर्थ—एक गौ और एक बैल अथवा दो गौ और दो बैल (यज्ञादि के निमित्त अथवा कन्या को देने के निमित्त) वर से लेकर शास्त्र में कहे प्रकार से कन्यादान करने को “आर्य” विवाह कहते हैं (आगे ५३ वें श्लोक में कहेंगे कि यह सब का मत नहीं है और बुरा है) ॥२९॥ ‘तुम दोनों साथ धर्म के आचरण करो, कन्यादान के समय वाणी से यह प्रार्थना करके जो सत्कार- पूर्वक कन्यादान किया जाता है वह “ प्राजापत्य ” विवाह है ॥ ३० ॥

ज्ञातिभ्योद्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः । कन्याप्रदानं स्वा-
च्छन्दादासुरोधर्म उच्यते ॥ ३१ ॥ इच्छयान्योन्यसंयोगः कन्या-
याश्च वरस्य च । गान्धर्वः स तु त्रिज्ञेयो मैथुन्यः कामसंभवः ॥ ३२ ॥

अर्थ—वर के माता पिता आदि और कन्या को यथाशक्ति धन देकर जो
इच्छापूर्वक कन्या देना है, वह “ आसुर ” विवाह कहा जाता है ॥ ३१ ॥
अपनी इच्छा से कन्या और वर का मिलाप मात्र होना, यह कामियों का
मैथुन्य “ गान्धर्व विवाह ” जानना चाहिये ॥ ३२ ॥

हत्वा छित्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् । प्रसह्य कन्या
हरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ३३ ॥ सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रो-
पगच्छति । स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ ३४ ॥

अर्थ—विनाश करके, हस्तपादादि पर घोट मार के, मकान आदि फोड़
के, गाली देती और रोती हुई कन्या को हट से लेजाना “ राक्षस ” विवाह
कहाता है ॥ ३३ ॥ सोती हुई और नशा पी हुई और प्रमादिनी को जहां
मनुष्य न हों, विषय करके प्राप्त होना, यह पाप का मूल विवाहों में अधम
८ वां “ पैशाच ” विवाह है ॥ ३४ ॥

अद्विरेव द्विजाग्रयाणां कन्यादानं विशिष्यते ।

इतरेषां तु वर्णानामितरेतरकाम्यया ॥ ३५ ॥

“ यो यस्यैषां विवाहानां मनुना कीर्तितो गुणः ।

सर्वं शृणुत तं विप्राः सर्वं कीर्तयतो मम ॥ ३६ ॥ ”

अर्थ—ब्राह्मणों को जल से ही कन्यादान करना श्रेष्ठ है और क्षत्रियादि
वर्णों को परस्पर की इच्छामात्र से कन्यादान होता है (जल का नियम नहीं
है) ॥ ३५ ॥ “ इन विवाहों में जो गुण जिस विवाह का मनु ने कहा है, सो
संपूर्ण हे ब्राह्मणो ! मुझ से सब सुनो ” (यह भृगु ने ब्राह्मणों से कहा है) ॥ ३६ ॥

दश पूर्वान्परान्वंश्यानात्मानं चैकविंशकम् । ब्राह्मीपुत्रः सुकृत
कृन्मोचयं देनसः पितृन् ॥ ३७ ॥ दैवोढाजः सुतश्चैव सप्त सप्त
पराधरान् । आर्षोढाजः सुतस्त्रींस्त्रीन्षट्षट्कायोढजः सुतः ३८

अर्थ-ब्राह्मविवाह की कन्या का पुत्र, जो अच्छे कर्म करने वाला होवे तो दश पीढ़ी प्रथम (अपने जन्म से पहिली) और दशपीढ़ी पर (पुत्रादि) तथा अपने को, इस प्रकार इक्कीस को (अपयशरूपी) पाप से छुटाता है ॥ ३७ ॥ और दैव विवाह की स्त्री का पुत्र सात पीढ़ी पहिली और सात अगली तथा ऋषिविवाह की स्त्री का पुत्र तीन पीढ़ी पहिली और तीन अगली और प्राजापत्य विवाह की स्त्री का पुत्र छः पीढ़ी पहिली और छः अगली और अपने को (अपयश) पाप से छुटाता है ॥

(ये दो श्लोक ब्राह्मादि चार विवाहों की प्रशंसा के हैं । यथार्थ में जब किसी कुल में कोई धर्मात्मा प्रतिष्ठित पुरुष उत्पन्न होता है, तो अगले पिछलों के नाम पर कोई बड़ा भी लगा हो तो उस से दब जाता है । और उत्तम विवाह उत्तम सन्तान का हेतु है ही । इस लिये ब्राह्म आदि ४ विवाहों का न्यूनाधिक उत्तमत्व दिखाया गया है) ॥ ३८ ॥

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्वैत्रानुपूर्वशः । ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसंमताः ॥ ३९ ॥ रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः । पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥ ४० ॥

अर्थ-ब्राह्मादि चार विवाहों में ही क्रम से ऐसे पुत्र होते हैं जो ब्रह्म-तेजस्वी और श्रेष्ठ मनुष्यों के प्यारे, ॥ ३९ ॥ रूपवान्, पराक्रमी, गुणवान्, धनवान्, यश वाले, पुष्कल भोग वाले, धर्मात्मा और १०० वर्ष की आयु वाले होते हैं ॥ ४० ॥

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतत्रादिनः । जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्म धर्मद्वेषः सुताः ॥ ४१ ॥ अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा । निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्निवर्जयेत् ॥ ४२ ॥

अर्थ-शेष दुष्ट विवाहों के सन्तान निर्लज्ज, झूठ बोलने वाले, ब्रह्मधर्म-द्वेषी (ब्राह्मणों व धर्मों के शत्रु) उत्पन्न होते हैं ॥ ४१ ॥ अच्छे स्त्रीविवाहों से अच्छी और बुरे विवाहों की बुरी सन्तान मनुष्यों के होती है । इस कारण निन्दित विवाहों का त्याग करे ॥ ४२ ॥

“पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णामूपदिश्यते । असवर्णास्त्रयं स्त्रियो विधिरुद्धाहकमणि ॥ ४३ ॥ शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया । वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने ॥ ४४ ॥

अर्थ—पाणिग्रहणसंस्कार अपने वर्ण की स्त्री के साथ कहा है और अपने वर्ण से दूसरे वर्ण की स्त्रियों में विवाह कर्म में यह विधि जाननी चाहिये:—॥४३॥ उत्तम वर्ण का पुरुष हीन वर्ण की कन्या से विवाह करे तो क्षत्रिय की कन्या को वाण का एक सिरा और वैश्य की कन्या को सांटे का एक सिरा और शूद्र की कन्या को कपड़े का एक सिरा पकड़ना चाहिये॥४४॥

(४३ । ४४ श्लोकों में स्वयं ही कहते हैं कि यह पाणिग्रहण संस्कार नहीं है, जो असवर्णा के साथ हो । और असवर्णा के साथ विवाह करना पूर्व श्लोक ४ के विरुद्ध होने से त्याज्य भी है) ॥ ४४ ॥

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा। पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां
तद्वतोरतिकाम्यया ॥ ४५ ॥ ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः

षोडश स्मृताः । चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥ ४६ ॥

अर्थ—अपनी स्त्री से (अमावस्यादि) पर्ववर्जित दिनों में ऋतुकाल में प्रीतिपूर्वक संभोग करे ॥ ४५ ॥ स्त्रियों की स्वाभाविक ऋतुकाल को १६ रात्रि हैं जिन में (पहले) चार दिन अच्छे मनुष्यों से निन्दित भी सम्मिलित हैं ॥ ४६ ॥

तासामाद्याश्रतस्तु निन्दितैकादशी च या । त्रयोदशी च शोपा-

स्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥ ४७ ॥ युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयु-

ग्मासुरात्रिषु । तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवेस्त्रियम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—उन में चार प्रथम की और ११ वीं और १३ वीं ये छः रात्रि (स्त्री भोग में) निषिद्ध हैं और शेष दश रात्रि श्रेष्ठ हैं ॥ ४७ ॥ (उन दशों में भी) युग्म (छठी आठवीं इत्यादि) में पुत्र उत्पन्न होते हैं और अयुग्म (सातवीं आदि) रात्रियों में कन्या उत्पन्न होती हैं इस कारण पुत्र की इच्छा वाला युग्म तिथियों में ऋतुकाल में स्त्री से संभोग करे ॥ ४८ ॥

पुमान्पुंसोऽधिकेशु क्रेस्त्रीभवत्यधिकेस्त्रियाः । समेऽपुमान्पुंस्त्रियौ

वा क्षीणेऽल्पे च त्रिपर्ययः ॥ ४९ ॥ निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु

स्त्रियोरात्रिषु वर्जयन् । ब्रह्मचार्यैव भवति यत्र तत्राश्रमेव सन् ५०

अर्थ—पुरुष का वीर्य अधिक हो तो पुत्र और स्त्री का अधिक हो तो कन्या, जो दोनों का वीर्य बराबर हो तो नपुंसक वा १ कन्या और १ पुत्र

उत्पन्न होता है। धीर्य क्षीण हो अथवा कम हो तो सन्तान नहीं होती ॥४९॥
चार रात्रि ऋतु की, ११ वीं १३ वीं और दो पर्व की इन ८ रात्रियों को त्याग
कर, शेष रात्रियों में जिस किसी भी आश्रम में रहता हुआ (स्त्री संभोग करे
तो) ब्रह्मचारी ही है ॥ ५० ॥

नकन्यायापिताविद्वान्गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि । गृह्णच्छुल्कं हि
लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयीऽस्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीव-
न्तिवान्यवाः। नारीयानानिवस्त्रंवा ते पापायान्त्यधोगतिम् ५२

अर्थ—ज्ञानवान् पिता कन्या का अल्प द्रव्य भी शुक्ल=मूल्य ग्रहण न
करे। यदि लोभ से मूल्य ग्रहण करे तो वह मनुष्य सन्तान का बेचने वाला
हो ॥५१॥ स्त्रीधन (स्त्री को दिया हुआ धन) वा यान वा वस्त्र को (पति के)
जो बान्धव ग्रहण करते हैं, वे पापी अधोगति की प्राप्त होते हैं ॥५२॥

आर्ये गोमियुनंशुक्लं केचिदाहुर्मृषैव तत् । अल्पोऽल्प्येवं महान्
वापि विक्रयस्तावदेव सः ॥ ५३ ॥ यासां नाददते शुक्लं ज्ञातयो
न स विक्रयः । अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम् ॥५४॥

अर्थ—आर्यविवाह में गो के जोड़े का ग्रहण करना जो कोई कहते हैं
सो मिथ्या है, क्योंकि बहुत मूल्य हो चाहे थोड़ा परन्तु बेचना तो है ही
है ॥५३॥ परन्तु जिन कन्याओं का द्रव्य पित्रादि न लें, वह बेचना नहीं है,
किन्तु कन्याओं का पूजन और केवल दया है ॥ ५४ ॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा । पूज्या भूषयितव्याश्च
बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥५५॥ यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र
देवताः । यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः ॥५६॥

अर्थ—अपनी बहुत भलाई चाहें तो पिता, भाई, पति और देवर भी
(यस्त्रालङ्कारादि से) इन का पूजन करें ॥ ५५ ॥ क्योंकि जिस कुल में स्त्रियें
पूजी जाती हैं, वहां देवता रमते हैं और जहां इन का पूजन नहीं होता,
वहां सम्पूर्ण कर्म (यज्ञादि) निरर्थक हैं ॥ ५६ ॥

शोचन्ति जामयोयत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् । न शोचन्ति तु

यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥५७॥ जामयोयानि मेहानि शपन्त्य-
प्रतिपूजिताः। तानिकृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥५८॥

अर्थ—जिस कुल में स्त्रियों (दुःखित हो) शोक करती हैं, वह कुल शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाता है और जहाँ ये शोक नहीं करतीं वह (कुल) सर्वदा वर्धता है ॥ ५७ ॥ जिन घरों को अपूजित होकर स्त्रियां शाप देती हैं वे घर कृत्या (विषप्रयोगादि) के से मारे सब ओर से नाश को प्राप्त होजाते हैं ॥५८॥

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः । भूतिकामैर्नरै-
नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ ५९ ॥ सन्तुष्टोभार्यया भर्ता भर्त्रा
भार्या तथैव च । यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ६०

अर्थ—इस लिये ऐश्वर्य की इच्छा करने वाले पुरुषों को भूषण और वस्त्र आदि से अच्छे कामों और विवाहादि में इन (स्त्रियों) का सदा सत्कार रखना उचित है ॥५९॥ जिस कुल में नित्य स्त्री से पति और पति से स्त्री प्रसन्न रहती है उस कुल में निश्चय कल्याण होता है ॥ ६० ॥

यदि हि स्त्री न रोचेत् पुमांसं न प्रमोदयेत् । अप्रमोदात्पुनः पुंसः
प्रजनं न प्रवर्त्तते ॥६१॥ स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते
कुलम् । तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥ ६२ ॥

अर्थ—यदि स्त्री शोभित न हो तो पति को प्रसन्न न कर सके और पुरुष के प्रसन्न न रहने से सन्तान नहीं चलती ॥ ६१ ॥ स्त्री (वस्त्र आभूषणादि से) शोभित हो तो सम्पूर्ण कुल की शोभा है और उस के मलिन होने से सम्पूर्ण कुल मलिन रहता है ॥ ६२ ॥

कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च । कुलान्यकुलतांयान्ति
ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥६३॥ शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यैश्च
केवलैः । गोभिश्चैवैश्च यानैश्च कृष्या राजोपसेवया ॥ ६४ ॥

अर्थ—छोटे विवाहों से, कर्म के लोप से और वेद के न पढ़ने से कुल नीचपन को प्राप्त हो जाते हैं और ब्राह्मणों की आज्ञाभङ्ग करने से भी ॥६३॥ शिल्प और व्यवहार से, केवल शूद्र सन्तानों से, गाय, घोड़े और सवारियों से, खेती और राजा की नीची नौकरी से—॥ ६४ ॥

अयाज्ययाजनैश्चैव नास्तिक्येन च कर्मणाम् । कुलान्याशुवेन-
श्यन्ति यानि हीनानि मन्त्रतः ॥६५॥ मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुला-
न्यल्पधनान्यपि । कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महदश ॥६६॥

अर्थ—और चाण्डालादि को यज्ञ कराने तथा श्रौत स्मार्त कर्मों की अश्रद्धा से और वे कुल जो वेदपाठ से हीन हैं, इन कामों से शीघ्र ही नाश को प्राप्त हो जाते हैं ॥ ६५ ॥ और वेदों से समृद्ध कुल, चाहे अल्प धन वाले भी हों, परन्तु बड़े कुल की गिनती में गिने जाते हैं और बड़े यश को धारण करते हैं (अर्थात् कुल की प्रतिष्ठा वेदपाठ से है—न कि नौकरी, व्यापार, सवारी और गौ आदि आडम्बर से) ॥ ६६ ॥

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि । पञ्चयज्ञविधानं
च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही ॥६७॥ पञ्च सूना गृहस्थस्य चुलली
पेषण्युपस्करः । कण्डनी चोदकुम्भश्च वध्यते यास्तु वाहयन् ॥६८॥

अर्थ—विवाह की अग्नि में विधिपूर्वक गृह्योक्त कर्म (सायं प्रातः होमादि) करे और पञ्चयज्ञान्तर्गत बलिवैश्वदेवादि और नित्य करने का पाक भी गृहस्थ (उसी में) करे ॥ ६७ ॥ ये पांच वस्तु गृहस्थ को हिंसा का मूल हैं—चूल्हा १ चक्री २ मुहारी ३ उलूखल, सूसल ४ जल का घड़ा ५ इन को अपने कामों में लाता हुआ (पाप से) बन्ध जाता है ॥ ६८ ॥

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः । पञ्च वत्सप्रा महा
यज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥६९॥ अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञ
स्तु तर्पणम् । होमोदैवोयलिर्भौतोऽनृत्यज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥७०॥

अर्थ—गृहस्थों के उन पापों के प्रायश्चित्तार्थ महर्षियों ने प्रतिदिन के पांच महायज्ञ रचे हैं ॥६९॥ ब्रह्मयज्ञ=पढ़ाना और पितृयज्ञ=तर्पण और देवयज्ञ=होम और भूतयज्ञ=सूतयलि और मनुष्ययज्ञ=अतिथिभोजन (ये ५ हैं) ॥ ७० ॥

पञ्चैतान्योमहायज्ञान्न हापयति शक्तिः । स गृहेऽपि वसन्नित्यं
सूनादोषैर्न लिप्यते ॥ ७१ ॥ देवतातिथिभृत्यानां पितृणामा-
त्मनश्च यः । न निर्वपति पञ्चानामुच्छुन्न स जीवति ॥७२॥

अर्थ—जो इन ५ महायज्ञों को अपनी शक्ति भर न छोड़े, वह पुरुष गृह में वसता हुआ भी हिंसा के दोषों से लस नहीं होता ॥७१॥ देवता, अतिथि, भृत्य, माता, पिता आदि और आत्मा इन पाँचों को अन्न न देती जीवता हुआ भी मरे के तुल्य है ॥ ७२ ॥

अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च । ब्राह्मं हुतं प्राशितं च पञ्चयज्ञान्प्रचक्षते ॥७३॥ जपोऽहुतोहुतोहोमः प्रहुतोभौतिको बलिः । ब्राह्मं हुतं द्विजाग्र्यार्चा प्राशितं पितृतर्पणम् ॥ ७४ ॥

अर्थ—अहुत १, हुत २ प्रहुत ३ ब्राह्महुत ४ प्राशित ५, ये पाँच दूसरे नाम पञ्चमहायज्ञों के (मुनि लोग) कहते हैं ॥७३॥ अहुत=जप, हुत=होम, प्रहुत=भूतबलि, ब्राह्महुत=ब्राह्मण की पूजा, प्राशित=नित्य आहुति (कहाता है) ॥७४॥ स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्देवैश्चैवेहकर्मणि । देवैकर्मणि युक्तो हि बिभर्त्तीदं चराचरम् ॥७५॥ अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्य मुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥७६॥

अर्थ—वेदाध्ययन और अग्निहोत्र में सर्वदा युक्त रहे । जो देव=होमकर्म में युक्त है, वह चराचर का पोषण करता है । क्योंकि—॥ ७५ ॥ अग्नि में डाली आहुति आदित्य को पहुँचती है और सूर्य से वृष्टि होती है और वृष्टि से अन्न, अन्न से प्रजा होती है । (इस से जो अग्निहोत्र करता है वह सम्पूर्ण प्रजा का पालन करता है) ॥ ७६ ॥

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः । तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्वआश्रमाः ॥७७॥ यस्मात्त्रयोप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नं चान्वहम् । गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥७८॥

अर्थ—जैसे सम्पूर्ण जीव (प्राणी) वायु के आश्रय से जीते हैं, वैसे गृहस्थके आश्रय (सहारे) से सब आश्रम चलते हैं ॥७७॥ जिस कारण तीनों आश्रम वालों का ज्ञान और अन्न से गृहस्थ ही प्रतिदिन धारण करता है इससे गृहाश्रमी बड़ा है ॥ ७८ ॥

स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता । सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥७९॥ ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा । आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ॥८०॥

अर्थ—जो दुर्बलइन्द्रिय वालों से धारण नहीं किया जा सकता, वह (गृहस्थाश्रम) इस लोक में सुख की इच्छा करने वाले तथा अक्षय सुख (मोक्ष) की इच्छा करने वाले को प्रयत्न से धारण करना चाहिये ॥१९॥ क्योंकि ऋषि, पितर, देव, अन्य जीव तथा अतिथि; ये सब कुटुम्बियों से आशा करते हैं, इस से इन के लिये जानते हुवे को (५ यज्ञ) करने चाहियें ॥२०॥

स्वाध्यायेनार्चयेत्तर्पिन्होमैर्देवान्यथाविधि । पितृन्श्राद्धैश्च
नृनक्षैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥२१॥ कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनो-
दकेन वा । पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ २२ ॥

अर्थ—स्वाध्याय से ऋषियों, होम से देवताओं, श्राद्धों से पितरों, अन्न से मनुष्यों तथा बलिकर्म से अन्य भूतों को संस्कृत करे ॥२१॥ पितरों से प्रीति चाहने वाला अन्नाद्य, दुग्ध, मूल, फल और जल से प्रतिदिन श्राद्ध करे ॥२२॥ एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थे पाञ्चयज्ञिके । न चैवात्राशयेत्किञ्चि-
द्वैश्वदेवं प्रतिद्विजम् ॥२३॥ वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येणैव विधि
पूर्वकम् । आभ्यः कुर्याद्वेवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्त्रहम् ॥ २४ ॥

अर्थ—पञ्चमहायज्ञसम्बन्धी पितृयज्ञनिमित्त (साक्षात् पिता आदि न हो
ती चाहे पितृत्वगुणयुक्त छान्दोग्य में कहे अनुसार २४ वर्ष ब्रह्मचर्य धारण
करने वाला वसुसक्त ब्रह्मचारी जिस की २५ वें श्लोक में वसु और पितृ-
संज्ञा करेंगे, उस प्रकार के) एक ब्राह्मण को भी भोजन करा देवे । परन्तु
इस वैश्वदेव के स्थान में किसी को भोजन न करावे ॥ २३ ॥ गृह्य अग्नि में
सिद्ध वैश्वदेव का इन देवताओं के लिये ब्राह्मणादि प्रतिदिन होम करे—॥२४॥

अग्नेः सोमस्य चैवादी तयोश्चैव समस्तयोः । विश्वेभ्यश्चैव देवे-
भ्यो घन्वन्तरय एव च ॥ २५ ॥ कुहूँ चैवानुमत्यै च प्रजापतये
एव च । सह द्यावापृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः ॥२६॥

अर्थ—(वे देवता ये हैं—) अग्नये, सोमाय, इस से पहिले होम करे, फिर
दोनों का नाम मिला कर, फिर विश्वेभ्यो देवेभ्यः और घन्वन्तरये, ॥२५॥
और कुहूँ, अनुमत्यै, प्रजापतये, द्यावापृथिवीभ्याम् और अन्त में स्विष्ट-
कृते (इन सब के साथ “ स्वाहा ” अन्त में लगा कर होम करे) ॥ २६ ॥

एवं सम्यग्घट्टिर्हुत्वा ऊर्वदिक्षु प्रदक्षिणम् । इन्द्रान्तकाप्पतो-
न्दुभ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत् ॥ ८७ ॥ मरुद्भ्य इति तु द्वारि क्षिपे-
दप्स्वद्भ्य इत्यपि । वनस्पतिभ्य इत्येवं मुसलोलूखले हरेत् ॥ ८८ ॥

अर्थ—उक्त प्रकार अच्छी विधि से होम करके, चारों दिशाओं में प्रद-
क्षिण क्रम से सानुग इन्द्र, यम, वरुण और सोम, इन के लिये बलि दे ॥ ८७ ॥
मरुद्भ्यः ऐसा कह कर द्वार, अद्भ्यः ऐसा कह कर जल, वनस्पतिभ्यः ऐसा
कह कर उलूखल मुसल निमित्त बलि दे ॥ ८८ ॥

उच्छीर्षकेऽग्निं यैकुर्याद्ब्रह्मकाल्यै च पादतः । ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां तु
वारतुमध्ये बलिं हरेत् ॥ ८९ ॥ विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिमाकाश
उत्क्षिपेत् । दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तं चारिभ्य एव च ॥ ९० ॥

अर्थ—वास्तु के शिरः प्रदेश छत में अग्नि के लिये, मकान के पैर=भूमि में
भद्रकाली के लिये, ब्रह्मा और वास्तोष्पति के लिये घर के बीच में ॥ ८९ ॥
विश्वदेवों के लिये आकाश में, दिवाचर प्राणी तथा रात्रिचरों के लिये
भी आकाश में ॥ ९० ॥

पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वात्मभूतये ।

पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत् ॥ ९१ ॥

अर्थ—मकान के पीछे सर्वात्मभूति के लिये और शेष बलि पितरों को
दक्षिण में देवे ॥ ९१ ॥ (८७ से ९१ तक ५ श्लोकों में वैश्वदेव बलि का विधान या
रीति है । वैश्वदेव शब्द विश्वदेवाः से बना है, जिस का अर्थ यह है कि
सब देवों वा प्राणी अप्राणीरूप जगत् के पदार्थों को अपने भोजन से भाग
देना । क्योंकि श्लोक ८९ में इस का नाम भूतबलि कह आये हैं और श्लोक
८८ में गृहस्य को ५ हिंसा लगना कह आये हैं कि चूलहा चक्री आदि से
काम लेते हुवे गृहस्य पुरुष कुछ न कुछ जगत् की हानि भी करता ही है, उसी
के प्रायश्चित्तार्थ उस को सब जगत् के उपकाररूप वैश्वदेव बलि का विधान है ।
८४। ८५। ८६ वें श्लोकों में आहुतियों का वर्णन है, वे आहुति उस २ देवता=दि-
व्यपदार्थ के उपकारार्थ दी जाती हैं । उस २ देवता (अग्नि, सोम आदि में जो २
दिव्य सामर्थ्य हैं, वह २ दिव्य सामर्थ्य परमात्मा में सर्वोपरि है । इस लिये
कोई आचार्य परमात्मा की प्रसन्नता के लिये इस होम को सामते हैं । और भिन्न

भिन्न देवताके पक्षमें १ अग्नि । २ सोम । ३ अग्नीषोम । ४ विश्वेदेवाः=सब देवता । ५ धन्वन्तरि=रोगनिवारक । ६ कुहू=अमावस्या में चन्द्रोदय होने से विशेष दिनमें विशेष । ७ अनुमति=पौर्णिमा में भी उक्त रीति से । ८ प्रजापति=काम । ९ द्युलोक और भूमिलोक । १० स्विष्टकृत् अग्निः, ये सब पदार्थ वायु के समान सर्वत्र फैले हुवे हैं और मनुष्यादि के शरीर भी इन्हीं से बने हैं और ब्राह्म जगत् में जब हवन से इनकी उत्तम अवस्था रहती है तब शरीरस्थ देवता, जो सूक्ष्मतत्त्व वा अंश हैं, वे भी भलेप्रकार आप्यायित रहते हैं । जैसे बाहर का वायु शुद्ध पवित्र हो तो शरीरस्थ प्राणादि भी स्वस्थ रहते हैं, वैसे ही ब्राह्म जगत् के व्याप्त द्रव्य अच्छे रहें, तभी मनुष्य के भीतरी तत्त्व भी परिष्कृत रह सकते हैं । इस लिये इन मन्त्रों से होम का तात्पर्य उन २ द्रव्यों की दृष्टि पुष्टि शुद्धि आदि से है । और आगे जो बलि लिखी हैं उन २ को भी उस २ देवता=तत्त्व वा द्रव्यकी दृष्टि पुष्टि और शुद्धि को निमित्त मानकर (निमित्तार्थ में ही इन श्लोकों की समीचीन विभक्ति है, न कि अधिकरण में, इस लिये) द्वार आदि स्थानों में भाग रखना आवश्यक नहीं किन्तु पंचतल पर रखकर पीछे श्लोक ८४ के अनुसार गृह्य अग्नि चूल्हे से निकाल कर उस में चढ़ादे । अब यह जानना शेष रहा कि इन २ इन्द्रादि का उस २ पूर्व दिशा आदि से क्या सम्बन्ध है ? यद्यपि अपनी बुद्धि के अनुसार हम लिखते हैं और हम से पूर्वले टीकाकारों ने भी अपनी २ समझ के अनुसार लिखा है, परन्तु जितना हम लिखते हैं वा अन्योंने लिखा है, उससे पूरा २ सन्तोष न तो हमको है और न हम यह आशा करते हैं कि अन्यो को होगा परन्तु हम इस सम्बन्ध को यह निश्चय विश्वास करते हैं कि यह आधुनिक कल्पना नहीं है किन्तु बहुत कुछ यह सम्बन्ध वेदों में भी देखा जाता है, उदाहरण के लिये सन्ध्या में मनसा परिक्रमा के मन्त्रों को देखिये, जिन में से पूर्वादि दिशाओं के साथ विशेष नाम एक प्रकार के क्रम से आये हैं, जो वेदों के अन्य मन्त्रों में भी उस क्रम से प्रायः पाये जाते हैं । इस लिये हम अनुमान करते हैं कि इन्द्र का पूर्व दिशा से, यम का दक्षिण से, वरुण का पश्चिम से, सोम का उत्तरसे, वायु का (द्वार में होकर आने से) द्वारसे, जल का जल से साक्षात्, वनस्पति का (काष्ठमय वृक्षजन्य) सूखल उलूखल से, ऊपर का लक्ष्मीसे, पृथ्वी का भद्रकाली-पृथ्वी से, वेदवेत्ता पुरोहितादि और गृहपति का गृहमध्य से और सब सामान्य देवताओं और दिन में तथा रात्रि में

विचरने वाले प्राणियों का आकाश से कुछ न कुछ विशेष सम्बन्ध है। सर्वात्मभूतिका पृष्ठसे तथा पितरोंका दक्षिण से भी ॥ जैसे इन्द्र वरुण यमादि तत्त्वोंके विशेष नाम हैं, वैसेही यहां बलिवैश्वदेव में पितरः पदका भी एक प्रकारके आकाशगत तत्त्वोंसेही अभिप्राय है। माता पिता आदि गुरुजनों का तो पृथक् पितृयज्ञ विहित ही है ॥ “वायुकोणमें जल भरा घड़ा रखना, वहीं स्नानगृह और मोरी रखना, अग्निकोणमें वनस्पति शाकादि ऊखली मूसल आदिरखना, ईशानकोण में लक्ष्मी=धन, नैऋत्य में स्त्रीपुरोहितादि वेदपाठियों वा वेदपाठ और गृहपति का, मुख्यतः बीचमें यज्ञशाला, विश्वे देवाः से विशेषतः अग्नि वायु सूर्य का प्रायः आकाश, दिवाचर मन्त्री आदि और रात्रिचर दंश मशकादि, जो निकट मलिन कारण से उत्पन्न होते हैं, उन का अपने विरुद्ध धूम से ऊपर को उड़ने से आकाश, सब प्रकार के अन्नाद्य रखने का सकानके पृष्ठ भाग से सम्बन्ध रखना फलकता है” इत्यादि विचार भी चिन्तनीय हैं। निदान यह, सर्वभूत चलिका सात्पर्य मात्र तौ (अहरहर्बलिमित्ते०) इत्यादि अथर्व १९।७।७ और (पुनन्तु विश्वाभूतानि०) इत्यादि यजुः १९।३९ वेदमन्त्रों में भी पाया जाता है कि प्रतिदिन सब भूतों को बलि दे। परन्तु पूर्वादि दिशों के साथ का भेद और (सानुगायेन्द्राय नमः) इत्यादि मन्त्र, वेदमन्त्र नहीं हैं, किन्तु गृह्यसूत्रों और स्मृतिके हैं। इस लिये यह कर्म स्मार्त्त वा गृह्य कहाता है और गृह्यका ही कर्त्तव्य है ॥ हम लोग बहुत काल तक वेद शास्त्रादि में अट्ठा रखते हुवे यदि यही तप करते चले जायेंगे तो आशा है कि भविष्यत् में इन सबका पूरा २ भेद जान पड़ेगा। और सब देवता कहानेवाले दिव्य पदार्थों में जो २ ऐसा गुण है, जिससे वह २ पदार्थ (देवो दानाद्वा०) इत्यादि निरुक्त के अनुसार देवता कहाता है, वह २ गुण परमात्मा में अवश्य अनन्तभाव से वर्त्तमान है। इस लिये उस २ देवतावाचक शब्द से परमात्मा का ग्रहण करना तौ निर्विवाद ही है) ॥६१॥

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।

वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि ॥६२॥

कुत्ते, पतित, चण्डाल, पापरोगी, कव्वे, तथा कीड़े; इन को धीरे से भूमि पर भाग डाले (जिस से मिट्टी न लगे) ॥ ६२ ॥

एवं यः सर्वभूतानिब्राह्मणोनित्यमर्चति। स गच्छति परं स्थानं

तेजोमूर्तिः पथर्जुना ॥६३॥ कृत्वैतद्वलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमा-
शयेत् । भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद्ब्रह्मचारिणे ॥ ६४ ॥

अर्थ—इस प्रकार जो ब्राह्मणादि नित्य सब प्राणियों का सत्कार करता है वह सीधे मार्ग से ज्योतीरूप परमधाम को प्राप्त होता है ॥ ६३ ॥ उक्त प्रकार से बलि कर्म करके अतिथि को प्रथम भोजन करावे और विधिवत् भिक्षा वाले ब्रह्मचारी को भिक्षा देवे ॥ ६४ ॥

यत्पुण्यफलमाप्नोति गांदत्वाविधिवद्गुरोः । तत्पुण्यफलमा-
प्नोति भिक्षादत्वाद्विजोगृहो ॥६५॥ भिक्षामप्युदपात्रं वा सत्कृत्य
विधिपूर्वकम् । वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् ॥६६॥

अर्थ—जिस पुण्य का फल, गुरु को गोदान करने से (शिष्य) पाता है वही फल (ब्रह्मचारी को) भिक्षा देने से द्विज गृहस्थ पाता है ॥ ६५ ॥ भिक्षा वा जलपात्र मात्र ही विधिपूर्वक वेदतत्त्वार्थ जानने वाले ब्राह्मण को सत्कार करके देवे ॥ ६६ ॥

नश्यन्ति हव्यकव्यानि नराणामविजानताम् । भस्मीभूतेषु वि-
प्रेषु मोहादुत्तानि दातृभिः ॥६७॥ विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं विप्र-
मुखाग्निषु । निस्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैव किलिबषात् ॥६८॥

अर्थ—जो भस्मीभूत (जैसे अङ्गार में से अग्नि निकल कर निस्तेज भस्म रह जाता है, ऐसे ही ब्रह्मवर्षसादिहीन भस्मरूप कथनमात्र के जो ब्राह्मण हैं उन) ब्राह्मणों को जो दाता लोग अज्ञान से दान करते हैं; उन के दिये हव्य कव्य सब नष्ट हो जाते हैं ॥६७॥ विद्या और तप से समृद्ध विप्रों के मुखरूप अग्नि में हवन करना कठिनाई और बड़े पाप से बचाता है ॥ ६८ ॥

संप्राप्ताव त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके । अन्नं चैव यथाशक्ति
सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥६९॥ शिलानप्युज्जतो नित्यं पञ्चाग्नी-
नपिजुह्वतः । सर्वसुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन् ॥१००॥

अर्थ—आये हुवे अतिथि के लिये यथाशक्ति आसन, जल और अन्न सत्कृत करके विधिपूर्वक देवे ॥ ६९ ॥ नित्य शिल (खेत में पीछे से रहे हुवे अनाज के दानों) को बीन कर जीवन करने वाले और (आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिण,

श्रौत, श्रावसथ्य) पांच अग्नि में होम करने वाले के भी उपार्जित सब पुण्यों को बिना पूजन किया हुआ ब्राह्मण (अतिथि) ले जाता है ॥ १०० ॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता । एतान्यपि सतां गेहे
नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ १०१ ॥ एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः
स्मृतः । अनित्यं हि स्थितोयस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥ १०२ ॥

अर्थ—(अन्न न हो तौ) तृणासन, विश्राम के लिये स्थान, जल और चौथे अच्छा बोलना; ये चार बातें तौ सत्पुरुषों के कभी कम रहती ही नहीं ॥ १०१ ॥ एक रात्रि रहने वाला ब्राह्मण अतिथि होता है, क्योंकि नित्य नहीं रहता, इसी से अतिथि कहाता है ॥ १०२ ॥

नैकग्रामोणमतिथिं विप्रं साङ्गतिकं तथा । उपस्थितं गृहेष्विदा-
द्वार्या यत्राग्नयोऽपि वा ॥ १०३ ॥ उपासते ये गृहस्थाः परपाकम-
बुद्धयः । तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥ १०४ ॥

अर्थ—(उसी) एक ग्राम में रहने वाले, सहाध्यायी और भार्या तथा अग्नि से युक्त गृहस्थ में रहने वाले (वैश्वदेव काल में) उपस्थित विप्र को अतिथि न जाने ॥ १०३ ॥ जो निर्बुद्धि गृहस्थ (भोजन के लालच से) दूसरे के अन्न का सहारा देखते हैं, उस से वे मरने पर अन्नादि देने वाले के पशु बनते हैं ॥ १०४ ॥

अप्रणोदोऽतिथिः सायं सूर्योदोगृहमेधिना । काले प्राप्स्त्व-
काले वा नास्यानश्नन्गृहेव सन् १०५ न वै स्त्रयं तदश्नीयादतिथिं
यन्नभोजसेत् धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यवाऽतिथिपूजनम् १०६

अर्थ—सायंकाल के सूर्य छिपने पर भोजन के समय अतिथि प्राप्त हो वा बेसमय (जब कि भोजन हो चुका हो) प्राप्त हो तौ भी उस को भूखा घर में न भेजे (अर्थात् गृहस्थ यह न कहे कि चले जावो) ॥ १०५ ॥ जो वस्तु अतिथि को भोजनार्थ न दे, उसे आप भी भोजन न करे । यह अतिथि पूजन धन्य=धनहितार्थ, यश, आयु तथा स्वर्ग का देने वाला है ॥ १०६ ॥

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम् । उत्तमेषूत्तमं कुर्या-
द्वीने हीनं समे समम् ॥ १०७ ॥ वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यदन्योऽति-

यिरात्रजेत्तसयाप्यन्नं यथाशक्तिप्रदद्यान्न बलिं हरेत् ॥१०८॥

अर्थ—आसन और जगह तथा गृहों और अनुव्रज्या (विदाई) तथा उपासना (श्रद्धाली) ये सब, उत्तमों को उत्तम और हीनों को हीन और समों को समानता से करे ॥ १०७ ॥ वैश्वदेव के हो चुकने पर यदि दूसरा अतिथि आजावे, तो उस को भी यथाशक्ति अन्न देवे, बलिहरण=पूरीपत्तल (चाहे) न करे ॥ १०८ ॥

न भोजनार्थं स्त्रे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत् । भोजनार्थं हि ते शंसन्वान्तापीत्युच्यते ब्रूधैः ॥१०९॥ न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते । वैश्यशूद्रौ सखा चैव ज्ञातयोगुरुरेव च ॥११०॥

अर्थ—भोजन के लिये विप्र अपना कुलगोत्र न कहे और जो भोजन के लिये उन्हें कहे तो उस को विद्वान् लोग वान्ताशी=उगलन खाने वाला कहते हैं (क्योंकि वह टुकड़ों के लिये बड़ों का सहारा लेता है) ॥ १०९ ॥ ब्राह्मण के घर क्षत्रिय अतिथि नहीं होता और वैश्य, शूद्र, सखा तथा गुरु भी अतिथि नहीं समझने चाहियें ॥ ११० ॥

यदि स्वतिथिधर्मेण क्षत्रियोगृहमात्रजेत् । भुक्तवत्सूक्तविप्रेषु कामं समपि भोजयेत् ॥१११॥ वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ । भोजयेत्सहभृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजयन् ॥११२॥

अर्थ—यदि अतिथिधर्म से क्षत्रिय भी उक्त ब्राह्मणों के भोजन करते हुवे गृह पर आजावे तो उस को भी चाहे भोजन करा देवे ॥ १११ ॥ और यदि वैश्य शूद्र भी अतिथि होकर प्राप्त होवें तो कुटुम्ब में भृत्यों के सहित उन पर रूपा करता हुआ भोजन करा देवे ॥ ११२ ॥

इतरानपि सख्यादीन्संप्रीत्या गृहमागतान् सत्कृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत्सहभार्यया ॥११३॥ सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणी गर्भिणीः स्त्रियः । अतिथिभ्योऽग्र एवैतान् भोजयेद्विचारयन् ॥११४॥

अर्थ—क्षत्रियादि के अतिरिक्त मित्रादि प्रीति करके घर आजावें तो उनको भी यथाशक्ति सत्कार करके भार्या के सहित भोजन करावे ॥११३॥ सुवासिनी (जिन का अभी विवाह हुआ हो), कुमारी, रोगी लोग तथा गर्भवती स्त्री, इन की अतिथि के पहिले ही विना विचार भोजन करा देवे ॥ ११४ ॥

अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वभुङ्क्तेऽविचक्षणः समुज्जानो न जानाति
 श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः ॥ ११५ ॥ भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु
 चैत्र हि । भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती ॥ ११६ ॥

अर्थ—जो सूखे इन को बिना दिये पहिले भोजन करता है वह नहीं जानत
 है कि कुत्ते और गीधों से अपना भक्षण (मरण के अनन्तर) होगा ॥ ११५ ॥
 ब्राह्मण और पोष्यवर्ग ये सब भोजन कर चुकें, तत्पश्चात् बचे को (गृहस्थ)
 आप और स्त्री भोजन करें ॥ ११६ ॥

देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितॄन्गृह्याश्च देवताः । पूजयित्वा ततः
 पश्चाद्गृहस्थः शेषभुग्भवेत् ॥ ११७ ॥ अघंस केवलं भुङ्क्ते यः पच-
 त्यात्मकारणात् । यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥ ११८ ॥

अर्थ—देव, ऋषि, मनुष्य, पितर और गृह्योक्त विश्वे देवाः, इन सब को
 सत्कृत करके पश्चात् गृहस्थ शेष अन्न का भोजन करने वाला हो ॥ ११७ ॥
 जो केवल अपने लिये अन्न पकाता है, वह निरा पाप खाता है और जो
 यज्ञादि से शेष भोजन है, वह सज्जनों का भोजन है ॥ ११८ ॥

राजत्विक्स्नातकगुरुन्मित्रश्वशुरमातुलान् । अर्हयेन्मधुपर्केण
 परिसंवत्सरात्पुनः ॥ ११९ ॥ राजा च श्रोत्रियश्चैव यज्ञकर्म-
 एयुपस्थितौ । मधुपर्केण संपूज्यौ न त्वयज्ञइति स्थितिः ॥ १२० ॥

अर्थ—राजा, ऋत्विज्, स्नातक, गुरु, मित्र, श्वशुर, मामा, एक वर्ष के
 ऊपर फिर-आवे तो फिर भी इन का मधुपर्क से पूजन करे ॥ ११९ ॥ राजा और
 स्नातक यज्ञकर्म में प्राप्त हों तो मधुपर्क से पूज्य हैं, बिना यज्ञ के नहीं ॥ १२० ॥

सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्नं बलिं हरेत् ।

वैश्वदेवं हि नामैतत्सायं प्रातर्विधीयते ॥ १२१ ॥

अर्थ—सायंकाल में रसोई होने पर स्त्री बिना मन्न बलि करे । क्योंकि
 वैश्वदेव नाम कृत्य का गृहस्थ को सायं प्रातः विधान किया है ॥ १२१ ॥

“ पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य विप्रश्चेन्दुस्तयेऽग्निमान् ।

पिबेद्वान्वाहार्यकं आहुं कुर्यान्मासानुमासिकम् ॥ १२२ ॥ ”

“ अथे—अग्निहोत्री अमावस्या में वितृयत्न करके “ पिण्डान्वाहार्यक”
आहु प्रतिमरस किया करे ” ॥

(यहां श्लोक १२२ से श्लोक १६९ तक “मृतकआहु” का वर्णन है । हमारी सम्मति में यह सभी प्रकरण प्रक्षिप्त है । १९० में उत्तमं व्रती ब्राह्मणादि की प्रशंसा और विरुद्धों की निन्दा का प्रकरण कहेंगे, जो मृतपितरों से सम्बद्ध नहीं है । इस लिये उस से १२१ वें श्लोक का ठीक सम्बन्ध मिल जाता है । इन श्लोकों को प्रक्षिप्त मानने के हेतु ये भी हैं—१—इन श्लोकों के संस्कृत की शैली मनु के सी नहीं, किन्तु पुराणों के सी है । २—यह मासिक आहु का (जो अमावस्या में है) विधान है । जब नित्य आहु कह चुके तब अमा-वस्या भी आगई, इस लिये व्यर्थ है । ३—श्लोक १२३ में आमिष=मांस से इस का विधान है, जो देव अपि पितरों का भोजन नहीं, किन्तु “यत्तरक्षः पिशाचाकं मद्यं मांसं सुरासवम्” (मनु ११।८५) मद्यमांसादि यत्न राक्षसादि का भोजन है । कोई लोग “आमिष” पद से “भोज्य वस्तु” का ग्रहण करते हैं और जीवतों का ही आहु वर्णित कहते हैं, परन्तु मेधातिथि आदि ६ टीकाकार आमिष=मांस ही लिखते हैं । ४—और रामचन्द्र टीकाकार ने इस के आगे एक यह श्लोक और लिख कर व्याख्या की है कि—

[न निर्वपति यः आहुं प्रमीतपितृकोद्विजः ।

इन्दुक्षये मासि मासि प्रायश्चित्ती भवेत्तु सः ॥]

अर्थात् जिस द्विज के माता पिता मर गये हों और प्रतिमास अमावस्या को आहु न करे वह प्रायश्चित्ती होता है ॥ इस से यह भलकता है कि यह प्रकरण मृतक आहु का ही है । यह श्लोक अन्य ५ टीकाकारों ने नहीं लिखा, न ३० पुस्तकों में से एक पुस्तक के अतिरिक्त अन्य पुस्तकों में है । इस से पाया जाता है कि रामचन्द्र सब से पिछले टीकाकार हैं, उन्हीं के समय में यह मिला हुआ था, पूर्व ५ टीकाकारों के समय में नहीं था । १२४ वें श्लोक का फिर यह कहना कि जिन अश्वों से जैसे और जितने ब्राह्मण भोजन कराने हैं, उन्हें कहेंगे, व्यर्थ है क्योंकि ११३ में मांस से जिमाना कह चुके हैं । ५—पितृ निमित्त में ब्राह्मणों की गिनती का विधान भी मृतकआहु का ही सूचक है । ६—१२७ वें में स्पष्ट ही इसे प्रेतकृत्या लिखा है । ७—१३६ वें में पिण्डत के

पुत्र मूर्ख ब्राह्मण की उत्तमता और मूर्ख के पुत्र विद्वान् की भी निःदा अन्याय और पक्षपातपूर्ण है । ८-१४६ वें में एक ब्राह्मण के भोजन से ९ पुत्रप्राप्ति की असंभव वृत्ति वर्णित है । ९-१४९ वें में दैव कर्म में ब्राह्मण की परीक्षा न करना अन्याय है । १०-१५० वां श्लोक स्पष्ट मनु का नहीं, अन्यकृत है । ११-१५२ वें में मांस बेचने वाले ब्राह्मण को भोजन न कराना कहा है । इस से जाना जाता है कि उस श्लोक के बनते समय ब्राह्मण मांस खाना क्या बेचने का भी पेशा करने लगे थे । १२-१५३ से १६९ तक जिन ब्राह्मणों को श्राद्ध में वर्जित किया है उन में बहुतों के ऐसे कर्म कहे हैं जो श्राद्ध में ही क्या किसी भी कार्य में सत्कारयोग्य नहीं, किन्तु राजदण्ड के योग्य हैं ॥१२२॥

“ पितॄणां मासिकं श्राद्धमन्वाहार्यं विदुर्बुधाः । तच्चाभिप्रेत कर्तव्यं प्रशस्तेन संमततः ॥ १२३ ॥ तत्र ये भोजनीयाः स्युर्ये च वज्या द्विजोत्तमाः । यावन्तश्चैव यैश्चान्नेस्तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १२४ ॥

द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनैकैकमुभयत्र वा । भोजयेत्समृद्धोऽपि न प्रसज्जेत विस्तरे ॥ १२५ ॥ सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसंपदः । पञ्चेतान्विस्तरोहन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम् ॥ १२६ ॥

प्रथिता प्रेतकृत्येषा पित्र्यं नाम विधुक्तये । तस्मिन्नुक्तस्यैति नित्यं प्रेतकृत्ये च लौकिकी ॥ १२७ ॥ श्रोत्रियायैव देयानि हृदयकठयानि दातृभिः । अर्हत्तमाय विप्राय तस्मै दत्तं महाफलम् ॥ १२८ ॥

एकैकमपि विद्वांसं दैवे पित्र्ये च भोजयेत् । पुष्कलं फलमाप्नोति नाऽमन्त्रज्ञान्बहूनपि ॥ १२९ ॥ दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम् । तीर्थं तद्बुध्यकठयानां प्रदाने सोऽतिथिः स्मृतः ॥ १३० ॥”

अर्थ—पितरों के मासिक श्राद्ध को परिष्ठित अन्वाहार्य जानते हैं । उस को श्राद्धविहित सर्वथा अच्छे मांस से करे ॥१२३॥ उस श्राद्ध में जो भोजन योग्य ब्राह्मण हैं और जो त्याज्य हैं और जितने और जिस अन्नसे जिमाने चाहिये यह सम्पूर्ण मैं आगे कहूंगा ॥१२४॥ देवश्राद्ध में दो और पितृश्राद्ध में तीन ब्राह्मण वा देवश्राद्ध में और पितृश्राद्ध में एक २ को भोजन करावे । अच्छा समृद्ध (यजमान) भी विस्तार न करे ॥१२५॥ अच्छी पूजा, देश, काल, पवित्रता और श्राद्धोक्त गुण वाले ब्राह्मण; इन पांचों को विस्तार नष्ट करता है, इस

से विस्तार न करे ॥ १२६ ॥ यह जो पितृकर्म है, सो प्रेतकृत्या विख्यात है । अमावस्या के दिन उसमें युक्त होने वाला पुरुष नित्य के लौकिक आहुतों के फल को प्राप्त होता है ॥ १२७ ॥ देने वाले लोग अत्रिय को ही हव्य और कव्य देवें और अधिक पूज्य को देवें तो बड़ा फल है ॥ १२८ ॥ देवकर्म (यज्ञादि) में और पितृकर्म (आहु) में एक ही एक ब्राह्मण को भोजन करावे तो भी बहुत फल को प्राप्त होता है और बहुत सूर्ख ब्राह्मणों के जिमाने से नहीं ॥ १२९ ॥ प्रथम ही से एक संपूर्ण वेद की शाखाओं के पढ़ने वाले ब्राह्मण की परीक्षा करले, वह हव्य कव्यों का पात्र है, देने में अतिथि कहा है ॥ १३० ॥

“सहस्रं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुज्जते । एकस्तान्मन्त्र-
वित्प्रोतः सर्वानर्हति धर्मतः ॥ १३१ ॥ ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि
कव्यानि च हवींषि च । न हि हस्तावसृग्दिग्धौ रुधिरैश्चैव शुष्यतः
॥ १३२ ॥ यावतो ग्रसते ग्रासान् हव्यकव्येष्वमन्त्रवित् । तावतो
ग्रसते प्रेत्य दीप्तान् शूलानयोगुहान् ॥ १३३ ॥ ज्ञाननिष्ठा द्विजाः
केचित् तपोनिष्ठास्तथापरे । तपःस्वाध्यायनिष्ठाश्च कर्मनिष्ठास्तथा
परे ॥ १३४ ॥ ज्ञाननिष्ठेषु कव्यानि प्रतिष्ठाप्यानि यत्नतः । हव्यानि
तु यथान्यायं सर्वेष्वेव चतुर्विधं ॥ १३५ ॥ अत्रोत्रियः पिता यस्य
पुत्रः स्याद्देदपारगः । अत्रोत्रियो वा पुत्रः स्यात्पिता स्याद्देदपारगः
॥ १३६ ॥ ज्यायांसमनयोर्विद्याद्यस्य स्याच्छ्रोत्रियः पिता ।
मन्त्रसंपूजनायं तु सत्कारमितरोऽर्हति ॥ १३७ ॥ न आहु भोज-
येन्मित्रं धनैः कार्योऽस्य संग्रहः । नाऽरिं न मित्रं यं विद्यात्तं
आहु भोजयेद्द्विजम् ॥ १३८ ॥ यस्य मित्रप्रधानानि आहुनि च हवींषि
च । तस्य प्रेत्य फलं नास्ति आहुषु च हविषु च ॥ १३९ ॥ यः
संगतानि कुरुते मोहाच्छ्राद्धेन मानवः । स स्वर्गाच्छयवते लोका-
च्छ्राद्धमित्रो द्विजाधमः ॥ १४० ॥ संभोजनीयाभिहिता पैशाची
दक्षिणा द्विजैः । इहैवास्ते तु सा लोके गौरन्धेवैकवेश्मनि ॥ १४१ ॥
यथेरिणे वीजमुप्लवा न वप्ता लभते फलम् । तथाऽनृचे हविर्दत्त्वा
न दाता लभते फलम् ॥ १४२ ॥ दातृन्प्रतिग्रहीतृश्च कुरुते फल-

भागिनः । विदुषे दक्षिणां दत्त्वा विधिवत्प्रेत्य चेह च ॥ १४३ ॥ कामं
 आहुर्ज्येन्मित्रं नाभिरूपमपि त्वग्निम् । द्विपता हि हविर्भुक्तं
 भवति प्रेत्य निष्फलम् ॥ १४४ ॥ यत्नेन भोजयेच्छ्राद्धे बह्वृचं वेद-
 पारगम् । शाखान्तगमथाभ्वर्युं छन्दोगं तु समाप्तिकम् ॥ १४५ ॥
 एषामन्यतमो यस्य भुञ्जीत आहुमर्चतः । पितॄणां तस्य वृत्तिः
 स्याच्छाश्वती साप्तपौरुषी ॥ १४६ ॥ ”

“अर्थ—जिस आहु में वेद के न जानने वाले दश लक्ष ब्राह्मण भोजन करते
 हों, वेद का जानने वाला सन्तुष्ट हो तो यह एक उन सब के बराबर फल
 देता है ॥ १३१ ॥ विद्या से उत्कृष्ट को हव्य और कव्य देना चाहिये । क्योंकि
 रक्त से भरे हुवे हाथ रक्त ही से शुद्ध नहीं होते ॥ १३२ ॥ वेद का न जानने वाला
 जितने ग्रास हव्य कव्य के खाता है उतने ही सरने पर गलते हुवे गूल और
 लोह के गोले खाता है * ॥ १३३ ॥ कोई द्विज आत्मज्ञानपरायण होते हैं और

(* यह भी ज्ञात हो कि श्लोक १३३ के भाष्य में मेधातिथि जो अन्य
 पांच भाष्यकारों से प्राचीन हैं, लिखते हैं कि:-

व्यासदर्शनात् भोजयितुरयं दोषः, न भोक्तुः, न पितॄणां; न तावन्नु-
 तानामन्यकृतेन प्रतिषेधातिक्रमेण दोषसम्बन्धो युक्तः । अकृताभ्यागमादिदो-
 षापत्तेः । यदि हि पुत्रेण तादृशो ब्राह्मणो भोजितः कोऽपराधो मृतानाम् ? ननु
 चोपकारोऽपि पुत्रकृतः पितॄणामनेन न्यायेन न प्राप्नोति ? न प्राप्नुयाद्यदि
 तादृश्येन आहुदि नोदितं स्यात् । इह तु नास्ति चोदना ॥ इत्यादि)

अर्थात् व्यासस्मृति से तो भोजन कराने वाले को यह दोष है, न भोजन
 करने वाले और न पितरों को । क्योंकि मरों को अन्य के किये अपराध का फल
 युक्त नहीं है । ऐसा ही तो अकृताभ्यागम=विना कर्म किये फल भोगादि दोष
 प्राप्त होगा । क्योंकि पुत्र ने ऐसे ब्राह्मण को भोजन कराया, इसमें मरे पितरों
 का क्या अपराध है ? तो फिर ऐसे न्याय से तो पुत्र का किया आहु रूप उपकार
 भी पितरों को न मिलना चाहिये ? हां, जो मरों के लिये विधान किया हो तो
 नहीं मिल सकता । परन्तु यहां तो मरों के लिये विधि नहीं है ॥ (इत्यादि)

दूसरे तत्पर होते हैं और कोई तत्र अध्ययनरत होते हैं और कोई यज्ञादि कर्म में तत्पर होते हैं ॥१३४॥ इन में ज्ञाननिष्ठ को आहुतों में यज्ञपूर्वक भोजन देवे, अन्य यज्ञों में क्रम से चारों को भी भोजन देवे ॥१३५॥ जिस का पिता वेद न पढ़ा हो और पुत्र पढ़ा हो या जिसका पुत्र न पढ़ा हो और पिता वेद जाननेवाला हो—॥१३६॥ इन में श्रेष्ठ उसको जानो, जिस का पिता श्रोत्रिय हो। परन्तु वेद पूजन को दूसरा योग्य है ॥१३७॥ आहु में मित्र को भोजन न करावे, धन से इस का सत्कार करे और जिस को न तो मित्र जाने, न शत्रु, ऐसे द्विज को आहु में भोजन करावे ॥१३८॥ जिस के आहु और हवि मुख्यतः मित्र खाते हैं उस को पारलौकिक फल न आहुतों का है, न यज्ञों का ॥ १३९ ॥ जो मनुष्य अज्ञानवश आहुद्वारा मित्रता करता है वह अधम आहु मित्र द्विज स्वर्गलोक से पतित होता है ॥ १४० ॥ वह दानप्रक्रिया द्विजों ने पैशाची कही है कि जिस किसी के आप ने भोजन किया है, उसीको परस्पर जिमाना, यह इसी लोक में फल देने वाली है, जैसे अन्यी गौ एक ही घर में खड़ी रहती है (दूसरी जगह नहीं जाती) ॥ १४१ ॥ जैसे ऊपर भूमि में बीज बोने से बीने वाला फल नहीं पाता, वैसे विना वेद पढ़े को हवि देकर देने वाला फल नहीं पाता ॥१४२॥ वेद जानने वाले ब्राह्मण को यथाशास्त्र दिया हुआ दान, दाता और प्रतिग्रहीता दोनों को इस लोक और परलोक में फल का भागी करता है ॥१४३॥ आहु में मित्र को चाहे बैठा देवे, परन्तु शत्रु विद्वान् हो तब भी उसे न बैठावे, क्योंकि जो द्वेषभाव से भक्षण किया हवि है, वह परलोक में निष्फल होता है ॥ १४४ ॥ पूर्ण ऋग्वेदी को आहु में भोजन करावे, उसी प्रकार सशाख यजुर्वेदी और जो सम्पूर्ण सामवेद पढ़ा है और जिसने वेद समाप्त किया है, ऐसे ब्राह्मण को यज्ञपूर्वक भोजन करावे ॥१४५॥ इन में से कोई ब्राह्मण अच्छे प्रकार पूजित किया हुआ जिस के आहु में भोजन करता है, उस के वित्तों की निरन्तर सात पुत्त तक वृद्धि होती है ॥ १४६ ॥ ”

“एष वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हव्यकव्ययोः । अनुकल्पस्त्वयं
द्रव्यः सदा सद्भिर्नुष्ठितः ॥१४७॥ मातामहं मातुलं च स्वस्तीयं श्वशुरं
गुहम् । दौहित्रं विद्वतिं बन्धुमृत्विग्याज्यौ च भोजयेत् ॥१४८॥
न ब्राह्मणं परीक्षेत देवे कर्मणि धर्मेवित् । पित्र्ये कर्मणि तु

प्राप्ते परीक्षेत प्रयत्नतः ॥१४९॥ ये स्तेनपतितस्त्रीवा ये च नास्तिक-
वृत्तयः । तान् हव्यकव्ययोर्विप्राननर्हान् मनुरब्रवीत् ॥ १५० ॥
जटिलं चानधीयानं दुर्बलं कितवं तथा । याजयन्ति च
ये पूगांस्तांश्च आहुते न भोजयेत् ॥ १५१ ॥ चिकित्सकान्देव-
लकान्मांसविक्रयिणस्तथा । विप्रणेन च जीवन्तो वज्र्याः स्यु-
र्हव्यकव्ययोः ॥ १५२ ॥ प्रेष्योग्रामस्य राज्ञश्च कुनखी श्याव-
दन्तकः । प्रतिरोद्धा गुरोश्चैव त्यक्ताग्निर्वाधुं पिस्तथा ॥ १५३ ॥
यक्ष्मी च पशुपालश्च परिवेत्ता निराकृतिः । ब्रह्मद्विद् परिवित्तिश्च
गणाभ्यन्तर एव च ॥ १५४ ॥ कुशीलवोऽवकीर्णा च वृषली-
पतिरेव च । पौनर्भवश्च काणश्च यस्य चोपपत्तिर्गृहे ॥ १५५ ॥
भृतकाध्यापको यश्च भृतकाध्यापितस्तथा । शूद्रशिष्यो गुरुश्चैव
वाग्दुष्टः कुण्डगोलकौ ॥ १५६ ॥ ”

“ अर्थ—हव्य और कव्य के देने में यह मुख्य कल्प कहा और इस के
अभाव में आगे जो कहते हैं उस को अनुकल्प जाने । वह साधुओं से सर्वदा
अनुष्ठान किया गया है ॥ १४९ ॥ इन १० मातामहादि को भोजन करावे
नाना १ सामा २ भानजा ३ ससुर ४ गुरु ५ धेवता ६ जंवाई ७ सीसी का
लड़का ८ अत्विज् ९ तथा याल्य अर्थात् यज्ञ कराने योग्य १० ॥१४९॥ चाहे
धर्म का जानने वाला यज्ञ में भोजन के लिये ब्राह्मण की परीक्षा न करे,
परन्तु आहु में यज्ञपूर्वक परीक्षा करे ॥१४९॥ जो चोर महापातकी नपुंसक और
नास्तिक वृत्ति वाले हैं, ये विप्र मनु ने हव्य कव्य के अयोग्य कहे हैं ॥१५०॥
जटाधारी परन्तु वेपढ़ा, दुर्बल, जुवारी और बहुत उद्यादन कराने वाला,
इन सब को आहु में भोजन न करावे ॥१५१॥ वैद्य, पुजारी, मांस का बेचने
वाला और वाणिज्य से जीने वाला, ये सब हव्य और कव्य में निषिद्ध हैं
॥१५२॥ ग्राम और राजा का हलकारा, कुनखी, काले दांत वाला, गुरु के
प्रतिकूल चलने वाला, अग्निहोत्र का छोड़ने वाला, व्याजजीवी, ॥ १५३ ॥
क्षयरोगी, वृत्ति के लिये गाय, बैस, बकरी इत्यादि का पालने वाला,
परिवेत्ता, नित्यकर्मानुष्ठान से रहित, ब्राह्मण का द्वेष करने वाला, परिवित्ति
(देखो १७१) समुदाय के द्रव्य से अपना जीवन करने वाला, ॥१५४॥ कथा

की वृत्ति करने वाला, जिस का ब्रह्मचर्य नष्ट हुआ हो, शूद्रा से दिवाह करने वाला, पुनर्विवाह का लड़का, जिस की स्त्री का जार हो, ॥ १५५ ॥ वेतन लेकर पढ़ाने वाला और उसी प्रकार पढ़ने वाला, जिस गुरु का शूद्र शिष्य हो, कटु बोलने वाला, कुण्ड, गोलक (देखो १७४) ॥ १५६ ॥ ”

“ अकारणपरित्यक्ता मातापित्रोर्गुरोस्तथा । ब्राह्मेयैश्चैव संबन्धैः
संयोगं पतितैर्गतः ॥ १५७ ॥ अगरदाहां गरदः कुण्डः शी सोमविक्रयी ।
समुद्रायायी वन्दी च तैलिकः कूटकारकः १५८ पित्रा विवदमानश्च
फितवोमद्यस्तथा । पापरोग्यभिशस्तश्च दाम्भिको रसविक्रयी
॥ १५९ ॥ धनुःशराणां कर्ता च यश्चाग्रे दिदिषूपतिः । मित्रभुञ्छूत
वृत्तिश्च पुत्राचार्यस्तथैव च ॥ १६० ॥ भ्रामरी गरुडमाली च शिव-
रूपी पिशुनस्तथा । उन्मत्तोऽन्धश्च वज्र्याः स्युर्वेदनिन्दक
एव च ॥ १६१ ॥ हस्तिगेश्वोष्ट्रदमको नक्षत्रैर्यश्च जीवति । पक्षिणां
पोषको यश्च युद्धाचार्यस्तथैव च ॥ १६२ ॥ स्रोतसां भेदको यश्च
तेषां चावरणे रतः । गृहसंवेशको दूतो वृत्तारोपक एव च ॥ १६३ ॥
श्वक्रीडी श्येनजीवी च कन्यादूषक एव च । हिंस्रो वृषल-
वृत्तिश्च गणानां चैव याजकः ॥ १६४ ॥ आचारहीनः क्लीबश्च नित्यं
याधनरुस्तथा । रुचिजीवी श्लीपदी च मद्भिर्नन्दित एव च १६५
श्रीरभिको माक्षिकः परपूर्वापतिस्तथा । प्रेननिर्यातकश्चैव
वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥ १६६ ॥ एतान्विगर्हिताचारानराङ्क्तेयान्
द्विजाधमान् । द्विजातिप्रवरो विद्वानुभयत्र विवर्जयेत् ॥ १६७ ॥
ब्राह्मणस्त्यनधीयानस्तृणगिरिव शाम्यति । तस्मै हव्यं न दा-
तव्यं न हि भस्मनि हूयते ॥ १६८ ॥ अपाङ्क्तदाने यो दातुर्भव-
त्पूर्ध्वं फलोदयः । देवे हविषि पित्रे वा तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १६९ ॥ ”

“ अर्थ—विना कारण माता पिता गुरु का त्यागने वाला, पतिता से अध्ययन और कन्यादानादि सम्बन्ध वाला, ॥ १५७ ॥ घर का जलाने वाला, विप देने वाला, कुण्ड का अन्न खाने वाला, सोम बेचने वाला, समुद्र पार

जाने वाला, राजा की स्तुति करने वाला, तेली और झूठा साक्षी, ॥१५८॥
 पिता से लड़ने वाला, धूर्त, मद्य पीने वाला, कुधी, कलङ्की, दम्भी, रस
 बेचने वाला, ॥ १५९ ॥ धनुष बाण का बनाने वाला, (वही बहिन से पहिले
 जिस छोटी का विवाह होता है वह अग्नेदिधिषू कहाती है) अग्नेदिधिषू
 का पति, मित्र से द्रोह करने वाला, जूवे का रोजगार करने वाला, पुत्र से
 पढ़ा हुआ, ॥ १६० ॥ मिरगी वाला, गरुडमाली, श्वेत कोढ़ वाला, चुगलखोर,
 उन्मत्त रोग वाला, और अन्धा, ये वर्जित हैं। और वेद की निन्दा करने
 वाला, ॥ १६१ ॥ हाथी बैल घोड़ा और कुंठ को सीधा चलना सिखाने
 वाला, ज्योतिषी, पत्नियों का पालने वाला, युद्ध विद्या सिखाने वाला,
 ॥ १६२ ॥ नहर आदि को तोड़ने वाला, उस का बन्द करने वाला, गृह-
 वास्तु विद्या से जीविका करने वाला, दूत, वृद्धों का लगाने वाला, ॥ १६३ ॥
 कुत्तों से खेलने वाला, बाज़ खरीदने बेचने वाला, कन्या से गमन करने वाला,
 हिंसा करने वाला, शूद्रवृत्ति वाला, (विनायकादि) गणों की पूजा कराने
 वाला, ॥ १६४ ॥ आचार से हीन, नपुंसक, नित्य भीख मांगने वाला, खेती
 करने वाला, पीलिया रोग वाला और जो सन्पुरुषों से निन्दित हो, ॥ १६५ ॥
 मैदा और भैंस से जीने वाला, द्वितीया विवाहिता का पति, प्रेत का धन
 लेने वाला, ये (ब्राह्मण) यत्रपूर्वक (आहु में) वर्जनाय हैं ॥ १६६ ॥ इन
 निन्दित आचार वाले और पङ्क्तिवाच्य अधमों को द्विजों में श्रेष्ठ विद्वान्,
 देव और पितृकर्मा में त्याग देवे ॥ १६७ ॥ विना पढ़ा ब्राह्मण कुंस की अग्नि
 के समान ठण्डा होजाता है। इस से उस ब्राह्मण को हवि न देवे, क्योंकि
 राख में होम नहीं किया जाता ॥ १६८ ॥ पङ्क्तिवाच्य ब्राह्मणों को देवताओं
 के हव्य और पितरों के कव्य देने में दाता को जो देने के ऊपर फल होता
 है, वह सम्पूर्ण में आने कहूंगा ॥ १६९ ॥

अत्रतैर्यद् द्विजैर्भुक्तं परिवेत्रादिभिस्तथा ।

अपाङ्क्तेयैर्यदन्यैश्च तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ॥ १७० ॥

अर्थ—वेदव्रतरहित ब्राह्मण और (वदयमाण) परिवेत्ता आदि वा और
 कोई (घोर इत्यादि) पङ्क्तिवाच्यों ने जो भोजन किया, उस को राक्षस भोजन
 कहते हैं ॥ १७० ॥

दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते । परीवेत्ता स त्रिज्ञेयः
परिवित्तिरस्तु पूर्वजः ॥१७१॥ परिवित्तिः परोवेत्ता यया च
परिविद्यते । सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमा. ॥१७२॥

अर्थ—जो कनिष्ठ, ज्येष्ठ भ्राता के रहते उस से प्रथम विवाह और अग्नि-
होत्र करे, उस को “परिवेत्ता” और ज्येष्ठ को “परिवित्ति” जानो ॥ १७१ ॥
परिवित्ति और परिवेत्ता और यह अन्या तथा कन्या का देने वाला और
याजक=विवाह का आचार्य, ये पाँचों सद्य नरक को जाते हैं ॥ १७२ ॥

भ्रातुर्मृतस्य भार्यायां योऽनुरज्येत कामतः । धर्मेणापि नियु-
क्तायां स ज्ञेयो दिधिपूपतिः ॥१७३॥ परदारेषु जायते द्वौ सुतौ
कुण्डगोलकौ । पत्यौ जीवति कुण्डः स्यान्मृते भर्तारि गोलकः ॥१७४॥

अर्थ—मरे भाई की भार्या से धर्मानुसार नियोग भी किया हो परन्तु उसके
को कानवश होकर प्रीति करे, उसे दिधिपूपति जानो ॥१७३॥ पर स्त्री से उत्पन्न
हुये दो पुत्रों को कुण्ड और गोलक कहते हैं । पति के जीवते जो हो वह कुण्ड
और मरने पर हो वह गोलक है (१७० से यहां तक भी चिन्त्य हैं) ॥ १७४ ॥

तौ तु जातौ परक्षेत्रे प्राणिनी प्रेत्य चेह च । दत्तानि
हव्यकव्यानि नागयेते प्रदायिनाम् ॥ १७५ ॥ आपङ्गयोयावतः
पाङ्गयान्मुञ्चानाननुपश्यति । तावतां न फलं प्रेत्य दाता प्राप्नोति
यालिशः ॥ १७६ ॥ योऽप्यान्यो नवतेः काणः पण्डेः शिवत्री
शतस्य तु । पापरोगी सहस्रस्य दातुर्नाशयते फलम् ॥ १७७ ॥
यावतः संस्पृगेदङ्गैर्वाक्षणाञ्छूद्रयाजकः । तावतां न भवेद्दातुः
फलं दानस्य पीतिकम् ॥१७८॥ वेदविज्ञाभि विप्रोऽस्य लोभात्कृत्वा
प्रतिग्रहम् । विनाशं व्रजति निप्रमामदाननिवाम्भसि ॥ १७९ ॥
सोमविक्रयिणे शिष्टा भियजे पूयशोणितम् । नष्टं देवलके दत्तम्-
ऽप्रतिष्ठं तु धार्धुपौ ॥ १८० ॥ ”

“ अर्थ—देने वाले के हव्य और कव्यों को इस लोक और परलोक में
वे जो दूसरे के क्षेत्र में उत्पन्न हुये हैं, नष्ट करते हैं ॥ ”

(स.क १७५ से फिर असम्बद्ध परस्पर विरुद्ध मृतकश्राद्ध के श्लोक चलते हैं । १७६-१८२ तक में पङ्क्तिवाच्यां के भोजन कराने का फल नष्ट कह कर १८३-१८६ तक पङ्क्तिपावन ब्राह्मण गिनाये हैं । जब कि पङ्क्तिपावन पङ्क्ति को पावत्र कर देता है तो श्लोक १७७ का यह कहना ठीक है कि अन्धा ब्राह्मण अपनी दृष्टि से ९० वेदपाठियों के जिमाने के फल को नष्ट करता है, काणा ६० के, श्वेतकुटी १०० के, और पापरीगी १००० के फल को नष्ट करता है । फिर भला पङ्क्तिपावनता क्या रही ? अन्धे आदि ही बलवान् रहे और अन्धा देख भी नहीं सकता, इस लिये भी १७६ वां श्लोक असम्भव दोषयुक्त है । १७९ में कहा है कि वेदज्ञ ब्राह्मण भी पङ्क्तिवाच्या के साथ लोभ से प्रतिग्रह ले तो नष्ट होजाता है और वेदज्ञ को १८४ वें में पङ्क्तिपावन कहा है । यह परस्पर विरोध है । १८७ वें में १, २ वा ३ ब्राह्मण श्राद्ध में लिखे हैं और पूर्व भी विस्तार को वर्जित किया है तो फिर ६० । ९० । १०० । १००० जब श्राद्ध में जिनाये ही नहीं जाते तब फलनाश किन का होगा । १८८ वें में श्राद्ध जिमाने और जीमाने वाले को उस दिन वेद पढ़ने का निषेध भी चिन्तनीय है । १९४ में विराट् का मनु, मनु के मरीच्यादि, उन के पुत्र पितर लिखे हैं । फिर मनुष्यों के मृत माता पिता आदि का उद्देश्य कहाँ रहा । १९५ से १९७ तक भिन्न जातियों के सोमसदादि भिन्न २ पितर कहे हैं, तब मनुष्यजाति का सकल श्राद्ध व्यर्थ है । २०१ से २८३ तक मृतकश्राद्ध की विधि और उन मांसों का वर्णन है जिन से इन कल्पित पितरों की तृप्ति को कल्पना की गई है । जब मृतकश्राद्ध ही वेदविहित नहीं तब उस के विधानादि स्मृत्युक्त सभी निष्फल और दुष्फल है और तृतीयाध्याय के अन्तिम श्लोक २८६ में कहा है कि यह “पञ्चमहायज्ञ का विधान वर्णन किया गया” इस से भी पाया जाता है कि बीच के २८३ तक कहे मृतक पितरों के मासिकादि श्राद्ध प्रतिष्ठ हैं । क्योंकि पञ्चमहायज्ञ तो गृहस्थ का नैतिक कर्म है, नैमित्तिक नहीं) ॥ १७५ ॥

“ पङ्क्तिके अयोग्य पुंरुष अपाङ्ग्य पूर्वोक्तचौरादि, जितने भोजन करते हुवे श्रोत्रियादि को श्राद्ध में देखते हैं, उतनों का फल भोजन कराने वाला मूर्ख नहीं पाता ॥ १७६ ॥ अन्धा देखकर दाता के ९० श्रोत्रियादि ब्राह्मणों के भोजन का फल नष्ट करता है और काणा ६० का, श्वेत कोढ़ वाला १०० का और पापरीगी १००० ब्राह्मणों के भोजन का फल नष्ट करता है ॥ १७७ ॥ शूद्र का यज्ञ कराने वाला, अङ्गों से जितने श्राद्ध में भोजन करने वालों को

छुवे, उतनों का पूर्वसम्यन्धी आहु का फल दाता को न होगा ॥ १७८ ॥ वेद का जानने वाला भी विप्र, शूद्रयाजक के साथ लोभ से प्रतिग्रह लेकर शीघ्र नष्ट हो जाता है, जैसे कच्चा बरतन पानी में नष्ट हो जाता है ॥ १७९ ॥ सोम-विक्रयी को जो हव्य कव्य देवे तो विष्टा होती है और वैद्य को देवे तो पीव रक्त और पुजारी को देने से नष्ट होता है, तथा व्याजवृत्ति को देवे तो अप्रतिष्ठित होता है ॥ १८० ॥

“यत्तु याणिजके दत्तं नेह नामुत्र तद्भवेत् । भस्मनीव हुतं हव्यं तथा पीनर्भवे द्विजे ॥ १८१ ॥ इतरेषु त्वपाङ्क्त्येषु यथो-
द्विष्टेष्वसाधुषुः सेदोऽसृङ्मांसमज्जास्थि वदन्त्यन्नं मनीषिणः ॥ १८२ ॥
अपाङ्क्त्योपहृता पङ्क्तिः पाव्यते यैर्द्विजोत्तमैः । तान्निबोधत
कात्स्न्येन द्विजाग्रधान्पङ्क्तिपावनान् ॥ १८३ ॥ अग्रघाः सर्वेषु
वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च । श्रोत्रियान्वयजाश्चैव विज्ञेयाः पङ्क्तिपा-
वनाः ॥ १८४ ॥ त्रिणाचिकेतः पञ्चाग्निस्त्रिसुपर्णः पङ्क्तित्व-
व्रह्मदेयात्मसन्तानो ज्येष्ठसामग एव च ॥ १८५ ॥ वेदार्थवित्प्रवक्ता
च ब्रह्मचारी सहस्रदः । शतायुश्चैव विज्ञेया ब्राह्मणाः पङ्क्ति-
पावनाः ॥ १८६ ॥ पूर्वैद्युरपरैद्युर्वा आहुकर्मण्युपस्थिते । निमन्त्र-
येत ऋषयस्सम्यग्विप्रान्यथोदितान् ॥ १८७ ॥ निमन्त्रितोद्विजः
पित्र्ये नियतात्मा भवेत्सदा । न च छन्दांस्यधीयीत यस्य आहुं
च तद् भवेत् ॥ १८८ ॥ निमन्त्रितान्ह पितर उपतिष्ठन्ति
तान्द्विजान् । वायुवक्षानुगच्छन्ति तथासीनानुपासते ॥ १८९ ॥
केतितस्तु यथान्यायं हव्यकव्ये द्विजोत्तमः । कथंचिदप्यतिक्रा-
मन्पापः सूकरतां व्रजेत् ॥ १९० ॥ आमन्त्रितस्तु यः आहु-
वृत्त्या सह नीदते । दातुर्यद्दुष्कृतं किञ्चित्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ १९१ ॥
आक्रोधनाः शीघ्रपराः सततं ब्रह्मचारिणः । न्यस्तशस्त्रा महा-
भागाः पितरः पूर्वदेवताः ॥ १९२ ॥ यस्मादुत्पत्तिरेतेषां सर्वेषा-

मप्यशेषतः । ये च यैरुपचर्याः स्युर्नियमैस्तान्निबोधत ॥ १८३ ॥

मनोहैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः । तेषामृषीणां सर्वेषां

पुत्राः पितृगणाः स्मृताः ॥ १८४ ॥”

अर्थ—बनिये की वृत्ति करने वाले ब्राह्मण को देवे तौ यहां तथा पर-
लोक में कुछ फल नहीं, जैसे राख में घी जलाना वैसे पुनर्विवाह के लड़के
को देवे तौ राख के होमवत् व्यर्थ है ॥ १८१ ॥ और इतर अपाङ्गत्त्यों को
देने में मेद रक्त मांस मज्जा हड्डी होती हैं । ऐसा विद्वान् कहते हैं ॥ १८२ ॥
असाधुओं से भ्रष्ट पङ्क्ति जिस द्विजोत्तमों से पवित्र होती है, उन पङ्क्तियों
के पवित्र करने वाले सब द्विजश्रेष्ठों को सुनों ॥ १८३ ॥ जो चारों वेदों के जानने
वाले और वेदके संपूर्ण अङ्गों को जानने वाले, श्रोत्रिय, परंपरा से वेदाध्ययन
जिन के होता है उन को पङ्क्तिपावन जाने ॥ १८४ ॥ कठोनिषद् में कहे व्रत को
त्रिणाचिकेत कहते हैं, उसको करने वाला भी त्रिणाचिकेत कहलाता है और
पूर्वोक्त पञ्चाग्नि वाला, वैसे ही ऋग्वेद के ब्राह्मणोक्तव्रत करने वाला त्रिसुपर्ण
कहलाता है और छः अङ्गों का जाननेवाला और ब्राह्मणविवरहित स्त्री से उत्पन्न
हुआ और साम के आरण्यक (गान विशेष) का गाने वाला, इन को पङ्क्ति
पावन जाने ॥ १८५ ॥ वेद के अर्थ को जानने वाला और उसी का पढ़ाने
वाला और ब्रह्मचारी और सहस्र गोदान करने वाला और सौ वर्ष, का इन
को भी पङ्क्ति के पवित्र करने वाले जाने ॥ १८६ ॥ आहु के प्रथम दिन
वा उसी दिन यथोक्त गुण वाले ब्राह्मणों को सत्कारपूर्वक तीन वा न्यून को
निमन्त्रण देवे ॥ १८७ ॥ आहु में निमन्त्रित ब्राह्मण आहु के दिन नियम
वाला होवे और वेदाध्ययन न करे । ऐसे ही आहु करने वाला भी ॥ १८८ ॥
पितर उन निमन्त्रित ब्राह्मणों के पास आते हैं और वायुतुल्य उन के पीछे
चलते हैं और बैठों के पास बैठे रहते हैं ॥ १८९ ॥ श्रेष्ठ ब्राह्मण हठ्य कठ्य में
यथाशास्त्र निमन्त्रित किया हुआ निमन्त्रण स्वीकार करके फिर किसी प्रकार
भोजन न करे तौ उस पाप से जन्मान्तर में सूकर होवेगा ॥ १९० ॥ जो ब्राह्मण
आहु में निमन्त्रित हुआ शूद्रा स्त्री के साथ मैथुन करे वह आहु करने वाले के
संपूर्ण पाप को पाता है ॥ १९१ ॥ क्रोधरहीत, भीतरबाहर से पवित्र, निरन्तर
जितेन्द्रिय, हथियार छोड़े हुवे और दयादि गुणों से युक्त पूर्व देवता पितर हैं
॥ १९२ ॥ इन सब पितरों की जिस से उत्पत्ति है और जो पितर जिन नियमों

से पूजित होते हैं, उन नियमों को सम्पूर्णतया सुनो ॥१९३॥ स्वायम्भुव मनु के पुत्र मरीच्यादि हैं और उन के पुत्रों को पितृगण कहा है ॥ १९४ ॥ ”

“ विराट्सुताः सोमवदः साध्यानां पितरः स्मृताः । अग्नि-
ष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः ॥ १९५ ॥ दैत्यदानव-
यक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् । सुपर्णकिन्नराणां च स्मृता बर्हि-
यदेत्रिजाः ॥ १९६ ॥ सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हवि-
र्भुजः । वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्राणां तु सुकालिनः ॥१९७॥
सोमपास्तु कवेः पुत्रा हविष्मन्तोद्गिरस्सुताः । पुलस्त्यस्या-
ज्यपाः पुत्रा वसिष्ठस्य सुकालिनः ॥ १९८ ॥ अग्निदग्धानग्नि-
दग्धान्काव्या बर्हिषदस्तथा । अग्निष्वात्तांश्च सोम्यांश्च विप्राणा-
मेव निर्दिशेत् ॥ १९९ ॥ य एते तु गणा मुख्याः पितॄणां परि-
कीर्तिताः । तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥ २०० ॥
ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः । देवेभ्यस्तु जगत्
सर्वं चरस्याखनुपूर्वशः ॥ २०१ ॥ राजतैर्भाजनैरेषामथो वा
राजतान्वितैः । वार्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते ॥ २०२ ॥
देवकार्याद् द्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते । दैवं हि पितृका-
र्यस्य पूर्वमाध्यायनं श्रुतम् ॥ २०३ ॥ तेषामारक्षभूतं तु पूर्वं दैवं
नियोजयेत् । रक्षांसि हि विलुम्पन्ति श्राद्धमारक्षवार्जितम् ॥२०४॥
दैवाद्यन्तं तदीहेत पित्राद्यन्तं नतद्भवेत् । पित्राद्यन्तं त्वीहमानः
क्षिप्रं नश्यति सान्वयः ॥ २०५ ॥ शुचिं देशं विविक्तं च गोम-
येनोपलेपयेत् । दक्षिणाप्रवणं चैव प्रयत्नेनोपपादयेत् ॥ २०६ ॥
अवकाशेषु चीक्षेपु नदीतीरेषु चैव हि । विविक्तेषु च तुष्यन्ति
दत्तेन पितरः सदा ॥ २०७ ॥ आसनेषूपकृतेषु बर्हिष्मत्सु पृथक्
पृथक् । उपस्पृष्टोदकान्सम्यग्विप्रांस्तानुपवेशयेत् ॥ २०८ ॥
उपवेश्य तु तान्विप्रानासनेष्वजुगुप्सितान् । गन्धमालयैः सुरभि-

भिरर्चयेद्देवपूर्वकम् ॥ २०९ ॥ तेषामुदकमानीय सुपवित्रांस्ति-
लानपि । अग्नौ कुर्यादनुज्ञातो ब्राह्मणो ब्राह्मणैः सह ॥ २१० ॥ ”

“अर्थ—विराट् के पुत्र सोमसद् नामवाले साध्यों के पितर हैं । मरीचि

के पुत्र लोकविख्यात अग्निष्वात्त देवों के पितर हैं ॥ १९५ ॥ बर्हिषद् नाम
अग्नि के पुत्र, दैत्य, दानव, यक्ष, गन्धर्व, सर्प, राक्षस, सुपर्ण और किन्नरों
के पितर हैं ॥ १९६ ॥ सोमपा नाम ब्राह्मणों के और क्षत्रियों के हविर्भुज तथा
वैश्यों के आज्यपा नाम और शूद्रों के सुकालिन् पितर कहे हैं ॥ १९७ ॥
भृगु के पुत्र सोमपा और अङ्गिरा के पुत्र हविष्मन्त और पुलस्त्य के पुत्र
आज्यपा और वसिष्ठ के सुकालिन्, ये पितर इन ऋषियों से उत्पन्न हुवे
॥ १९८ ॥ अग्निदग्ध अनग्निदग्ध, काव्य, बर्हिषद् और अग्निष्वात्त तथा सौम्यों
को ब्राह्मणों के पितर कहा है ॥ १९९ ॥ ये इतने तो पितरों के गण मुख्य
कहे हैं, परन्तु इस जगत् में उन के पुत्र पौत्र अनन्त जानने ॥ २०० ॥ ऋषियों
से पितर हुवे और पितरों से देवता तथा मनुष्य हुवे और देवतों से ये
सम्पूर्ण स्यावर जङ्गम क्रम से हुवे ॥ २०१ ॥ चांदी के पात्रों से या चांदी लगे
पात्रों से पितरों को श्रद्धा करके दिया पानी भी अक्षय सुख का हेतु होता
है ॥ २०२ ॥ (इन श्लोकों में पाया जाता है कि मरे हुवे पिता आदि पितर
नहीं है) द्विजातियों को देवकार्य से पितृकार्य अधिक कहा है । क्योंकि
देवकार्य पितृकार्य का पूर्वाङ्ग तर्पण सुना है ॥ २०३ ॥ पितरों के रक्षा करने
वाले देवताओं का श्राद्ध में प्रथम स्थापन करे, क्योंकि रक्षक रहित श्राद्ध
को राक्षस नष्ट कर देते हैं ॥ २०४ ॥ श्राद्ध में प्रारम्भ और समाप्ति दोनों
देवता पूर्वक करे, पित्रादि पूर्वक न करे । पित्रादिपूर्वक करने वाला शीघ्र
वंशसहित नष्ट हो जाता है ॥ २०५ ॥ एकान्त और पवित्र देश को गोबर से
लीपे और दक्षिण की ओर को नीची वेदी प्रयत्न से बनावे ॥ २०६ ॥ खुली
जगह और पवित्र देश वा नदी के तीर पर या निर्जन देश में श्राद्ध करने
से पितर प्रसन्न होते हैं ॥ २०७ ॥ उस देश में कुशसहित अच्छे प्रकार अलग २
बिछाये हुवे आसनों पर स्नान आचमन किये हुवे नियमित आसनों
को बैठावे ॥ २०८ ॥ अनिन्दित ब्राह्मणों को आसन पर बैठकर उनके मुख-
स्थित गन्धमाल्यों से देवपूर्वक पूजे (अर्थात् प्रथम देवस्थान के ब्राह्मणों को
पूज करपश्चात् पितृस्थानीय ब्राह्मणों की पूजा करे) ॥ २०९ ॥

उन ब्राह्मणों का पवित्री और तिलों से युक्त अर्घ्योदक लाकर ब्राह्मणों के साथ श्राद्ध करने वाला ब्राह्मण अग्नि में होम करे ॥ २१० ॥

“ अग्नेः सोमयमाभ्यां च कृत्वाप्यायनमादितः । हविर्दानेन विधिवत्पश्चात् संतर्पयेत्पितृन् ॥ २११ ॥ अग्न्यग्भावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत् । यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रं दर्शमिरुच्यते ॥ २१२ ॥ अक्रोधनान्मुप्रसादान्वदन्त्येतान् पुरातनान् । लोकस्याप्यायने युक्तान् श्राद्धदेवान् द्विजोत्तमान् ॥ २१३ ॥ अपसव्यसग्नौ कृत्वा सर्वमावृत्य विक्रमम् । अपसव्येन हस्तेन निर्वपेद्दुदकं भुवि ॥ २१४ ॥ त्रींस्तु तस्माद्भुविः शेषात्पिण्डान्कृत्वा समाहितः । औदकेनैव विधिना निर्वपेद्दक्षिणामुखः ॥ २१५ ॥ न्युप्य पिण्डांस्ततस्तांस्तु प्रयतो विधिपूर्वकम् । तेषु दर्भेषु तं हस्तं निमृज्याक्षेपभागिनाम् ॥ २१६ ॥ आचम्योदकपरावृत्य त्रिरायस्य शनैरमून् । दध्मत्तूश्चनमस्कुर्यात्पितृनेव च मन्त्रवित् ॥ २१७ ॥ उदकं निनयेच्छेपं शनैः पिण्डान्तिके पुनः । अवजिघ्रेच्च तान्पिण्डान्यथान्युप्तान्समाहितः ॥ २१८ ॥ पिण्डेभ्यस्त्वल्पिकां मात्रां समादायानुपूर्वशः । तेनैव विप्रानासीनान् विधिवत्पूर्वमाशयेत् ॥ २१९ ॥ अग्र्यमाणे तु पितरि पूर्वयासेव निर्वपेत् । विप्रवद्वापि तं श्राद्धे स्वकं पितरमाशयेत् ॥ २२० ॥ पिता यस्य निवृत्तः स्याज्जीवेच्चापि पितामहः । पितुः स नाम संकीर्त्य कीर्तयेत्प्रपितामहम् ॥ २२१ ॥ पितामहो वा तच्छ्राद्धं भुञ्जीतेत्यब्रवीन्मनुः । कामं वा समनुज्ञातः स्वयमेव समाचरेत् ॥ २२२ ॥ तेषां दत्त्वा तु हस्तेषु सपवित्रं तिलोदकं । तत्पिण्डाग्रं प्रयच्छेत् स्वधैषामस्त्विति ब्रुवन् ॥ २२३ ॥ पाणिभ्यां तूपहंगृह्य स्वयमन्नस्य वर्धितम् । विप्रान्तिके पितृन्ध्यायन् शनैरुपनिक्षिपेत् ॥ २२४ ॥ उभयोर्हस्त

योर्भुक्तं यदन्नमुदनायते । तद्विप्रलुम्भन्त्यसुराः सहसा दुष्टचेतसः

॥२२५॥ गुणांश्च सूपशाकाद्यान् पयोदधि घृतं मधु । विन्यसेत्प्रयतः

पूर्वं सूमावेव समाहितः ॥ २२६ ॥ ”

“ अर्थ—प्रथम यथाविधि होम करके अग्नि सोम यम का पर्युक्षणपूर्वक तर्पण करके पश्चात् पितरों को तृप्त करे ॥ २११ ॥ अग्नि के अभाव में होम न करे तौ ब्राह्मण के हाथ पर (उक्ततीन) आहुति देदेवे क्योंकि जो अग्नि है वही ब्राह्मण है, ऐसा मन्त्र के जानने वाले कहते हैं ॥ २१२ ॥ क्रोधरहित और प्रसन्नचित्त वाले और बृद्ध तथा लोगों की वृद्धि में उद्योग करने वाले द्विजोत्तमों को आहुपात्र कहते हैं ॥ २१३ ॥ अपसव्य से अग्नीकरणादि होम और अनुष्ठानक्रम करके पश्चात् दक्षिण हाथ से भूमि पर पानी डाले ॥ २१४ ॥ उस होमद्रव्य के शेष से तीन पिण्ड बनाके जल वाली विधि से दक्षिणमुख होकर स्वस्थचित्तसे (कुशों पर) चढ़ावे ॥ २१५ ॥ विधिपूर्वक उन पिण्डों को (दर्भों पर) स्थापन करके उन दर्भों के ऊपर लेपभागी पितरों की वृत्ति के लिये हाथ पूंछ डाले ॥ २१६ ॥ अनन्तर उत्तरमुख होकर आचमन और ३ प्राणायाम शनैः २ करके मन्त्र का जानने वाला षट्ऋतुओं और पितरों को भी नमस्कार करे ॥ २१७ ॥ एकाग्रचित्तवाला पिण्डदान के पात्र में जो शेष पानी बचा हो, उस को पिण्डों के समीप धीरे २ छोड़े । सावधान हुवा जिस क्रम से पिण्डों को रक्खा था उसी क्रम से सूंघे ॥ २१८ ॥ क्रम के साथ प्रत्येक पिण्ड से थोड़ा २ भाग लेकर विधि के साथ उन्हीं अल्प भागों को भोजन के समय ब्राह्मणों को प्रथम खिलावे ॥ २१९ ॥ पिता जीता हो तौ बाबा आदि का ही आहु करे वा पिता के स्थान में छपने (जीवते) पिता को भोजन करा देवे ॥ २२० ॥ पिता जिस का मरगया हो और बाबा जीता हो, तौ पिता का नाम उच्चारण करके, प्रपितामह का उच्चारण (आहुमें) करे ॥ २२१ ॥ वा उस आहु में जीते पितामह को भोजन करावे, ऐसा मनु कहते हैं वा पितामह की आज्ञा पाकर जैसा चाहे वैसा करे ॥ २२२ ॥ उन (ब्राह्मणों) के हाथ में सपवित्र तिलोदक देकर पितृ पितामह प्रपितामह के साथ “स्वधा अस्तु” ऐसा उच्चारण करता हुवा क्रम से वह पिण्ड का अल्प भाग देवे ॥ २२३ ॥ परिपक्व अन्नों के पात्रों को अपने हाथों से “वृद्धिरस्तु” कह कर पितरों का स्मरण करता हुवा ब्राह्मणों के समीप धीरे २ रखे ॥ २२४ ॥ (ब्राह्मणों की)

दोनों हाथों से न लाये हुवे अन्न की अकस्मात् दुष्ट बुद्धि वाले असुर कीन खाते हैं, (इससे एक हाथ से लेकर न रखे) ॥२२५॥ चटनी दाल तरकारी इत्यादि नाना प्रकार के व्यञ्जन दूध दही घृत और मधु को पवित्र होकर तथा स्वस्थचित्त से प्रथम (पात्र सहित) भूमि पर रखे ॥ २२६ ॥

“भक्ष्यं भोज्यं च विविधं मूत्रानि च फलानि च । हृद्यानि चैव मांसानि पानानि सुरभीणि च ॥२२७॥ उपनीय तु तत्सर्वं शनकैः सुसमाहितः । परिवेषयेत् प्रयतो गुणान्सर्वान्प्रचोदयन् ॥ २२८ ॥ नाश्रुमापातयेज्जातु न कुप्येन्नानृतं वदेन् । न पादेन स्पृशेदङ्गं न चैतदवधूनयेत् ॥२२९॥ अस्त्रं गमयति प्रेतान्कोपोऽरीनऽनृतं सुनः । पादस्पर्शस्तु रक्षांश्च दुष्कृतीनवधूननम् ॥२३०॥ यद्यद्रोचेत् विप्रेभ्यस्तत्तद्दद्यादमत्सरः । ब्रह्मोद्याश्व कथाः कुर्यात्पितृणामेतदीप्सितम् ॥२३१॥ स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि । आख्यानानीतिहासांश्च पुराणान्यखिलानि च ॥२३२॥ हर्षयेद् ब्राह्मणांस्तुष्टो भोजयेच्च शनैः शनैः । अन्नाद्येनासकृच्चैतान् गुणैश्च परिचोदयेत् ॥२३३॥ व्रतस्थमपि दौहित्रं श्राद्धे दत्तेन भोजयेत् । कुतपं चासने दद्यात्तिलैश्च विकिरेन्महीम् ॥२३४॥ त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः । त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम् ॥२३५॥ अत्युष्णं सर्वमन्नं स्याद्भुञ्जीरंस्ते च वाग्यताः न च द्विजातयो ब्रूयुर्दात्रा पृष्टा हिवर्गुणान् ॥२३६॥ यावदुष्णं भवत्यन्नं यावदश्नन्ति वाग्यताः । पितरस्तावदश्नन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः ॥२३७॥ यद्वेष्टितशिराभुङ्क्ते यद्भुङ्क्ते दक्षिणामुखः । सोपानत्कश्च यद्भुङ्क्ते तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ॥२३८॥ चण्डालश्च वराहश्च कुक्कुटः श्वा तथैव च । रजस्वला च परदश्च नेष्टेरन्नश्नतो द्विजान् ॥२३९॥ होमे प्रदाने भोज्ये च यदेभिरभिवीक्ष्यते । दैवे कर्मणि पितृये वा तद्गच्छत्ययथातथम् ॥२४०॥ घ्राणेन सूकरो हन्ति

पद्मवातेन कुक्कुटः । श्वा तु दृष्टिनिपातेन स्पर्शनाऽवरवर्णजः ॥२४१॥

खड्गोवा यदि वा काणो दातुः प्रेक्ष्योऽपि वा भवेत् । हीनातिरिक्त-

गात्रो वा तमप्यपनयेत्पुनः ॥ २४२ ॥ ”

“अर्थ—नाना प्रकार के भक्ष्य भोजन, मूल, फल और हृदय के मांस और सुगन्धियुक्त पीने के द्रव्य ॥२४१॥ ये सम्पूर्ण अन्न धीरे से ब्राह्मणों के समीप लाकर पवित्रता और स्वस्थचित्त से सब के गुण कहता हुआ परोसे ॥२४२॥ (आहु के समय में) रोदन और क्रोध न करे तथा झूठ न बोले और अन्न में पैर न लगावे और अन्न को न फेंके ॥२४३॥ रोने से वह अन्न प्रेतों को मिलता है और क्रोध करने से शत्रुओं को प्राप्त होता है और असत्य भाषण से कुत्तों को पहुंचता है तथा पैर लगाने से राक्षस खाते हैं और फेंका हुआ पापी पाते हैं ॥२४४॥ और जो २ अन्न ब्राह्मणों को अच्छा लगे वह २ देवे । मत्सररहित होकर ईश्वरसम्बन्धी बात करे क्योंकि पितरों को यही इष्ट है ॥२४५॥ वेद धर्मशास्त्र और आख्यान तथा इतिहास पुराण इत्यादि आहु में जुनवावे ॥२४६॥ प्रसन्नचित्त हुआ आप ब्राह्मणों को प्रसन्न करे और अन्न से जलदी न करता हुआ भोजन करावे और मिष्टान्न के गुणों से ब्राह्मणों को प्रेरणा करे ॥२४७॥ आहु में दौहित्र (नाती) ब्रह्मचारी होतो भी यत्र से भोजन करावे । बैठने को नेपाली कम्बल देवे और आहु घूमि में तिलहाले ॥२४८॥ आहु में तीन पवित्र हैं—नाती, कम्बल और तिल । और तीन प्रशंसा के योग्य हैं—१ क्रोध का न करना, २ पवित्रता तथा ३ जलदी न करना ॥२४९॥ बोलना बन्द करके ब्राह्मण भोजन करें । भोजन योग्य जो पदार्थ हैं वे सब उष्ण (गरम) होने चाहियें और आहु करने वाला भोजनों का गुण पूछे तो भी विप्र न बोलें ॥ २५० ॥ जब तक अन्न उष्ण है और जब तक मौन-युक्त भोजन करते हैं और जब तक भोजन के गुण नहीं कहे जाते तब तक पितर भोजन करते हैं ॥२५१॥ सिर बांधे हुवे जो भोजन करता है और दक्षिणमुख जो भोजन करता है तथा जूता पहरे जो खाता है, वे सब राक्षस भोजन करते हैं (पितर नहीं) ॥ २५२ ॥ चाण्डाल, सूकर, मुरगा, कुत्ता, रजस्वला स्त्री और नपुंसक, ये सब भोजन करते हुवे ब्राह्मणों को न देखें, ॥ २५३ ॥ अग्निहोत्र, दान, ब्रह्मभोज, देवकर्म वा पितृकर्म में जो ये देखें तो

यह सब निष्फल हो जाता है ॥ २४० ॥ सूकर (उस अन्न को) सूघने से (कर्म को) निष्फल करता है । परों की हवा से मुरगा और देखने से कुत्ता और खूने से शूद्र निष्फल कर देता है ॥ २४१ ॥ जिस का पैर मारा गया हो वा काणा वा दाता का दास हो वा न्यून या अधिक अङ्ग वाला हो, उसको भी (ब्राह्म के स्थान से) हटा देवे ॥ २४२ ॥ ”

“ब्राह्मणं भिक्षुकं वापि भोजनार्थमुपस्थितम् । ब्राह्मणैर-
भ्यनुज्ञातः शक्तिः प्रतिपूजयेत् ॥ २४३ ॥ सार्ववर्णिकमन्नाद्यं
सस्त्रीयाप्लाव्य वारिणा । समुत्सृजेद् भुक्तवतामग्रतो विकिरन्भुवि
॥ २४४ ॥ असंस्कृतप्रसीतानां त्यागिनां कुलयोपिताम् । उच्छिष्टं
भागधेयं स्याद्दर्भेषु विकिरिष्य यः ॥ २४५ ॥ उच्छेयणं भूमिगत-
मजिह्मस्याशठस्य च । दासवर्गस्य तत्पित्र्ये भागधेयं प्रचक्षते
॥ २४६ ॥ आसपिण्डक्रियाकर्म द्विजातेः संस्थितस्य तु । आदिवं
भोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकं तु निर्वपेत् ॥ २४७ ॥ सहपिण्डक्रियायां
तु कृतायामस्य धर्मेतः । अनयैवावृता कार्यं पिण्डनिर्वपणं सुतैः
॥ २४८ ॥ श्राद्धं भुक्त्वा य उच्छिष्टं वृषलाय प्रयच्छति । स मूढो
नरकं याति कालसूत्रमवाक्शिराः ॥ २४९ ॥ श्राद्धभुग्वृषलीतल्पं
तदहर्योऽधिगच्छति । तस्याः पुरीषे तं मांसं पितरस्तस्य शेरते
॥ २५० ॥ पृष्ठां स्वदितमित्येषं वृक्षानाचामयेत्ततः । आधान्तांश्चानु-
जामीयादभितो रम्यतामिति ॥ २५१ ॥ स्वधास्तित्येषं तं ब्रूयु-
र्ब्राह्मणास्तदनन्तरम् । स्वधाकारः परं श्याशीः सर्वेषु पितृकर्मसु
॥ २५२ ॥ ततो भुक्तवतां तेषामन्नशेषं निवेदयेत् । यथा ब्रूयुस्तथा
कुर्यादनुजातस्ततो द्विजैः ॥ २५३ ॥ पितृये स्वदितमित्येषं वाच्यं
गोष्ठे तु मुश्रुतम् । संपन्नमित्यभ्युदये दैवे रुचितमित्यपि ॥ २५४ ॥
अपराह्णस्तथा दर्भा वास्तुसंपादनं तिलाः । सृष्टिर्मृष्टिर्द्विजाश्चाग्रधाः
श्राद्धकर्मसु संपदः ॥ २५५ ॥ दर्भाः पवित्रं पूर्वाह्णो हविष्याणि च

सर्वशः । पवित्रं यच्च पूर्वोक्तं विज्ञेया हव्यसंपदः ॥२५६॥ मुन्य-

क्तानि प्रयः सोमो मांसं यच्चानुपस्कृतम् । अक्षारलवणं चैव

प्रकृत्या हविरुच्यते ॥ २५७ ॥ विसृज्य ब्राह्मणांस्तांस्तु नियतो

वाग्यतः शुचिः । दक्षिणां दिशमाकाङ्क्षन्त्याधेतेमान्वरान्

पितॄन् ॥ २५८ ॥ ”

“अर्थ—भिक्षुक वा ब्राह्मण उस काल में भोजनार्थ प्राप्त हो तो उस का भी ब्राह्मण की आज्ञा पाकर यथाशक्ति पूजन करे (भोजन करावे या भिक्षा देवे) ॥ २५६ ॥ सर्व प्रकार के अन्नदि को एकत्र करके पानी से छिड़क कर भोजन किये हुवे ब्राह्मणों के आगे दर्भ पर बखेरता हुआ रखे ॥ २५७ ॥ संस्कार के अयोग्य मरे बालकों तथा त्यागियों और कुलस्त्रियों का उच्छिष्ट कुश पर का भाग विकिर (२५४ में कहा) है ॥ २५८ ॥ जो कि भूमि पर गिरा आहु में उच्छिष्ट है वह दासों के समुदाय का भाग है । ऐसा मनु कहते हैं । परन्तु वह दाससमुदाय सीधा हो और कुटिल न हो ॥ २५९ ॥ मरे द्विजों की सपिण्डी तक वैश्वदेवरहित आहुत (ब्राह्मण को) जिमावे और एक पिण्ड देवे ॥ २६० ॥ परन्तु धर्म से सपिण्डी होजाने पर पुत्रों को उक्त प्रकार से पिण्डप्रदान करना चाहिये ॥ २६१ ॥ जो आहुच्छिष्ट को भोजन करके शूद्र को देता है वह मूर्ख कालसूत्र नाम नरक को जाता है, जिस का नीचे का शिर और ऊपर को पैर होते हैं ॥ २६२ ॥ जो आहुत को भोजन करके उस दिन वेश्याप्रसङ्ग करता है उस के पितर उस वेश्या के विष्टा में उस महीने तक छेदते हैं ॥ २६३ ॥ तप्तब्राह्मण को “अच्छे भोजन हुआ” ऐसा पूछकर आचमन करावे, पश्चात् आचमन कियों को “आराम कीजिये” ऐसा कहे ॥ २६४ ॥ इस कहने के अनन्तर ब्राह्मण आहुकर्त्ता के प्रति “स्वधा अस्तु” ऐसा कहें । क्योंकि सब आहुकर्म में स्वधा शब्द का उच्चारण परम आशीर्वाद है ॥ २६५ ॥ स्वधा शब्द के उच्चारणान्तर निवेदन करे कि “यह शेष अन्न है” । तब ब्राह्मण इस को जैसा कहें वैसा करे ॥ २६६ ॥ पितृआहु में “स्वदितम्”=खूब भोजन किया, ऐसा कहे और गोष्ठ आहु में “सुश्रुतम्” ऐसा कहे और अभ्युदय आहु में “संपन्नम्” इस प्रकार कहे और दैवआहु में “रुचितम्” ऐसा कहे ॥ २६७ ॥ दोपहर का समय, दर्भ और गोबर से लेपन, तिल और

उदारता से अन्नादि का देना और अन्न का संस्कार और पूर्वोक्त पङ्क्ति-
पावन ब्राह्मण, ये आहु की सम्पत्ति हैं ॥२५५॥ दूर्भ और पवित्र और पहला
पहर और सब मुनियों के अन्न और जो पूर्वोक्त पवित्र, ये हृद्य की सम्पत्ति
जानों ॥२५६॥ मुनियों के अन्न, दूध, सोमलता का रस, मांस जो पकाया नहीं
गया और सैन्धव नमक को स्वभाव से हवि कहते हैं ॥२५७॥ उन ब्राह्मणों
को विसर्जन करके एकाग्रचित्त और पवित्र, मौनी, दक्षिण दिशा में देखता
हुवा, पितरों से अपने अभिलषित ये वर मांगे कि— ॥ २५८ ॥

“ दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च । अहुं च नो
माठ्यगमद् बहुधेयं च नोऽस्तिवति ॥ २५९ ॥ [* अन्नं च नो बहु
भवेदतिथीश्च लभेमहि । याचितारश्च न सन्तु मा स्म याचिष्म
कञ्चन ॥ १ ॥ आहुभुक् पुनरश्नाति तदह्यो द्विजाधमः । प्रयाति
सूकरीं योनिं रुमिर्वा नात्र संशयः ॥ २ ॥] एवं निर्वपणं कृत्वा
पिण्डांस्तान्स्तदनन्तरम् । गां विप्रमज्जमग्निं वा प्राशयेदप्सु वा
क्षिपेत् ॥ २६० ॥ पिण्डनिर्वपणं केचित्पुरस्तादेव कुर्वते । वयोभिः
स्तादयन्त्यन्ये प्रतिपन्त्यनलेऽप्सु वा ॥ २६१ ॥ पतिव्रता धर्मपत्नी
पितृपूजनतत्परा । मध्यमं तु ततः पिण्डमद्यात्सम्यक् सुता-
यिनी ॥ २६२ ॥ आयुष्मन्तं सुतं सूते यशोमेधासमन्वितम् ।
धनवन्तं प्रजावन्तं सात्त्विकं धार्मिकं तथा ॥ २६३ ॥ प्रज्ञास्य
हस्तावाचम्य ज्ञातिप्रायं प्रकल्पयेत् । ज्ञातिभ्यः सत्कृतं दत्त्वा
यान्धवानपि भोजयेत् ॥ २६४ ॥ उच्छ्रेयणं तु तत्पिण्डेष्ट्यावद्विप्रा वि-
सर्जिताः । सतो गृह्यलिं कुर्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ २६५ ॥
हविर्यज्ञिररात्राय यज्ञानन्त्याय कल्पते । पितृभ्यो विधिवद्दत्तं
तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २६६ ॥ तिलैर्ग्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलकलेन
वा । दत्तेन मांसं तप्यन्ति विधिवत्पितरो नृणाम् ॥ २६७ ॥ द्वौ
मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन् मासान्हारिणेन तु । औरधेणाथ चतुरः

शकुनेनाथ पञ्च वै ॥ २६८ ॥ षण्मासांश्चागमांसेन पार्षतेन च
सप्त वै । अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु ॥ २६९ ॥ दश
मासांस्तु दृष्यन्ति वराहमहिषामिषैः । शशकूर्मयोस्तु मांसेन
मासानेकादशैव तु ॥ २७० ॥ ”

“ अर्थ—हमारे कुल में देने वाले, वेद और पुत्र पौत्रादि बड़े और
श्रद्धा हमारे कुल से न हटे और धनादि बहुत होवे ॥

[* हमारे अन्न बहुत होवे, हम अतिथियों को भी पावें, हमसे मांगने
वाले हों और हम किसी से न मांगें ॥ जो ब्राह्मणाऽधम श्राद्ध भोजन करके
उस दिन दूसरी बार भोजन करता है वह सूकर वा कीड़े की योनि पाता
है । इस में संशय नहीं ॥] (ये दो श्लोक तौ बहुत ही थोड़े दिनों से मिलाये
गये हैं क्योंकि इन में पहला श्लोक पुराने लिखे ३० में से ७ पुस्तकों में है ९३ में
नहीं तथा राघवानन्द और रामचन्द्र इन दो ने ही इस पर टीका किया है,
औरों ने नहीं और दूसरा श्लोक ३० में केवल १ लिखित पुस्तक में ही मिलता
है, शेष २९ में नहीं । इस पर टीका भी किसी ने नहीं की) ॥ २५९ ॥ उक्त प्रकार से
पिण्डदान करके उन पिण्डों को गाय, ब्राह्मण, बकरा वा अग्नि को खिलावे वा
पानी में डाल देवे ॥ २६० ॥ कोई ब्राह्मण भोजन के अनन्तर पिण्डदान करते
हैं और कोई पत्नियों को पिण्ड खिलाते हैं और दूसरे अग्नि वा पानी में
डालते हैं ॥ २६१ ॥ सजातीय विवाहिता, पतिव्रत धर्म की करने वाली, श्राद्ध में
श्रद्धा रखने वाली, लड़के की इच्छा करने वाली स्त्री उन ३ में से विधियुक्त
बीच के पिण्ड का भक्षण करे ॥ २६२ ॥ (उस पिण्डभक्षण से) दीर्घायु, कीर्ति
और यश धारण करने वाला, भाग्यवान्, सन्तति वाला, सत्त्वगुणी, धर्मात्मा पुत्र
उत्पन्न करती है ॥ २६३ ॥ हाथों को धोकर आचमन करके, जाति वालों को
भोजन करावे । सत्कारपूर्वक जाति वालों को अन्न देकर, भाइयों को भी
भोजन करावे ॥ २६४ ॥ वह ब्राह्मणों का उच्छिष्ट अन्न, ब्राह्मणों के विसर्जन तक
रहे, उसके अनन्तर वैश्वदेव करे । यह धर्म की व्यवस्था है ॥ २६५ ॥ जो हवि
पितरों को यथाविधि दिया हुआ बहुत कालपर्यन्त और अनन्त वृत्तिदेता है
वह सम्पूर्ण आगे कहते हैं— ॥ २६६ ॥ तिल, धान्य, यव, उड़द, जल, मूल और
फल विधिवत् देने से मनुष्यों के पितर एक नास पर्यन्त वृत्त होते हैं ॥ २६७ ॥

मकलां के मांस से दो महीने तक और हरिण के मांस से तीन महीने, मेढा के मांस से चार महीने, पक्षियों के मांस से पांच महीने (वृत्तरहते हैं । क्या अब भी मृतकश्राद्ध को प्रक्षिप्त न मानियेगा ?) ॥ २६८ ॥ और बकरे के मांस से छः महीने, चित्र मृग के मांस से सात महीने, एण मृग के मांस से आठ महीने और रुरु मृग के मांस से नौ महीने ॥ २६९ ॥ सूकर और भैसे के मांस से दश महीने वृत्तरहते हैं और शशा तथा कछवे के मांस से ग्यारह महीने (वृत्ति रहती है) ॥ २७० ॥ ”

“संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन च । वार्ध्नीणसस्य
मांसेन वृत्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥ २७१ ॥ कालशाकं महशल्काः
सङ्गलोहामियं मधु । आनन्त्यायैव कल्पन्ते मुन्यन्नानि च
सर्वशः ॥ २७२ ॥ यत्किञ्चिन्मधुना मिश्रं प्रदद्यात्तु त्रयोदशीम् ।
तदप्यक्षयमेव स्याद्वर्षासु च मघासु च ॥ २७३ ॥ अपि नः स कुले
जायाद्यो नो दद्यात् त्रयोदशीम् । पायसं मधु सर्पिभ्यां प्राक्छाये
कुङ्कुमस्य च ॥ २७४ ॥ यद्यद्ददाति विधिवत्सम्यक्श्राद्धसमन्वितः ।
तत्तत् पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥ २७५ ॥ कृष्णपक्षे दशम्यादौ
वर्जयित्वा चतुर्दशीम् । श्राद्धे गशस्तास्तिथयो यथैता न तथेतराः
॥ २७६ ॥ युष्म कुर्वन् दिनर्क्षेषु सर्वान्कामान्समश्नुते । अयुस्तु
पितॄन्सर्वान्प्रजां प्राप्नोति पुष्कलाम् ॥ २७७ ॥ यथा चैवापरः
पक्षः पूर्वपक्षाद्विशिष्यते । तथा श्राद्धस्य पूर्वोक्तादपराह्णो वि-
शिष्यते ॥ २७८ ॥ प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यमतंन्द्रिणा ।
विद्रवमानिधनात्कार्यं विधिवद्भक्षणिना ॥ २७९ ॥ रात्रौ श्राद्धं न
कुर्यात् राक्षसी कीर्तिता हि सा । सन्ध्ययोरुभयोश्चैव सूर्ये चैवा-
चिरोदिते ॥ २८० ॥ अनेन विधिना श्राद्धं त्रिरब्दस्येह निर्वपेत् । हेमन्त-
ग्रीष्मवर्षासु पाक्ष्मयज्ञिकमन्वहम् ॥ २८१ ॥ न पैतृयज्ञियो होमोलौकि-
केग्नी विधीयते । न दर्शनं विना श्राद्धमाहिताग्नेर्द्विजन्मनः ॥ २८२ ॥

“अर्थ-गाय के दूध वा उस की खीर से १ वर्ष पर्यन्त और बाघ्रीणस (लम्बे कान वाले बकरे) के मांस से बारह वर्ष वृत्ति रहती है ॥ २७१ ॥ कालजाक, महाशल्क (मछलियों के भेद हैं) और गेंडा, लाल बकरा, मधु और संपूर्ण मुनियों के अन्न अनन्त वृत्ति देते हैं । २७२ ॥ वर्षा काल की मधायुक्त त्रयोदशी में आहुनिमित्त (ब्राह्मण को) जो कुछ मधुयुक्त देवे, उस से अक्षय वृत्ति होती है ॥ २७३ ॥ इस प्रकार का कोई हमारे कुल में हो, जो हम को चतुर्दशी में दूध मधु घृत से युक्त भोजन देवे या हस्ती की पूर्व दिशा की छाया में देवे (यह पितर आशा करते हैं) ॥ २७४ ॥ अच्छे आहुयुक्त जो कुछ विधिपूर्वक पितरों को देता है वह परलोक में पितरों की अक्षय वृत्ति के लिये होता है ॥ २७५ ॥ कृष्णपक्ष में दशमी से लेकर चतुर्दशी छोड़कर ये तिथि आहु में जैसी प्रशस्त हैं वैसी और नहीं ॥ २७६ ॥ युग्मतिथि और युग्म नक्षत्रों में आहु करने वाला संपूर्ण इष्ट पदार्थों को प्राप्त होता है । अयुग्म तिथि और अयुग्म नक्षत्रों में आहु करने वाला पुत्रादि सन्तति को पाता है ॥ २७७ ॥ जैसे शुक्लपक्ष से कृष्णपक्ष आहुति करने में अधिक फल का देने वाला है, वैसे ही पहिले पहर से दूसरे पहर में अधिक फल होता है ॥ २७८ ॥ दहिने कन्धे पर यज्ञोपवीत करके, आलस्यरहित हो, कुशा हाथ में लेकर, अपसंठ्य हो, शास्त्रानुसार सब पितृसम्बन्धी कर्म मृत्युपर्यन्त करे ॥ २७९ ॥ रात्रि में आहु न करे । उस (रात्रि) को राक्षसी कहा है और दोनों संध्याओं तथा सूर्योदय से (छः घड़ी वा) षोड़ा दिन षडे तक समय में भी आहु न करे ॥ २८० ॥ इस विधि से एक वर्ष में तीन बार-हेमन्त ग्रीष्म वर्षा में आहु करे । और पञ्चयज्ञान्तर्गत आहु को प्रतिदिन करे ॥ २८१ ॥ आहुसम्बन्धी होम लौकिक अग्नि में नहीं कहा है और आहिताग्नि ब्राह्मणादि को अमावास्या से अतिरिक्त तिथि में आहु नहीं कहा है ॥ २८२ ॥”

“यदेव तर्पयत्यद्भिः पितृन्स्नात्वा द्विजोत्तमः ।

तेनैव कृत्स्नमाप्नोति पितृयज्ञक्रियाफलम् ॥ २८३ ॥”

“अर्थ-जो द्विज स्नान करके जल से ही पितृतर्पण करता है, उसी से संपूर्ण नित्यआहु का फल पाता है ॥ २८३ ॥”

यसून्वदन्ति तु पितृन् रुद्रांश्चैव पितामहान् ।

प्रपितामहांश्चादित्यान्श्रुतिरेषा सनातनी ॥ २८४ ॥

पितर=वसुधों और पितामह=रुद्रों और प्रपितामह=आदित्यों को कहते हैं । यह समातन से सुनते हैं ॥ (इस विषय में छान्दोग्य उपनिषद् ३। १२ में भी लिखा है सो देखने योग्य है—

पुरुषोवाव यज्ञस्तस्य यागि चतुर्विंशतिर्वर्षाणि तत् प्रातः सवनं, चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री, गायत्रं प्रातः सवनं, तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः, प्राणा वाव वसव एते हीदं सर्वं वासयन्ति । अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनं, चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप्, त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनं, तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः, प्राणा वाव रुद्रा एते हीदं सर्वं रोदयन्ति । अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनमष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती, जागतं तृतीयसवनं, तदस्यादित्या अन्वायत्ताः, प्राणा वावादित्या एते हीदं सर्वमाददते ॥ ५ ॥

भावार्थ—यह है कि मनुष्य भी एक यज्ञ है । जैसे यज्ञ के प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन और सायंसवन वा तृतीयसवन, ये ३ सवन होते हैं, ऐसे ही मनुष्यदेहयात्रा रूप यज्ञ के २४ । ४४ । ४८ वर्ष ३ सवन हैं । गायत्री के २४ अक्षर हैं, प्रातःसवन का भी गायत्री छन्द है, उसमें इस के प्राण वसु-संज्ञक होते हैं । ४४ अक्षर का त्रिष्टुप्छन्द है और माध्यन्दिन सवन का भी त्रिष्टुप्छन्द है । उस में इस के प्राण रुद्र संज्ञक होते हैं । और ४८ अक्षर का जगती छन्द है और तृतीयसवन का भी जगती छन्द है । उस में इस के प्राण आदित्यसंज्ञक होते हैं (निदान २४ वर्ष तक ब्रह्मचर्यव्रतधारी के प्राण वसु, ४४ वर्ष वाले के रुद्र और ४८ वाले के आदित्य कहाते हैं । ये ब्रह्मचारी यज्ञस्वरूप हैं और क्रम से पिता पितामह और प्रपितामह के समान स्तुकरणीय हैं) ॥ २-४ ॥

विधसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वामृतभोजनः । विधसोभुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथामृतम् ॥ २८ ॥ एतद्वोऽभिहितं सर्वं विधानं पाञ्च-यज्ञिकम् । द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति ॥ २८ ॥

अर्थ—सर्वदा विघस भोजन करने वाला वा अमृत भोजन करने वाला होवे । (ब्राह्मणादिकों के) भोजन के शेष को विघस कहते हैं और यज्ञशेष को अमृत कहते हैं ॥ २८५ ॥ यह पञ्चयज्ञानुष्ठान की सर्व विधि तुम से कही । अब द्विजों में मुख्य (ब्राह्मण) की वृत्तियों का विधान सुनो ॥ २८६ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे (भृगुप्रोक्तायां संहितायां)

तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे
तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

ओ३म्

अथ चतुर्थोऽध्यायः

चतुर्थमायुषोभागमुपित्वाऽऽद्यंगुरी द्विजः॥द्वितीयमायुषोभागं
कृतदारो गृहे वसेत् ॥१॥ अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा
पुनः । या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥ २ ॥

अर्थ—आयु के प्रथम चौथाई भाग (१०० वर्ष प्रमाण से चौथाई पच्चीस
वर्ष) द्विज गुरुकुल में निवास करके आयु के द्वितीय भाग में गृस्थाश्रम को
धारण करे ॥ १ ॥ जिस वृत्ति में जीवों की पीड़ा न हो वा अल्प पीड़ा हो,
ऐसी वृत्ति को धारण करके आपत्ति रहित काल में विप्र निर्वाह करे ॥ २ ॥
यात्रामात्रप्रसिद्धार्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः।अक्लेशेन शरीरस्य
कुर्वीत धनसञ्चयम्॥३॥ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन
वा । सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥ ४ ॥

अर्थ—प्राणरक्षण, शास्त्रानुसार कुटुम्बपोषण और नित्यकर्मानुष्ठान मात्र
के लिये अपने अनिन्दित कर्मों से तथा शरीर में क्लेश न करके धनसञ्चय
करे ॥ ३ ॥ ऋत—अमृत वा मृत—प्रमृत से वा सत्य—अनृत से जीवन करे
परन्तु कुत्ते की वृत्ति से कभी नहीं ॥ ४ ॥

ऋतमुज्ज्विलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम्।मृतं तु याचितं भैक्षं
प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्॥५॥सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि
जीव्यते । सेवा श्ववृत्तिराग्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥६॥

अर्थ—उज्ज्वल और शिल को ऋत, न मांगने की वृत्ति को अमृत और
मांगी हुई भिक्षा को मृत तथा कृषि को प्रमृत जानना चाहिये ॥५॥ इन से
या सत्यानृत=वाणिज्यवृत्ति से जीवे । और सेवा कुत्ते की वृत्ति कही है इस
से उसे वर्जित करे ॥ ६ ॥

कुशूलधान्यकीषा स्यात्कुम्भीधान्यकएव वा । त्र्यहैहिकोवापि
भवेदश्वस्तनिकएव वा ॥७॥ चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृह-
मंधिनाम् । ज्यायान्परः परोज्ञेयो धर्मतो लोकजित्तमः ॥ ८ ॥

अर्थ—कोठार में धान्य का सञ्चय करने वाला हो, वा घड़े भर अन्न सञ्चय वाला हो, या दिनत्रय के निर्वाहमात्र का सञ्चय करने वाला हो, या कल को भी न रखने वाला हो ॥ (७ वें के आगे ३० में से केवल एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक पाया जाता है—

सद्यः प्रक्षालिको वा स्यान्माससञ्चयिकोपि वा ।

षण्मासनिचयोवापि समाभिचय एव वा ॥ १ ॥

अर्थ—तुरन्त हाथ धो डालने वाला, वा एक मास वा छः मास वा १ वर्ष के लिये धान्यादि सञ्चय करने वाला होवे ॥ १ ॥

यथार्थ में मनु के लेखानुसार गुण कर्म स्वभावयुक्त ब्राह्मण हों और तदनुसार ही उन की जीविका का भार क्षत्रिय वैश्यों पर रहे तो संचय की ब्राह्मणों को कुछ आवश्यकता नहीं है) ॥ ७ ॥ उन चार गृहस्थ द्विजों में एक से दूसरा, फिर तीसरा, इस क्रम से श्रेष्ठ (अर्थात् जितना जिस के कम संग्रह हो उतना वह श्रेष्ठ है) धर्म से लोक का अत्यन्त जीतने वाला समझना चाहिये ॥ ८ ॥

षट्कर्मैकोभवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्त्तते।द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति ॥ ९ ॥ वर्त्तयंश्च शिलोज्ज्वाभ्यामग्निहोत्र परायणः । इष्टीः पार्वायनान्तीयाः केवलानिर्वपेत्सदा॥१०॥

अर्थ—इन में कोई गृहस्थ षट्कर्मों से जीता है (ऋत, अयाचित, भिक्षा, कृषि, वाणिज्य और कुसीद से) और कोई तीन कर्मों से जीता है (याजन, अध्यापन, प्रतिग्रह) और कोई दो (याजन और अध्यापन) से और कोई एक (पढ़ाने) ही से ॥ ९ ॥ शिलोज्ज्वा से जीवन करता हुआ केवल सदा अग्निहोत्र और पर्व तथा अयन के अन्त में इष्टि=यज्ञ करे ॥ १० ॥

न लोकवृत्तं वर्त्तत वृत्तिहेतोः कथञ्चन । अजिह्वा मशठां शुद्धां जीवेद्ब्राह्मणजीविकाम् ॥११॥ संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् । संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः॥ १२॥

अर्थ—जीविका के लिये लोकवृत्त (नाटकादि) कभी न करे किन्तु असत्य और दम्भादि से रहित पवित्र जीविका, जो कि ब्राह्मण की कही है, करे ॥ ११ ॥ सुखार्थी सन्तोष से रहकर स्वस्थचित्त रहे, क्योंकि सन्तोष ही सुख का कारण है और तृष्णा दुःख का हेतु है ॥ १२ ॥

अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः । स्वर्गायुष्य
यशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत् ॥ १३ ॥ वेदोदितं स्वकं कर्म
नित्यंकुर्यादतन्द्रितः । तद्विकुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमांगतिम्

अर्थ—इन में कोई सी वृत्ति से निर्वाह करता हुआ स्नातक द्विज, स्वर्ग
आयु और यश देने वाले इन व्रतों का धारण करे—॥ १३ ॥ अपना वेदोक्त
कर्म नित्य आलस्यरहित होकर यथाशक्ति करे क्योंकि उस को करता हुआ
निश्चय परम गति (मोक्ष) को प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

नेहेतार्यान् प्रसंगेन न विरुद्धेन कर्मणा । न विद्यमानेष्वर्थेषु
नार्त्यामपि यतस्ततः ॥ १५ ॥ इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत
कामतः । अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्त्तयेत् ॥ १६ ॥

अर्थ—गाने बजाने आदि से शास्त्रविरुद्ध किसी कर्म से द्रव्योपार्जन न
करे । द्रव्य होने पर भी न करे और कष्ट में भी इधर उधर से (पतितों)
द्रव्यों का उपार्जन न करे ॥ (९ प्राचीन लिखित पुस्तकों में उत्तरार्ध इस
प्रकार है कि—न कल्प्यमानेष्वर्थेषु नान्त्यादपि यतस्ततः) ॥ १५ ॥ संपूर्ण
इन्द्रियों के अर्थों (शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध) में इच्छा से न फंसे । इन की
बहुत आसक्ति को मन से हटा देवे (मेधातिथि के भाष्य में—संनिवर्त्तयेत्=
संनिवेशयेत् । पाठ है) ॥ १६ ॥

सर्वान्परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः । यथा तथा ध्याप-
यंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ १७ ॥ वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुत-
स्याभिजनस्य च । वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन् विचरेदिह ॥ १८ ॥

अर्थ—वेदाध्ययन के विरोधी जितने अर्थ हैं, सब को छोड़ देवे । जैसे
बने वैसे वेदाध्ययन से निर्वाह करे, यही उस की कृतकृत्यता है ॥ १७ ॥ आयु
क्रिया, धन, विद्या और कुल, इन के अनुरूप वेष वाणी और समस्त आच-
रण करता हुआ इस जगत् में रहे ॥ १८ ॥

बुद्धिबुद्धिकराण्यां धन्यानि च हितानि च । नित्यं शास्त्राण्य-
वेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥ १९ ॥ यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं
समधिगच्छति । तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते २०

अर्थ—शीघ्र बुद्धि के बढ़ाने वाले, धन के समुच्चय कराने वाले और शरीर को सुख देने वाले, शास्त्रों को और वेद के अर्थ जताने वाले शास्त्रों को भी नित्य देखे ॥ १९ ॥ जैसे २ मनुष्य अच्छे प्रकार शास्त्र का अभ्यास करता है, वैसे २ शास्त्र को जानता जाता है और इस को विज्ञान रुचता जाता है ॥
(३० में से १ पुस्तक में यह श्लोक अधिक पाया जाता है कि—

शास्त्रस्य पारङ्गत्वा तु भूयोभूयस्तदभ्यसेत् ।

तच्छास्त्रं शबलं कुर्यान्न चाधीत्य त्यजेत्पुनः ॥ १ ॥

अर्थात् शास्त्र के पार को प्राप्त होकर भी बार २ अभ्यास करता रहे । उस शास्त्र को उज्ज्वल करे, न कि पढ़ कर फिर छोड़ दे) ॥ २० ॥

ऋपियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा । नृयज्ञं पितृयज्ञं च
यथाशक्ति न हापयेत् ॥ २१ ॥ एतानेके महायज्ञान्यज्ञशास्त्र-
विदो जनाः । अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥ २२ ॥

अर्थ—स्वाध्यायादि पञ्चयज्ञों को यथाशक्ति कभी न छोड़े ॥ २१ ॥ कोई यज्ञशास्त्र के जानने वाले पुरुष इन पञ्चमहायज्ञों को (ब्रह्मयज्ञ के अभ्यास से) बाह्य चेष्टा से निरन्तर रहित हुए पञ्चज्ञानेन्द्रियों में ही संयम करते हैं ॥ २२ ॥
वाच्येके जुह्वति प्राणं प्राणे वाचं च सर्वदा । वाचि प्राणे च
पश्यन्तो यज्ञनिवृत्तिमक्षयाम् ॥ २३ ॥ ज्ञानेनैवापरे विप्राय जन्त्ये-
तैर्मखैः सदा । ज्ञानमूलां क्रियामेषां पश्यन्तो ज्ञानचक्षुषा ॥ २४ ॥

अर्थ—कं ई वाणी का प्राण में और प्राण का वाणी में हवन करते हैं और इन्हीं में यज्ञ की अक्षय फलसिद्धि देखते हैं (अर्थात् प्राणायाम और मौन धारण करते हैं) ॥ २३ ॥ ज्ञानचक्षु से इन क्रियाओं को ज्ञानमूलक जानने वाले दूसरे विप्र इन यज्ञों को ज्ञान से ही करते हैं ॥ २४ ॥

अग्निहोत्रं च जहुग्रादादन्ते द्युनिशोः सदा ।

दर्शेन चार्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि ॥ २५ ॥

“सस्यान्ते नवसस्येष्ट्या तथर्त्वन्ते द्विजोऽध्वरैः ।

पशुना त्वयनस्यादौ समान्ते सौमिकैर्मखैः ॥ २६ ॥”

अर्थ—दिन और रात्रि के आदि में नित्य अग्निहोत्र करे और अर्धमास के अन्तमें आमावास्या और पूर्णिमा में क्रमशः दर्शष्टि और पौर्णमास यजन करे ॥२५॥ नवीन अन्न की उत्पत्ति में नवीन धान्य से नवसस्येष्टि करे, ऋतुओं के अन्त में अध्वर याग करे और अयन के आदि में पशु से याग करे और वर्ष के अन्त में सोमयाग करे ॥ मेधातिथि के भाष्य में पाठभेद भी है—पशुना ह्यपनस्यादी । इस से भी यह नवीन प्रक्षेप संशयित होता है) ॥२६॥

“ नानिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या पशुना चाग्निमान्द्विजः । नवान्नमद्यान्मांसं वा दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥ २७ ॥ नवेनाऽनर्चिता ह्यस्य पशुहव्येन चाग्नयः । प्राणानेवाऽत्तुमिच्छन्ति नवान्नामिषगर्द्दिनः ॥ २८ ॥ ”

“अर्थ—अग्निहोत्री ब्राह्मणादि दीर्घ आयु की इच्छा करनेवाला नवीन अन्न से इष्टि किये बिना नवान्नभक्षण न करे और पशुयाग किये बिना मांस भक्षण न करे ॥२७॥ नवीन अन्न और पशु से यजन किये बिना अग्नि इनके प्राणों को खाने की इच्छा करते हैं, क्योंकि अग्नि नवीन अन्न और मांस के अत्यन्त अभिलाष वाले हैं ॥” (इस प्रसङ्ग में पशुयाग का अर्थ पशु के घृतादि से यज्ञार्थ लेकर कोई लोग २६ वें का समाधान करते हैं, परन्तु आगे २७ वें के अर्थवाद में मांस का वर्णन आने से स्पष्ट जान पड़ता है कि यह लीला हिंसकों की है । यज्ञदेवकार्य है और मनु एकादशध्याय में मांस को दैवभोजन नहीं, किन्तु राक्षसी वा पैशाच भोजन कहेंगे । इस लिये यह श्लोक हमारी सम्मति में मनु के विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं) ॥२८॥

आसनाशनशय्याभिरद्विर्मूलफलेन वा । नास्यकश्चिद्वसेद्गृहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः ॥२९॥ पाषण्डिनो विकर्मस्थान्बडालव्रतिकाञ्छठान् । हेतुकान्वकवृत्तींश्च बाह्यान्नेणापि नार्चयेत् ॥३०॥

अर्थ—आसन भोजन शय्या जल मूल वा फल से यथाशक्ति बिना पूजन किया कोई अतिथि इस (गृहस्थ) के घर में न रहे ॥२९॥ परन्तु पाषण्डी और निषिद्ध कर्म करने वालों, बिडालव्रत वालों, शठों, वेद में अज्ञान रखने वालों और बकवृत्ति वालों को बाह्यमात्र से भी न पूजे ॥ ३० ॥

वेदविद्याव्रतस्नातृश्रोत्रियान्गृहमेधिनः । पूजयेद्व्यकव्येन

विपरीतांश्च वर्जयेत् ॥ ३१ ॥ शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं
गृहमेधिना । संविभागश्च भूतेभ्यः कर्तव्योऽनुपरोधतः ॥ ३२ ॥

अर्थ—देवविद्या की समाप्ति करने वाले और व्रत को सम्पूर्ण करने वाले
तथा श्रोत्रिय गृहस्थों को हव्य कवच से पूजित करे और इन से विपरीतों को
नहीं ॥ ३१ ॥ गृहस्थ यथाशक्ति पाक न करने वाले (संन्यासी वा ब्रह्मचारी)
को भिक्षा देवे और सम्पूर्ण जीवों को बिना रुकावट के जलादि भाग देवे ॥ ३२ ॥

राजतो धनमन्विच्छेत्संसीदन्स्नातकः क्षुधा । याज्यान्तेवासि-
नोत्रापि न त्वन्यत इति स्थितिः ॥ ३३ ॥ न सीदेत्स्नातको विप्रः
क्षुधाऽशक्तः कथंचनान जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति ॥ ३४ ॥

अर्थ—क्षुधा से पीड़ित स्नातक राजा से और यजमान वा शिष्य से द्रव्य
की इच्छा करे, अन्य से न मांगे । इस प्रकार की शास्त्र मर्यादा है ॥ ३३ ॥
स्नातक ब्राह्मण क्षुधा से पीड़ित कभी न रहे और धन पास होने पर
पुराना मैला वस्त्र न रखे ॥ ३४ ॥

ऋषकेशनखश्मश्रुर्दान्तःशुक्लाम्बरः शुचिः । स्वाध्याये चैव युक्तः
स्यान्नित्यमात्महितेषु च ॥ ३५ ॥ वैणवीं धारयेदपि सोदकं
च कमण्डलुम् । यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले ॥ ३६ ॥

अर्थ—केश, नख, दाढ़ी मुंढाये हुवे (ऐसी हजामत बनवाया करे)
और इन्द्रियों का दमन करने वाला, श्वेतवस्त्रधारी और पवित्र रहे और
नित्य वेद पाठ तथा आत्मा का हित किया करे ॥ (यह प्राचीनकालीन रहन
सहन (एटीकेट) है, जो मनु ने अपने समय में नियमबद्ध किया था । इसमें
से जो २ बातें धर्माध्यर्मे में कारण हैं, वे वे ग्राह्य ऋग्राह्य हैं । शेष देशकाल
की रीति नीति मात्र थी जो बहुत सी अब आवश्यक नहीं रहनी) ॥ ३५ ॥
वांस की छड़ी, जल भरा लोटा, यज्ञोपवीत, वेदपुस्तक और अच्छे सोने के
दो कुण्डल धारण करे ॥ ३६ ॥

नेक्षेतोदन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन । नोपसृष्टं न
वारिस्थं न मध्यं न मसोगतम् ॥ ३७ ॥ न लङ्घयेद्वत्सतन्त्रीं न प्रधा-
वेच्च वर्षति । न चोदके निरीक्षेत स्वं रूपमिति धारणा ॥ ३८ ॥

अर्थ-उदय और अस्त होते हुवे सूर्य को कभी न देखे, ग्रहों से मिलने पर और जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब और बीच आकाश में भी सूर्य को न देखे (इस से दृष्टि की हानि होती है) ॥ ३७ ॥ और बछड़े के घंघे होते उस के रस्से को न लांघे, पानी बरंते में न दौड़े, अपना स्वल्प पानी में न देखे ऐसा नियम है ॥ ३८ ॥

मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम् । प्रदक्षिणानि कुर्वीत
प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥ ३९ ॥ नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्थिर-
मार्तवदर्शने । समानशयने चैव न शयीत तथा सह ॥ ४० ॥

अर्थ-मिट्टी के टीलों, गौवों, यज्ञशालाओं, ब्राह्मणों, घृत और मधु के समूहों, चौराहों, और बड़े प्रसिद्ध २ वनस्पतियों को दक्षिण ओर करके जावे ॥ ३९ ॥ कानार्त पुरुष भी रजस्वला स्त्री के पास न जावे और उसके साथ बराबर बिछोने पर भी न सोवे ॥ ४० ॥

रजसाभिलुप्तां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः । प्रज्ञा तेजो बलं
चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥ ४१ ॥ तां विवर्जयतस्तस्य रजसा
समभिप्लुताम् । प्रज्ञा तेजोबलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते ॥ ४२ ॥

अर्थ-रजस्वला स्त्री के पास जाने वाले पुरुष की प्रज्ञा तेज, बल, आंख, तथा आयु नष्ट होती है ॥ ४१ ॥ उसी (रजस्वला) के पास न जाने वाले की प्रज्ञा, तेज, बल, आंख की दृष्टि और आयु बढ़ती है (४ पुस्तकों में- प्रज्ञा लक्ष्मीर्यशश्चतुः पाठ है) ॥ ४२ ॥

नाश्नीयाद्धार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाशनतीम् । क्षुत्रतीं जृम्भमा-
णां वा नचासीनां यथासुखम् ४३ नाञ्जयन्तीं स्वकेन त्रे नचाभ्य-
क्तामनावृताम् । नपश्येत्प्रसवन्तीं च तेजस्कामो द्विजोत्तमः ४४

अर्थ-तेज चाहने वाला भार्या के साथ भोजन न करे, इस को भोजन करते हुए भी न देखे तथा झींकती, जंभाई लेती हुई और आराम से बैठी हुई को भी न देखे (इस से लज्जामग्न का भय है) ॥ ४३ ॥ अपने नेत्रों में अञ्जन करती हुई, बिना कपड़ों नङ्गी तैलादि लगाती हुई, बच्चा जन्मती हुई को तेज की इच्छा करने वाला ब्राह्मणादि न देखे ॥ (चार पुस्तकों

और रामचन्द्र के टीके में ४४ से आगे यह श्लोक अधिक पाया जाता है:-

उपेत्य स्नातको विद्वान्नेक्षेन्नग्नां परस्त्रियम् ।

सरहस्यं च सम्वादं परस्त्रीषु विवर्जयेत् ॥

अर्थात् स्नातक विद्वान् पराई नग्न स्त्री के समीप न जावे और न देखे और पर स्त्रियों में एकान्त संवाद वर्जित करे) ॥ ४४ ॥

नान्नमद्वादेकवासा न नग्न स्नानमाचरेत् । न मूत्रं पथि कुर्वीत
न भस्मनि न गोव्रजे ॥४५॥ न फालकृष्टे न जले न चित्थां
न च पर्वते । न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन ॥४६॥

अर्थ-एक वस्त्र पहनकर भोजन न करे, नङ्गा स्नान न करे, मार्ग में, गौ के खरक में, ॥ ४५ ॥ खेत तथा जल में, चिता और पर्वत में, पुराने टूटे देव स्थान-यज्ञशाला में और ब्रमी में कभी मूत्र न करे ॥ ४६ ॥

न ससत्त्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नापि च स्थितः । न नदीतीरमासाद्य
न च पर्वतमस्तके ॥४७॥ वाय्वग्निविप्रमादित्यमपः पश्यंस्त-
थैव गाः । न कदाचन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम् ॥४८॥

अर्थ-रहते हुवे जानवरों के बिलों में, चलते हुवे, खड़े हुवे, नदी के किनारे, पर्वत की चोटी पर, ॥ ४७ ॥ वायु, अग्नि, विप्र, सूर्य, जल और गौवों को देखता हुआ कभी मल मूत्र त्याग न करे ॥ ४८ ॥

तिरस्कृत्योच्चरेत्काष्ठलोष्टपत्रतृणादिना । नियम्य प्रयतोवाचं
संवीताङ्गोऽत्रगुण्ठितः ॥४९॥ मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिश कुर्यादु-
दङ्गमुखः । दक्षिणाभिमुखोरात्रौ संध्ययोश्च यथा दिश ॥५०॥

अर्थ-लकड़ी, ढेला, पत्ता, घास आदि से छिपकर दिशा फिरे, बोलेनहीं, शरीर पर कपड़ा ओढ़ लेवे और गंठकर बैठे ॥४९॥ दिन और दोनों संध्याओं में उत्तर की ओर मुख करके और रातको दक्षिण मुख होकर मलमूत्र त्याग किया करे ॥ ५० ॥

छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः । यथासुखमुखः कु-
र्यात्प्राणवाधाभयेषु च ॥५१॥ प्रत्यग्निं प्रतिसूयं च प्रतिसोमोद-
कद्विजान् । प्रतिगां प्रतिवातं च प्रज्ञा नश्यति मेहतः ॥ ५२ ॥

अर्थ—छाया, अन्धकार, रात्रि वा दिन में (जिसमें दिशा का ज्ञान न हो) वा (व्याघ्रादिकों से) प्राण के भय में जैसे चाहे वैसे मुख करके मल मूत्र त्यागले ॥५१॥ अग्नि, सूर्य, चन्द्र, जल, ब्राह्मणादि, गौ और वायु इन के सम्मुख मूत्र करने वाले की वृद्धि नष्ट होती है ॥ ५२ ॥

(जैसे स्वच्छ वस्त्र पर थोड़ी भी मलिनता बहुत प्रतीत होती है, वा अतिस्वच्छ वस्त्र धारण करने वाले थोड़ा भी छीटा पड़ जाने से वस्त्र को मलिन और न पहनने योग्य समझते हैं, परन्तु साधारण लोग उत्तने मैले वस्त्रादि को मैला ही नहीं समझते। इसी प्रकार धर्मशास्त्र के अनुसार चलने वाले लोगों को ही उस के विपरीत चलने की हानि वा ग्लानि प्रतीत हो सकती है, सब को नहीं। और जो लोग जिस प्रकार से सदा रहन सहन करते हैं उस से नई वा विरुद्ध वा भिन्न रीति से करने में उन्हें ही कष्ट होता है। अन्यो को नहीं। जैसे अंग्रेजी पाट (पाखाने) में इस देश वालों को कष्ट होता है। मल मूत्रादि करने में जहां किसी की कोई भी हानि हो वहां न करे, जो स्थान वा ढङ्ग धर्मशास्त्र में यहां बतलाये हैं, वे उपलक्षणमात्र हैं। इस से अन्यत्र भी हानि देखे तो न करे। और इन स्थानों में भी करने से लाभ और न करने से हानि हो ती, इस मर्यादा को चाहे न माने। यही विचार ५१ वें श्लोक का मुख्य करके है। ब्राह्मणादि के सामने मूत्रादि करने से उन का अपमान और अपने में घृष्टतादि दोषोत्पत्ति, तथा वायु आदि की परीक्षा करते, एक काल में दो कामों के करने से विघ्न और शौच का ठीक न होना, घवासीर और मूत्ररुच्छादि रोगों की वृद्धि संभव है। इत्यादि स्वयं विचारते रहना चाहिये) ॥ ५२ ॥

नाग्निंमुखेनोपधमेनग्नानेक्षेतचस्त्रियम् । नामेध्यंप्रक्षिपेदग्नौ
न च पादौ प्रतापयेत् ॥ ५३ ॥ अधस्तात्नोपदध्याञ्च न चैनम-
भिलङ्घयेत् । न चैनं पादतः कुर्यान्न प्राणाबाधमाचरेत् ॥ ५४ ॥

अर्थ—आग को मुख से न फूँके और नङ्गी स्त्री को न देखे, मल मूत्र आगमें न डाले और पैरों को आग पर न तपावे ॥५३॥ (चारपाई आदि के) नीचे आग न धरे और इस (आग) को न लांघे और पैरों को आग पर न रखे और जीवों को पीड़ा होने वाला कर्म न करे ॥ ५४ ॥

नाश्लीयात्संधिवेलायां न गच्छेन्नापिसंविशेत् । न चैवप्रलिखेद्

भूमिं नात्मनोपहरेत्स्वजम् ॥५५॥ नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा
समुत्सृजेत् । अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा ॥५६॥

अर्थ—संध्याकाल में भोजन, शयन, यात्रा न करे और न भूमि पर लकीर
खींचे और पहनी हुई साला को न निकाले ॥५५॥ मूत्र, मल, शूक वा मल-
मूत्रयुक्त वस्तु, रक्त और विष भी जल में न डाले ॥ ५६ ॥

नैकः स्वपेच्छून्यगेहे श्रेयांसं न प्रबोधयेत् । नोदक्ययाभिभाषेत
यज्ञं गच्छेन्न चाऽवृतः ॥५७॥ अग्न्यागारे गवां गोष्ठे ब्राह्मणानां
च सन्निधौ । स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुदरेत् ॥५८॥

अर्थ—सूने मकान में अकेला न सोवे, अपने से बड़े को (सोते हुवे) न
जगावे, रजस्वला से न बोले और विना वरण किये यज्ञ में न जावे ॥

(५७ वें के आगे ३ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:—

एकः स्वादु न भुञ्जीत स्वार्थमेकोन चिन्तयेत् ।

एकोन गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात् ॥१॥

अर्थात् अकेला स्वादुपदार्थ न खावे, न अकेला स्वार्थको चिन्ताकरे। अकेला
दीर्घयात्रा न करे, सब के सोते हुवे अकेला न जागे ॥५७॥ यज्ञशाला गोशाला
तथा ब्राह्मणों के समीप, वेद के पढ़ने और भोजन में दहिना हाथ उठावे ॥५८॥
न वारयेद्गां धयन्तीं न चाचक्षीत कस्यचित् । न दिवीन्द्रायुधं
दृष्ट्वा कस्यचिद्दर्शयेद्बुधः ॥५९॥ नाधार्मिके वसेद् ग्रामे न व्या-
धिबहुले भृशम् । नैकः प्रपद्येताध्वानं न चिरं पर्वते वसेत् ॥६०॥

अर्थ—(जल) पीती गाय को न हांके और न दूसरे को बतावे, आकाश
में इन्द्रधनुष देख कर किसी को न दिखावे (आंख की हानि है) ॥ ५९ ॥
अधर्मी ग्राम और जहां बहुत बीमारी हो वहां न रहे, अकेला मार्ग न
चले और पर्वत पर बहुत काल निवास न करे ॥ ६० ॥

न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृते । न पाषण्डिगणाक्रा-
न्ते नोपसृष्टेऽन्त्यजैर्नृभिः ॥६१॥ न भुञ्जीतोदधृतस्नेहं नातिसौहि-
त्यमाचरेत् । नातिप्रगे नातिसायं न सायंप्रातराशितः ॥६२॥

अर्थ—शूद्रों के राज्य में निवास न करे, अधार्मिक पुरुषों से घेरे हुवे और पापगुणियों के वास किये हुवे तथा चाण्डालों से भरे हुवे देश में भी न वसे ॥६१॥ जिस की चिकनाई निकाल ली हो उसको न खावे (जैसे खल) । अतिवृष्टि न करे, उदय तथा अस्तकाल के समीप भोजन न करे, प्रातःकाल अतिवृष्ट हुआ सायंकाल में भोजन न करे ॥ ६२ ॥

न कुर्वीत वृथा चेष्टां न वार्यञ्जलिनापिवेत् । नोत्सङ्गे भक्षयेद्भक्ष्या-
न्न जातु स्यात्कुतूहली ॥६३॥ न नृत्येदथवा गायेन्न वादित्राणि
वादयेत् । नास्फोटयेन्न च क्ष्वेडेन्न च रक्तो विरागयेत् ॥६४॥

अर्थ—निष्फल कर्म न करे, अञ्जली से पानी न पीवे । (मोदकादि) भक्ष्य को गोद में रख कर भोजन न करे और कभी ठ्यर्थ बातें न करे ॥६३॥ न नाचे, न गान करे, बाजों को न बजावे, ताली न बजावे और तुतलाकर न बोले और बहुत प्रसन्न होकर (गधे का सा) कुशब्द न करे ॥ ६४ ॥

न पादौ धावयेत्कांस्ये कदाचिदपि भाजनेन भिन्नभाण्डेभु-
ञ्जीत न भावप्रतिदूषिते ॥६५॥ उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न
धारयेत् । उपवीतमलङ्कारं स्रजं करकमेव च ॥ ६६ ॥

अर्थ—कांसे के वर्तन में कभी पैर न धुवाये, फूटे वर्तन में भोजन न करे और विरोध वाले के घर भोजन न करे ॥ ६५ ॥ जूता, कपड़ा, यज्ञो-
पवीत, अलङ्कार, पुष्पमाला और कमण्डलु दूसरे के ओढ़े पहरे वर्त्ते हुवे धारण न करे ॥ ६६ ॥

नाविनीतैर्ब्रजेदुर्यैर्न च क्षुद्र्याधिपीडितैः । न भिन्नशृङ्गाक्षिखुरै-
र्न घालाधिविरूपितैः ॥ ६७ ॥ विनीतैस्तु ब्रजेन्नित्यमाशुगैर्ल-
क्षणान्वितैः । वर्णरूपोपसंपन्नैः प्रतोदेनातुदभृशम् ॥ ६८ ॥

अर्थ—अशिक्षित, लुधा ठ्याधि से पीडित, तथा सींग आंख और
खुर से खरिहत घोड़ों वा बैलों की सवारी न करे । लांछे बैलों से यात्रा न
करे ॥६७॥ किन्तु शिक्षित तथा अच्छे प्रकार शीघ्र चलने वाले शुभ लक्षण
युक्त, वर्णरूप सहित (अश्वादि से) प्रतोद (कोढ़े) से निरन्तर न घुमाता
हुआ यात्रा करे ॥ ६८ ॥

बालातपःप्रेतधूमोवर्जयेन्नित्यं तथासनम् न छिन्द्यान्नखलोमानि
दन्तैर्नोत्पाटयेन्नखान् ॥६९॥ न मृल्लोष्टं च मृद्नीयान्नच्छिन्द्यात्क-
रजैस्तृणम् । न कर्म निष्फलं कुर्यान्नायत्यामसुखोदयम् ॥७०॥

अर्थ—उदयकाल का घास और जलते मुर्दे का धुआं और टूटा आसन
त्याज्य हैं और रोम वा नखोंको न उखाड़े तथा दांतोंसे नखों को न उपाड़े
(दो पुस्तकों में ६९ वें के बीच में यह अर्थ श्लोक अधिक पाया जाता है:—

(श्रीकामोवर्जयेन्नित्यं मृण्मये चैव भोजनम् ।)

अर्थात् शोभा का इच्छुक मिट्टी के पात्र में न खाया करे) ॥६९॥ मिट्टी के
ढेले को न मसला करे और नखों से तृणोंको न काटा करे और व्यर्थ काम
न करे और आगामी काल में दुःख का देने वाला काम न करे ॥ ७० ॥

लोष्टमर्दीतृणच्छेदी नखखादी च योनरः । स विनाशं व्रजत्याशु
सूचक्रोऽशुचिरेव च ॥७१॥ न विगर्ह्य कथां कुर्याद् बहिर्मात्यं
न धारयेत् । गवां च यानं पृष्टेन सर्वथैव विगर्हितम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—ढेले का मसलने वाला, तृण का छेदने वाला और नखों के चबाने के
अभ्यास वाला मनुष्य शीघ्र नाश को प्राप्त होजाता है और चुगलखोर तथा
अपवित्र भी ॥ ७१ ॥ उद्दण्डता से बात न करे, माला को बाहर धारण न
करे और बैल की पीठ पर सवारी न करे, यह सर्वथा ही निन्दित है ॥७२॥
अद्वारेण च नातीयाद् ग्रामं वा वेश्म वा वृतमूरात्रौ च वृक्षमू-
लानि दूरतःपरिवर्जयेत् ॥७३॥ नाक्षैः क्रीडेत्कदाचित्तु स्वयं नो-
पानहौ हरेत् । शयनस्थो न भुञ्जीत न पाणिस्थं न चासने ॥७४॥

अर्थ—घिरे हुवे नगर या मकान में विना दरवाजे के न जावे
(अर्थात् दरवाजे से जावे, दीवार फूद कर न जावे) और रात को वृक्ष के
नीचे न रहे ॥ ७३ ॥ कभी जुवा न खेले, अपने जूतों को हाथ से उठा कर
न चले, शय्या पर वा हाथ में लेकर वा आसन पर रख कर न (किन्तु
पात्र में रख कर) खावे ॥ ७४ ॥

सर्वं च तिलसंघट्टं नाद्यादस्तमिते रवौ । न च नग्नः शयीतेह

नचोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत् ॥ ७५ ॥ आर्द्रपादस्तु भुञ्जत नार्द्रपादस्तु
संविशेत् । आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥ ७६ ॥

अर्थ—सूर्य के अस्त होने पर तिलयुक्त सब पदार्थों का भोजन न करे
और नंगा न सोवे और झूठे मुँह कहीं न जावे ॥ ७५ ॥ गीले पैर भोजन
करे किन्तु गीले पैर सोवे नहीं । क्योंकि गीले पैर भोजन करने वाला
दीर्घायु पाता है ॥ ७६ ॥

अक्षुर्विषयं दुर्गं न प्रपद्येत कर्हिचित् । न विष्मूत्रमुदीक्षेत
न बाहुभ्यां नदीं तरेत् ॥ ७७ ॥ अधितिष्ठेन्न केषांस्तु न भस्मास्थि
कपालिकाः । न कर्पासास्थि न तुषान्दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥ ७८

अर्थ—आंखों से जो दुर्ग नहीं देखा वहाँ कभी न जावे और मलमुत्र को
न देखे और बाहु से नदी को न तरे ॥ ७७ ॥ बहुत दिन जीने की इच्छा वाला
केश भस्म हड्डी खपरों के टुकड़े कपास की मींग और भूसे पर न बैठे ॥ ७८ ॥

न संवसेच्च पतितैर्न चण्डालैर्न पुष्कसैः ।

न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ॥ ७९ ॥

अर्थ—पतितों के साथ न रहे । चण्डालों के साथ तथा निषाद से शूद्रा
में उत्पन्न हुये पुष्कसों के साथ भी न वसे और मूर्ख तथा धनगर्जित और
अन्त्यज और निषादस्त्री में चण्डाल से उत्पन्न हुओं के साथ भी न वसे ॥
(७९ वें से आगे यह श्लोक १ पुस्तक में अधिक पाया जाता है कि—

[न कृतघ्नैर्न दुष्टैर्न महापातकान्वितैः ।

न दस्युभिर्नाशुचिभिर्नाऽमित्रैश्च कदाचन ॥]

अर्थात् कृतघ्न, आलसी, उद्योगहीन, महापातकी, दस्यु, अपवित्र और
शत्रुओं के साथ कभी वास न करे) ॥ ७९ ॥

“न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम् ।

न चास्योपदिशेद्दुर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् ॥ ८० ॥”

“शूद्र को बुद्धि और उच्छिष्ट और हविष्कृत अर्थात् होमशेष का भाग
न दे । और उस को धर्म उपदेश न करे और व्रत भी न बतावे ॥ (एक
पुस्तक में अर्थ होकर अधिक है कि—

[अन्तरा ब्राह्मणं कृत्वा प्रायश्चित्तं समादिशेत् ।

अर्थात् शूद्र को प्रायश्चित्त बताना ही तो ब्राह्मण को बीच में करले) ॥८०॥

“यो ह्यस्य धर्ममाचष्टे यश्चैवादिशति व्रतम् ।

सोऽसंवृतं नाम तमः सह तेनैव मज्जति ॥ ८१ ॥”

न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः ।

न स्पृशेच्चैतदुच्छिष्टेन च स्नायाद्विना ततः ॥ ८२ ॥

“अर्थ—जो इस (शूद्र) को धर्मोपदेश और प्रायश्चित्त का उपदेश करे

वह उस शूद्र के साथ “असंवृताख्य” बड़े अन्धकार वाले नरक में गिरता है ॥” (दशमाध्याय १२६ । १२७ में शूद्र के विषय में (न धर्मात्प्रतिषेधनम् । धर्मेऽसवस्तु धर्मेज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः) कहा है, जिस से शूद्रों का भी धर्मात्मा धर्मेज्ञ सदाचारी होना पाया जाता है । और विना उपदेश धर्म ज्ञान असम्भव है । इस लिये ये ८० । ८१ श्लोक किसी शूद्रद्वेषी के मिलाये प्रतीत होते हैं, जो कि उक्त दशमाध्याय से विरुद्ध हैं और आगे २१ नरक श्लोक ८८ । ८९ । ९० में गिनाये हैं, उन में “असंवृत” नाम का कोई नरक भी नहीं है और इसी के समीप उक्त १॥ श्लोक सब पुस्तकों में नहीं है । इस से भी प्रक्षिप्तताका संशय होता है) ॥८१॥ दोनों हाथों से एक साथ अपना शिर न खुजावे और झूटे हाथों शिर को न छुवे और विना शिर पर पानी डाले स्नान न करे ॥ ८२ ॥

केशग्रहान्प्रहारांश्चशिरस्येतान्निवर्जयेत् । शिरःस्नातश्च तैलेन

नाङ्गं किञ्चिदपि स्पृशेत् ॥ ८३ ॥ न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्य-

प्रसूतितः । सूनाचक्रध्वजवतां वेषेणैव च जीवताम् ॥ ८४ ॥

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः । दशध्वजसमो वेषो

दशवेषसमो नृपः ॥ ८५ ॥ दशसूनासहस्राणि योवाहयति

सौनिकः । तेन तुल्यः स्मृतो राजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः ॥ ८६ ॥

यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छालवर्त्तिनः । स पर्यायेण

यातीमान्नरकानेकविंशतिम् ॥ ८७ ॥ तामिस्रमन्धतामिस्रं

महारौरवरौरवौ । नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च ॥८८॥
संजीवनं महावीचिं तपनं संप्रतापनम् । संघातं च सकाकोलं
कुङ्कुमलं प्रतिमूर्त्तिकम् ॥ ८९ ॥ लोहशङ्कुमृजीपं च पन्थानं
शाल्मलीं नदीम् । असिपत्रवनं चैव लोहदारकमेव च ॥९०॥
एतद्विदन्तोविद्वांसो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः । न राज्ञः प्रति-
गृह्णन्ति प्रेत्य श्रेयोऽभिकाङ्क्षिणः ॥ ९१ ॥

अर्थ—केश का पकड़ना और मारना, ये दो काम शिर में न करे। शिर में तेल लगाकर अन्य किसी अङ्ग को न छुवे ॥८३॥ विना क्षत्रिय से उत्पन्न राजा से दाम न लेवे। सूना (जीवों के मारने की जगह), गाड़ी आदि, तथा कलालपन से वृत्ति करने वालों और बहुरूपियों के भी (धन को ग्रहण न करे) ॥८४॥ दश सूना वाले के बराबर एक गाड़ी वाला है और इन दस के बराबर एक कलाल, और दश कलालों के समान एक वेपधारी, दश वेप वालों के बराबर एक उक्त अधर्मी राजा (अर्थात् उत्तरोत्तर अधिक निषिद्ध) हैं ॥ ८५ ॥ दस हजार जीवों को मारने का अधिष्ठाता सैनिक कहाता है, उक्त राजा उस के बराबर कहा है। इस लिये इस का प्रतिग्रह घोर है (अतएव न ले) ॥८६॥ जो रुपण और शास्त्र का उल्लङ्घन करने वाले राजा का प्रतिग्रह लेता है, वह क्रमसे इन इक्कीस नरकों को जाता है ॥८७॥ तामिस्र १ अन्यतामिस्र २ महारौरव ३ रौरव ४ नरक ५ कालसूत्र ६ महानरक ७ ॥८८॥ संजीवन ८ महावीचि ९ तपन १० संप्रतापन ११ संघात १२ सकाकोल १३ कुङ्कुमल १४ प्रतिमूर्त्तिक १५ ॥८९॥ लोहशङ्कु १६ मृजीप १७ पन्थान १८ शाल्मली नदी १९ असिपत्रवन २० और लोहदारक २१ (इन इक्कीस नरकों=स्थानविशेषों वा देशविशेषों को पाता है) ॥९०॥ यह प्रतिग्रह नाना प्रकार के नरकों का हेतु है, ऐसा जानने वाले विद्वान् वेद के जाननेवाले और परलोक में कल्याण की इच्छा करने वाले ब्रह्मवादी ब्राह्मण ऐसे राजा का प्रतिग्रह नहीं लेते ॥

(८४ से ९१ तक ८ श्लोक भी प्रक्षिप्त से जान पड़ते हैं। एक तो इन की संस्कृत शैली मनु के सी नहीं। दूसरे ८५ वें श्लोक का पाठ २४ पुस्तकों में तौ यही मिलता है जैसा मूल में छपा है परन्तु ६ पुस्तकों में—(दशध्वजसमा येश्या दशवेश्यासमो नृपः) पाठभेद है, तीसरे राजा और पहियोंदार गाड़ी

से जीविका करने वाले वैश्य, इन को खटीकों और कलालों तथा वेश्याओं के समान समझना और इस से भी नीच समझना चिन्त्य है । और ८९ वें श्लोक के “प्रतिसूक्तिक” नरक का नाम ८ पुराने लिखे पुस्तकों में “पूति-सूक्तिक” पाया जाता है । जिस से भिन्न २ पुस्तकों में भिन्न २ पाठ भी संशय का हेतु हैं । इन तथा अन्य हेतुओं से हमने पहले तीन बार के एडीशनों (छापों) में प्रक्षिप्त लिखा था परन्तु अब चौथी बार इस लिये प्रक्षिप्त नहीं रक्खा कि स्वामी दयानन्द सर० जी ने भी संस्कारविधि गृहाश्रम प्र० में श्लोक ८५ माना है और नरकयोनियों के नाम प्रायः मनु के माननीय श्लोकों में भी आये हैं, अतः हमने अब मान लिया है परन्तु ऊपर लिखे कारणों से संदेहयुक्त अब भी हैं) ॥८९॥

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मायौ चानुचिन्तयेत् ।

कायक्लेशांश्च मन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च ॥ २॥

अर्थ—प्रातः दो घड़ी रात से उठे और धर्म अर्थ का चिन्तन करे । उन के उपार्जन के शरीरक्लेशों को समझे और वेदतत्त्वार्थ को भी सोचे ॥ ८२ ॥

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचःसमाहितः। पूर्वा सन्ध्यां जप-
स्तिष्ठेत्स्वकाले चापरां धिरम् ॥८३॥ ऋषयोदीर्घसंध्यात्वाद्
दीर्घमायुरवाप्नुयुः। प्रज्ञायशश्चकीर्त्तिंचब्रह्मवर्चसमेव च ॥८४॥

अर्थ—फिर उठ कर दिशा जङ्गल होकर पवित्र हो एकाग्रचित्त से प्रातः सन्ध्या में बहुत कालपर्यन्त जप करता रहे और सायं सन्ध्या को भी अपने काल में देर तक करे ॥८३॥ क्योंकि ऋषिलोग दीर्घ सन्ध्या के अनुष्ठान से दीर्घ आयु, प्रज्ञा, यश, कीर्त्ति तथा ब्रह्मतेज को भी पा सकते हैं ॥ ८४ ॥

श्रावण्यांप्रौष्ठपदांवाऽप्युपाकृत्ययथाविधियुक्तश्छन्दांस्यधो-
यीतमासान्विप्राऽर्धपञ्चमान् ॥८५॥ पुण्ये तु छन्दसां कुर्याद्वहि-
रुत्सर्जनं द्विजः। माघशुक्लस्यवा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि ॥८६॥

अर्थ—ब्राह्मणादि श्रावणी वा भाद्रपदी पौर्णिमा को उपाकर्म करके साढ़ेचार मास में उद्यत होकर वेदाध्ययन करे ॥ ८५ ॥ पुण्यनक्षत्र वाली पौर्णिमा (पौषी) में या माघ शुक्ला के प्रथम दिन के पूर्वाह्न में वेद का “उत्सर्जन” कर्म (ग्राम के) बाहर जाकर करे ॥ ८६ ॥

यथाशास्त्रं तु कृत्वैव मुत्सर्गं छन्दसां बहिः। विरमेत्पक्षणीं रात्रिं
तदेवैकमहर्निशम् ॥८७॥ अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः
पठेत्। वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु संपठेत् ॥ ८८ ॥

अर्थ—शास्त्र के अनुसार (ग्राम के) बाहर वेदों का उत्सर्जन कर्म करके
दो दिन और १ बीच की रात्रि भर अनध्याय करे वा उसी दिन और रात्रि
का अनध्याय करे ॥ ८७ ॥ उत्सर्जन अनध्याय के उपरान्त शुक्लपक्ष में नियम
पूर्वक वेद और कृष्णपक्ष में वेदों के सम्पूर्ण अङ्गों को पढ़ा करे ॥ ८८ ॥

नाविस्पष्टमधीयोत न शूद्रजनसन्निधौ। न निशान्तेपरिश्रान्तो
ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत् ॥८९॥ यथोदितेन विधिना नित्यं छन्द-
स्कृतं पठेत्। ब्रह्म छन्दस्कृतं चैव द्विजोयुक्तो ह्यनापदि ॥१००॥

अर्थ—अस्पष्ट न पढ़े और शूद्रों के पास बैठ कर न पढ़ा करे और प्रभात
काल पढ़ कर थका हुआ फिर शयन न करे ॥ ८९ ॥ यथोक्त विधि से नित्य
गायत्र्यादि छन्दों से युक्त मन्त्र पढ़े और द्विजमात्र अनापत्तिकाल में साधा-
रण वेदपाठ और छन्दोयुक्त मन्त्र नियमपूर्वक पढ़ा करे ॥ १०० ॥

इमान्नित्यमनध्यायानधीयानो विवर्जयेत्। अध्यापनं च कुर्वाणः
शिष्याणां विधिपूर्वकम् ॥१०१॥ कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा
पांसुसमूहने। एतौ वर्षास्वनध्यायावध्यायज्ञाः प्रचक्षते ॥१०२॥

अर्थ—इन आगे कहे अनध्यायों को सर्वदा यथोक्तविधि से पढ़ने वाला
और शिष्यों को पढ़ाने वाला (गुरु) छोड़ देवे ॥ १०१ ॥ रात्रि में कान में
शब्द करने वाले वायु के चलते हुवे और दिन में गर्द उड़ाने वाले वायु के
चलते हुवे, ये वर्षाऋतु में दो अनध्याय स्थाध्यायज्ञ (मुनि) कहते हैं ॥१०२॥

“विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोत्कानां च संप्लवे।

आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत् ॥१०३॥”

एतांस्त्वभ्युदितान्विद्याद्यदा प्रादुष्कृताग्निषु।

तदा विद्यादनध्यायमनृतौ चाभ्रदर्शने ॥१०४॥

अर्थ—बिजुली गरजते हुवे वर्षा में और उत्काओं के गिरने में अनध्याय उस समय तक करे जिस समय तक ये उत्पात वा वर्षा होते रहें। ऐसा मनु कहते हैं ॥ (यह श्लोक भी स्पष्ट मनुप्रोक्त नहीं है तथा १०५-१०६ से पुनरुक्त भी है) ॥१०३॥ ” इन विद्युदादि को अग्निहोत्र के होम समय उत्पन्न होते जाने तो न पड़े और उसी समय में विना वर्षाऋतु के वादल दीखे तो भी अनध्याय करे ॥ १०४ ॥

निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने। एतानाकालिकान्वि-
द्यादनध्यायानृतावपि ॥१०५॥ प्रादुष्कृतेष्वग्निषु तु विद्युत्स्तनिस-
तिःस्वने। स ज्योतिःस्य रादनध्यायः शेषे रात्रौ यथादिवा ॥१०६॥

अर्थ—अन्तरिक्ष में उत्पादतशब्द होने और भूकम्प और सूर्यादिकों के उप-
द्रव में जिन ऋतुओं में भूकम्पादि हुवा करते हों उन में भी जब तक उपद्रव
रहे तब तक अनध्याय करे ॥१०५॥ होमार्थ अग्नि प्रकट होने के समय वादल
में बिजुली का शब्द हो तो दिनभर का अनध्याय करे और शेष समयों
वा रात्रि में पूर्वोक्त दिन के समान “ आकालिक ” अनध्याय करे ॥१०६॥

नित्याध्याय एव स्याद् ग्रामेषु नगरेषु च। धर्मनैपुण्यकामानां
पूतिगन्धे च सर्वदा ॥१०७॥ अन्तर्गतशवे ग्रामे वृषलस्य च
सन्निधौ। अनध्यायो रुद्यमाने समवाये जनस्य च ॥ १०८ ॥

अर्थ—धर्म की अतिशय इच्छा वालों को ग्राम वा नगर में सर्वदा अन-
ध्याय (किन्तु एकान्त जङ्गल में पढ़ना उत्तम है) और दुर्गन्ध में कभी
पढ़ना नहीं चाहिये ॥१०७॥ जिस में मुर्दा पड़ा हो ऐसे छोटे ग्राम में और
अधर्मी के पास और रोने तथा भीड़ में न पड़े ॥ १०८ ॥

“उदके मध्यरात्रे च त्रिमूत्रस्य विसर्जने। उच्छिष्टः प्रादुभुवचैव
मनसाऽपि न चिन्तयेत् ॥१०९॥ प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेको द्वि-
ष्टस्य केतनम्। त्रयहं न कीर्तयेद्ब्रह्म राज्ञोराहोऽश्वसूतके ११०”

अर्थ—“जल और मध्यरात्रि में और मलमूत्र करने के समय और भोज-
नादि करके झूठे मुंह और श्राद्ध में भोजन करके वेदकी मन से भी याद न
करे ॥ १०९ ॥ विद्वान् ब्राह्मण एकोद्विष्टश्राद्ध का निमन्त्रण ग्रहण करके तीन

दिन वेद का अध्ययन न करे और राजा के (पुत्रजन्मादि के) सूतक तथा राहु के सूतक में तीन दिन अनध्याय करे ॥ ११० ॥

“यावदेकानुदिष्टस्य गन्धोलेपश्च तिष्ठति। विप्रस्य विदुषो देहे तावद् ब्रह्म न कीर्तयेत् ॥ १११ ॥ शयानः प्रौढपादश्च कृत्वा चैवावसवियकाम्नाधीयोतामिष जग्ध्वा सूतकान्नादमेव च ॥ ११२ ॥”

अर्थ—“जब तक एकोद्दिष्ट का देह में गन्ध और लेप रहता है, विद्वान् ब्राह्मण तब तक वेद न पढ़े ॥ १११ ॥ सोटा हुवा और पैरों को ऊंचा किये बैठने में दोनों पैरों को भीतर की ओर मोड़े हुवे, सांस तथा सूतकियों का अन्न भोजन करके भी न पढ़े ॥ ११२ ॥”

नीहारे धाणशब्दे च संध्ययोरेव चीभयोः ।

अमावास्या चतुर्दश्योः पौर्णमास्यष्टकासु च ॥ ११३ ॥

“अमावास्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी ।

ब्रह्माऽष्टकापौर्णमास्यौ तस्मात्ताः परिवर्जयेत् ॥ ११४ ॥

अर्थ—कुहर में और बाणों के शब्द में तथा दोनों संध्याओं में, अमावास्या तथा चतुर्दशी और पूर्णमासी और हेमन्तशिशिर की कृष्णा अष्टमी में न पढ़े ॥ ११३ ॥ “क्योंकि अमावास्या (को पढ़ने में) गुरु को नष्ट करती है और चतुर्दशी शिष्य को और वेद को अष्टमी पौर्णमासी नष्ट करती हैं ॥ ११४ ॥”

पांसुवर्षे दिशादाहे गोमायुविरुते तथा । श्वखरोष्ठे

च रुवति पङ्क्तौ च न पठेद् द्विजः ॥ ११५ ॥

नाधीयीत श्मशानान्ते ग्रामान्ते गोव्रजेपि वा ।

“वसिष्ठो मैथुनं वासः श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च ॥ ११६ ॥

अर्थ—धूल वर्षने और दिशाओं के जलने और सियारों के चिल्लाने और कुत्ता, ऊँट, गधे के शब्द करने और पङ्क्तियों में द्विज वेद न पढ़ा करे ॥ ११५ ॥ श्मशान और ग्राम के समीप तथा गोशाला में न पढ़े “और मैथुन समय के वस्त्रों को पहन कर और श्राद्धान्त को भोजन करके न पढ़े ॥ ११६ ॥”

“प्राणि वा यदि वाऽप्राणि यत्किञ्चिच्छ्राद्धिकं भवेत् ।

तदालस्याप्यनध्यायः पाण्यास्यो हि द्विजः स्मृतः ॥ ११७ ॥

चौरैरुपप्लुते ग्रामे संभ्रमे चाग्निकारिते ।

आकालिकमनध्यायं विद्यात्सर्वाद्भुतेषु च ॥ ११८ ॥

अर्थ—“आहुसम्बन्धी पशु वा शाकादि को हाथ से काट कर बनार कर न पड़े । क्योंकि ब्राह्मण “पाश्यास्य” (अर्थात् हाथ ही हैं मुख जिस का) कहा है ॥ ११७ ॥ ” चोरों के उपद्रव में, ग्राम में और सकान इत्यादि जलते समय में पूर्वोक्त आकालिक अनध्याय जाने और सम्पूर्ण अद्रुत कर्मों के होने में भी ॥ ११८ ॥

उपाकर्मणिचोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षेपणं स्मृतम् । अष्टकासुत्वहोरात्र
मृत्वन्तासु च रात्रिषु ॥ ११९ ॥ नाधीयीताश्चमारुहो न वृक्षं न
च हस्तिनम् । न नावं न खरं नोष्ट्रं नेरिणस्थो न यानगः ॥ १२० ॥

अर्थ—उपाकर्म और उत्सर्ग में तीन रात्रि अनध्याय कहा है अष्टकाओं में एक दिन रात्रि और ऋतु के अन्त की १ रात्रि में अनध्याय करे ॥ ११९ ॥ घोड़े पर बैठा हुवा और वृक्ष पर चढ़ा हुवा न पड़े और हाथी, नाव, गधा, जूट और ऊपर भूमि और गाड़ी आदि पर भी बैठ कर न पड़े ॥ १२० ॥

न विवादे न कलहे न सेनायां न सङ्गरे । न भुक्तमात्रेनाजीर्णं
न वमित्वा न सूतके ॥ १२१ ॥ अतिथिं चाऽननुज्ञाप्य मारुते वापि
वा भृशम् । रुधिरे च स्नुते गात्राच्छस्त्रेण च परिक्षते ॥ १२२ ॥

अर्थ—विवाद में, झगड़े में, सेना में, लड़ाई में, तत्काल भोजन करके, अजीर्ण में, वमन करके और सूतक में न पड़े ॥ १२१ ॥ अतिथि की आज्ञा बिना वा वायु के बहुत प्रचण्ड चलने और शस्त्र से वा फोड़े से शरीर का रक्त निकलते (न पड़े) ॥ १२२ ॥

सामध्वनावृष्यजुषो नाधीयीत कदाचन ।

वेदस्याधीत्य वाप्यन्तमारण्यकमधीत्य च ॥ १२३ ॥

“ऋग्वेदो देवदेवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः ।

सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात्तस्याऽशुचिर्ध्वनिः ॥ १२४ ॥

अर्थ—साम की ध्वनि में ऋग्वेद और यजुर्वेद कभी न पड़े और वेदान्तवा वेद के आरम्भ को पढ़ कर (तत्काल) वेद न पड़े ॥ १२३ ॥ “ ऋग्वेद

देवताओं का है, यजुर्वेद मनुष्यसम्बन्धी और पितृसम्बन्धी साम है । इस कारण उस की ध्वनि अशुचि है ॥ [ऋग्यजुसाम के पाठ से पढ़ने वाला जान सकता है कि उन में देव मनुष्य और पितरों का इस क्रम से वर्णन नहीं है जैसा इस श्लोक में बताया जाता है इस लिये यह वेद विरुद्ध है] ॥ १२४ ॥

एतद्विदन्तो विद्वांसस्त्रयीनिष्कर्ष मन्वहम् । क्रमतः पूर्वमभ्यस्य पश्चाद्वेदमधीयते ॥ १२५ ॥ पशुमण्डूकमार्जारश्च सर्प नकुला-
खुभिः । अन्तरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम् ॥ १२६ ॥

अर्थ—इस प्रकार जानने वाले विद्वान् प्रतिदिन गायत्री, ओ३म् और व्याहृति; इस वेद के सार को क्रमपूर्वक प्रथम जप कर पश्चात् वेद की पढ़ते हैं ॥ १२५ ॥ बैल इत्यादि पशु मेंडक, बिल्ली, कुत्ता, सांप, नेवला, चूहा, ये पढ़ते समय (गुरु शिष्य के) बीच में होकर निकल जावें तो दिन रात्रि अनध्याय करे ॥ (पशु आदि सदा मनुष्यों से डरते और बैठे मनुष्यों के बीच में की नहीं निकलते हैं और जप निकलते हैं तो कुछ उपद्रव और अपवित्रता हो जाती है इत्यादि कारण हैं । और अगले श्लोक में मनु जी ने सब अनध्यायों की दो बातों के अन्तर्गत कर दिया है अर्थात् एक तो जब २ पढ़ने के स्थान में कोई बाह्य विघ्न हो, दूसरे जप २ आत्मा में व्यग्रता आजावे) ॥ १२६ ॥

द्वावैश्वजं येन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः । स्वाध्यायभूमिं च शुद्धा-
मात्मानं चाशुचिं द्विजः ॥ १२७ ॥ अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमा-
सीं चतुर्दशीम् । ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमपृतौ स्नातको द्विजः ॥ १२८ ॥

अर्थ—(वस्तुतः) दो ही अनध्याय सर्वदा यत्नपूर्वक छोड़े । एक पढ़ने की अशुद्ध जगह और दूसरे आप पढ़ने वाला द्विज अपवित्र हो, तब (अर्थात् अच्छे स्थान में और आप पवित्र होकर पढ़ें) [अनध्याय प्रकरण समाप्त हुआ] ॥ १२७ ॥ अमावस्या अष्टमी पौर्णमासी और चतुर्दशी इन तिथियों में पूर्वाक्त स्नातक द्विज, ऋतुकाल में भी स्नान के पास न जावे ॥ १२८ ॥

न स्नानमाचरेद्बभुक्ता नातुरीनमहानि शानवासोभिः सहाजस्रं
नाऽविज्ञाते जलाशये ॥ १२९ ॥ देशतानां गुरोराज्ञः स्नातकाचार्य-
योस्तथा । नाक्रामेत्कामतश्चायां बभ्रुणो दीक्षितस्य च ॥ १३० ॥

अर्थ—भोजन करके, रोग में, मध्यरात्र में, कपड़ों के साथ, और जहां पानी गहरा हो और विदित न हो ऐसे जलाशय में स्नान न करे ॥१२८॥
देव=प्रसिद्ध २ विद्वानों और गुरु, राजा, स्नातक, आचार्य, कपिल, दीक्षित, इन को छाया इच्छा से न लांचें (इस से इन का अनादर होता है) ॥१२९॥

“मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा श्राद्धं भुक्त्वा च सामिपम् ।

सन्ध्योस्तभयोश्चत्र न सेवेत चतुष्पथम् ॥ १३१ ॥

उद्वर्तनमपस्नानं विण्मूत्रे रक्तमेव च ।

श्लेष्मनिष्ठ्यूतवान्तानि नाधितिष्ठेत्तु कामतः ॥ १३२ ॥

“अर्थ—दोपहर दिन, आधी रात्री और श्राद्ध में सनांस भोजन करके और दोनों सन्ध्याओं में चौराहे पर अधिक काल तक न रहे ॥”

(१८८ । ११० । १११ । ११२ । ११३ । ११४ । आधा ११६ । ११७ । १२४ ।
१३१ वें श्लोक प्रक्षिप्त हैं, क्योंकि जल में पड़ना किसी को इष्ट ही नहीं । मध्यरात्रि शयनार्थ है ही । विष्ठा मूत्र के त्याग समय सभी काम पूर्व निषिद्ध कर आये फिर भला वेदपाठ का निषेध कहाँ रह गया ? भूँठे मुँह कहीं जाना तक निषिद्ध है, फिर वेदाध्ययन कैसा ? मांस और मृतकश्राद्ध निषिद्ध और वेदवाच्या है, ये सर्वदा ही निन्दित हैं, स्वाध्याय में क्या ? मांसभक्षण ब्रह्म-चारी को विशेषतः और सामान्यतः सब ही को प्रथम निषिद्ध कर आये हैं और करेंगे, फिर मांस खाकर वेद न पढ़े, यह कथन कैसा निःशुभ है । अमा-वास्यादि का पाठ पर्व होने से ही वर्जित है । परन्तु गुरु शिष्य वा विद्या की हानि और नाश लिखना अनर्गल है । ब्रह्मचारी को भैयुन ही अप्राप्त है, फिर भैयुन के वस्त्र धारे हुवे वेदपाठ निषेध की क्या आवश्यकता है । प्राणिवध वर्जित है, तब वेदपाठी को उस की आशङ्का ही क्या है १२४ वें में ऋग्वेद को देव, यजुः को मानुष साम को पित्र्य बताना सकल वैदिक सिद्धान्त के विरुद्ध है । न ३ वेदों में इन ३ को कोई विशेषता पाई जाती है । १३१ वें में मांस और श्राद्धभोजी का अनध्याय प्रक्षेपक से भी पुनरुक्त है । १११ में नन्दन टीकाकार ने (गन्धोलेपश्च=स्नेहो गन्धश्च) व्याख्यात किया है । यह पाठभेद भी प्रक्षिप्तता के संशय को दृढ़ करता है) ॥ १३१ ॥ उद्वर्तन के मैल की पीठी, स्नान का पानी, मल, मूत्र, रक्त, कफ, पीक और वमन; इन के ऊपर जान कर खड़ा न होवे ॥ १३२ ॥

वैरिणं नोपसेवत सहायं चैव वैरिणः । अधार्मिकं तस्करं
च परस्यैव च योषितम् ॥ १३३ ॥ न हीदृशमनायुष्यं लोके
क्रिञ्चन विदधते । यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥ १३६ ॥

अर्थ-शत्रु और उस के सहायक से और अधर्मी, चोर तथा पराई स्त्री
से मेल न रखे ॥ १३३ ॥ इस प्रकार का आयुक्षय करने वाला संसार में कोई
कर्म नहीं है, जैसा (मनुष्य की आयु घटागे वाला) दूसरे की स्त्री का
सेवन है ॥ १३४ ॥

क्षत्रियं चैव सर्पं च ब्राह्मणं च बहुश्रुतम् । नावमन्येत वैभूषणः
कृपानपि कदाचन ॥ १३५ ॥ एतत्त्रयं हि पुरुषं निर्दहेदवमानि-
तम् । तस्मादेतत्त्रयं निरयं नावमन्येत बुद्धिमान् ॥ १३८ ॥

अर्थ-(धर्मादि से) वृद्धि चाहने वाला क्षत्रिय, सर्प और बहुश्रुत
ब्राह्मण दुबले भी हों तो भी इन का अपमान न करे ॥ १३५ ॥ ये तीन
अपमान करने से अपमान करने वाले को भस्म कर देते हैं, इस से बुद्धि-
मान् इन का अपमान न करे ॥ १३६ ॥

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः । आमृत्योः प्रियमन्त्रि-
च्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥ १३७ ॥ सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयात्तब्रूयात्
सत्यमप्रियम् । प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ १३८ ॥

अर्थ यत् करने से द्रव्य न मिले तो भी अपने को अभागी कहकर अपना
अपमान न करे, किन्तु मरने तक सम्पत्ति के लिये यत्न करे, इस को दुर्लभ
न जाने ॥ १३७ ॥ सच बोले, प्रिय बोले और जो प्रिय न हो ऐसा सच न
बोले (मौन रहे) और असत्य प्रिय भी न बोले; यह सनातनधर्म है ॥ १३८ ॥
भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत् । शुष्कवैरं विवादं च
न कुर्यात्केनचित्सह ॥ १३९ ॥ नातिकल्पं नातिसायं नातिमध्यं
दिने स्थिते । नाऽज्ञातेन समं गच्छेन्नैको न वृषलैः सह ॥ १४० ॥

अर्थ-भद्र भद्र (अच्छा बहुत अच्छा) कहे या केवल " अच्छा " ही
कहे, किन्तु निष्प्रयोजन वैर वा झगड़ा किसी से न करे ॥ १३९ ॥ सवेरे उषः
काल और प्रदोष समय में तथा दोपहर दिन को और अनजान के साथ
तथा अकेला और शूद्रों के साथ मार्ग न चले ॥ १४० ॥

हीनः। नतिरिक्ताङ्गान्निद्राहीनान्वयोधिकान्। रूपद्रव्यविही-
नांश्च जातिहीनांश्चनाक्षिपेत् ॥ १४१ ॥ न स्पृशेत्पाणिनोच्छिष्टो विप्रो
गो ब्राह्मणानलान्। न चापि पश्येदशुचिः सुस्योज्योतिर्गणान्दिवि

अर्थ—अङ्गहीन, अधिक अङ्ग वाले, सूर्य, वृद्ध, कुरूप तथा द्रव्यहीन और
जाति से हीन को ताना न दे ॥ १४१ ॥ मोजन करके झूठे हाथ से इन्द्रियों,
ब्राह्मणों और अग्नि का स्पर्श न करे । व्याधिरहित पुरुष अपवित्र हुवा
आकाश में सूर्यादि को न देखे ॥ १४२ ॥

स्पृष्टैतानशुचिर्नित्यमग्निः प्राणानुपस्पृशेत्। गात्राणि चैव स-
र्वाणि नाभिं पाणितलेन तु ॥ १४३ ॥ अनातुरः स्वानि खानि न स्पृशे-
दनिमित्ततः। रोमाणि च रहस्यानि सर्वान्येव विवर्जयेत् ॥ १४४ ॥

अर्थ—यदि अपवित्र हुवा पुरुष भूल से इन इन्द्रियादि का स्पर्श करले
तौ आचमन कर हाथ से जल लेकर चक्षुरादि का स्पर्श करे और सम्पूर्ण गात्र
तथा नाभि को स्पर्श (करना रूप प्रायश्चित्त) करे ॥ १४३ ॥ स्वस्थ मनुष्य
अपने इन्द्रियों और सब गुप्त बालों को धिना निमित्त न छुवे ॥ १४४ ॥

मङ्गलाचारयुक्तः स्यात्प्रयतात्मा जितेन्द्रियः। जपेच्च जुहुयाच्चैव
नित्यमग्निमतन्द्रितः ॥ १४५ ॥ मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च
प्रयतात्मनाम्। जपतां जुहूतां चैव विनिपातो न विद्यते ॥ १४६ ॥

अर्थ—शुभाचारयुक्त, शुचि तथा जितेन्द्रिय रहे । सर्वदा आलस्यरहित
हो कर जप और अग्निहोत्र करे ॥ १४५ ॥ शुभ आचारयुक्त और सर्वदा पवित्र
रहने वाले और जप तथा होम करने वालों को उपद्रव (रोगादि)
नहीं होता ॥ १४६ ॥

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः। तं ह्यस्याहुः परंधर्म-
मुपधर्माऽन्य उच्यते ॥ १४७ ॥ वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव
च । अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥ १४८ ॥

अर्थ—सर्वदा आलस्यरहित होकर यथावसर वेद ही को पढ़े क्योंकि यह
इस का परमधर्म कहा है और दूसरा धर्म इस से नीचे है ॥ १४७ ॥ निरन्तर
वेदाभ्यास करने, शुचि रहने, तप करने और जीवों के साथ द्रोह न करने
से (अपने) पूर्व जन्म को जान जाता है ॥ १४८ ॥

पौर्विकीं संस्मरञ्जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः। ब्रह्माभ्यासेन चाजस्र
मनन्तं सुखमश्नुते ॥ १४९ ॥ सावित्राउच्छान्तिहोमांश्च कुर्यात्
पर्वसु नित्यशः। पितॄंश्चैवाष्टकास्वर्चैन्नित्यमन्वष्टकासु ॥ १५० ॥

अर्थ—पूर्व जन्म को स्मरण करता हुआ पुनः नित्य वेद ही का अभ्यास करता है, उस वेदाभ्यास से अनन्त सुख (मोक्ष) को भोगता है ॥ १४९ ॥ सविता देवता के मन्त्रों और शान्तिपाठ से सर्वदा अमावास्या तथा पौर्ण-
मासी आदि पर्वों में होम करे और हेमन्त शिशिर ऋतु की कृष्णा अष्टमी और नवमियों में यथाविधि पितरों का (विशेष) पूजन करे। (नन्दन टीका-
कार) ने “सावित्रान्=सावित्र्या” पाठ की व्याख्या की है। जिस प्रकार नित्य भी गुरु का सत्कार करते ही हैं, परन्तु आपाढ़ी गुरुपूर्णिमा में विशेष गुरुपूजन की रंति है, इसी प्रकार माता पिता आदि के नित्य सत्कार के अतिरिक्त हेमन्त और शिशिर की कृष्णपक्ष की ४ अष्टमी और ४ नवमियों में पितृपूजा का विशेष उत्सव जानो ॥ १५० ॥

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम्। उच्छिष्टान्ननिषेकं च
दूरादेव समाचरेत् ॥ १५१ ॥ मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावन-
मञ्जनम्। पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम् ॥ १५२ ॥

अर्थ—गृह से मल मूत्र और पैर धोना और जूठन का त्याग भी दूर ही करे ॥ १५१ ॥ मल का त्याग, शरीरशुद्धि, स्नान, दन्तधावन, अञ्जन और देवतों के लिये होम, ये कर्म प्रथम प्रहर में करे ॥ १५२ ॥

दैवतान्यभिगच्छेत्तु धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान्। ईश्वरं चैव रक्षार्थं
गुरुनेव च पर्वसु ॥ १५३ ॥ अभिवादयेद्वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं
स्वक्रम्। कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वितात् ॥ १५४ ॥

अर्थ—यज्ञशालाओं, धार्मिक ब्राह्मणों और गुरुओं को मिलने वा ईश्वर की उपासना को अपनी रक्षा के लिये पर्वों में जावे ॥ १५३ ॥ (घर में आये) वृद्धों को नमस्कार करे और बैठने के लिये अपना आसन देवे और हाथ जोड़ कर उन के पास रहे और चलते हुओं के पीछे २ (थोड़ी दूर) चले ॥ १५४ ॥ श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यक् निबद्धं स्वेषु कर्मसु। धर्ममूलं निषेवेत

सदाचारमतन्द्भितः॥१५५॥आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्ति-
ताः प्रजाः॥ आचाराद्गुणमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥१५६॥

अर्थ—वेद और स्मृति में कहा हुआ और अपने कर्मों में नियम से बांधा हुआ और धर्म का मूल जो सदाचार है, उस को बालसरहित होकर सेवन करे ॥१५५॥ आचार से आयु, इच्छित (पुत्र पौत्रादि) सन्तति तथा अंजय घन प्राप्त होता है और आचार अशुभ लक्षण को नष्ट करता है ॥ १५६ ॥

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः दुःखभागो च सततं
व्याधितोऽल्पायुरेव च॥१५७॥ सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचार-
वान्नरः । श्रद्धधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १५८ ॥

अर्थ—दुराचार करने वाला पुरुष लोक में निन्दित, दुःख का भागी, निरन्तर रोगी रहता तथा अल्पायु भी होता है ॥१५७॥ साधुओं के आचार करने वाला, श्रद्धायुक्त और दूसरे के दोषों को न कहने वाला पुरुष चाहे सम्पूर्ण अन्य शुभ लक्षणों से रहित भी हो, तो भी नौ वर्ष जीता है (तात्पर्य बड़ी आयु से है) ॥ १५८ ॥

यदात्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् । यदादात्मवशं तु स्या-
त्तत्तत्सेवेन यत्नतः ॥ १५९ ॥ सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं
सुखम् । एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ १६० ॥

अर्थ—जो २ कर्म दूसरे के अधीन हैं, उन २ को यत्न से छोड़ देवे और जो २ अपने अधीन हैं, उन को यत्न से करे ॥ १५९ ॥ दूसरे के अधीन होना ही संपूर्ण दुःख है और स्वाधीनता ही संपूर्ण सुख है । यह सुख दुःख का संक्षिप्त लक्षण जाने ॥ १६० ॥

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोपोन्तरात्मनः । तत्प्रयत्नेन
कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥१६१॥आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं
मातरं गुरुमानं हिंस्याद्ग्राह्यान् गाश्च सर्वाश्चैव तपस्विनः॥१६२॥

अर्थ—जिस कर्म के करने से इस (कर्म करने वाले पुरुष) का अन्तरात्मा प्रसन्न होवे, वह कर्म यत्नपूर्वक करे और इस के विपरीत कर्मों को छोड़ दे

॥१६१॥ आचार्य, वेद की व्याख्या करने वाला, पिता, माता, गुरु, ब्राह्मण, गौ और सम्पूर्ण तपस्वी; इन को न मारे (अन्य प्राणियों की अपेक्षा ये अधिक उपकारक होने से विशेष हैं) ॥ १६२ ॥

नास्तिक्यवेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम् । द्वेषदम्भचमानं च क्रोधतैक्षण्यं च वर्जयेत् ॥१६३॥ परस्य दण्डं नोदच्छेत्क्रुद्धो नैव निपातयेत् । अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिष्यार्थं ताडयेत्तु तौ ॥१६४॥

अर्थ—नास्तिकता और वेद की निन्दा तथा देवतों की निन्दा, वैर दम्भ, अभिमान, क्रोध और तेज़ी छोड़ दे ॥ १६३ ॥ दूसरे के मारने को क्रोधयुक्त हुवा दण्डा न उठावे और (दूसरे के ऊपर) लाठी न फेंके, परन्तु पुत्र और शिष्य को छोड़ कर, क्योंकि इन को तो शिक्षा के लिये ताड़ना करे ही ॥१६४॥

ब्राह्मणायावगुर्यैव द्विजातिर्वधकाम्यया । शतं वर्षाणि तामिस्रं नरके परिवर्तते ॥१६५॥ ताडयित्वा तृणेनापि संरम्भान्मसि-पूर्वकम् । एकविंशतिमाजातीः पापयोनिषु जायते ॥१६६॥

अर्थ—प्राणघात के विचार से ब्राह्मण को दण्डादि उठाने ही से द्विजाति सौ वर्ष तामिस्र—अन्यनरक में फिराया जाता है ॥१६५॥ क्रोध से तृणद्वारा भी बुद्धिपूर्वक मारने से २१ पापयोनियों में जन्मता है ॥ १६६ ॥

अयुध्यमानस्योत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृग्द्वतः । दुःखं सुमहदाप्नोति प्रेत्याऽप्राज्ञतया नरः ॥१६७॥ शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति महीतलात् । तावतोऽब्दानमुत्रान्यैः शोणितोत्पादकोऽदत्ते ॥१६८॥

अर्थ—न लड़ने वाले ब्राह्मण के शरीर से अज्ञान से रक्त निकाल कर मनुष्य मर कर जन्मान्तर में बड़ा दुःख पाता है ॥१६७॥ (शस्त्रादि के मारने से निकला हुवा ब्राह्मण के शरीर का) रुधिर, जितने पृथिवी के धूल के अणुओं को शोषता है, उतने वर्ष पर्यन्त मारने वाला अन्यों (कुत्ते आदि) से मर कर जन्मान्तर में खाया जाता है ॥ १६८ ॥

न कदाचिद् द्विजेतस्माद्विद्वानवगुरेदपि । न ताडयेत्तृणेनापि न गात्रात्स्त्रावयेदसृक् ॥१६९॥ अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् । हिंसास्तश्च योनित्यं नेहाऽसौ सुखमेधते ॥१७०॥

अर्थ—इस लिये द्विज के मारने को कभी लाठी भी न उठावे और न वृणादि से मारे और न शरीर से रक्त निकाले ॥ १६९ ॥ अधर्म करने वाला और जिस के असत्य ही धन है और जो नित्य हिंसा करने में रत रहता है, वह इस लोक में सुखपूर्वक नहीं बढ़ता ॥ १७० ॥

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् । अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम् ॥ १७१ ॥ नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव । शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥ १७२ ॥

अर्थ—अधर्म करने वाले पापियों को शीघ्र विपर्यय अर्थात् उलटा फल देखता हुआ धर्म करने से पीड़ित होता हो तौ भी मन को अधर्म में न लगावे ॥ १७१ ॥ इस लोक में अधर्म किया हुआ उसी समय में नहीं फलता, जैसे पृथिवी वा गौ (उसी समय फल नहीं देती) परन्तु धीरे २ फैलता हुआ अधर्म करने वाले की जड़ें काट देता है ॥ १७२ ॥

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत् पुत्रेषु नष्टेषु । नत्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ॥ १७३ ॥ अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति । ततः सपन्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ १७४ ॥ सत्यधर्मायवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा । शिष्यांश्च शिष्यादुर्मेण वाग्वाहूदरसंयतः ॥ १७५ ॥ परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ । धर्मं चाप्यसुखोदकं लोकविक्रुष्टमेव च ॥ १७६ ॥

अर्थ—किया हुआ अधर्म करने वाले को निष्फल नहीं होता, किन्तु यदि तत्काल देह धनादि का नाश नहीं भी करे तौ उस के पुत्र में सफल होता है । यदि पुत्र में न हो तौ पौत्र में सफल होता है ॥ १७३ ॥ अधर्म से पहिले तौ बढ़ता है, फिर कल्याणों को देखता है (अर्थात् नौकर चाकर गाय घोड़ा इत्यादि से सुख भी पाता है) और शत्रुओं को भी जीतता है परन्तु फिर (पाप के परिपाकसमय) मूलसहित नष्ट हो जाता है ॥ १७४ ॥ सत्य, धर्म, सदाचार और शौच में सर्वदा प्रीति करे और धर्म से शिष्यों की शिक्षा देवे और वाणी बाहु उदर इन का संयम करे (अर्थात् सत्यभाषण, दूसरे को पीड़ा न देना और न्यायोपार्जित अन्न का भोजन, ऐसे तीनों का संयम

करे) ॥ १७५ ॥ धर्मरहित जो अर्थ और काम हों उन को त्याग दे (जैसे घोरी से द्रव्योपार्जन और पर स्त्री से गमन) और उत्तर काल में दुःख का देने वाला और जिस में लोगों को क्लेश हो ऐसा धर्म भी न करे (जैसे पुत्र पौत्रादि के रहते सर्वस्व दान और पुण्य कर्म की सहायतार्थ भी किसी को अत्यन्त सताना) ॥ १७६ ॥

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजुः । न स्याद्वाक्चपलश्चैव
न परद्रोहकर्मधीः ॥ १७७ ॥ येनास्य पितरो याता येन याताः पि-
तामहाः । तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥ १७८ ॥

अर्थ—निष्प्रयोजन हाथ पैर घाणी से चञ्चलता न करे, कुटिल न होवे और दूसरे को बुराई की बुद्धि (नियत) न करे ॥ १७७ ॥ जिस मार्ग से इस के पिता पिता-मह चलते रहे हैं उसी सन्मार्ग को चले, उसमें चलते की बुराई नहीं होती ॥ १७८ ॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः । बालवृद्धातुरैर्वैद्यैः
ज्ञातिसंवन्धिन्ययान्यवैः ॥ १७९ ॥ मातापितृभ्यां यामीभिर्भ्रात्रा
पुत्रेण भार्यया । दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥ १८० ॥

अर्थ—ऋत्विज्, पुरोहित, आचार्य, माता, अतिथि, भिक्षुकादि, बाल, वृद्ध, रोगी, वैद्य, चाचा इत्यादि, साला इत्यादि और मा के पिता=नाना मामा आदि, ॥ १७९ ॥ मा, बाप, बहन या पुत्रवधू आदि, भ्राता, पुत्र, स्त्री लड़की और नौकरों से झगड़ा न करे ॥ १८० ॥

एतैर्विवादान्संत्यज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते । एभिर्जितैश्च जयति
सर्वाल्लोकानिमान्गृही ॥ १८१ ॥ आचार्यो ब्रह्मलोकेशः प्राजापत्ये
पिताप्रभुः । अतिथिस्त्विन्द्रलोकेशो देवलोकस्य च त्विजः ॥ १८२ ॥

अर्थ—गृहस्थ इन (ऋत्विजादि) के साथ विवाद को छोड़कर सब टंटों से छूटा रहता है और इन के जीतने से इन सब संसारस्थ लोगों को जीत लेता है (किन्तु जो घर में ही लड़ता है वह बाहर हारे ही गा) ॥ १८१ ॥ “आचार्य” ब्रह्म=वेदलोक का स्वामी है (उस के सन्तुष्ट होने से वेद प्राप्त होता है) ऐसे ही प्रजापति लोक का “पिता” स्वामी है और “अतिथि” इन्द्रलोक का प्रभु है । देवलोक के प्रभु “ऋत्विज्” हैं । इन्हीं के अनुग्रह से

इन की प्राप्ति होती है ॥ (पिता उत्पादक होने से प्रजा का पति है। इन्द्र-
तरवत्सम्बन्धिनी बुद्धिका उपदेशक होने से अतिथि इन्द्रलोकेश कहा। अतिथिज
यज्ञ कराकर वायु आदि देवलोक की सद्व्यवस्था करते हैं) ॥ १८२ ॥

जामयोऽप्सरसांलोकेवैश्वदेवस्यबान्धवाः।सम्बन्धिनोह्यपांलोके
पृथिव्यामातृमातुलौ॥१८३॥ आकाशेशास्तुविज्ञेयाबालवृद्धकृ-
शातुराः। भ्राता ज्येष्ठःसमःपित्रा भार्या पुत्रःस्वका तनुः॥१८४॥

अर्थ—भगिनी और पुत्रवधू आदि अप्सरालोक की स्वामिनी हैं। और
वैश्वदेवलोक के बान्धव और जललोक के सम्बन्धी लोग और भूलोक के मा
और मामा स्वामी हैं (इन सब की कृपा से इन की प्राप्ति होती है) ॥१८३॥
और बालक, वृद्ध, कृश, आतुर ये आकाश के स्वामी (निराधार) हैं। और
ज्येष्ठ भ्राता पिता के तुल्य है। भार्या और पुत्र अपने शरीर के तुल्य हैं
(इस से इन से विवाद करना उचित नहीं) ॥ १८४ ॥

छायास्वोदासवर्गश्च दुहिता कृपणं परमातस्मादेतैरधिक्षिप्त-
सहेताऽसंज्वरः सदा ॥१८५॥ प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसंगं तत्र
वर्जयेत्। प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति॥१८६॥

अर्थ—दासवर्ग अपनी छाया के तुल्य हैं और कन्या परमकृपापात्र है। इस
से इन से कुछ बुरा कहा गया भी सर्वदा सहलेवे, बुरा न माने (यदि इस धर्म
पर चले तो आज कल की मुकद्दमेबाजी द्वारा क्यों सत्यानाश हो। पुत्रवधू
आदि देववधू=उत्तमाङ्गनाओं के तुल्य होने से अप्सराओं के तुल्य घर की
शोभा है। बान्धव लोग विश्वेदेवों के समान सर्वतः सुखदायक और सहायक
हैं। साले आदि कामसुखदायक होने से जल के गुण शान्ति के दाता हैं।
माता मामा आदि मातृपक्ष में पृथिवी के तुल्य उत्पत्ति की भूमि हैं) ॥१८५॥
प्रतिग्रह लेने को समर्थ होने पर भी उस में फंसा=आसक्त न होवे क्योंकि
प्रतिग्रह लेने से वेद सम्बन्धी तेज शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥ १८६ ॥

न द्रव्याणामभिज्ञाय विधिंधर्म्यं प्रतिग्रहे। प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्या-
दवसीदन्नपिक्षुधा॥१८७॥ हिरण्यं भूमिमण्वं गामन्नं वासंस्ति
लान्धृतम्। प्रतिगृह्णन्विद्वांस्तु भस्मीभवति दारुवत्॥१८८॥

अर्थ—प्रतिग्रह में द्रव्यों की धर्मयुक्त विधि को न जानकर, जुधा से पीड़ित हुवा भी बुद्धिमान् प्रतिग्रह न लेवे ॥१८७॥ अविद्वान्=वेदादि का न जानने वाला; सुवर्ण, भूमि, घोड़े, गाय, वस्त्र, अन्न, तिल घृतादि का प्रतिग्रहण करता हुवा, अग्निसंयोग से लकड़ी सा जल जाता है ॥ १८८ ॥

हिरण्यमायुरन्नं च भूगौश्चाप्योषतस्तनुम् । अश्वश्चक्षुस्त्वचं वासो घृतं तेजस्तिलाः प्रजाः ॥१८९॥ अतः पास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहसुचिर्द्विजः । अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥१९०॥

• अर्थ—सुवर्ण और अन्न आयु को जलाते हैं। भूमि और गाय शरीर को जलाती हैं। अश्व आंख को, वस्त्र त्वचा को, घृत तेज को और तिल प्रजा को जलाते हैं। (अर्थात् इनके प्रतिग्रह को मूर्ख ले तो ये २ नष्ट होते हैं। सुवर्ण और भोजन का दान अज्ञानी को भोगासक्त करके आयु नष्ट करता है। भूमि और गोदान अज्ञानी के मुक्त के आकर देह क्षीण करते हैं क्योंकि वह मिथ्याहार विहार करता है। घोड़ा और आंख दोनों इन्द्रतत्त्व-प्रधान हैं। वस्त्र और त्वचा शरीर को ढांपते हैं। घृत वृथा दान से मिला हुवा तेज नहीं बढ़ाता, किन्तु मिथ्याप्रयुक्त हुवा तेज का नाश करता है। तिल मिथ्याप्रयुक्त हो वीर्य को बिगाड़ कर सन्तति में बाधक होते हैं) ॥१८९॥ तप से शून्य और वेदादि जिस के पठित नहीं, ऐसा प्रतिग्रह लेने की इच्छा करने वाला द्विज, पानी में पत्थर की नाव के समान उस प्रतिग्रह के साथ ही डूब जाता है ॥ १९० ॥

तस्मादविद्वान्विभियादस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहात् । स्वल्पकेनाप्यविद्वान्हि पङ्के गौरिव सीदति ॥१९१॥ न वार्यपि प्रयच्छेत्तु बैडालव्रतिके द्विजे । न वक्रव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित् ॥१९२॥

अर्थ—इस लिये मूर्ख ऐसे वैसे प्रतिग्रह से डरे । थोड़े प्रतिग्रह में भी मूर्ख ऐसे फंस जाता है, जैसे कीचड़ में गौ ॥ १९१ ॥ धर्म का जानने वाला, पूर्वोक्त बैडालव्रत वाले तथा वक्रव्रत वाले और वेद के न जानने वाले विप्र वा द्विज नामधारी को जल भी न देवे ॥ १९२ ॥

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनमादातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरैव च ॥१९३॥ यथाप्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके

तरन् । तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीकृच्छकौ ॥ १८४ ॥

अर्थ—न्यायोपार्जित भी धन इन तीनों को दिया हुआ देने वाले और लेने वाले को परलोक में अनर्थ का हेतु होता है ॥ १८३ ॥ जैसे पत्थर की नाव से तरता हुआ नीचे को डूबता है वैसे ही लेने और देने वाले दोनों अज्ञानी डूबते हैं ॥ (दाता को इस कारण पाप है कि सूर्यों को देकर सूर्यसंख्या की वृद्धि करता है और लेने वाला सूर्य जगत् का उपकार नहीं कर सकता) ॥ १८४ ॥

धर्मध्वजी सडालुदधश्छादिकोलोकदम्भकः । बैडालव्रत्तिको ज्ञेयोहिंस्रः सर्वाभिसन्धकः ॥ १८५ ॥ अधोदृष्टिनैष्कृतिकः स्वार्थ-साधनतत्परः । शठो मिथ्याविनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः ॥ १८५ ॥

अर्थ—(जो लोगों में प्रसिद्ध के लिये धर्म करता है और आप भी कहता है वा दूसरों से प्रख्यात कराता है वह) धर्मध्वजी और परधन की इच्छा वाला और छली तथा लोगों में दम्भ फैलाने वाला, हिंस्रकस्वभाव वाला, सब को बहकाकर भड़काने वाला, बिलाव के सा व्रत धारण करने वाला ब्राह्मण क्षत्री, वैश्य—बैडालव्रतिक मनुष्य जानिये ॥ (इस से आगे चार पुस्तकों में यह श्लोक अधिक मिलता है:—

[यस्य धर्मध्वजो नित्यं सूरध्वज इवोच्छ्रितः ।

प्रच्छिन्नानि च पापानि बैडालं नाम तद्व्रतम् ॥]

जिस के धर्म का झण्डा तौ देवध्वजा सा ऊंचा फहरावे, परन्तु पाप छिपे हुवे रहें । इस व्रत को “बैडाल” कहते हैं) ॥ १८५ ॥ नीचे दृष्टि रखने वाले, कर्महीन, स्वार्थसाधन में तत्पर, शठ और झूठा विनय करने वाले ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य को “बकव्रती” जानो ॥ १८६ ॥

ये बकव्रतिनो विप्रा ये च मार्जारलिङ्गिनः । ते पतन्त्यन्धतामिस्ते तेन पापेन कर्मणा ॥ १८७ ॥ न धर्मस्यापदेशेन पापं कृत्वा व्रतं चरेत् । व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्वन् स्त्रीशूद्रदम्भनम् ॥ १८८ ॥

अर्थ—जो विप्र बकव्रत और मार्जारव्रत वाले हैं वे उस पाप से अन्धता-मिस्र में गिरते हैं ॥ १८७ ॥ पाप करके धर्म के बहाने (मिथ) से व्रत न करे । (जैसा कि) व्रत से पाप को छिपा कर, स्त्री और शूद्रों—सूर्यों को बहकाता हुआ (लोभी रहा करता है) ॥ १८८ ॥

प्रेत्येह चेदृशा विप्रः। गह्वरं ते ब्रह्मवादिभिः। छद्मनाचरितं यच्च
व्रतं रक्षांसि गच्छति ॥१९९॥ अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण यो वृत्तिमुप-
जीवति । स लिङ्गिनां हरत्येनस्तिर्यग्योनौ च जायते ॥२००॥

अर्थ-परलोक तथा इस लोक में ऐसे विप्र ब्रह्मवादियों से निन्दित हैं । और
छल से किया हुआ व्रत राक्षसों को पहुंचता है ॥१९९॥ जो अब्रह्मचारी आदि
ब्रह्मचारी आदि का वेष धारण करके भिक्षा मांगता है, वह ब्रह्मचारी आदि
के पाप को आप लेता और तिर्यक् योनि में जन्म पाता है ॥ २०० ॥

परकीयनिपानेषु न स्नायाच्च कदाचनानिपानकर्तुः स्नात्वा तु
दुष्कृतांशेन लिप्यते ॥२०१॥ यानशय्यासनान्यस्य कूपोद्यान-
गृहाणि च । अदत्तान्युपभुञ्जान एनसः स्यात्तुरीयभाक् ॥२०२॥

अर्थ-(यदि बनाने वाले ने परोपकारार्थ न बनाया हो तो) दूसरे के
पोखर (हौज़) में कभी स्नान न करे । उस में स्नान करने से पोखर वाले
का बुरा अंश लग जाता है ॥ (इस का तात्पर्य यह है कि जो किसी ने
नित्य अपने स्नान के निमित्त पोखर (हौज़) बना रक्खा है, उस में कुछ
तौ नित्य एक ही मनुष्य के स्नानयोग्य थोड़े जल में उस के शारीरिक
विकार सञ्चित रहते हैं, वे अन्य को स्नान करने से लग जाते हैं, कुछ उस के
साथ फगड़ा, लड़ाई, टगटा होना भी संभव है । इस के आगे एक यह श्लोक
९ पुस्तकों में अधिक भी पाया जाता है:-

[सप्तीदृत्य ततः पिण्डान्कामं स्नायाच्च पञ्च वा ।

उदपानात्स्वयंग्राहाद्वहिः स्नात्वा न दुष्यति ॥]

यदि उस पोखर में ७ वा ५ (गारे के) पिण्ड निकाल देवे तौ स्वयं-
ग्राह पोखर से बाहर चाहे स्नान करले, दोष नहीं ॥२०१॥ सवारी, शय्या,
आसन, कुवा, बागीचा, घर; ये बिना दिये भोग करने वाला उसके स्वामी
के चौथाई पाप का भागी होता है ॥२०२॥

नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरस्सु च । स्नानं समाचरेन्नित्यं
गर्तप्रस्त्रवणेषु च ॥२०३॥ यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान्
बुधः । यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन् ॥ २०४ ॥

अर्थ—नदी या दैव (कुदरती) सरोवर या तलाव या सर या गड्ढे या करने में सर्वदा स्नान किया करे ॥२०३॥ विद्वान् सर्वदा यमों का सेवन करे न कि केवल नियमों का ॥ (हिंसा न करना, सत्यभाषण, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह; ये ५ यम हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान; ये ५ नियम हैं। इन में नियमों से यमों की प्रधानता है) जो यमों को न करता हुआ केवल नियमों को करता है वह गिर जाता है ॥

(इन से आगे निम्नलिखित चार श्लोकों में से १ श्लोक १४ पुस्तकों में, दूसरा ४ पुस्तकों में, तीसरा ११ पुस्तकों में और चौथा ४ पुस्तकों में अधिक पाया जाता है:—

[आनृशंस्यं क्षमा सन्धमहिंसा दममस्पृहा । ध्यानं प्रसादो
माधुर्यमार्जवं च यमा दश ॥१॥ अहिंसा सत्यवचनं ब्रह्मचर्य
मकल्पता । अस्तेयमिति पञ्चैते यमाश्चोपव्रतानि च ॥ २ ॥
शौचमिज्या तपोदानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहौ । व्रतोपवासी मौ-
नं च स्नानं च नियमा दश ॥३॥ अक्रोधोगुरुशुश्रूषा शौचमाहार
लाघवम् । अप्रमादश्च नियमाः पञ्चैवोपव्रतानि च ॥ ४ ॥]

आनृशंस्य, क्षमा, सत्य, अहिंसा, दम, अस्पृहा, ध्यान, प्रसन्नता, मधु-
रता और सरलता, ये दश यम हैं ॥१॥ अहिंसा, सत्यवचन, ब्रह्मचर्य, वना-
वट न करना, चोरीत्याग; ये ५ यम और उपव्रत भी कहाते हैं ॥२॥ शौच,
यज्ञ, तप, दान, स्वाध्याय, उपस्थेन्द्रिय का निग्रह, व्रत, उपवास, मौन,
स्नान; ये १० नियम हैं ॥३॥ क्रोध न करना, गुरु की सेवा, शौच, हलका
भोजन, प्रमाद न करना; ये ५ नियम और उपव्रत भी कहाते हैं) ॥ २०४ ॥

नाश्चोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाजिकृते तथा । स्त्रिया क्लीबेन च हुते
भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित् ॥ २०५ ॥ अश्लीलमेतत्साधनां यत्र
जुह्वत्यभी हविः । प्रतीपमेतद्देवानां तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ २०६ ॥

अर्थ—जिस यज्ञ में आचार्य वेदपाठी न हो और जिस में समस्त ग्राम
भर (बिना विवेक) का अध्वर्यु तथा स्त्री वा नपुंसक होता हो, ऐसे यज्ञ में
ब्राह्मण कभी भोजन न करे ॥२०५॥ जिस यज्ञ में पूर्वोक्त होता आदि काम

करते हैं वह सज्जनों को बुरा लगने वाला और विद्वानों को अप्रिय है ।
इस से उस में भोजन न करे ॥ २०६ ॥

मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदाचन । केशक्रीटावपन्नं च
पदास्पृष्टं च कामतः ॥ २०७ ॥ भ्रूणघ्रावेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाप्यु-
दक्यया । पतत्रिणावलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च ॥ २०८ ॥

अर्थ—उन्मत्त, क्रोधी, रोगी का अन्न तथा केश वा कीड़ों (के मिलने) से
दुष्ट हुवा और इच्छा से पैर लगाया अन्न कभी भोजन न करे ॥ २०७ ॥ भ्रूण-
हत्यारों का देखा हुवा, रजस्वला का छुवा हुवा, कौवा आदि पक्षियों का
पाटा हुवा और कुत्ते का छुवा हुवा भी (अन्न भोजन न करे) ॥ २०८ ॥

गन्धान्मुपघ्रातं घुष्टान्नं च विशेषतः । गणान्नं गणिकान्नं च
विदुषां च जुगुप्सितम् ॥ २०९ ॥ स्तेनगायकयोश्चान्नं तक्ष्णो-
र्वार्धुषिकस्य च । दीक्षितस्य कदर्यस्य बह्वस्य निगडस्य च ॥ २१० ॥

अर्थ—गौ का सूंघा हुवा और विशेष छोटा (घिचोला) हुवा अथवा
“ कोई है ? जो ले और खावे ” ऐसे पुकार कर दिया हुवा और समुदाय का
अन्न तथा वेश्या का अन्न और विद्वानों का निन्दित; (ऐसे अन्न का भी
भोजन न करे) ॥ २०९ ॥ चोर, गवैया, तक्षवृत्ति=बढ़ई, वृद्धि=व्याज का
उपजीवन करने वाले, कृपण तथा बंधुघे का (अन्न भोजन न करे) ॥ २१० ॥

अभिषस्तस्य पण्डस्य पुंश्चल्या दाम्भिकस्य च । शुक्तं पर्युषितं
चैव शूद्रस्योच्छिष्टमेव च ॥ २११ ॥ चिकित्सकस्य मृगयोः क्रूरस्यो-
च्छिष्टभोजिनः । उग्रान्नसूतिकान्नं च पर्याचान्तमनिर्दशम् ॥ २१२ ॥

अर्थ—लोगों में पातकों से प्रसिद्ध हुवे का, नपुंसक का, व्यभिचारिणी का,
दम्भी का और खमीर वाला खटा सड़ा वासी तथा शूद्र का भोजन करके
बचा हुवा अन्न, (भोजन न करे) ॥ २११ ॥ वैद्य, शिकारी, क्रूर (बदमिजाज),
जुठन खाने वाले, उग्रस्वभाव और सूतिका का, एक के अपमान में दूसरा
भोजन करे वह, और सूतकनिवृत्ति न हुवे का अन्न (न भोजन करे) ॥ २१२ ॥

अनर्चितं वृथा मांसमवीरायाश्च योषितः । द्विषदन्नं मगधेन्नं

पतितान्नमवक्षुतम् ॥ २१३ ॥ पिशुनानृतिनोश्चान्नं क्रतुविक्र-
यिणस्तथा । शैलूषतुन्नवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेव च ॥ २१४ ॥

अर्थ—विना सत्कार के दिया हुआ, वृथा अन्न, मांस, जिस स्त्री के पति पुत्र न हों उस का, शत्रु का, ग्रामाधिपति का, जाति के निकाले का और स्त्री का हुआ अन्न ॥ (३ पुस्तकों में नगर्घन्नं=कदर्यान्नं पाठ है । यही अच्छा भी प्रतीत होता है) ॥ २१३ ॥ चुगलखोर, झूठी गवाही देने वाले और यज्ञ बेचने वाले, नट, सौचिक=दर्जी और कृतघ्न का अन्न (न भोजन करे) ॥ २१४ ॥

कर्मारस्य निषादस्य रङ्गावतारकस्य च । सुवर्णकर्तुर्वैणस्य शस्त्र-
विक्रयिणस्तथा ॥ २१५ ॥ श्ववतां शौण्डिकानां च चैलनिर्ण-
जकस्य च । रज्जुकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपनिर्गृहे ॥ २१६ ॥

अर्थ—लोहार, निषाद, तमाशा करने वाले, सुनार, बांस का काम बनाने वाले, शस्त्र बेचने वाले ॥ २१५ ॥ और कुत्ते पालने वाले, कलाल, धोबी, रङ्गरेज, निर्दयी और जिस के मकान में जार हो (अर्थात् जिस की स्त्री व्यभिचारिणी हो) उस का (अन्न भोजन न करे) ॥ २१६ ॥

मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितानां च सर्वशः । अनिर्दशं च
प्रेतान्नमतुष्टिकरमेव च ॥ २१७ ॥ राजान्नं तेजआदत्ते शूद्रान्नं
ब्रह्मवर्चसम् । आयुःसुवर्णकारान्नं यशश्चर्मवर्कतिनः ॥ २१८ ॥

अर्थ—जो (घर में) स्त्री के जार को (जानकर) सहन करते हैं उन का और जो सब प्रकार स्त्री के आधीन हैं उन का, दशाह के भीतर जो सूत-
कान्न है वह, और तृप्ति का न करने वाला अन्न (भोजन न करे) ॥ २१७ ॥
राजा का अन्न तेज को और शूद्र का अन्न ब्रह्मसम्बन्धी तेज को, स्वर्णकार
का अन्न आयु को और चमार का अन्न यश को ले जाता है ॥ २१८ ॥

कारुकाङ्क्षप्रजाहन्ति बलनिर्णजकस्य च । गणान्नगणिकान्नं च
लोकेभ्यः परिकृन्तति ॥ २१९ ॥ पूयंचिकित्सकस्यान्नं पुंश्चल्या-
स्त्यन्नमिन्द्रियम् । विष्टावार्धुषिकस्यान्नं शस्त्रविक्रयिणोमलम्

अर्थ—बड़ई का अन्न सन्तति का नाश करता है । धोबी का बलनाश
और दसुदाय तथा गणिका का अन्न लोकों का नाश करता है (अप्रतिष्ठित है)

॥२१९॥ वैद्य का अन्न पीप के समान है और वैश्य का अन्न इन्द्रधंसम है तथा व्याजवृद्धिजीवी का अन्न विष्टा और शस्त्र बेचने वाले का अन्न (शरीर के) मैल के समान है ॥ २२० ॥

यएतेऽन्येत्वभोज्यान्नाःक्रमशःपरिकीर्त्तिताः। तेषांत्वगस्थिरो-
माणि वदन्त्यन्तमनीषिणः २२१ भुक्त्वातोऽन्यतमस्यान्नममत्या
क्षपणं त्रयहमामत्या भुक्त्वाचरेत्कृच्छ्रंरेतोविण्मूत्रमेवच ॥२२२॥

अर्थ—ये और दूसरे कि जिन के अन्न क्रम से भोजन करने योग्य नहीं, उन के अन्न को मनीषी लोग त्वचा हड्डी रोम के समान कहते हैं ॥ (इस से आगे दो पुस्तकों में यह श्लोक अधिक पाया जाता है:—

[अमृतं ब्राह्मणस्यान्नं क्षत्रियान्नं पयः स्मृतम् ।

वैश्यान्नमन्नमित्याहुः शूद्रस्य रुधिरं स्मृतम् ॥]

ब्राह्मण का अन्न अमृत, क्षत्रिय का दूध, वैश्य का अन्न, अन्न और शूद्र का रुधिर के समान है ॥ इसी से हम को यह भी शङ्का होती है कि अन्य श्लोक भी जो भिन्न २ अन्तों को भिन्न २ निन्दनीय उपमा देते हैं, कदाचित् पीछे ही से निन्दार्थवाद के लिये बढ़ाये गये हों । परन्तु आशय कुछ घुटा नहीं) ॥२२१॥ इन में से किसी का अन्न बिना जाने भोजन करे तो तीन दिन उपवास प्रायश्चित्त करे और जान कर भोजन करे तो कृच्छ्र व्रत करे। ऐसे ही विना जाने वीर्य मल मूत्र के मलण में भी (कृच्छ्र व्रत करे) ॥ २२२ ॥

नाद्याच्छूद्रस्यपक्वान्नं विद्वानऽश्रद्धिनोद्विजः। आददीताममे-
वास्माद्वृत्तावेकरात्रिकमूरश्श्रोत्रियस्यकदर्यस्य वदान्यस्य
चवार्धुपेः। भीमांसित्वोभयदेशाः सममन्नमकल्पयन् ॥२२३॥

अर्थ—विद्वान् ब्राह्मण, श्रद्धा से शून्य शूद्र का पक्वान्न भोजन न करे, परन्तु विना लिये काम न चले तो कच्चा अन्न एक दिन के निर्वाह मात्र ले लेवे (नन्दन टीकाकार ने “अश्रद्धिनः” पाठ नाना है और उत्तम भी यही है। तथा सब से प्राचीन भाष्यकार मेधातिथि ने भी इस पाठान्तर का वर्णन किया है । और आगेले श्लोक में भी श्रद्धा की प्रधानता का वर्णन है। सर्वज्ञ नारायण भाष्यकार भी श्रद्धा अर्थ करते हैं । नन्दन टीकाकार यह भी कहते हैं

कि "अद्वारहित शूद्र का पक्वान्न न खावे, इस कहने से अद्वालु शूद्र का पक्वान्न ग्राह्य समझना चाहिये" ॥ इस से आगे एक श्लोक १ पुस्तक में श्रीराम-चन्द्र की टीका में, जो सब से नवीन है, पाया जाता है:-

[चन्द्रसूर्यग्रहे नाद्यादद्यात्स्नात्वा तु मुक्तयोः ।

अमुक्तयोरगतयोरद्याच्चैव परेऽहनि ॥]

चन्द्र सूर्य के ग्रहण में भोजन न करे। जब ग्रहण होकर (चन्द्र और सूर्य) मुक्त होजावें तब स्नान करके भोजन करे। यदि बिना मुक्त हुवे खिय जावें तो अगले दिन भोजन करे ॥ यह लीला ग्रहण में भोजन न करने की चाल को पुष्ट करने के लिये की गई जान पड़ती है) ॥२२३॥ कृपण श्रोत्रिय और वृद्धिजीवी दाता; इन दोनों के गुण दोषों को विचार कर देवता लोग दोनों के अन्तों को समान कहते थे ॥ इस पर-[देखो संग्रन्ध पृ० १४४ पं० २३]

(२०५ से २०४ तक जिन जिन के अन्न अभक्ष्य कहे हैं, उन में कारणों से दोष हैं। कहीं तो अन्न में दोष की सम्भावना है। कहीं अन्न वाले की वृत्ति वा जीविका निन्दित है। कहीं उस का अन्न खाने में अपने ऊपर उस का दबाव रहना अनुचित है। कुछ कुछ अत्युक्ति भी है। कई जगह नवीन श्लोक भी मिलाये गये हैं, जो सब पुस्तकों में नहीं पाये जाते। कहीं २ उस उस का अन्न खाने से अपने गौरव=बड़प्पन का नाश है। कहीं अवेदवित्त के कराये वेदविरुद्ध यज्ञ की निन्दार्थ ही उस यज्ञ का अन्न वर्जित है। कहीं कच्चे अन्न में न्यून विकार और पके में अधिक विकार वा संसर्गदोष लगना कारण है। कहीं अपनी उच्चता की रक्षामात्र ही तात्पर्य है। और जो २ यहां गिनाये हैं, उन के अतिरिक्त भी जहां २ हानि का कारण उपस्थित हो वहां का अन्न त्याज्य और जो त्याज्य गिनाये हैं उन में हानि की सम्भावना न हो तो ग्राह्य समझना चाहिये। कारण को प्रधान समझना बुद्धिमानों का काम है, यह भोजन (न्योता जीमने) का बहुत प्रपञ्च उस लिये कहा है कि जो पुरुष अत्यन्त शुद्ध पवित्र धर्मात्मा आत्मा की उन्नति का चाहने वाला द्विजोत्तम है, उसे सूक्ष्म से सूक्ष्म भी कोई बुराई न लगने पावे। राजा के अन्नत्याग का तात्पर्य अपने से अति अधिक प्रभुता रखने वाले मात्र के अन्न का त्याग है। उस के भोजन करने से अपना महत्त्व घटता है। महत्त्व और तेज के

घटने से धर्म कर्म का उत्साह भी कम होजाता है। शूद्र के अन्न से नीच बन आकर उत्तमता घटती है। सुवर्ण की चोरी महापातक है और सुनार प्रायः उसे कर सकते हैं, इस से उस का अन्न दुराचारप्रवर्तक होने से आयु का नाशक है। बड़ई प्रायः हरे वृक्षों को भी लोभ से काटते हैं। उनके अन्न से सन्तति पर प्रभाव पड़ना सम्भव है। धोबी कपड़े के और अपने बल का घटाने वाला है। समुदाय और वेश्या से वृथाऽऽगत धन बहुत मिलना संभव है, उस से जैसे शहद की लोभिनी मक्खी उड़ती नहीं, मर रहती है, वैसे फंसना सम्भव है। चिकित्सक चीर फाड़ करने वाले वैद्य की वृत्ति निर्धृश होजाती है। व्याज वाला वृद्धि ही प्रतिक्षण शोचता है। शस्त्र बेचने वाला एक क्रूर जीविका करता है। इत्यादि कारण स्वयं विचारणीय हैं) ॥२२४॥

तान्प्रजापतिराहैत्यन्ना कृध्वंविषमं समम्। अद्वापूतंवदान्यस्य
हतमश्रुयेतरत् ॥ २२५ ॥ अद्वायेष्टं च पूतं च नित्यं कुर्याद-
तन्द्रितः। अद्वाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः ॥ २२६ ॥

अर्थ-ब्रह्मा उन देवतों के पास आकर बोले कि तुम लोग विषम को सम मत करो। क्योंकि वृद्धिजीवी दाता का अन्न अद्वा से पवित्र होता है और कृपण श्रोत्रिय का अश्रुवा से अपवित्र (सम नहीं) होता है ॥२२५॥ अद्वा से यज्ञादि और कूपतड़ागादि को आलस्यरहित होकर सर्वदा बनावे। न्याया-र्जित धनों से अद्वा से किये हुवे ये कर्म अक्षय फल देते हैं ॥ २२६ ॥

दानधर्मे निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम्। परितुष्टेन भावेन
पात्रमासाद्य शक्तितः ॥ २२७ ॥ यत्किंचिदपि दातव्यं याचितेना-
ऽनसूयया। उत्पत्स्यते हि तत्पात्रं यत्तारयति सर्वतः ॥ २२८ ॥

अर्थ-आनन्द से युक्त होकर योग्य पात्र को पाकर यथाशक्ति यज्ञादि और कूपतड़ागादि दान धर्मों को सदा करे ॥

(२२७ से आगे केवल एक पुस्तक में ये दो श्लोक अधिक पाये गये हैं:-

[पात्रभूतोहि धो विप्रः प्रतिगृह्य प्रतिग्रहम्। असत्सु विनि-
युञ्जीत तस्मै देयं न किञ्चन ॥ संचयं कुरुते यस्तु प्रतिगृह्य
समन्ततः। धर्मार्थं नोपयुङ्क्ते च न तं तस्करमर्चयेत् ॥]

जो ब्राह्मण दानपात्र दना हुआ प्रतिग्रह लेकर घुरे कामों में लगाता हो उसे कुछ न दे ॥ जो चारों ओर से प्रतिग्रह लेकर धनसञ्चय करे परन्तु धर्म के कामों में न लगावे उस तस्कर को न पूजे ॥२२९॥ दोष न लगाकर कोई अपने से कुछ मांगे तो यथाशक्ति कुछ न कुछ देवे ही, क्योंकि देने वाले को वह पात्र भी कभी मिल जावेगा जो कि सब से तार देगा ॥ २२८ ॥

वारिदस्तृप्तिम प्रोति सुखमक्षयमन्नदः । तिलप्रदः प्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुरुत्तमम् ॥२२९॥ भूमिदोभूमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः।गृहदोऽगृयाणि वेश्मानि रूप्यदोरूपमुत्तमम् ॥२३०॥

अर्थ-जल देने वाला तृप्ति, अन्न का देने वाला अक्षय सुख, तिल का देने वाला यथेष्ट सन्तति और दीपक देने वाला अच्छी आंख पाता है ॥२२९॥ भूमि देने वाला भूमि, सोना देने वाला दीर्घायु, घर देने वाला अच्छे गहल और चांदी देने वाला अच्छा रूप पाता है ॥ (एक पुस्तक में भूमि-माप्नोति=सर्वमाप्नोति पाठ है) ॥ २३० ॥

वासोवश्चन्द्रसालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः । अनडुदः श्रियं पुष्टां गोदोब्रध्नस्यविष्टपम् ॥२३१॥ यानशय्याप्रदोभार्यामैश्वर्यमभयप्रदः।धान्यदःशाश्वतंसौख्यं ब्रह्मदोब्रह्मसार्ष्टिताम् ॥२३२॥

अर्थ-वस्त्र देने वाला चन्द्रसमान लोक=शरीर पाता है । घोड़े का देने वाला अश्व वालों की जगह पाता है । बैल का देने वाला बहुत सम्पत्ति और गौ देने वाला सूर्य के तुल्य प्रकाश को पाता है ॥ (एक पुस्तक में अश्विसालोक्यं=सूर्यसालोक्यं पाठ है) ॥२३१॥ सवारी और शय्या का देने वाला भार्या, अभय का देने वाला राज्य, धान्य देने वाला निरन्तर सुख और वेद देने वाला ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ २३२ ॥

सर्वेषामेवदानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते । धार्यन्तगोमहीवासस्तिलकाञ्जनसर्पिषाम् ॥२३३॥ येन येन तु भावेन यदादानं प्रयच्छति । तत्तत्तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः ॥२३४॥

अर्थ-जल, अन्न, गाय, भूमि, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घृत, इन सब दानों से ब्रह्मदान (वेद का पढ़ाना) अधिक है ॥२३३॥ जिस जिस भाव से जो जो दान देता है उसी २ भाव से दिया हुआ सत्कारपूर्वक पाता है ॥ २३४ ॥

योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव च । तावुभौ गच्छतः
स्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥२३५॥ न विस्मयेत् तपसा वदेदिष्टा च
नानृतम् । नातोऽप्यपवदेद्विप्रान्न दत्त्वा परिकीर्तयेत् ॥२३६॥

अर्थ—जो सत्कारपूर्वक दान लेता है और जो सत्कारपूर्वक देता है, वे दोनों स्वर्ग में जाते हैं और उस के विपरीत करने वाले दोनों नरक में जाते हैं ॥ २३५ ॥

(२२७ से २३५ तक दान का साहात्म्य है । जल प्रत्यक्ष सृष्टि का हेतु है । अन्नभोजन से जैसा सुख मिलना प्रसिद्ध है वैसा अन्य पदार्थ से नहीं । तिलों में सन्तानोत्पादन का प्रभाव है । जब स्त्रियों का रज रुक जाता है वा सन्तानोत्पत्ति में बाधा होती है, तब वैद्य तिलप्रधान भोजन बताते हैं । जैसे गाली देने वाले गाली खाते हैं, वैसे ही जो अन्यो के लिये भलाई करेगा, वह परमात्मा की व्यवस्था से वैसे ही भलाई पावेगा । सोने के बर्तन खाने से आयु बढ़ना वैद्यक का भी मत है । जैसे पृथिवी को किसान बीज देते हैं, पृथिवी उन्हें बीज देती है । फूप लोगों को जल देता है तो उस का जल बढ़ता है । चन्द्रमा का रूप सौन्दर्य उपमा में भी लिया जाता है । वस्त्र की श्वेतता प्रशंसनीय है और चन्द्रमा की भी । बैल—कृष्यादि से वैश्य की लक्ष्मी बढ़ाने वाले हैं । दान के परिमाणानुसार फल का परिमाण वा देश, काल, वस्तु श्रद्धा आदि के अनुसार फल की न्यूनाधिकता माननी ही पड़ेगी) ॥२३५॥ तप करके आश्चर्य न करे (कि मेरा तप बहुत है) और यज्ञ करके असत्य न बोले (कि मैंने यह किया और वह किया) और पीड़ित होने पर भी विप्रों की निन्दा न करे और दान देकर चारों ओर (लोगों से) कहता न फिरे ॥ २३६ ॥

यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात् । आयुर्विप्रापवादेन
दानं च परिकीर्त्तनात् ॥२३७॥ धर्मं शनैः संचिनुयाद्ब्रह्मीक-
मिव पुत्तिकाः । परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यऽपीडयन् ॥२३८॥

अर्थ—असत्यभाषण से यज्ञ नष्ट होता है, विस्मय से तप तथा ब्राह्मणों की निन्दा से आयु और चारों ओर कहने से दान घटता है ॥२३७॥ परलोक के हित के लिये सम्पूर्ण जीवों की पीड़ा न देता हुआ, धीरे धीरे धर्म की सञ्चित करे, जैसे दीमक बम्बी को बनाती हैं ॥ २३८ ॥

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः । न पुत्रदारं न
ज्ञातिधर्मस्तिष्ठति केवलः ॥२३९॥ एकः प्रजायते जन्तुरेकएव
प्रलीयते । एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेकएव च दुष्कृतम् ॥२४०॥

अर्थ—परलोक में सहाय के लिये नायाप नहीं रहते, न पुत्र, न स्त्री, केवल
एक धर्म रहता है ॥२३९॥ अकेला ही जीव उत्पन्न होता है और अकेला ही
मरता है । अकेला ही सुकृत को और अकेला ही दुष्कृत को भोगता है ॥२४०॥

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षिती । विमुखा चान्धवा
यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥२४१॥ तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं
संचिनुयाच्छनैः । धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥२४२॥

अर्थ—लकड़ी और ढेला सा मृतक शरीर को भूमि पर छोड़ कर दान्यव
पीछे लौट जाते हैं (उस मरे के पीछे कोई नहीं जाता) धर्म उस के पीछे
जाता है ॥२४१॥ इस कारण धर्म को सहायता के लिये सर्वदा धीरे २ सञ्चित करे,
क्योंकि धर्म ही की सहायता से अति कठिन दुःख से तरता है ॥ २४२ ॥

धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्बिषम् । परलोकं नयत्याशु
भास्वन्तं स्वशरीरिणम् ॥२४३॥ उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं संबन्धाना-
चरेत्सह । निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत् ॥२४४॥

अर्थ—तप से नष्ट हुआ है पाप जिस का ऐसे धर्मपरायण प्रकाशयुक्त मुक्त
स्वरूप पुरुष को (धर्म) शीघ्र मोक्षधाम को लेजाता है ॥२४३॥ कुल को उन्नत
करने की इच्छा करने वाला सर्वदा अच्छे २ पुरुषों के साथ (कन्यादानादि)
संबन्ध करे और अधम २ मनुष्यों के साथ छोड़ देवे (न करे) ॥ २४४ ॥

उत्तमानुत्तमान्गच्छन्हीनान्हीनांश्च वर्जयन् । ब्राह्मणः श्रेष्ठता-
मेति प्रत्यवायेन शूद्रताम् ॥२४५॥ दूढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारै-
रसंबसन् । अहिंसोदमदानाम्यां जयेत्स्वर्गं तथाव्रतः ॥२४६॥

अर्थ—(क्योंकि) उत्तम पुरुषों से संबन्ध करने और हीनों के त्याग से
ब्राह्मण श्रेष्ठता को पाता है । नीचसंबन्धों से नीचता को (प्राप्त होजाता है)
॥२४५॥ दृढ़ वृत्ति वाला, निष्ठुरतांरहित, शीत उष्णादि का सहन करने वाला

कूर आचरण वाले पुरुषों का सहवास छोड़ता हुआ, हिंसारहित पुरुष दम= इन्द्रियसंयम और दान से स्वर्ग को जीतता है ॥ २४६ ॥

“एधोदकं मूलफलमन्नमभ्युदतं च यत् । सर्वतः प्रतिगृह्णीयान् मध्वत्रयाऽभयदक्षिणाम् ॥ २४७ ॥ आहताभ्युदतां भिक्षां पुरस्ताद-ऽप्रचोदिताम् । मेने प्रजापतिर्ग्राह्यामपि दुष्कृतकर्मणः ॥ २४८ ॥”

अर्थ—“इन्धन, जल, मूल, फल, अन्न और अभय दक्षिणा; ये विना मांगे प्राप्त हों तो सब से ग्रहण करले ॥ २४७ ॥ ले आई और सामने रखी, लेने वाले ने पूर्व न मांगी हुई भिक्षा पापकारी से भी ग्रहण करे, यह ब्रह्मा ने माना है” ॥ २४८ ॥

“नाश्नन्ति पितरस्तस्य दश वर्षाणि पञ्च च । न च हव्यं वहत्यऽग्निर्यस्तामभ्यव्रमन्यते ॥ २४९ ॥ [चिकित्सककृतघ्नानां शिल्पकर्तुश्च वार्धुषेः । पण्डस्य कुलटायाम् उदयतामपि वर्जयेत् ॥ न विद्यमानमेवैवं प्रतिग्राह्यं विजानताः विकल्पाविद्यमाने तु धर्महीनः प्रकीर्तितः ॥] शय्यां गृहान्कुशान्गन्धानपः पुष्पं मणीन् दधि । धानामत्स्यान् पयोमांसं शाकं चैव न निर्णुदेत्” ॥ २५० ॥

अर्थ—“उस के किये ग्राह्य में पितर पन्द्रह वर्ष भोजन नहीं करते और अग्नि उस के हवि को ग्रहण नहीं करता, जो कि अयाचित भिक्षा का अपमान करता है” ॥

[वैद्य, कृतघ्न, शिल्पी, व्याजजीवी, नपुंसक और वेश्या का प्रतिग्रह विना मांगे मिलने पर भी न ले । यह प्रतिग्रह जान बूझ कर, अपने पास होते हुवे न ले, परन्तु न होते हुवे लेने में विकल्प करने से धर्महीन हो जाता है ॥ इन दोनों श्लोकों पर सब से पिछले रामचन्द्र टीकाकार की टीका है । मेधातिथि आदि अन्य ५ की नहीं । इन से नूतनकाल में ही इन का मिलाया जाना पाया जाता है । पिछले और अगले श्लोकों से सम्बन्ध ऐसा मिलाया है कि कोई जानने न पावे । इन दो में से पहला श्लोक १९ पुस्तकों में पाया जाता है और दो पुस्तक में कुछ २ पाठान्तर से पाया जाता है तथा दूसरा श्लोक केवल एक पुस्तक में ही मिलता है] ॥ २४९ ॥

“शय्या, घर, कुशा, गन्ध, जल, पुष्प, मणि, दधि, धाना, सत्स्य, दूध, मांस और शाक; इन का प्रत्याख्यान न करे (कोई देवे तो न लौटावे) ॥ २५० ॥”

“गुरुभृत्यांश्चोर्जिहीर्षन्नाचिंष्यन्देवतातिथीन्। सर्वतः प्रतिगृ-
ह्णीयान्न तु तृप्येत्स्वयं ततः २५१ गुरुषु त्वभ्यर्तातेषु विनाघातैर्गृहे
वसन्। आत्मनो वृत्तिमन्विच्छन्गृह्णीयात्साधुतः सदा” ॥ २५२ ॥

“अर्थ—गुरु और भृत्य भार्यादि क्षुधा से पीड़ित हों तो इन की वृत्ति और देवता अतिथि के पूजन के लिये सब से ग्रहण करले, परन्तु आप उस में से भोजन न करे ॥ २५१ ॥ किन्तु माता पिता के मरने पर वा उन के विना घर में रहता हुआ अपनी वृत्ति की इच्छा करता हुआ सदा साधु से ही ग्रहण करे ” ॥ २५२ ॥

“आर्धकः कुलमित्रं च गोपालो दासनापितौ ।

एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत्” ॥ २५३ ॥

अर्थ—“आधी सार्फे की खेती आदि करने वाला और कुलमित्र और गोपाल तथा दास और नापित; ये शूद्रों में भोज्यान्ना हैं (अर्थात् इन का अन्न भोजनयोग्य है) और जो अपने को निवेदन करे (उस का भी अन्न भोजनयोग्य है ” ॥ २५३ ॥

(सब का जल पीना विना मांगे मिलने पर भी अपेय है और इस २४७ वें में तो मूल फल अन्न सभी विना मांगे स्वयं कोई कहे कि “लीजिये” तो गड़प करना विधान करके पिछली सारी शुद्धि पर पानी फेर दिया । २४८ वें में दुष्कृतकर्मा की भी अयाचित भिक्षा का ग्रहण अनुचित है । प्रथम तो अयाचित का नाम भिक्षा रखना ही व्यर्थ है और श्लोक बनाने वाले को अपने हृदय में भी घिन और त्याज्य होने का सन्देह है, उसी को दबाता हुआ कहता है कि “ इस को प्रजापति ने ग्राह्य माना है” अर्थात् मेरा कहना तुन न मानो तो प्रजापति की अनुमति तो माननी ही चाहिये । धन्य ! २४७ में कहा है कि जो अयाचित भिक्षा का अनादर करता है, उस के पितर और अग्नि १५ वर्ष तक कव्य हव्य नहीं खाते हैं । मरे पितरों की दशा तो श्लोक बनाने वाले जाने, परन्तु जीते पितर और अग्नि तो खाते प्रत्यक्ष देखते हैं । तथा मनु ने ही जब कि दान लेने से न लेने को उत्तम लिखा है कि (प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागोविशिष्यते) वा (प्रतिग्रहः प्रत्यवरः) दान लेना हलका तुच्छ काम है तो न लेने वाले को ऐसा सष्ट बताना कि उस का हव्य अग्नि भी नहीं ग्रहण करता, कैसे अन्धेरे की बात

है । २५० में पाठभेद भा है । ३ पुस्तकों में (मणीन्=फलम्) पाठ है और इस श्लोक बनाने वाले का जी मछली को ऐसा छलच गया कि प्रक्षिप्त श्लोकों में ही अध्याय ५ श्लोक १५ में मछली को खाना सर्वभक्षीपना होने से वर्ज्य बतावेंगे, उसे भी भूल गया । वा इन प्रक्षिप्तों का कर्ता भी एक पुरुष नहीं, किन्तु अनेकों ने भिन्न २ समयों में ये श्लोक मिलाये हैं और चोर को सुध भी नहीं रहती कि आगे पीछे क्या है । २५१ में सब प्रतिग्रह माता पिता आदि तथा देवता अतिथि की पूजार्थ ग्राह्य कर दिया । भला जो अपना पेट नहीं भर सकता, न अपने माता पिता का, उस के अतिथि क्यों आने लगा है । स्नातक विप्र की वृत्तियों का वर्णन करते हुवे खेती वाणिज्यादि जब उन का कर्म ही नहीं तब २५३ वें का यह कहना कि आधा साक्षा खेती व्यापारादि में जिन का हो इत्यादि शूद्रों का अन्न भी भक्ष्य है, असङ्गत है और खेती वैश्यकर्म है, शूद्रकर्म नहीं (२४९ के आगे जो दो श्लोक सब पुस्तकों में भी नहीं मिलते, वे भी अपने साधियों के प्रक्षिप्त होने के संशय को दृढ़ करते हैं और २४६ का २५४ से सम्बन्ध भी नहीं बिगड़ता । इत्यादि कारणों से हमारी सम्मति में २४७ से २५३ तक ७ श्लोक प्रक्षिप्त हैं) ॥ २५३ ॥

यादृशोऽस्य भवेदात्मा यादृशं च चिकीर्षितम् ।

यथा चोपचरेदेनं तथात्मानं निवेदयेत् ॥ २५४ ॥

अर्थ-जैसा इस का आत्मा हो और इस को करना हो और जैसे इस की कोई सेवा करे वैसा ही अपने को निवेदन करे ॥ २५४ ॥

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते । स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः ॥ २५५ ॥ वाच्यर्थानियताः सर्वेवाङ्मूलावाग्निनिःसृताः । तांतुयःस्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥ २५६ ॥

अर्थ-जो अपने को और कुछ बताता है और है कुछ और, वह लोगों में बड़ा पाप करने वाला आत्मा का चुराने वाला चोर है ॥ २५५ ॥ सम्पूर्ण अर्थ वाणी में बन्धे हैं और सब का मूल वाणी ही है और सब वाणी से निकले हैं, उस वाणी को जो चुरावे वह अनुष्य सम्पूर्ण चोरियों का करने वाला है ॥ २५६ ॥

महर्षिपितृदेवानां गत्वाऽऽनृण्यं यथाविधिपुत्रे सर्वं समासज्य वसेन्मध्यस्थमाश्रितः ॥ २५७ ॥ एकाकी चिन्तयेन्नित्यं विविक्ते हितमात्मनः । एकाकीचिन्तयानोहि परं श्रेयोधिगच्छति ॥ २५८ ॥

अर्थ-ऋषि पितर देवता इन का ऋण देकर और यथाविधि पुत्र को कुटुम्ब भार सौंप कर, समदर्शी होकर रहे ॥२५९॥ निजंन स्थान में अकेला आत्मा का हितचिन्तन करे क्योंकि अकेला ध्यान करता हुआ परम भ्रम (मोक्ष) को पाता है ॥ २५८ ॥

एषोदितागृहस्थस्य वृत्तिर्विप्रस्य शाश्वती । स्नातकव्रतकल्पश्च सत्त्ववृद्धिकरः शुभः ॥२५९॥ एतेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन् वेदशास्त्रविद् । व्यपेतकल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते ॥ २६० ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे (भृगुप्रोक्तायां संहितायां)

चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥



अर्थ-यह गृहस्थ ब्राह्मण की सनातन वृत्ति और स्नातक का व्रत और कल्प जो शुभ गुण की वृद्धि करता है, कहा ॥ २५९ ॥ वेद शास्त्र का जानने वाला विप्र इस शास्त्रोक्त आचार से नित्यकर्मानुष्ठान करता हुआ पाप को नष्ट कर ब्रह्मलोक में बड़ाई को पाता है ॥ २६० ॥

इति श्री तुलसीरामस्वानिविरचिते मनुभाषानुवादे

चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥



ओ३म्

अथ पञ्चमोऽध्यायः

“अत्रैतानृपयोधमान्स्नातकस्य यथोदितान् । इदमूचुर्महा-
त्मानमनलप्रभवं भृगुम् ॥१॥ एवं यथोक्तं विप्राणां स्वधर्ममनु-
तिष्ठताम् । कथं मृत्युः प्रभवति वेदशास्त्रविदां प्रभो ! ॥२॥”

“अर्थ—अपि लोग स्नातक के यथोक्त धर्म सुन कर महात्मा अग्निवंशी
भृगु के प्रति यह वचन बोले ॥१॥ (कि) हे प्रभु ! जो ब्राह्मण स्वधर्म करते
और वेदशास्त्र के जानने वाले हैं, ऐसे विप्रों की (अकाल) मृत्यु कैसे हो
जाती है ? ॥ २ ॥”

“स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवोभृगुः ।

श्रूयतां येन दोषेण मृत्युर्विप्राज्जिघांसति ॥३॥”

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ।

आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राज्जिघांसति ॥४॥

अर्थ—“सुनुवंशी भृगु जी उन महर्षियों के प्रति बोले कि सुनिये—जिस
दोष से मृत्यु (अकाल में) विप्रों की मारना चाहता है” ॥ (इन श्लोकों से
यह स्पष्ट पाया जाता है कि इन का कर्ता मनु नहीं है, न भृगु । किन्तु
किसी ने “विप्राज्जिघांसति” इन चतुर्थ श्लोक में आये पदों की सङ्गति मि-
लाकर ये श्लोक बना दिये हैं) ॥३॥ वेदों के अनभ्यास और आचार के छोड़ने
तथा सत्कर्मों में आलस्य करने और अन्न के दोष से (अकाल) मृत्यु विप्रों
की मारना चाहता है (आगे अन्न दोष बताते हैं:-) ॥ ४ ॥

लशुनं गृध्रन*चैव पलाण्डुं कवकानि च । अमक्ष्याणि द्विजा-
तीनाममेध्यप्रभवाणि च ॥५॥ लोहितान्मृक्षनिर्यासान्मृश्रान्
प्रभवांस्तथा । शैलुं गव्यं च पेयूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥६॥

अर्थ—लहसन, * शलगम, पियाज, कुरुरमुत्ता और जो मैले में उत्पन्न
हों, द्विजातियों को अभक्ष्य हैं ॥ ५ ॥

* साधारणतया गृञ्जन को ३ अर्थों में लेते हैं । १-गाजर २-शलजम वा शलगम ३-लहसन, परन्तु मुख्य करके गृञ्जन का अर्थ शलगम ही जान पड़ता है । जैसा कि धन्वन्तरि निघण्टु करवीरादि ४ वर्ग अङ्क १० में-

गृञ्जनं शिखिमूलं च यवनेष्टं च क्षुत्तुलम् ।

ग्रन्थिमूलं शिखाकन्दं कन्दं डिण्डीरमोदकम् ॥

गृञ्जनं कटुकोणं च दुर्गन्धं गुल्मनाशनम् ।

रुच्यं च दीपनं हृद्यं कफवातरुजापहम् ॥

गृञ्जन जिस के मूल पर शिखा है, जो यवनों का दृष्ट (पसन्द) है, गोल है, जो गांठदार मूल है, शिखा कन्द, कन्द, डिण्डीरमोदक जिसके नामान्तर हैं, वह गृञ्जन कटु गर्भ दुर्गन्ध है और गुल्मरोगनाशक है । रुचि, अग्नि और हृदय को बढ़ाने वाला, वात कफ रोगों का नाशक है ॥ इस से शलगम का अर्थ पाया जाता है क्योंकि ये गुण जिन में विशेष कर यवनेष्टता, कटुता, दुर्गन्ध, वातकफनाशकता, उष्णता, गोल होना, गांठ होना, ऐसे लक्षण हैं, जो गाजर से नहीं मिलते, शलगम से ही मिलते हैं ॥ गृञ्जन से लहसन के ग्रहण में प्रमाण-

महाकन्दोरसोनोऽन्योगृञ्जनोदीर्घपत्रकः ।

धन्वन्तरि निघण्टु करवीरादि ४ वर्ग-इस में लम्बे पत्ते वाले रसोन (लहसन) को गृञ्जन कहा है ॥ गृञ्जन का अर्थ गाजर होने में प्रमाण-

गाजर के नाम और गुण उक्त ग्रन्थ के उक्त पते पर-

गर्जरं पिङ्गलं मूलं पीतकं मूलकं तथा ।

स्वादुमूलं सुपीतं च नागरं पीतमूलकम् ॥

गर्जरं मधुरं रुच्यं किञ्चित्कटु कफावहम् ।

आध्मानकृमिशूलघ्नं दाहपित्ततृषापहम् ॥

इस में गर्जर के बदले ३ पाठ पाये जाते हैं । १-गृञ्जन २-गृज्जर ३-गर्जर यही गाजर है क्योंकि इस का पीला होना, कफकारक होना, स्वादुमूल होना, मधुर होना, दाह पित्त तृषा शान्त करने वाला होना; ऐसे गुण हैं जो गाजर में पाये जाते हैं ॥

अथ गृञ्जन का अर्थ गाजर लेने में केवल १ पाठान्तर का सहारा है अन्य कुछ नहीं, फिर कलकत्ते के छपे बड़े कोष "शब्दकल्पद्रुम" में जो राधाकान्त देव बहादुर ने प्रकाशित किया है उसमें भी गृञ्जन का अर्थ शलगम है। यथा—

गृञ्जनम्-क्री०। मूलविशेषः। (विषदिग्धपशोर्मांसम्, इति मेदिनी) शलगम इति ख्यातः। यवनेष्टम्। शिखा-
कन्दम्। कन्दम्। कटुत्वम्। उष्णत्वम्। कफवातरोगगुल्म-
नाशित्वम्। रुच्यं, दीपनं, हृदयं, दुर्गन्धम् ॥

इत्यादि से भी पाया जाता है कि स्पष्ट शलगम ही गृञ्जन है। मेदिनी कोषकार गृञ्जन का अर्थ जहर (विष) में सना पशुमांस कहते हैं। तथा अन्यत्र यह भी सुनते हैं कि—

गोलोम्यां गृञ्जनं प्रोक्तं लशुने वृत्तमूलके।

अर्थात् गोलोमी ओषधि का नाम गृञ्जन है और गोल आकार मूल लशुन के अर्थ में भी गृञ्जन शब्द है ॥ अमरकोष २। ४। १४८ में—

लशुनं गृञ्जनारिष्टमहाकन्दरसोनकाः।

कहा है, जिस से लशुन शब्द का पर्याय गृञ्जन पाया जाता है। उसी की महेश्वरकृत अमरविवेकनाम्नी टीका में कहा है कि—

लशुनगृञ्जनयोराकृतिभेदेऽपि रसैक्यादऽभेद इति बहवो मन्यन्ते।

लशुन और गृञ्जन के आकार (सूरत शकल) में भेद होने पर भी रस (स्वादु) एकसा होने से यहां अमरकोष में दोनों को एक (अभिन्न) कहा है। ऐसा बहुतों का मत है ॥

वैदिकनिघण्टु में गृञ्जन शब्द पाया ही नहीं जाता ॥ उणादिकोष में भी इस शब्द का पता नहीं मिलता ॥

बहुपक्ष और बहुत गुणों के मेल से गृञ्जन का अर्थ शलगम पाया जाता है। यदि यवनेष्ट आदि विशेषणों वा किन्हीं ऐतिहासिक प्रमाणों से यह भी पता पाया जाय कि शलगम का आगमन भारत में यवनराज्यारम्भ में हुआ, तब भी गृञ्जन का अर्थ गोलोमी ही वा अन्य हो, गाजर नहीं समझ पड़ता ॥

उक्त मनु के श्लोक में लशुन शब्द पृथक् पठित है, अतः गृञ्जन का अर्थ लशुन भी नहीं ले सकते क्योंकि वैद्यक शास्त्र का मत है कि—

तुल्याभिधानानि तु यानि शिष्टैर्द्रव्याणि योगेधिनिवेशितानि ।
अर्थाधिकारागमसंप्रदायैर्विभज्य तर्केण च तानि युज्यात् ॥

अर्थात् शिष्टों के प्रयुक्त अनेकार्थवाचक एक शब्द के प्रयोग में अर्थ अधिकार=प्रकरण, शास्त्र के संप्रदाय और तर्क से विभाग करके काम में लावे ॥

सो यहां लशुन शब्द के भिन्न प्रयोग से और ब्रह्मचर्य के प्रकरण से ब्रह्मचर्यनाशक शलगम का अर्थ ही गृह्यन शब्द से ग्राह्य है वा गोलोमी का, किन्तु गाजर का नहीं ॥५॥ रक्तवर्ण वृत्तों के गोंद और वृत्तों के छेदने से जो रस निकलता है वह तथा लिसोड़ा=लभेड़ा और नवीन व्याईं हुईं गायों का दूध (पेवसी) यत्न से छोड़ देवे ॥ ६ ॥

“वृथा कृसरसंयावं पायसापूपमेव च ।

अनुपाकृतमांसानि देवान्नानि हवींषि च ॥७॥”

अनिर्देशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा ।

आविकं संधिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः ॥८॥

अर्थ—“(तिल चावल मिलाकर पकाया) कृसरसंयाव, लपसी वा खीर, तथा मालपूआ, ये सब वृथा पक्वान्न (अर्थात् विना वैश्वदेव) और बलि बिना मांस और हवन के पुरोडाशों को (न भक्षण करे)” ॥

(जब कि बलिवैश्वदेवादि न करके भोजनमात्र ही पूर्व निषिद्ध कर आये तब तिल, चावल, लपसी, पूड़े, मांस, हव्य आदि के गिनाने की क्या आवश्यकता है? क्या अन्य वस्तु खाने पकाने में वैश्वदेवादि आवश्यक नहीं? यह मांसाहारियों की लीला प्रक्षिप्त है । एक पुस्तक में “पूपमेव च=पूपशङ्कुली” पाठभेद भी है) ॥ ७ ॥ १० दिन तक प्रसूता गौ का दूध, संटनी का, घोड़ी आदि एक खुरवाली का और भेड़ का, ऋतुमती का तथा जिस का यज्ञ मरगया हो उस गौ का दूध (त्याग देवे ॥ इस से आगे १ पुस्तक में यह श्लोक अधिक पाया जाता है:—

[क्षीराणि यान्यभक्ष्याणि तद्विकाराग्ने बुधः ।

सप्तरात्रव्रतं कुर्यात्प्रयत्नेन समाहितः ॥]

जो दूध अभक्ष्य हैं उन की बनी वस्तु खा लेवे तो जानने पर एकाग्रता से यत्न पूर्वक ७ रात्रि का व्रत करे) ॥ ८ ॥

आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना । स्त्रीक्षीरं चैव
वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि ॥९॥ दधि मक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च
दधिसंभवम् । यानि चैवाभिषूयन्ते पुष्पमूलफलैः शुभैः ॥१०॥

अर्थ—भैंस को छोड़ कर, वन में रहने वाले सब मृगों का दुग्ध और
निज स्त्री का दुग्ध तथा बहुत समय के खटे हुवे सब पदार्थ भी न खाये
पीये ॥ ९ ॥ खटे हुवे द्रव्यों में दही और मट्ठा और जो दही में बने पकौड़ी
आदि तथा उत्तम पुष्प मूल फल के संधान से जो पदार्थ (अचार आदि)
बनते हैं, वे भक्षण योग्य हैं ॥

(इन पद्यों में कोई दुर्गन्धितयुक्त, कोई शलगम आदि कामोत्तेजक होकर
विषयी बना केवल वीर्यनाशक, कोई तमोगुणी बुद्धिनाशक हैं। और यदि कहीं
स्नेह्यादि अभक्ष्यभक्षियों की दीर्घआयु और कलादि शुद्ध सात्विकादि खाने
वालों की भी अल्प आयु देखते हैं, वह अन्य कारणों से हो ही सकती है) ॥१०॥

“क्रव्यादाञ्जुकुनान्सर्वास्तथा ग्रामनिवासिनः । अनिर्दिष्टांश्च
कशपांष्टिद्विभं च विवर्जयेत् ॥११॥ कलविड्ङ्गं प्लवं हंसं चक्राङ्गं
ग्रामकुक्कुटम् । सारसं रज्जुबालं च दात्यूहं शुकसारिके ॥१२॥”

“अर्थ—कच्चे मांस के खाने वाले सब जानवरों, ग्राम के रहने वालों, न
यताये हुवे एक खुरवालों तथा गर्दभ और टिड्डी को छोड़ देवे ॥११॥ चिड़िया,
परेव, हंस, चकवा, ग्राम का मुरगा, सारस, बड़ी गुद्दी वाला जलकाक,
पपीहा, तोता मैना ॥ १२ ॥”

“प्रतुदाञ्जालपादांश्च कोयष्टिनखविष्किरान् । निमज्जतश्च
मत्स्यादान् सौनं वल्लूरमेव च ॥१३॥ बकं चैव बलाकां च काकोल
खज्जरीठकम् । मत्स्यादान्विड्ङ्गराहांश्च मत्स्यानेव च सर्वशः ॥१४॥”

“अर्थ—चोंच से फाड़ कर खाने वाले, जिन के पैरों में जाल सा हो
(ग्राज़ इत्यादि), चील्ह और जो नखों से फाड़ कर खाते हैं तथा पानी में डूब
कर जो मछलियों को खाते हैं और सौन=मारने के स्थान का मांस और
गुच्छ मांस ॥१३॥ बगुला और बत्तक, करुवा, खज्जन (मीमला) और मछली
के खाने वाले तथा विष्टाभक्षी सूकर और संपूर्ण मछलियों को (न खावे) ॥१४॥”

“यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते। मत्स्यादः सर्वमांसाद
स्तस्मान्मत्स्यान्विवर्जयेत् ॥१५॥ पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्ती
हव्यकव्ययोः। राजीवान्सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्चैव सर्वशः ॥१६॥”

“अर्थ—जो जिस का मांस खाता है वह उस मांस का खाने वाला कहाता
है (मछली सब का मांस खाती है) इस को जो खावे वह सब का खाने वाला
कहलाता है, इस से मछली को न खावे ॥१५॥ पाठा और रोहू ये दो मछली
हव्य कव्य में ली गई हैं, इस से भक्षण योग्य हैं और राजीव, सिंहतुण्डा
और सब मोटी खाल वाली मछली, (ये भी भक्षण योग्य हैं) ॥१६॥”

“न भक्षयेदेकचरान्जातांश्च मृगद्विजान्। भक्षयेत्तपि समुद्रिष्टान्
सर्वान्पञ्चनखांस्तथा ॥१७॥ श्वाविधं शल्यकं गोघ्रां खड्गकूर्मशशा-
स्तथा । भक्ष्यान्पञ्चनखेष्वहुरनुष्टुंश्चैकतोदतः ॥ १८ ॥”

“अर्थ—अकेले चरने वाले (सर्पादि) और मृगपक्षी जो जाने नहीं गये हैं
और जो भक्ष्यों में भी कहे हों वे पञ्चनख सब भक्ष्य नहीं (जैसे यानरादि)
॥१७॥ श्वाविध=सेह, शल्यक, गोघ्रा, खड्ग, कछुवा, शशा; ये पांच नख वालों
में भक्षण योग्य हैं, जंट को छोड़ कर एक और दांत वाले भी ॥१८॥”

“छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम्। पलाण्डुं मृञ्जनं चैव
मत्या जग्ध्वा पतेदु द्विजः ॥१९॥ अमत्यैतानि पड् जग्ध्वा कृच्छं
सान्तपनं चरेत् । यतिचान्द्रायणं वापि शेषेषूपवसेदहः ॥२०॥”

“अर्थ—छत्राक और ग्रामसूकर, लशुन, ग्राम का मुर्गा, पियाज, शलगम, ये
सब बुद्धिपूर्वक जो द्विज भक्षण करे वह पतित होवे ॥१९॥ इन छः को जो बुद्धि-
पूर्वक भक्षण करे तो (एकादशाध्याय में कहे) सान्तपन वा यतिचान्द्रायण प्राय-
श्चित्त करे और इन से शेष का भक्षण करले तो एक दिन उपवास करे ॥२०॥”

“संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छं द्विजोत्तमः। अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं
ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥२१॥ यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृग-
पक्षिणः । भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्यो ह्याचरत्पुरा ॥२२॥”

“अर्थ—कभी बिना जाने निषिद्ध का भक्षण कर लिया हो इस लिये द्विज
१ वर्ष में १ कृच्छ्रव्रत कर लिया करे और जान बूझ कर किया हो तो विशेष

करके ॥२१॥ यज्ञ और पोष्यवर्ग की वृत्ति के लिये ब्राह्मण भक्ष्य मृग पक्षियों को मारे क्योंकि पूर्व अगस्त्य मुनि ने भी किया है ॥ २२ ॥”

“बभूवर्हि पुरोडाशा भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम् ।

पुराणेष्वपि यज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च” ॥ २३ ॥

यत्किञ्चित्स्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमगर्हितम् ।

तत्पर्युषितमप्याद्यं हविःशेषं च यद्वेत्र ॥ २४ ॥

अर्थ—“क्योंकि प्राचीन ऋषियों और ब्राह्मण क्षत्रियों के यज्ञों में भक्ष्य मृग पक्षियों के पुरोडाश हुवा करते थे” (११ से २३ वें तक १३ श्लोक मांसाहारियों ने अन्य मांसों की परिशेष से भक्ष्यता सिद्ध करने को मिलाये हैं। इस में कुछ भी संशय नहीं। १० वें श्लोक में बासी सड़े खटे खमोरी पदार्थों का वर्णन है, फिर २४ वें में भी बासी रक्खे हुवे पदार्थों का ही वर्णन है। इस से उस का सम्बन्ध निर्धम है। लशुन छत्राक पलाण्डु गृञ्जन का निषेध ५ में कर आये, फिर १९ में लिखना प्रमाद है। २२ वें में यह जोर लगाना कि यज्ञार्थ ब्राह्मणों को उत्तम मृग पक्षी वध्य है, पहिले अगस्त्य मुनि ने भी मारे थे, स्पष्ट बतलाता है कि यह अगस्त्य की पौराणिक कथा के भी बनने से पीछे किसी ने मिलाये हैं। २३ वें में प्राचीन ऋषियों के भी यज्ञों में भक्ष्य मृग पक्षियों के मांस से पुरोडाश बनाये गये थे। यह कहना सिद्ध करता है कि श्लोक बनाने वाला अपने समय में मांस को अभक्ष्य प्रसिद्ध जान कर प्राचीन साक्षी देने की कल्पना करता है और “बभूवुः” इस परोक्षभूत क्रिया से जतलाता है कि यह बात बहुत पुरानी है, जो आंखों से देखी नहीं हैं। भला स्वायंभुव मनु से पूर्व परोक्षभूत कौन लोग ऋषि थे? और अगस्त्य कहाँ था?) ॥२३॥ जो कुछ भक्ष्य या भोज्य निन्दित नहीं है, वह बासी होने पर भी घृतादियुक्त हो तो भक्षण करले और जो शेष करु हवन से बचा है उसे भी (अर्थात् पुरोडाश बिना घृतादि लगा भी भक्षण करले) ॥ २४ ॥

चिरस्थितमपि त्वाद्यमस्नेहात्कं द्विजातिभिः ।

यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रिया ॥ २५ ॥

“एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमशेषतः ।

मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने ॥ २६ ॥

अर्थ—बहुत काल की भी जौ या गेहूं की घृतरहित और दूध की (मिठाई आदि) बनी वस्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य भक्षण करलें ॥२३॥ “यह द्विजातियों का निःशेष भक्ष्याभक्ष्य कहा, इसके उपरान्त मांस के भक्षण और त्याग की विधि करेंगे” । (जब नि.शेष भक्ष्याभक्ष्य कह चुके और मांस भी प्रक्षिप्त श्लोकों में बता चुके, फिर दुबारा उस का प्रस्ताव प्रमाद और धिंगई है । अतः आगे के श्लोक भी ४२ तक प्रक्षिप्त हैं) ॥ २६ ॥

“प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया । यथाविधिनियु-
क्तस्तु प्राणानामेष चात्यये ॥२७॥ प्राणस्यान्नमिदं सर्वं प्रजापति-
रऽकल्पयत् । स्यात्वरं जङ्गमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥२८॥”

अर्थ—“ब्राह्मणों की कामना मांसभक्षण की हो तो यज्ञ में प्रोक्षणविधि से शुद्ध करके भक्षण करे और प्राणरक्षा के हेतु विधि के नियम से ॥ २७ ॥ प्राण का यह सम्पूर्ण अन्न प्रजापति ने बनाया है । स्यावर और जङ्गम सम्पूर्ण प्राण का भोजन है” ॥ २८ ॥

“चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः । अहस्ताश्च सहस्तानां
शूराणां चैव भीरवः ॥२९॥ नात्तादुष्यत्यदन्नाद्यान्प्राणिनोऽह-
न्यहन्यपि भ्रात्रैव सृष्टा ह्याद्याश्च प्राणिनोऽत्तार एव च ॥३०॥”

“अर्थ—चर जीवों के अचर (घास आदि) और दंष्ट्रियों के अदंष्ट्र (व्याघ्रादि के हरिणादि) और हाथ वालों के बिना हाथ वाले (मनुष्यों के मल्लि आदि) और शूरों के डरपोक, ऐसे एक का एक भोजन दनाया है ॥२९॥ भक्षणयोग्यों को भक्षण करते हुवे खाने वाले को दीय नहीं लगता क्योंकि विधाता ने ही भोजन और भोजन करने वालों को उत्पन्न किया है” (यूँ तो चोरों और घनों की भी विधाता ने ही बनाया है तो क्या चोरी पाप नहीं ?) ॥ ३० ॥

“यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येषदैवोविधिः स्मृतः । अतो न्ययाप्रवृत्ति-
स्तुराक्षसो विधिरुच्यते ॥३१॥ क्रीत्वा स्वग्रंवाप्युत्पादपरोपकृत-
मेव वा । देवान्पितृश्चार्चयित्वा खादन्मांसं न दुष्यति ॥३२॥”

अर्थ—“यज्ञ के निमित्त मांसभक्षण करना देवविधि है और इस के सिवाय मांसभक्षण राक्षसविधि कही है ॥३१॥ मोल लेकर अथवा आप ही

मार कर या दूसरे किसी ने लाकर दिया हो, उस को देवता और पितरों को चढ़ा कर खाने से दोष नहीं" । (४ पुस्तकों में "परोपहतम्" पाठ है । मनु तो ११ वें अध्याय में इसी प्रशिक्षादि का भक्ष्य कहेंगे) ॥३२॥

“नाद्यादविधिना मांसं विधिज्ञोऽनापदि द्विजः । जग्धत्रा ह्यविधिना मांसं प्रेत्य तैरद्यतेऽवशः ॥३३॥ न तादृशं भवत्येनो मृगहन्तुर्धनार्थिनः । यादृशं भवति प्रेत्य वृथामांसानि खादतः३४”

“अर्थ—अनापति में विधि का जानने वाला द्विज विना विधिके मांस भक्षण न करे क्योंकि विना विधि के जो मांस भक्षण करता है, उस के मरने पर जिन का मांस उस ने खाया है, उसे वे खाते हैं ॥३३॥ रोजगार के लिये जो पशु मारते हैं, उन को वैसा पाप नहीं होता जैसा कि विना देवपितरों को चढ़ाये मांसभक्षण करने वाले को पाप होता है ॥ ३४ ॥”

“नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नास्ति मानवः । स प्रेत्य पशुतां याति संभवानेकविंशतिमू३५असंस्कृतान्पशून्मन्त्रैर्नाद्याद्विप्रः कदाचन।मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्याच्छाश्वतंविधिमास्थितः॥३६॥”

“अर्थ—मधुपर्क या आहु में विधि से नियुक्त हुवा जो मांसभक्षण न करे वह मरके इक्कीस बार पशुयोनि में जन्म लेता है (इस विंगई को तो देखो कि खाने वाले को दोष न मानना तो एक ओर रहा, न खाये तो २१ जन्म तक पशु बने । क्या इस से भी मांसभक्षो वाममार्गियों का प्रक्षेप नहीं जान पड़ता ?) ॥ ३५ ॥ मन्त्रों से जिन का संस्कार नहीं हुवा, उन पशुओं को विप्र कभी भक्षण न करे और शाश्वत वेद की विधि से यागादिकों में संस्कृत किये हुवों को भक्षण करे (किसी वेदानुकूल यज्ञ में पशुवध विहित धर्म नहीं, श्रौतसूत्रों में जो कुछ है, वह भी इन्हीं वाममार्गियों की लीला है) ॥३६॥

“कुर्याद् घृतपशुं सङ्गे कुर्यात्पिष्टपशुं तथा । न त्वेत्र तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेत्कदाचन॥३७॥ यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वोह मारणम् । वृथापशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि ॥३८॥”

“अर्थ—खाने की इच्छा ही हो तो घृत का पशु वा पिष्ट (सैदा) का पशु घनाकर यथाविधि खावे परन्तु विना देवता के उद्देश पशु मारने की इच्छा

न करे (धन्य !!! आटा वा घृत को भी पशु के आकार बना कर रुचता है !!! इसी से कोई २ गुप्त वाममार्गी वाह्यभीरु यज्ञ में भी आटे वा घृत के पशु बनाया करते थे, यह प्रसिद्ध है) ॥३७॥ विना देवता के उद्देश जो पशु मारता है वह मरने पर जितने पशु के रोम हैं उतने ही जन्मों तक अन्यों से मारा जाता है (हमारी सम्मति में तो देवतों का नाम न लेकर खाने वाले पापी इतने बढ़िया कलङ्की नहीं हैं, जितने ये हैं । ५ पुस्तकों में " कृत्वेह " पाठभेद है) ॥ ३८ ॥ "

“यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा । यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्मादयज्ञे वधोऽवधः ॥३९॥ ओषध्यः पशवो वृक्षः स्तिर्यञ्चः पक्षि-
णस्तथा । यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृज्यः पुनः ॥४०॥”

“ अर्थ—ब्रह्मा ने स्वयं ही सब यज्ञ की सिद्धि वृद्धि के अर्थ पशु बनाये हैं, इस लिये यज्ञ में पशुवध वध नहीं है (८ पुस्तकों में यज्ञोऽस्य ” पाठ है) ॥ ३९ ॥ ओषधि, पशु, वृक्ष, कूर्मादि और पक्षी; यज्ञ के अर्थ मारे जावें तो उत्तम योनि को प्राप्त होते हैं ॥ ४० ॥ ”

“मधुपर्कं च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि । अत्रैव पशवो हिंस्या
नान्यन्त्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥४१॥ एष्वर्थेषु पशून् हिंसन्वेदतत्त्वार्थ-
विदुद्विजः । आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमां गतिम् ॥४२॥”

“ अर्थ—मधुपर्क, यज्ञ और आहुतया देवकर्म; इन में ही पशुवध करे, अन्यत्र नहीं करे “ यह मनु ने कहा है ” (जो हां आप के भी हृदय में सन्देह है कि कदाचित् कोई इस को मनुवाक्य न समझे । घोर की डाढ़ी में तिनका) ॥ ४१ ॥ वेद का तत्त्वार्थ जानने वाला द्विज इन्हीं मधुपर्कादि में पशुहिंसा करता हुआ आप और पशु दोनों को उत्तम गति प्राप्त कराता है । (तौ पहले अपने पुत्रादि को भेट चढ़ाकर उत्तम गति क्यों न दिखलाई जावे? २६ से ४२ तक १७ श्लोक निकाल कर २५ वें से ४३ वें को मिला कर पढ़िये तौ प्रकरण ठीक मिल जाता है और इस मांस की विधि को मनु में मिलाने वाले ने ऐसी अधिकता से मिलाया है कि एक ही बात (आहुतादि न करके मांस न खावे) अनेक बार विष्टपेषण करता हो जाता है । यह मांसभक्षण किसी कर्म में मनु का संमत नहीं है, इस का निषेध मनु ने स्वयं इसी अध्याय के ४३ वें से ५५ वें तक १३ श्लोकों में बड़े बलपूर्वक किया है और

धीरेवार इस की धुराई, धिनीनापन, दूषितता एवं पापता सब बतलाई हैं, विदुराईयें यज्ञ में कैसे दूर हो सकती हैं। और मनु जब मांस को राक्षसादि का भोजन मानते हैं, तो देवकार्य में कैसे ग्राह्य हो सका है। ये श्लोक अवश्य प्रसिद्ध हैं जैसा कि महाभारत मोक्षधर्मपर्व में कहा है कि—

सर्वकर्मस्वहिंसां हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत् ।

कामकाराद्विहिंसन्ति बहिर्वेदां पशून्धराः ॥

धर्मात्मा मनु ने सब कर्मों (वैश्वदेवादि) में अहिंसा ही कही थी परन्तु अपनी इच्छा से शास्त्रवाच्य यज्ञवेदी पर लोग पशुओं को मारते हैं ॥४२॥

गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्नात्मवान्द्विजः । नाऽवेदविहितां हिंसां पदापि समाचरेत् ॥४३॥ या वेदविहिता हिंसा नियता-स्मिंश्चराचरे । अहिंसामेव तां विद्याद्वेदादुर्मोहि निर्वभौ ॥४४॥

अर्थ—गृहस्थाश्रम वा ब्रह्मचर्याश्रम वा वानप्रस्थाश्रम में रहता हुआ जितेन्द्रिय द्विज, अशास्त्रोक्त हिंसा आपत्काल में भी न करे ॥४३॥ इस जगत् में जो वेदविहित हिंसा चराचर में नियत है उस को अहिंसा ही जाने, (हिंसक मनुष्यों वा सिंह सर्पादि के दण्ड से तात्पर्य है, इसी को अगले श्लोक में अहिंसकों के निषेध से स्पष्ट किया है) क्योंकि वेद से धर्म का ही प्रकाश हुवा है ॥४४॥

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया । स जीवश्च मृत-श्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥४५॥ यो बन्धनवधक्लेशाः प्राणिनां न चिकीर्षति । स सर्वस्य हितमेतसुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ ४६ ॥

अर्थ—जो अहिंसक प्राणियों को अपने सुख की इच्छा से मारता है, वह पुरुष इस लोक में जीवता और परलोक में सरकर सुख नहीं पाता ॥४५॥ जो पुरुष प्राणियों को बान्धने वा मारने के क्लेश देना नहीं चाहता, वह सब के हित की इच्छा करने वाला अनन्त सुख को प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

यदध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च । तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किञ्चन ॥४७॥ नाऽकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् । न च प्राणिबधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥४८॥

अर्थ—वह जो कुछ शोचता है, जो कुछ करता है और जिस में धृति बांधता है, वह सब उसे सहज में प्राप्त होजाता है, जो कि किसी को नहीं मारता ॥४९॥ प्राणियों की हिंसा किये बिना मांस कभी उत्पन्न नहीं हो सक्ता और प्राणियों का वध स्वर्ग का देने वाला नहीं, अतः मांस को वर्ज देवे ॥ ४८ ॥
समुत्पत्तिं च मांसस्य वधवन्धौ च देहिनाम् । प्रसमीक्ष्य निवर्तते
सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥ ४९ ॥ न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा
पिशाचवत् । स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते ॥ ५० ॥

अर्थ—मांस की (घिनौने शुक्र शोणित से) उत्पत्ति और प्राणियों के वध और बन्धन (क्रूरकर्मों) को देख कर सब प्रकार के मांसभक्षण से बचे ॥४९॥ जो विधि छोड़ कर पिशाचवत् मांसभक्षण नहीं करता वह लोगों में प्यारा होता और रोगों से कभी पीड़ित नहीं होता (इस से मांसभक्षण रोगकारक भी समझना चाहिये और प्रत्यक्ष जब से मांसभक्षणादि दुराचार फैले हैं, तब से रोग भी अधिक देखे जाते हैं) ॥ ५० ॥

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयो ।

संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥ ५१ ॥

“स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।

अनर्थ्यं पितृन् देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत्” ॥ ५२ ॥

अर्थ—१—जिस की सम्मति से मारते हैं, २—जो अङ्गों को काटकर अलग अलग करता है, ३—मारने वाला, ४—खरीदने वाला, ५—बेचने वाला, ६—पकाने वाला, ७—परोसने वाला, तथा ८—खाने वाला; ये ८ सब घातक हैं ॥ ५१ ॥
“ देव और पितरों के पूजन बिना जो पराये मांस से अपना मांस बढ़ाने की इच्छा करता है उस से बढ़कर कोई पाप करने वाला नहीं ॥ ५२ ॥”

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः । मांसानि च न खादेश्च
स्तयोः पुण्यफलं समम् ॥ ५३ ॥ फलमूलाशनैर्मर्धैर्मुन्यन्नानां च
भोजनैः । न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात् ॥ ५४ ॥

अर्थ—जो सौ वर्ष तक प्रतिवर्ष अश्वमेधयज्ञ करता है और जो जन्म-पर्यन्त मांस भक्षण नहीं करता, दोनों को पुण्यफल समान है ॥ ५३ ॥

(५३ वें से आगे ३ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक देखा गया है:-

[सदा यजति यज्ञेन सदा दानानि यच्छति ।

स तपस्वी सदा विप्रो यश्च मांसं विवर्जयेत्] ॥

अर्थात् जो ब्राह्मण मांस नहीं खाता वह मानो सदा यज्ञ करता है और दान देता है, वह तपस्वी है) ॥५३॥ पवित्र फल मूल के भोजन और मुनियों के अन्न खाने से वह फल नहीं, जो मांस के छोड़ने से प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्भ्यहम् ।

एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥५५॥

“न मांसभक्षणे दोषो न मद्यो न च मैथुने ।

प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥५६॥”

अर्थ-इस लोक में जिस का मांस मैं खाता हूँ परलोक में (मांसः) वह मुझे खायगा । विद्वान् लोग यह मांस का मांसत्व कहते हैं ॥५५॥ “ मांसभक्षण और मद्यपान तथा मैथुन में मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, इस लिये इस में दोष नहीं और इन को छोड़ देवे तो बड़ा पुण्य है” ॥ (स्वाभाविक बच्चे को तो मांस से घिन होती है । तथा यह श्लोक निषेध के प्रकरण में अनुचित भी स्पष्ट है । कोई लोग खँचातानी से कई अर्थ करते हैं परन्तु वे अक्षरार्थ और ध्वन्यर्थ से बाहर हैं ॥ यद्यपि ये १३ श्लोक ५३ से ५५ तक मांसभक्षणनिषेधविषयक धर्मशास्त्र के सिद्धान्तानुकूल होने से हम को सभी मान्य हैं, परन्तु इन में से ५३ । ५४ । ५५ वें श्लोकों की शैली नवीन सी है और ऐसा सन्देह होता है कि ये श्लोक तब मांसनिषेधार्थ मिलाये गये हैं जब कि मांसविधान के श्लोक मिलाये जा चुके थे) ॥ ५६ ॥

प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं तथैव च । चतुर्णामपि वर्णानां
यथावदनुपूर्वशः ॥ ५७ ॥ दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च
संस्थिते । अशुद्धा बान्धवाः सर्वे सूतके च तथोच्यते ॥५८॥

अर्थ-अब चारों वर्णों की यथावत् क्रम से प्रेतशुद्धि और द्रव्यशुद्धि आगे कहूंगा ॥५७॥ दांत निकलने पर ही वा दांत निकलने के अनन्तर और चूड़ाकर्म होने पर मरने से सब बान्धवों की अशुद्धि और सूतक लगता है ॥ ५८ ॥

दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते । अर्वाक्संचयनाद-
ऽस्थनां त्र्यहमेकाहमेव च ॥ ५९ ॥ सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे
विनिवर्तते । समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नो रवेदने ॥ ६० ॥

अर्थ—सपिण्डों में सूतक का आशौच दश दिन रहता है, किन्हीं को
अस्थिसञ्चयन तक, किन्हीं को ३ दिन और किन्हीं को १ दिन ही (इसमें
ज्ञान और आचार की न्यूनाधिकता ही कारण है। जो गुणों से जितना हीन
हो उतना ही उसे सूतक अधिक होता है। जैसे १। २। ३ दिन बढ़ाये हैं
और सर्वगुणों से रहित हो तो १० दिन आशौच होता है) ॥ ५९ ॥ सातवीं पीढ़ी
में सपिण्डता का सम्बन्ध छूट जाता है और कुल में उत्पन्न हुओं के नाम
जन्म भी स्मरण न रहें तब समानोदकता छूट जाती है ॥ ६० ॥

यथेदं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते ।

जननेऽप्येवमेव स्यान्निपुणं शुद्धिमिच्छताम् ॥ ६१ ॥

अर्थ—जैसा मरने में सपिण्डों को यह आशौच कहा है, वैसे ही पुत्रादि उत्पन्न
होने में भी अच्छी शुद्धता की इच्छा करने वालों को (आशौच) होता है ॥

(६१ वें से आगे ॥ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:—

[उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते ।

दानं प्रतिग्रहो यज्ञः स्वाध्यायश्च निवर्तते] ॥

जन्म और मृत्यु दोनों में १० दिन तक कुल का अन्न भोजन नहीं किया
जाता । देना, लेना, यज्ञ और स्वाध्याय रुके रहते हैं ॥ इस प्रकरण में
सपिण्ड शब्द से किसी को सूतकआहु का भ्रम न हो, किन्तु शरीर का नाम
पिण्ड है । सात पीढ़ी तक पूर्वज के वीर्य से थोड़ा बहुत प्रभाव सन्तानों में
चलता है, इस के पश्चात् श्लोक ६० के अनुसार सपिण्डता नहीं रहती । और
जो जिस को जब तक जानता रहे कि अमुकनामा पुरुष हमारे वंश में था,
उस की सन्तान तब तक आपस में श्लोक ६० के उत्तरार्धानुसार समानोदक
होती हैं) ॥ ६१ ॥

सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम् ।

सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥ ६२ ॥

अर्थ—मृतनिमित्त आशौच सब सर्पिण्डों को और जन्मनिमित्त आशौच माता पिता को ही रहता है । उस में भी पिता स्नान करने से शुद्ध हो जाता है, माता को ही सूतक रहता है ॥

(६२ वें से आगे भी ४ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक प्रक्षिप्त है—

[सत्रधर्मप्रवृत्तस्य दानधर्मफलैषिणः ।

त्रेताधर्मापरोधार्थमारण्यस्यैतदुच्यते] ॥

जो ज्ञानयज्ञ में प्रवृत्त है और दान धर्म का फल चाहता है, त्रेतायुग के धर्म (ज्ञान) के अनुरोधार्थ उस घानप्रस्थ के लिये यह विधान है । इस पर सब से अन्तिम रामचन्द्र ने भाष्य किया है । अन्य किसी ने नहीं) ॥६२॥

“निरस्य तु पुमान् शुक्रमुपस्पृश्यैव शुद्ध्यति ।

वैजिकादभिसंबन्धादनुरुन्ध्यादऽघं त्रयहम् ॥६३॥”

अह्ना चैकेन रात्र्या च त्रिरात्रैरेव च त्रिभिः ।

शवस्पृशोविशुध्यन्ति त्र्यहादुदकदायिनः ॥६४॥

“अर्थ—पुरुष अपना वीर्य को निकाल कर स्नानमात्र से शुद्ध होता है और पराई भायों में पुत्र उत्पन्न करने से तीन दिन आशौच रहता है” ॥

(६३ वां श्लोक भी प्रक्षिप्त जान पड़ता है । एक तौ सूतक मृतक के बीच में वीर्य निकालने की अशुद्धि का वर्णन मनु की इस प्रतिज्ञा के विरुद्ध है जो ५१ वें श्लोक में की गई है । दूसरे परस्त्रीप्रसङ्ग वा उस के सन्तानोत्पादनरूप पाप पर केवल ३ दिन का प्रायश्चित्तमात्र भी सब धर्मशास्त्र के प्रतिकूल और अन्यर्थ्य है । किसी पुस्तक में ६३ से आगे भी यह श्लोक अधिक है -

[जननेऽप्येवमेव स्यान्मातापित्रोस्तु सूतकम् ।

सूतकं मातुरेव स्यादुस्पृश्य पिता शुचिः ॥]

जन्म में भी ऐसे ही माता पिता को सूतक लगता है कि माता को ही सूतक और पिता स्नान करके शुद्ध है) ॥६३॥ सूतक के स्पर्श करने वाले १ और ३ गुणा ३=९=१० दिन रात में शुद्ध होते हैं और (मरते समय कण्ठ में) पानी देने वाले (वा अस्थिसङ्घयन में चिता पर जल छिड़ने वाले) तीसरे दिन शुद्ध होते हैं ॥ ॥ ६४ ॥

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन् । प्रेतहारैः समं तत्र
दशरात्रेण शुद्ध्यति ॥६५॥ रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भस्त्रावे वि-
शुद्ध्यति । रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्त्रला ॥६६॥

अर्थ—मृत गुरु की अन्त्येष्टि करता हुआ शिष्य, प्रेत=मुर्दा उठाने वालों
के साथ दशवें दिन शुद्ध होता है ॥६५॥ जितने मास का गर्भस्त्राव हो उतने
दिन में स्त्री शुद्ध होती है और रजस्त्रला स्त्री जिस दिन रज की निवृत्ति हो
उस दिन स्नान करके शुद्ध होती है ॥ ६६ ॥

नृणामकृतचूडानां विशुद्धिर्नैशिकी स्मृता ।

निर्वृत्तचूडकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥६७॥

अर्थ—जिन बालकों का चूडाकर्म नहीं हुआ, उन के मरने से एक दिन
में और जिन का चूडाकर्म हो गया है उन के मरने से तीन दिन में शुद्धि
होती है ॥ (६७ वें से आगे ३ श्लोक और भी १ पुस्तक में प्रतिपादित मिलते हैं—

[प्राक्संस्कारप्रमीतानां वर्णानामविशेषतः त्रिरात्रात्तु भवेच्छुद्धिः
कन्यास्वहोविधीयते ॥१॥ अदन्तजन्मनः सदा व्याचूडान्नैशिकी
स्मृता ॥ त्रिरात्रमात्रतादेशाद्दशरात्रमतः परम्परपूर्वसुभार्यासु
पुत्रेषु प्रकृतेषु च । मातामहे त्रिरात्रं तु एकाहं त्वऽसपिण्डतः ३]

सब वर्णों के बच्चे जो संस्कार से पूर्व मर गये हों उन की तीन दिन में
शुद्धि होती है और कन्याओं की एक दिन में ॥१॥ जिस के दांत न जमे हों
उस की तत्काल और फिर चूडाकर्म तक आयु वाले की एक रात्रि भर
और फिर उपनयन संस्कार आयु वाले की ३ रात्रि और उस के पश्चात् १०
रात्रि की अशुद्धि है ॥२॥ जो स्त्री प्रथम किसी अन्य की थीं उन की और
उन में जन्मे पुत्रों की और नाना की अशुद्धि ३ रात्रि तक है । असपिण्ड
गोत्रियों की एक दिन है ॥ ३ ॥) ॥ ६७ ॥

ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं निदध्युर्बान्धवा बहिः ।

अलंकृत्य शुचौ भूमावस्थिसञ्जयनादृते ॥६८॥

अर्थ—जिस की आयु के पूरे दो वर्ष न हुवे हों ऐसे मृत बालक को
बान्धव लोग ग्रामादि के बाहर शुद्धभूमि में स्वच्छ करके दबा देंगे । विना
अस्थिसञ्जयन के (अर्थात् दाह और अस्थिसञ्जयन विना ही) ॥ ६८ ॥

नास्यकार्योग्निसंस्कारो न च कार्योदकक्रिया। अरण्येकाष्ट्र-
त्यक्ता क्षपेयुस्तत्रहमेव च ॥६९॥ नाऽत्रिवर्षस्य कर्तव्या बान्ध-
वैरुदकक्रिया। जातदन्तस्य वा कुर्युर्नान्निषापि कृते सति ॥७०॥

अर्थ—इस (पूर्वोक्त बच्चे) का अग्निसंस्कार न करे, इस की उदकक्रिया (अस्थिसञ्चयनादि) भी न करे, किन्तु जङ्गल में काष्ठवत् दवा देवे और तीन दिन आशीच रखे ॥ ६९॥ अथवा-जिस के तीन वर्ष पूरे न हुवे हों, उस बालक की बान्धव उदकक्रिया न करें, अथवा जिस के दांत ही उत्पन्न हुवे हों वा नामकरण ही हुवा हो उस के दाहादि संस्कार करें तो अच्छा है (यह दूसरा पक्ष है) ॥ ७० ॥

सब्रह्मचारिण्येकाहमतीते क्षपणं स्मृतम् ।

जन्मन्येकोदकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ७१ ॥

“स्त्रीणामसंस्कृतानां तु त्र्यहाच्छुद्ध्यन्ति बान्धवाः ।

यथोक्तेनैव कल्पेन शुद्ध्यन्ति तु सनाभयः” ॥ ७२ ॥

अर्थ—सहाध्यायी के मरने में एक दिन आशीच कहा है और सनानो-
दकों के पुत्रादि जन्मे तो तीन दिन में शुद्धि चाही है ॥ ७१॥ “जिन स्त्रियों का
संस्कार नहीं हुआ उन के मरने में उन के बान्धव और उन के सनाभि भी
तीसरे दिन शुद्ध होते हैं” ॥ (७२ वें से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक
है, जो कि ६९ वें के आगे दिखाये ३ अधिक श्लोकों में से तीसरे प्रक्षिप्त के
सा आशय रखता है, परन्तु चतुर्थ पाद उस के ठीक विरुद्ध है—

[परपूर्वासु पुत्रेषु सूतके मृतकेषु च ।

मातामहे त्रिरात्रं स्यादेकाहं तु सपिण्डने]

पूर्वली पराई स्त्रियों में, उन के जन्म तथा मृत्यु और नाना के मृतक
में ३ दिन में शुद्धि होती है परन्तु सपिण्डों में १ रात्रि में ही) ॥ ७२ ॥

“अक्षारलवणान्नाः स्यूनिमज्जेयुश्च ते त्रयहम् ।

मांसाशनं च नाश्नीयुः शयीरंश्च पृथक् क्षितौ ॥७३॥”

“अर्थ—क्षारलवणरहित अन्न का भोजन करें और तीन दिन स्नान करें
और मांस भक्षण न करें और भूमि पर अकेले सोवें । (७२ वें से अगला श्लोक

तौ एक ही पुस्तक में मिलता है, सब में नहीं। परन्तु ७२ वां और ७३ वां भी प्रक्षिप्त ज्ञान पड़ता है। क्योंकि असंस्कृत स्त्रियों का आशौच जब पुरुषों के समान है तौ पृथग्विधान व्यर्थ है। और जो लोग सगार्ह मात्र का अर्थ करते हैं सो धर्मशास्त्रों में सगार्ह कोई संस्कार १६ संस्कारों में से नहीं है। ७३ वें से ३ दिन स्नानविधान कहना असङ्गत है क्योंकि आशौच १० दिन और स्नान ३ दिन कैसा? जब कि बिना सूतक सूतक भी नित्य शरीरशुद्धिकर्तव्य है। मांस का निषेध भी व्यर्थ है, जब कि सब काल में ही मांस निषिद्ध है। ७५ वें श्लोक से यह प्रेतशुद्धि का वर्णन आरम्भ हुवा है, जिस के साथ २ कहीं जन्मशुद्धि को भी कहते जाते हैं। यथार्थ में जन्म और मृत्यु दो संसार में बड़ी घटना हैं। इन से बढ़ कर कोई घटना नहीं। जिन में एक हर्ष और दूसरी शोकका कारण सर्वसाधारण के लिये होती है। जन्म समय १० मास का रुका मल जिस घर में निकलता है और वायु तथा अन्य घर के पदार्थों पर अपना प्रभाव डालता है, कुटुम्बी लोण तौ हानि लाभ के साथी सांझी हैं, उन्हें संसर्ग से बचना कठिन है, परन्तु अन्य वर्ण पास पड़ौसी आदि को स्वाभाविक रीति पर कुछ दिन अवश्य उस घर के पदार्थों से होती है। इसलिये अपवित्रता के परिमाण से न्यूनाधिक यथासंभव सूतक लगाया गया है। ऐसे ही सूतक भी। अग्नि सूर्य काल वायु आदि पदार्थ उस अशुद्धि को क्रम से घटाते हैं (देखो १७५) और लीपने पोतने धोने सांजने आदि से भी क्रमपूर्वक शुद्धि होती है। इसलिये जितना २ सम्बन्ध समीप है वा जितना २ जिस २ वर्ण आश्रम आदि के विचार से जिस को अधिक संसर्ग संभव देखा उसको अधिक सूतक सूतक का आशौच विधान किया है। सूतक आशौच में मरने वाले की आयु की न्यूनाधिकता से बान्धवादि के संसर्ग में भी न्यूनाधिकता देखकर आशौच की न्यूनाधिकता कथन की गई है। एक बात अधिक विचारणीय है कि दो वर्ष से न्यून आयु वाले बच्चों का गाढ़ना क्यों कहा, जब कि दाहसंस्कार वेदोक्त है। इस में एक पक्ष यह भी ७० वें श्लोक में किया है कि जिसका नामकरण हो गया वा जिसके दांत निकल आये, उसके दाहादि संस्कार करने चाहिये॥ यथार्थ में दाह करने का तात्पर्य यही है कि मरने वाले देही ने संसारयात्रा में मल संसर्ग से शरीरपर बहुत बड़ी मलिनता संग्रह करली है। वह मलिनता अन्य जीवते प्राणियों को वायु में परिणत हो २ कर दीर्घकाल तक रोगादि का हेतु न हो। परन्तु संसार के सभी कार्य

आरम्भ काल में “नहीं” के समीप २ होते हैं । ऐसे ही गर्भस्थिति से नाम-करण तक उस मलिनता का संग्रह उस के शरीर में बहुत कम होता है । कहीं न कहीं मर्यादा रखनी ही पड़ती कि यहां से आगे दाहसंस्कार द्वारा निवारण करने योग्य मलिनता का आरम्भ है । इस से पूर्व सूक्ष्मरूप पृथिवीस्य अग्नि ही उसे भस्म करने में समर्थ समझा गया । और जन्मते बच्चे को दाह विधान करते तब भी यह शङ्का रह ही जाती कि गर्भपात वा गर्भस्त्राव का दाह क्यों न करना चाहिये । इस से आगे वीर्यपात मात्र के दाह की भी आशङ्का होती । इस लिये शास्त्रकार ने दाह की योग्यता की अवधि नियत करके मर्यादा स्थापित करदी है । विशेष स्वयं बुद्धिमान् विचार सक्ते हैं । मृत्यु में शोक भी एक प्रकार की भीतरी मलिनता, आशौच का कारण है) ॥७३॥

सन्निधावेप वै कल्पः शावाशौचस्य कीर्तितः ।

असन्निधावयं ज्ञेयोविधिःसंबन्धिवान्धवैः ॥७४॥

अर्थ—यह समीप रहने में मृतसम्बन्धी आशौच का विधान कहा और विदेश रहने में उस के सम्बन्धी बान्धव आगे कहे अनुसार आशौच विधान जानें ॥ ७४ ॥

त्रिगतं तु विदेशस्य ऋणुयादोह्यनिर्दशम् ।

यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत् ॥ ७५ ॥

अर्थ—विदेश में मरा हो और और १० दिन पूरे न हुवे हों तो सुनने पर जितने दिन १० दिन में शेष हों उतने दिन आशौच रहे ॥

(७५ वें के आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है—

[मासत्रये त्रिरात्रं स्यात्षण्मासे पक्षिणी तथा ।

अहरस्तु नवमादवागूध्वं स्नानेन शुध्यति ॥]

तीन मास बीतने पर सुने ती ३ रात्रि तक आशौच और छः मास बीतने पर १॥ दिन और ९ वें मास के भीतर १ दिन तथा इस के पश्चात् स्नान मात्र से शुद्ध होता है) ॥ ७५ ॥

अतिक्रान्ते दशाहे च त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।

संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापोविशुध्यति ॥ ७६ ॥

अर्थ—और दश दिन व्यतीत होने के अनन्तर सुने तो तीन दिन आशीच रहै, परन्तु एक वर्ष बीत गया होतो स्नान करने से ही शुद्ध हो जाता है ॥५६॥
निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म चासवासा जलमाप्लुत्य शुद्धोभवति मानवः ॥५७॥ बाले देशान्तरस्थे च पृथक्पिण्डे च संस्थिते । सवासा जलमाप्लुत्य सद्यएव विशुद्ध्यति ॥५८॥

अर्थ—दश दिन होजाने पर ज्ञातिमरण या पुत्र का जन्म सुन कर मनुष्य सधैल स्नान करके शुद्ध होता है ॥५७॥ सगोत्र बालक देशान्तरस्थ तथा अस-पिण्ड का मरण(सुनके)सधैल स्नान करने से उसी समय शुद्ध हो जाता है ॥ ५८॥
अन्तर्दशाहे स्यातांचेत्पुनर्मरणजन्मनी।तावत्स्यादशुचिर्विप्रो यावत्तस्यादनिर्दशम् ॥५९॥ त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्यसंस्थिते सति । तस्य पुत्रे च पत्न्यां च दिवारात्रमिति स्थितिः ॥६०॥

अर्थ—दशाह के बीच में यदि पुनः किसी के मरने वा उत्पन्न होने से आशीच हो जावे तो विप्र तब तक शुद्ध न होगा जब तक कि उस के दश दिन पूरे न हो जावें ॥५९॥ आचार्य के मरने में शिष्य को तीन दिन आशीच रहता है और आचार्य के लड़के या स्त्री के मरने में एक दिन ॥ ६० ॥

ओत्रिये तूपसंपन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्तमातुले पक्षिणीं रात्रिं शिष्यत्विर्गव्यान्धवेषु च ॥६१॥ प्रेते राजनि सज्योतिर्यस्य स्याद्विषये स्थितः । अओत्रिये त्वह कृत्स्नमनूचाने तथा गुरौ ॥६२॥

अर्थ—ओत्रिय के मरने में तीन दिन और मासा, शिष्य, अश्विक् और बान्धवों के मरने में षेड दिन आशीच रहता है ॥६१॥ जो जिस के राज्य में रहता हो उस राजा के मरने में सूर्यास्त तक आशीच रहे और जो ओत्रिय न हो तो सारा दिन और जिसने पूर्ण वेदाध्ययन किया हो वा गुरु हो उसका भी ६२

शुध्येद्विप्रोदशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः ।

वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रोभासेन शुद्ध्यति ॥ ६३ ॥

अर्थ—ब्राह्मण १० दिन में, क्षत्रिय १२ दिन में, वैश्य १५ दिन में और शूद्र एक मास में शुद्ध होता है ॥ (६३ से आगे दो पुस्तकों में पहले दो श्लोक और अन्य २ पुस्तकों में चार श्लोक, जो नीचे लिखे हैं, अधिक हैं—

[क्षत्रविट्शूद्रदायादाः स्युश्चेद्विप्रस्य बान्धवाः । तेषामशौचं विप्रस्य दशाहचछुद्दिरिष्यते॥१॥ राजन्यवैश्ययोश्चैवं हीनयो- निषु बन्धुषु । स्वमेव शौचं कुर्वीत विशुद्ध्यर्थमिति स्थितिः॥२॥ त्रिप्रःशुद्धयेद्दशाहेन जन्महानो स्रयोनिषु । षड्भिस्त्रिभिर- ऽप्येकेन क्षत्रविट्शूद्रयोनिषु॥३॥ सर्वे चोत्तमवर्णास्तु शौचंकुर्यु- रतन्द्रिताः । तद्वर्णं विधिदृष्टेन स्वं तु शौचं स्वयोनिषु॥४॥]

हम ३।१३ श्लोक को प्रक्षिप्त बता आये हैं, जिस में ब्राह्मणादि को अपने से नीचे वर्णों की कन्या लेने का विधान है । यहां इन ४ श्लोकों में उन्हीं नीचे विवाह के सम्बन्धियों का मृतक आशौच बताया जाता है । परन्तु ये श्लोक केवल चार पुस्तकों में हैं, सब में नहीं । इस लिये यह तो स्पष्ट ही है कि ये प्रक्षिप्त हैं और यह भी निश्चय होता है कि ३।१३ भी ठीक प्रक्षिप्त था । यदि मनुप्रोक्त होता तो यहां आशौच प्रकरण में उस का आशौच विधान भी सब पुस्तकों में होता ॥

अर्थ—यदि क्षत्रिय वैश्य शूद्र, ब्राह्मण के दायाद बान्धव हों, तौ उन के आशौच में ब्राह्मण की १० दिन में शुद्धि चाही है ॥ १ ॥ इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य की भी अपने से हीन योनि सम्बन्धियों की मृत्यु में अपने वर्णानुसार शुद्धि के लिये शौच करना चाहिये । यह नियम है ॥ २ ॥ ब्राह्मण अपने वर्णस्य सम्बन्धियों के जन्म वा मृत्यु में १० दिन में, क्षत्रियवर्णस्य सम्बन्धियों के जन्म वा मृत्यु में ६ दिन में, वैश्यसम्बन्धियों के ३ दिन में और शूद्रसम्बन्धियों के जन्मादि में १ दिन में शुद्ध होता है ॥३॥ सब उत्तम वर्ण निरालस्य होकर उस २ वर्णस्य सम्बन्धियों का उस २ वर्णानुसार और स्ववर्णस्थों का स्ववर्णानुसार आशौच मानें ॥ ४ ॥) ॥ ८३ ॥

न वर्धयेद्दद्याहानि प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः ।

न च तत्कर्म कुर्वणः सनाभ्योऽप्यशुचिर्भवेत् ॥ ८४ ॥

अर्थ—मरणाऽशौच के दिन न बढ़ावे और अग्निहोत्रादि क्रिया का विधात न करे । उस कर्म के करते हुवे सनाभि भी अशुचि नहीं है ॥ ८४ ॥ दिवाकीर्तिमुदक्यांच पतितं सूतिकां तथा।शवं तत्स्पृष्टिनं चैव

स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति ॥८५॥ आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशु-
चिदर्शने । सौरान्मन्त्रान्यथोत्साहं पावमानीश्च शक्तितः ॥८६॥

अर्थ-चण्डाल, रजस्वला, पतित, प्रसूता, तथा शव और शव के स्पर्श करने
वालों को छूने पर स्नान से शुद्ध होता है ॥८५॥ आचमन करके शुद्ध हुवा मनुष्य
चाण्डालादि के अशुचिदर्शन होने पर सौरमन्त्र (उदुत्यं जातवेदसम्, इत्यादि)
और पवमान देवता वाले मन्त्रों की शक्ति और उत्साह के अनुसार जपे ॥८६॥

नारं स्पृष्ट्वा स्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुद्ध्यति । आचम्यैव तु
निःस्नेहं गामालभ्या कर्मोक्ष्य वा ॥८७॥ आदिष्टी नोदकं कुर्या-
दा व्रतस्य समापनात् समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रेणैव शुद्ध्यति ८८

अर्थ-मनुष्य की स्नेहयुक्त अस्थि छूने से विप्र स्नान करके शुद्ध हो जाता
है और जिस में चिकनाई न हो उस के स्पर्श करने से आचमन ही से वा
गौ=भूमि के स्पर्श से या सूर्य के दर्शन से पवित्र होता है ॥ (यहां दो पुस्तकों
में “गां स्पृष्ट्वा वीक्ष्य वा रविम्” पाठभेद है । और मेधातिथि आदि जहाँ
भाष्यकार “आलभन” का अर्थ “स्पर्श” करते हैं) ॥ ८७ ॥ ब्रह्मचारी व्रत
की समाप्ति पर्यन्त प्रेतोदक न करे । समाप्ति के अनन्तर प्रेतोदक करे तो
त्रिरात्र से ही शुद्ध हो जाता है ॥ ८८ ॥

वृथा संकरजातानां प्रव्रज्या सुचतिष्ठताम् । आत्मनस्त्यागिनां
चैव निवर्तेतोदकक्रिया ॥८९॥ पाषण्डमाश्रितानां च चरन्तीनां
च कामतः । गर्भमर्तदुहां चैव सुरापीनां च योषिताम् ॥९०॥

अर्थ-वृथा वर्णसङ्करों, संन्यासियों और आत्मघातियों की उदकक्रिया
आवश्यक नहीं ॥ ८९ ॥ पाषण्डियों, स्वैरिणियों और गर्भपात, पतिघात,
शरापान करने वाली स्त्रियों की (उदकक्रिया न करे) ॥ ९० ॥

आचार्यं स्वमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम् । निर्हृत्य तु व्रती
प्रेतान्न व्रतेन वियुज्यते ॥९१॥ दक्षिणेन मृतं शूद्रं पुरद्वारेण
निर्हरेत् । पश्चिमोत्तरपूर्वेस्तु यथायोगं द्विजन्मनः ॥९२॥

अर्थ-अपने आचार्य, उपाध्याय, पिता, माता, तथा गुरु के प्रेतकृत्य करने
से ब्रह्मचारी का व्रत भङ्ग नहीं होता ॥९१॥ शूद्र के सुर्द नगर के दक्षिण द्वार से

और वैश्य के पश्चिम, क्षत्रिय के उत्तर और ब्राह्मण के पूर्व से निकाले ॥८२॥
नराज्ञामघदोषोऽस्ति व्रतिनां न च सत्रिणाम् । ऐन्द्रस्थानमुपा-
सीना ब्रह्मभूता हि ते सदा ॥८३॥ राज्ञो माहात्मिके स्थाने सदाः
शौचं विधीयते । प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणम् ॥८४॥

अर्थ—राजा और ब्रह्मचारी वा चान्द्रायणादि व्रत करनेवाले और यज्ञ करने
वालों को आशौच नहीं लगता । क्योंकि ये इन्द्र के पद पर बैठे हुवे और
सदा निष्पाव हैं । (इन्द्रपद शुद्ध स्थान का नाम है, जैसा कि “इन्द्रशुद्धो न
आगहि” इत्यादि । और “इन्द्रशुद्धो हि नो रयिम्” इत्यादि सामवेद उत्त-
रार्चिक १२ । ३ । २ । ३ में लिखा है) ॥८३॥ माहात्मिक राजपद में स्थित राजा
को उसी समय पवित्र कहा है (अर्थात् राज्य से भ्रष्ट क्षत्रियों को सदाः शुद्धि
नहीं है) प्रजा की रक्षार्थ न्यायासन पर बैठना इस में कारण है ॥ ८४ ॥

डिम्बाहवहतानां च विद्युतापार्थिवेन च । गोब्राह्मणस्य चैवार्थे
यस्य चेच्छतिपार्थिवः ॥८५॥ सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप-
त्योर्यमस्य च । अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः ॥८६॥

अर्थ—विना शस्त्र की लड़ाई में और बिजली से तथा राजाज्ञा=फांसी से
और गौ ब्राह्मण की रक्षा के लिये मरे हुवे का और जिस को राजा अपने कार्य
के लिये चाहे उसका (तत्काल शौच कहा है) ॥८५॥ चन्द्र, अग्नि, सूर्य, वायु, इन्द्र,
कुबेर, वरुण और यम, इन आठ लोकपालों का शरीर राजा धारण करता
है (अर्थात् राजा में लोकपालनार्थ ये आठ गुण रहते हैं, जो दिव्य हैं) ॥८६॥

लोकेशाधिष्ठितो राजा नास्याशौचं विधीयते । शौचाशौचं हि
मर्त्यानां लोकेशप्रभवाप्ययम् ॥८७॥ उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्र-
धर्महतस्य च । सदाः संतिष्ठते यज्ञस्तथा शौचमिति स्थितिः ॥८८॥

अर्थ—इन्द्रादि ८ लोकपालों के स्थान पर रहता है इस लिये राजा को
आशौच नहीं कहा । क्योंकि मनुष्यों का शौच और आशौच लोकपालों से
उत्पन्न और नष्ट होता है ॥८७॥ संग्रास में उद्यत शस्त्रों से क्षत्रधर्म से (दिला
लकड़ी से नहीं किन्तु) सामने लड़ाई में मरे का यज्ञ उसी समय समाप्त होता
है और शौच भी तत्काल हो जाता है ॥८८॥

विप्रः शुद्धत्यपः स्पृष्ट्वा क्षत्रियोवाहनायुधम् । वैश्यः प्रतोदं
रश्मीन्वा यष्टिं शूद्रः कृतक्रियः ॥ ९९ ॥ एतद्वोऽभिहितं शौचं सपि-
ण्डेषु द्वेजोत्तमाः । असपिण्डेषु सर्वेषु प्रेतशुद्धिं निबोधत ॥ १०० ॥

अर्थ—प्रेतक्रिया करके ब्राह्मण जल को स्पर्श करे, क्षत्रिय गस्त्र और वाह-
नादि को तथा वैश्य हांकने के दण्डे या लगाम को और शूद्र लाठी को छूके शुद्ध
होता है (अर्थात् आशौच समाप्त के दिन इन १ को ये २ वस्तु छूनी चाहियें,
यह रीति है) ॥ ९९ ॥ हे द्विजश्रेष्ठो ! यह सपिण्डों में आशौच विधान तुम
से कहा और असपिण्डों में प्रेतशुद्धि का विधान (आगे) सुनो ॥ १०० ॥

असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत् विशुध्यति त्रिरात्रेण
मातुराप्तांश्च बान्धवान् ॥ १०१ ॥ यदन्नमस्ति तेषां तु दशाहेनैव
शुध्यति । अनदन्नन्नमन्हैव न चेत्तस्मिन्गृहे वसेत् ॥ १०२ ॥

अर्थ—यदि ब्राह्मण असपिण्ड मृत द्विज का स्नेह से बन्धु के समान अन्त्ये-
ष्ट्यादि कर्म करे और माता के सम्बन्ध वाले बान्धवों के दाहादि करे तो
तीन दिन में शुद्ध होता है ॥ १०१ ॥ जो दाहादि करने वाला विप्र मृतक के
सपिण्डों का अन्न खाता हो तो १० दिन में और जो दन का अन्न न खाता
हो और उस घर में भी न रहता हो तो एक दिन में शुद्ध हो जाता है ॥ १०२ ॥

अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव चास्नात्वा सचैलः स्पृष्ट्वाग्निं
घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥ १०३ ॥ न विप्रं स्वेपु तिष्ठत्सु मृते शूद्रेण
नाययेत् । अस्त्रगर्भाद्वाहुतिः सा स्याच्छूद्रसंस्पर्शदूषिता ॥ १०४ ॥

अर्थ—स्वजाति वा अन्यजाति के मुर्दे के पीछे जान यूँ कर जाने से सचैल
स्नान, अग्निस्पर्श और घृत को खाकर शुद्ध होता है ॥ १०३ ॥ सजातियों
के रहते हुवे ब्राह्मण के मुर्दे को शूद्र से दाहार्थ न लिवा जावे । क्योंकि शूद्र
के स्पर्श से दूषित आहुति (संसार को) सुख देने वाली न होगी ॥ १०४ ॥

ज्ञानंतपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम् । वायुः कर्मार्ककालौ
च शुद्धेः कर्तृणि देहिनाम् ॥ १०५ ॥ सर्वेषामेव शौचानामर्थं शौचं
परं स्मृतम् । योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारि शुचिः शुचिः ॥ १०६ ॥

अर्थ-मनुष्यों को ये ज्ञानादि शुद्ध करने वाले हैं। ज्ञान, तप, अग्नि, आहार, मृत्तिका, मन, पानी, लीपना, वायु, यज्ञादि, सूर्य और काल (इसी से आशीच और शीच के हेतु समझ लेने चाहिये) ॥ १०५ ॥ इन सब शीचों में अर्थशीच (अन्याय करके दूसरे का धन न लेने की इच्छारूप शीच) सब से श्रेष्ठ कहा है। यदि अर्थशीच नहीं तो मृत्तिकादि से कुछ शुद्धि नहीं होती, जो अर्थ में शुद्ध है वही शुद्ध है ॥ १०६ ॥

क्षान्त्याशुध्यन्तिविद्वांसो दानेनाकार्य कारिणः। प्रचक्षुन्नपापा जप्येन तपसावेदवित्तमाः ॥ १०७ ॥ मृत्तोयैः शुध्यते शोध्यं नदी वेगेन शुध्यति। रजसास्त्री मनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमः ॥ १०८ ॥

अर्थ-जमा से विद्वान् शुद्ध होते हैं। जो यज्ञादि क्रिया नहीं कर सके वे दान से, गुप्त पाप वाले जप से और उत्तम वेद के जानने वाले तप से (शुद्ध होते हैं) ॥ १०७ ॥ मलयुक्त अशुद्ध वस्तु मृत्तिका और जल से शुद्ध होती है। नदी वेग से शुद्ध होती है। मन से दूषित स्त्री रजस्वला होने पर और ब्राह्मण त्याग से (शुद्ध होता है) ॥ १०८ ॥

अद्विर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति। विद्या तपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ॥ १०९ ॥ एष शौचस्य षः प्रोक्तः शारीर-स्य विनिर्णयः। नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः षृणुत निर्णयम् ॥ ११० ॥

अर्थ-पानी से शरीर शुद्ध होते हैं। मन सत्य बोलने से शुद्ध होता है। सूक्ष्म लिङ्ग शरीर से युक्त जीवात्मा विद्या और तप से (शुद्ध होता है)। ज्ञान से बुद्धि शुद्ध होती है ॥ १०९ ॥ यह तुम से शरीरशुद्धि का निर्णय कहा। अथ नानाप्रकार के द्रव्यों की शुद्धि का निर्णय सुनो ॥ ११० ॥

तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्ममयस्य च। भरुमनादिर्मृदां चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ॥ १११ ॥ निर्लेपं काञ्चनं भाण्डमद्विरेव विशुद्ध्यति। अवजमश्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम् ॥ ११२ ॥

अर्थ-सुवर्णादि और हीरा आदि मणियों और संपूर्ण पाषाणमय पदार्थों की राख मिट्टी और पानी से मनीषियों ने शुद्धि कही है ॥ १११ ॥ सौने का वर्तन जिस में उच्छिष्ट न लगा हो और शुद्ध मोती आदि जलज और पत्थर के

वर्तन तथा चांदी के जिन पर नक्षत्र न हो, वे केवल जल से शुद्ध होते हैं ॥११२॥
 अपामग्लेशचसंयोगाद्धिमरौप्यंचनिर्वभौ। तस्मात्तथोःस्वयोन्यैव
 निर्णैको गुणवत्तरः ॥११३॥ ताम्रायःकांस्थरैत्यानां त्रपुणः सी-
 कसस्यच । शौचं यथाहं कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः ॥११४॥

अर्थ—जल और अग्नि के संयोग से चांदी सीना उत्पन्न हुआ है, इसलिये
 इन का शोधन अपनी योनि=पानी और अग्नि से ही बहुत उत्तम है ॥११३॥
 तांबा, लोहा, कांसी, पीतल, लाख, और सोने के वर्तनों को खारखड़े पानी और
 केवल पानी से जिस में जो उचित हो उस से उस का शोधन करे ॥ ११४ ॥

द्रवाणांचैव सर्वेषां शुद्धिराप्लवनं स्मृतम् । प्रोक्षणं संहतानां च
 दारवाणां च तक्षणम् ॥ ११५ ॥ मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना
 यज्ञकर्मणि । चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु ॥११६॥

अर्थ—द्रवों की पिंघला कर लान लेने से और जमे हुएों की प्रोक्षण से
 और लकड़ियों के वर्तनादि की छीलने से शुद्धि होती है ॥११५॥ परन्तु यज्ञकर्म
 में यज्ञपात्रों की हाथ से मार्जन द्वारा और चमसों तथा ग्रहों=संघसी वा
 चिमटों की धोने से शुद्धि होती है ॥ ११६ ॥

चरूणां सुवसुवाणां च शुद्धिरुष्णेनवारिणास्फयशूर्पशकटानां
 च मुसलोलूखलस्य च ॥११७॥ अद्विस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धा-
 न्यवाससाम् । प्रक्षालनेन त्वल्पानामद्विःशौचं विधीयते ॥११८॥

अर्थ—यज्ञपात्र—चरु, स्रव, सुव, स्फय, शूर्प, शकट, ओखली और मुसल
 की शुद्धि गरम पानी से होती है ॥ ११७ ॥ बहुत धान्यों और कपड़ों की
 शुद्धि पानी के प्रोक्षण से और थोड़े हों तो धोने से कही है । (इस से
 आगे दो पुस्तकों में एक श्लोक अधिक पाया जाता है—

[त्रयहकृतशौचानां तु वायसी शुद्धिरिष्यते ।

पर्युक्षणाद्वपनाद्वा मलिनामतिधावनात् ॥

३ दिन में जिन की शुद्धि कही है उन मृत बालकों के वस्त्र उन की
 आयु के अनुसार शुद्ध होते हैं—किन्हीं की छिड़कने, किन्हीं की धूप देने
 और किन्हीं मैले वस्त्रों की अत्यन्त धुलाने से शुद्धि जानों ॥ ११८ ॥

चैलवच्चर्मणां शुद्धिर्वैदलानां तथैव च । शाकमूलफलानां च
धान्यवच्छुद्धिरिष्यते ॥११९॥ कौशेयाविकथोरूपैः कुसुपाना-
मरिष्टकैः । श्रीफलैरंशुपट्टानां क्षौमाणां गौरसर्षपैः ॥१२०॥

अर्थ—चमड़ों और चटाइयों की शुद्धि वखवत होती है और शाक मूल
फलों की शुद्धि धान्य के समान चाही गई है ॥११९॥ रेशमी और ऊनी कपड़ों
की (शुद्धि) रेह वा सुनहरी मिट्टी से और नैपाल के कम्बलों की रीठों से
तथा शणादि घास के कपड़ों की बेल से और छालटी वस्त्रों की श्वेत सरसों
से शुद्धि होती है ॥ १२० ॥

क्षौमवच्छुद्ध्याणां स्थिदन्तमयस्य वा शुद्धिर्विजानताकार्या
गोमूत्रेणोदकेन वा ॥१२१॥ प्रोक्षणात्तृणकाष्ठं च पलालं चैव
शुद्ध्यति । मार्जनोपाज्जनैर्वैश्वं पुनः पाकेन मृण्मयम् ॥ १२२ ॥

अर्थ—खड़ू खड़ू, हड्डी और दांत के पात्रादि की शुद्धि शाख का जानने
वाला पुरुष पानी या गोमूत्र से करे या जैसे छालटी की होती है ॥ १२१ ॥
घास और फूस प्रोक्षण से और घर मार्जन तथा लीपने से और मिट्टी का
वर्तन पुनः आग में देने से शुद्ध होता है ॥ १२२ ॥

मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैर्वा ष्ठीयनैः पूयशोणितैः । संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत
पुनः पाकेन मृण्मयम् ॥ १२३ ॥ संमार्जनोपाज्जनेन सेकेनोत्ते-
खनेन च । गवां च परिवारेण भूमिः शुद्ध्यति पञ्चभिः ॥१२४॥

अर्थ—परन्तु मदिरा, मूत्र, मल, शूक, राध और रक्त से दूषित हुवा
मृत्तिका का पात्र पुनः अग्नि में पकाने से भी शुद्ध नहीं होता ॥ १२३ ॥
मार्जन, लीपने, छिड़कने, खीलने और गौ के वास करने; इन पांचों से भूमि
शुद्ध होती है ॥ १२४ ॥

पक्षिजग्धं गवा घ्रातमवधूतमवक्षुतम् । दूषितं केशकीटैश्च
मृत्प्रक्षेपेण शुद्ध्यति ॥१२५॥ यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद्वन्धोलेपश्च
तत्कृतः । तावन्मृद्धारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥ १२६ ॥

अर्थ—पक्षी ने खाया हो और गाय ने सूँघा हो वा पैर से कुचला हो
तथा जिस के ऊपर छींक दिया हो और जो कीड़ों तथा केशों से दूषित हुवा
हो वह (स्थान) मृत्तिका डालने से शुद्ध होता है ॥ १२५ ॥ अमेध्य (विषादि)

के लेप से समस्त द्रव्यशुद्धियों में जब तक उस का गन्ध और छेप रहे तब तक पानी और मिट्टी से उस को धोवे ॥ १२६ ॥

त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामङ्कल्पयन्। अदृष्टमद्विनि-
र्णितं यच्च वाचा प्रशस्यते ॥ १२७ ॥ आपः शुद्धा भूमिगता वैतृण्यं
यासु गोर्भवेत्। अव्याप्ताश्चेदमेध्येन गन्धवर्णरसान्विताः ॥ १२८ ॥

अर्थ—देवतों ने ब्राह्मणों के तीन पदार्थ पवित्र कहे हैं। एक अदृष्ट, दूसरा जो पानी से धो लिया हो, तीसरे (ब्राह्मण की) वाणी से जो प्रशंसित हो ॥ १२७ ॥ जिस पानी में गाय की प्यास निवृत्त हो सके और अमेध्ययुक्त न हो तथा गन्ध वर्ण रस से ठीक हो, ऐसा पानी भूमि में शुद्ध है ॥ १२८ ॥

नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पण्ये यच्च प्रसारितम् ।

ब्रह्मचारिगतं भैक्षं नित्यं मेध्यमिति स्थितिः ॥ १२९ ॥

“नित्यमास्यं शुचि स्त्रीणां शकुनिः फलपातने ।

प्रस्रवे च शुचिर्वत्सः श्वा मृगग्रहणे शुचिः ॥ १३० ॥”

अर्थ—कारीगरों का हाथ और दुकान में बेचने की जो रक्खा है वह और ब्रह्मचारी की भिक्षा; ये सर्वदा पवित्र हैं। यह शास्त्र की भर्खा है ॥ १२९ ॥ “स्त्रियों का मुख सर्वदा पवित्र माना जाता है तथा पक्षी, फल गिराने में और बखड़े का मुख दोहन के समय और कुत्ते का मुँह शिकार पकड़ने के समय पवित्र माना जाता है” । (यह कानी, स्वार्थी और मांसभक्षियों का प्रक्षेप धर्मशास्त्र से विरुद्ध त्याज्य है) ॥ १३० ॥

“श्वभिर्हतस्य यन्मांसं शुचि तन्मनुरब्रवीत् ।

क्रव्यादिश्च हतस्यान्यैश्चण्डालादौश्च दस्युभिः ॥ १३१ ॥”

अर्थ—“कुत्तों से मारे हुवे का जो मांस है वह पवित्र है । ऐसा मनु ने कहा है और दूसरे व्याघ्र, चील आदि, चण्डाल आदि या दस्युओं के मारे का मांस भी पवित्र है” । (यह भी पूर्व श्लोक के समान प्रक्षेप है। “मनुरब्रवीत्” से भी यही झलकता है” । १३१ वे के आगे ४ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है और इस पर अन्तिम भाष्यकार रामचन्द्र का भाष्य है। अन्यो का नहीं—

[शचिरग्निः शुचिर्वायुः प्रवृत्तोहि बहिश्चरः ।

जलं शुचिं विव्रिक्तस्थं पन्थाः सञ्चरणे शुचिः ॥]

अग्नि शुद्ध है और वायु बाहर बहता हुआ शुद्ध है । एकान्त देश का जल और चलते हुवे मार्ग शुद्ध है) ॥ १३१ ॥

ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः ।

यान्यधस्तान्यमेध्यानि देहाच्चैव मलाश्च्युताः ॥ १३२ ॥

अर्थ—नाभि के ऊपर जो इन्द्रियाँ हैं वे पवित्र और जो नाभि से नीचे हैं वे अपवित्र हैं और देह से निकले मल अशुद्ध हैं ॥ १३२ ॥

मक्षिका विप्रुषश्छाया गौरश्चः सूर्यरश्मयः । रजोभूर्वायुरग्निश्च
स्पर्शं मेध्यानि निर्दिशेत् ॥ १३३ ॥ त्रिणमूत्रोत्सर्गशुद्ध्यर्थं मृदा-
र्यादेयमर्थवत्तद्देहिकानां मलानां च शुद्धिषु द्वादशसत्रपि ॥ १३४ ॥

अर्थ—मक्षिका और उड़ते हुवे छोटे २ जलविन्दु और छाया, गाय, घोड़ा सूर्य की किरण, धूलि, भूमि, पवन और अग्नि; इन सब को स्पर्श में पवित्र समझे ॥ १३३ ॥ मल मूत्र के त्याग और देह के बारहों मलों की शुद्धि के लिये उतनी सृक्तिका और जल लेवे जितने से दुर्गन्धादि मिट सके ॥ १३४ ॥

वसाशुक्रमसृङ्गजामूत्रविड्घ्राणकर्णवित् । श्लेष्माश्रुदूषिका
स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः ॥ १३५ ॥ एका लिङ्गे गुदेति स्रस्तथैकत्र
करे दश । उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता ॥ १३६ ॥

अर्थ—चरवी=वसा, वीर्य, रक्त, मज्जा, मूत्र, विष्टा, नाक का मेल, कान का मेल, कफ, आंसू, आंख की कीचड़ और पसीना, ये मनुष्यों के १२ मल हैं ॥ १३५ ॥ शुद्धि को चाहने वाला मूत्र की जगह एक बार, गुदा में तीन बार, बायें हाथ में दश बार तथा दोनों हाथों में सात बार मिट्टी लगावे (दो पुस्तकों में “तथा वामकरे दश” पाठ है) ॥ १३६ ॥

एतच्छीचंगृस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् । त्रिगुणं स्याद्ब्रह्मस्थानां
यतीनां तु चतुर्गुणम् ॥ १३७ ॥ कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा खान्याचा-
न्त उपस्पृशेत् । वेदमध्येपयमाणश्च अन्नमश्नश्च सर्वदा ॥ १३८ ॥

अर्थ—यह शुद्धि गृहस्थों की है। ब्रह्मचारियों की इस से दूनी और वानप्रस्थों की तिगुनी तथा यतियों की चौगुनी है ॥१३७॥ मल सूत्र करने के पश्चात् शुद्ध होकर आचमन करे और चक्षुरादि का जल से स्पर्श करे। वेद पढ़ने के पूर्व समय तथा भोजन के समय सदा आचमन करे ॥ १३८ ॥

त्रिराचामेदपः पूर्वेद्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम्। शारीरं शौचमिच्छन् हि
स्त्रीशूद्रस्तु सकृत् सकृत् ॥१३९॥ शूद्राणां मासिकं कार्यं वपनं न्याय
वर्त्तिनाम् वैश्यवच्छौचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टं च भोजनम् ॥ १४० ॥

अर्थ—शरीर के पवित्र करने की इच्छा वाला भोजनोत्तर तीन बार आचमन करे, फिर दो बार मुख धोवे और शूद्र तथा स्त्री एक बार ॥१३९॥ न्याय पर चलने वाले शूद्रों का मुखन महीने भर में कराना और सूतकादि में वैश्य के तुल्य शौचविधि तथा द्विजों के भोजन से शेष भोजन है ॥१४०॥

नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्या त्रिप्रुषोऽङ्गे पतन्ति याः ।

न श्मश्रूणि गतान्यास्यान् दन्तान्तरधिष्ठितम् ॥१४१॥

अर्थ—मुख से निकले जो थूक के छींटे शरीर पर गिरते हैं वे और मुख में गई हुई सूँछे और दांत के भीतर रहने वाला अन्न भूँटा नहीं कहाता । ॥ १४१ ॥ (इस से आगे एक पुस्तक में दो श्लोक अधिक हैं:—

[अजाश्च मुखतो मेध्यं गावो मेध्याश्च पृष्ठतः ।

ब्राह्मणाः पादतो मेध्याः स्त्रियो मेध्याश्च सर्वतः ॥

गौरमेध्या मुखे प्रोक्ता अजा मेध्या ततः स्मृता ।

गोः पुरीषं च मूत्रं च मेध्यमित्यब्रवीन्मनुः ॥]

बकरी, घोड़े मुख से पवित्र हैं। गौ पीठ से पवित्र हैं। ब्राह्मण पांव से पवित्र हैं और स्त्रियां सब ओर से पवित्र हैं। गौ का मुख अपवित्र है, परन्तु बकरी का मुख पवित्र है और गौ का गोबर और मूत्र पवित्र है। यह मनु ने कहा है) ॥

स्पृशन्ति बिन्दवः पादौ य आचामयतः परान् ।

भौमिकैस्ते समा ज्ञेया न तैरप्रयतो भवेत् ॥ १४२ ॥

अर्थ-दूसरे के आचमन को जल देने वाले के पैरों पर जो बिन्दु (भूमि से चूट कर) पड़ते हैं उन को भूमि के जलबिन्दु समान जाने । उन से अशुद्ध नहीं होता ॥ १४२ ॥ (इस से आगे भी एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:-

[दन्तवद्वन्तलग्नेषु जिल्लास्पर्शेषु चेन्न तु ।

परिच्युतेषु तत्स्थानान्निगिरन्नेव तच्छुचिः॥]

दांतों में घुसा अन्न दांतों के तुल्य शुद्ध है, परन्तु जीभ से न लगता हो और वह अन्न दांतों से छूटने पर निगलने में ही शुद्ध है) ॥

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथञ्चन । अनिघायैव तद्द्रव्य-
माचान्तः शुचितामियात् ॥ १४३ ॥ वान्तो विरक्तः स्नात्वा तु घृतप्रा-
शनमाचरेत् । आचामेदेव भुक्त्वान्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ॥ १४४

अर्थ-उच्छिष्ट पुरुष से कोई द्रव्य हस्त में लिये हुवे लूगया हो तौ उस द्रव्य को अलग किये बिना ही आचमन करके शुद्ध हो जाता है ॥ १४३ ॥
वमन तथा दस्त जिसे हुवा हो वह स्नान करके (थोड़ा) घृत खावे और भोजन करके वमन किया हो तौ आचमन करके ही और मैथुन वाला स्नान से शुद्ध होता है ॥ १४४ ॥ वें से आगे ४ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:-

[अनृतौ तु मृदा शौचं कार्यं मूत्रपुरीषवत् ।

ऋतौ तु गर्भशङ्कित्वात्स्नानं मैथुनिनः स्मृतम्]

ऋतु से भिन्न काल में मैथुन करने वाले को मिट्टी से शौच करना चाहिये, जैसे मल मूत्र करने से आकर करते हैं, परन्तु ऋतु में गर्भ की शङ्कायुक्त होने से स्नान करना कहा है) ॥ १४४ ॥

सुप्त्वा क्षुत्प्राच भुक्त्वा च निष्ठीव्योक्तानृतानि च । पीत्वा पोऽप्ये-
प्यमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपि सन् ॥ १४५ ॥ एष शौचविधिः कृत्स्नो
द्रव्यशुद्धिस्तथैव चाउक्तोऽयः सर्ववर्णानां स्त्रीणां धर्मान्निबोधत ॥ १४६

अर्थ-सोकर, खींक कर, भोजन करके, शूक कर, (भूल से) झूट बोल कर और पानी पीकर और पढ़ने के पूर्व समय में शुद्ध हुआ भी आचमन करे ॥ १४५ ॥ यह संपूर्ण शौचविधि और सब कर्मों की द्रव्यशुद्धि तुम से कही । अब स्त्रियों के धर्म सुनो ॥ १४६ ॥

बालयावायवत्या वा वृद्धयावापियोषिताः। न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं
किञ्चित्कार्यं गृहेष्वपि ॥ १४७ ॥ बाल्ये पितुर्वशेतिष्ठेत्पाणिग्रा-
हस्य यौवने। पुत्राणां भर्तारि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥ १४८ ॥

अर्थ—बालक या वृद्ध या युवति भी स्त्री स्वतन्त्रता से कोई काम घरों
में भी न करे ॥ १४७ ॥ बाल्य अवस्था में पिता के, यौवन में पति के और
पति मरने पर पुत्रों के अधीन रहे। स्त्री कभी स्वतन्त्र न रहे। (कहीं २
“ पितुर्गृहे पाठ है) ॥ १४८ ॥

पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः। एषां हि विरहेण स्त्री
गर्ह्य कुर्यादुभे कुले ॥ १४९ ॥ सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु
दक्षया। सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ १५० ॥

अर्थ—पिता, भर्ता, पुत्र इन से अलग होना न चाहे क्योंकि इन से
अलग होने से स्त्री दोनों कुलों को निन्दित करती है ॥ १४९ ॥ सर्वदा प्रसन्न-
चित्त और घर के कामों में चतुर तथा घर के वर्तन भाँड़े ठीक करके रखे
और व्यय करने में स्त्री सर्वदा हाथ सकोड़े रहे ॥ १५० ॥

यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता चानुमते पितुः। तं शुश्रूषेत जीवन्तं
संस्थितं च न लङ्घयेत् ॥ १५१ ॥ मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञासां
प्रजापतेः। प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम् ॥ १५२ ॥

अर्थ—पिता या पिता की अनुमति से भाई जिस (स्वयंव्रत पति) को
इसे देवे उस की जीवते की सेवा करे और मरने पर व्यभिचारादि न करे
॥ १५१ ॥ इन का जो स्वस्त्ययन और प्राजापत्य होम विवाह में किया जाता
है वह मङ्गलार्थ है, कन्यादान (पति के) स्वामी होने का कारण है ॥ १५२ ॥

अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कारकृत्पतिः। सुखस्य नित्यं दातेह
परलोके च योषितः ॥ १५३ ॥ विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परि-
वर्जितः। उपचर्यः स्त्रिया साधव्या सततं देववत्पतिः ॥ १५४ ॥

अर्थ—मन्त्र संस्कार (विवाह) करने वाला पति ऋतु और अनृतु में सदा
सुख देने वाला है, उस की सेवा से यहां और परलोक में भी सुख प्राप्त होता

है ॥ १५३ ॥ पति शीलरहित कामी तथा विद्यादि गुणों से हीन भी हो तथापि अच्छी स्त्री को देववत् आराधन योग्य है ॥

(१५४ के आगे भी ३ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:-

[दानप्रभृति या तु स्यादावदायुः पतिव्रता ।
भर्तृलोकं न त्यजति यथैवारुन्धति तथा ॥]

जो स्त्री पिता आदि ने जब कन्यादान किया उस समय से सारी आयु पति-व्रता रहती है वह अरुन्धति (तारे) के समान भर्तृलोक को नहीं त्यागती) ॥ १५४ ॥

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम् ।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गं महीयते ॥ १५५ ॥

अर्थ-स्त्रियों का अलग कोई यज्ञ नहीं है, न व्रत, न उपवास, केवल एक पति की शुश्रूषा से स्वर्ग में पूजा होजाती है ॥ (इस के आगे का एक श्लोक ३ पुस्तकों में मिलता है:-

[पत्यौ जीवति या तु स्त्री उपवासं व्रतं चरेत् ।
आयुष्यं बाधते भर्तुर्नरकं चैव गच्छति ॥]

जो स्त्री पति के जीवते भूकी रहने वाला व्रत करती है, वह पति की आयु को बाधा पहुंचाती और नरक को जाती है) ॥ १५५ ॥

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतोवा मृतस्य वा ।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किञ्चिदप्रियम् ॥ १५६ ॥

अर्थ-पतिलोक की इच्छा करने वाली स्त्री जीवित या मृत पति को अप्रिय कोई कर्म न करे ॥ १५६ ॥

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः । न तु नामापि गृह्णीयात्
पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥ १५७ ॥ आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्म-
चारिणी । यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम् ॥ १५८ ॥

अर्थ-चाहे तो स्त्री पवित्र पुष्प, मूल, फलों से देह को क्लृप्त करदे, परन्तु पति के मरने पर परपुरुष का (व्यभिचार की इच्छा से) नाम भी न लेवे ॥ १५७ ॥

(चाहे तो) क्षमायुक्त, नियम धारिणी और पवित्र एक पतिधर्म की इच्छा करने वाली और मैथुन की इच्छा न करती हुई मरणापर्यन्त रहे ॥ १५८ ॥
अनेकानिसहस्राणिकुमारब्रह्मचारिणाम्। दिवंगतानि विप्राणा
मकृत्वा कुलसंततिम् ॥ १५९ ॥ मृते भर्तारि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये
व्यवस्थिता। स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥ १६० ॥

अर्थ—कुमार ब्रह्मचारी ब्रह्मणों के कई हजार समुदाय बिना पुत्रोत्पादन किये स्वर्ग को गये ॥ १५९ ॥ इसी प्रकार साध्वी स्त्री पति के मरने पर ब्रह्मचर्य में रहे तो अपुत्रा भी स्वर्ग को जाती है, जैसे वे ब्रह्मचारी ॥ १६० ॥

अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते। सेह निन्दामवाप्नोति
पतिलोकाच्च हीयते ॥ १६१ ॥ नान्योत्पन्ना प्रजास्तीह न चाप्यन्य-
परिग्रहे। न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्वर्तोपदिश्यते ॥ १६२ ॥

अर्थ—पुत्र के लोभ से जो स्त्री परपुरुष से सम्बन्ध करती है, वह यहां निन्दा को पाती है और पतिलोक से भी वञ्चित रहती है (मेधातिथि ने “परलोकात्” पाठ माना है) ॥ १६१ ॥ दूसरे पुरुष से (व्यभिचार की) उत्पन्न हुई सन्तान शास्त्र से उसकी नहीं है और न दूसरी स्त्री में उत्पन्न करने वाली है और न कहीं साध्वी स्त्रियों का दूसरा (विवाहित) पति कहा है ॥ १६२ ॥

पतिं हित्वा पकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते। निन्द्यैव सा भवेत्लोके
परपूर्वेति चोच्यते ॥ १६३ ॥ व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके माप्नोति
निन्द्यताम्। शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरो गैश्च पीड्यते ॥ १६४ ॥

अर्थ—जो अपने न्यूनगुण पति को छोड़कर श्रेष्ठ का सेवन करती है वह लोगों में निन्दनीया होती है और उसको ‘दो पति की स्त्री है’ ऐसा कहते हैं ॥ १६३ ॥ परपुरुष के भोग से स्त्री, लोगों में निन्दा और मरने पर स्यार की योनि को प्राप्त होती है और कुष्ठादि पापरोगों से पीड़ित होती है ॥ १६४ ॥

पतिं यानाभिचरति मनोवाग्देहसंयता। सा भर्तृलोकमाप्नोति
सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥ १६५ ॥ अनेन नारी वृत्तेन मनोवाग्देह
संयता। इहाग्र्यां कीर्तिमाप्नोति पतिलोकं परत्र च ॥ १६६ ॥

अर्थ—मन वाणी देह से जो पति की दुःखित नहीं देती, वह पति लोक को प्राप्त होती है और अच्छे पुरुष उस को साध्वी कहते हैं ॥१६५॥ इस धर्म से मन वाणी और देह का संयम करने वाली स्त्री यहां श्रेष्ठ कीर्ति और परलोक में पतिलोक को प्राप्त होती है ॥ १६६ ॥

एवंवृत्तांसवर्णास्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम् । दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित् ॥१६७॥ भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्त्वाग्नीन-
न्त्यकर्मणि । पुनर्दारक्रियां कुर्यात्पुनराधानमेव च ॥ १६८ ॥

अर्थ—ऐसी सवर्णा स्त्री (पति से) पूर्व मर जावे तौ धर्मज्ञ द्विज उसे स्मार्त्ताग्नि और यज्ञपात्रों के सहित दाह देवे ॥ १६७ ॥ पूर्व मरी स्त्री को अन्त्येष्टि में अग्नि देकर गृहस्थाश्रम के निमित्त पुनः विवाह करे तौ फिर अग्निहोत्र छेवे ॥ १६८ ॥

अनेन विधिना नित्यं पञ्चयज्ञान्न हापयेत् ।

द्वितीयमायुषोभागं कृतदारोगृहे वसेत् ॥१६९॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे (भृगुप्रोक्तयां संहितायां)

पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

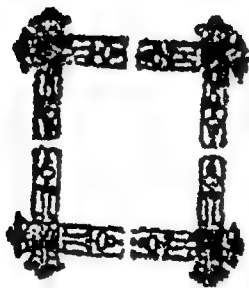
अर्थ—इस विधि से विवाह करने वाला पुरुष आयु का दूसरा भाग गृहस्थाश्रम में व्यतीत करे और पञ्चमहायज्ञों का त्याग न करे ॥

(यद्यपि पुरुषों के साथ ही स्त्रियों का भी सामान्यधर्म कहा गया संम-
क्षण । चाहिये परन्तु १४७ से अध्यायसमाप्ति तक स्त्री का जो विशेष धर्म है उस का वर्णन है । इस में १४७ । १४८ वें श्लोकों का तात्पर्य नवमाध्याय में भी आवेगा, इस लिये पुनरुक्त से हैं । १५४ वें में पुरुष का अनुचित (हिमायत) पक्षपात है । १५७ से १६१ तक स्त्री की विधवा होने पर ब्रह्मचर्य से रहने की उत्तमता का वर्णन है । नियोगादि करना उस से घटिया पक्ष है । १६३ । १६४ में भी परपुरुषसङ्ग की निन्दा है, वह व्यभिचार की निन्दा है । जिस से पाप-
रोग उपदंशादि प्रत्यक्ष होते देखे जाते हैं । १६२ में अन्य से उत्पन्न सन्तान को सन्तान न मानना व्यभिचार की सन्तान के विषय में है । नियमपूर्वक

विधिवत् नियुक्तों की सन्तति तौ सन्तति ही है। १६८ में स्त्री मरने पर पुन-
र्विवाह का विधान आवश्यक नहीं है किन्तु उसका भाव यह है कि यदि
पुरुष अक्षतवीर्य होने से पुनर्विवाह का अधिकारी हो और विवाह करना
चाहे तौ कर सकता है परन्तु फिर से अग्निहोत्र लेना होगा। इस में ऊपर
लिखे अनुसार दो श्लोक इस प्रकरण में ऐसे भी हैं जो सब पुस्तकों में नहीं
पाये जाते और यह भी संशय है कि पुनरुक्तादि उक्त दोषों वाले श्लोक भी
स्त्रियों की अत्यन्त परतन्त्रता के पक्षपाती लोगों ने कदाचित् बढ़ाये हों
क्योंकि १५९। १६० श्लोकों में तौ बहुत ही नवीनता झलकती है) ॥ १६९ ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे
पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

—८:५:०—



श्री३म्

अथ षष्ठोऽध्यायः

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिब्रत्सनात्कोट्विजः ।

वने वसेत्तु नियतोयथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥

अर्थ—स्नातक द्विज ऐसे यथाविधि गृहस्थाश्रम में रह कर नियमपूर्वक जितेन्द्रियता से वन में निवास करे ॥ (एक पुस्तक और रामचन्द्र की टीका में इस से आगे यह श्लोक अधिक है:—

[अतः परं प्रवक्ष्यामि धर्मं वैखानसाश्रमम् ।

वन्यमूलफलानां च विधिं ग्रहणमोक्षणे]

इस से आगे धानप्रस्थाश्रमी का धर्म और वन के मूल तथा फलों के लेने और त्यागने का विधान कहूंगा) ॥ १ ॥

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।

अपत्यस्यैव चापत्यं सदारण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥

अर्थ—गृहस्थ जब अपने देह की त्वचा को ढीली, शिर के बाल श्वेत और सन्तान के भी सन्तान को देख ले तब वन का आश्रय करे ॥ २ ॥

संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् । पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य

वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ ३ ॥ अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्नि

परिच्छदम् । ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥

अर्थ—ग्राम का भोजन (दाल चावल पकानादि) और गाय, घोड़ा, शय्या इत्यादि को त्याग, स्त्री को पुत्रों के पास छोड़ या साथ लेकर ही वन को गमन करे ॥ ३ ॥ अग्निहोत्र और उस के पात्र खुव इत्यादि का ग्रहण कर ग्राम से निकल कर इन्द्रियों को स्वाधीन करता हुआ वन में निवास करे ॥ ४ ॥

मुन्यन्नेर्विविधैर्मध्यैः शाकमूलफलेन वा । एतानेव महायज्ञान्

निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥ ५ ॥ वसीत चर्म चोरं वा सायं स्नायात्

प्रगे तथा । जटाश्च बिभृयान्नित्यं शमश्रुलोमनखानि च ॥ ६ ॥

अर्थ—नाना प्रकार के सुनियों के पवित्र अन्न वा शाक मूल फलों से ही ये सहायक करे ॥ ५ ॥ सुगों का चर्म या वृक्षों के वल्कलों को पहिने । प्रातः सायं दोनों समय स्नान करे । जटा और श्मश्रु तथा नख और रोम सर्वदा धारण करे ॥ ६ ॥

यद्वक्ष्यस्यात्ततोदद्याद् बलिं भिक्षां च शक्तितः । अम्मूलफल-
भिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥७॥ स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्या-
द्दान्तो मैत्रः समाहितः । दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः

अर्थ—(अपने) भोजन में से यथाशक्ति बलि और भिक्षा देवे और आश्रम में आये हुएों का जल, मूल और फल की भिक्षा से सत्कार करे ॥ ७ ॥ प्रतिदिन वेदाध्ययन करे, इन्द्रियों का दमन और सबका उपकार करने वाला तथा मन को स्वाधीन रखने वाला हो और नित्य देता रहे, लेवे नहीं । सम्पूर्ण जीवों पर दया करने वाला हो ॥ ८ ॥

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि । दर्शमस्कन्दयन्पर्व
पौर्णमासं च योगतः ॥९॥ ऋक्षेष्टयाग्रायणं चैव चातुर्मास्यानि
चाहरेत् । उत्तरायणं च क्रमशोदक्षस्यायनमेव च ॥ १० ॥

अर्थ—(गार्हपत्य कुण्ड में के अग्नि को आहवनीय दक्षिणाग्नि में मिलाने का नाम वितान है) उस में वैतानिक अग्निहोत्र यथाविधि करे और समय पर दर्श पौर्णमास इष्टियों को न छूटने दे ॥ ९ ॥ ऋक्षेष्टि और आग्रायणेष्टि तथा चातुर्मास्य और उत्तरायण दक्षिणायन में भी विहित (श्रौतकर्म) करे (सेधातिथि ने-दर्शेष्टायाग्रहणम् । पाठ माना है । तथा दो पुस्तकों में “दक्षि-
णायनमेव च” और ७ पुस्तकों में “दक्षस्यायनमेव च” । पाठ है) ॥ १० ॥

वासन्तशारदैर्मध्यैर्मुन्यन्तैः स्वयमाहुतैः । पुरोडाशांश्चरुं चैव
विधिवन्निर्वपेत्पृथक् ॥११॥ देवताभ्यस्तु तद्गुत्वा वन्यं मेध्य-
तरं हविः । शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयंकृतम् ॥ १२ ॥

अर्थ—अपने हाथ से लाये हुवे वसन्त और शरद् में उत्पन्न हुए पवित्र सुनियों के अन्नों से पुरोडाश और चरु बनाकर विधिवत् होम करे ॥ ११ ॥ वन का उत्पन्न हुआ अतिपवित्र हवि होम करने से शेष अपना बनाया अन्न लवण मिला कर भोजन करे ॥ १२ ॥

स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च । मेध्यवृक्षोद्भवान्य-
दात्स्नेहांश्च फलसंभवान्॥१३॥वर्जयेन्मधु मांसं च भौमानि
कथकानि च । भूस्तृणंशिगुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च॥१४॥

अर्थ—भूमि वा जल में उत्पन्न हुवे शाकों और पवित्र वृक्षों के पुष्पमूल
फलों तथा फलों से उत्पन्न स्नेहों=तेलों का भोजन करे ॥ १३ ॥ मद्य, मांस
और भूमि के कुकुरमुत्तों और भूतृण (मालवा में प्रसिद्ध है) तथा सहोोजना
और श्लेष्मातक फल=लिसीहों को न खावे ॥१४॥

त्यजेदाश्वयुजेमासि मुन्यन्नं पूर्वसंचितम् । जोर्णानिचैववासांसि
शाकमूलफलानि च ॥ १५ ॥ न फालकृष्टमश्लीयादुत्सृष्टमपि
केनचित् । न ग्रामजातान्यातीऽपि मूलानि च फलानि च॥१६॥

अर्थ—आश्विन के महीने में संचय किया हुआ पहिला मुन्यन्न और
पुराने कपड़े तथा बाकी शाक मूल फल त्याग देवे ॥ १५ ॥ खेतों के धान्यादि
का चाहे किसी ने छोड़ भी दिये हों, न भोजन करे और ग्राम में होने
वाले मूल और फल पीड़ित हुआ भी न खावे ॥ १६ ॥

अग्निपक्वाशनोवा स्यात्कालपक्वभुगेष वा । अशमकुटोभवेद्वापि
दन्तोलूखलिकोऽपि वा ॥१७॥ सदाः प्रक्षालकोवा स्यान्माससं-
चयिकोऽपि वा । पण्मासनिचयोवा स्यात्समानिचयएव वा १८

अर्थ—अग्नि का पका या समय से पके हुए फल ही या पत्थरों से कूटा
हुवा या दांतों ही से चबाया हुआ खावे ॥१७॥ एक वार के भोजन मात्र का
संचय करने वाला वा महिने भर का, वा छः महिने का, वा वर्ष दिन के
निर्वाहयोग्य का संचय करने वाला हो ॥ १८ ॥

नक्तंवान्नंसमश्लीयाद्विवावाहृत्यशक्तितः । चतुर्थकालिकोवा
स्यात्स्याद्वाप्यष्टमकालिकः १९ चान्द्रायणविधानैर्वा शुक्लकृष्ण
च वर्तयेत् । पक्षान्तयोर्वाप्यश्लीयादघागूंकथितां सकृत् ॥२०॥

अर्थ—अपने सामर्थ्य के अनुसार रात्रि में वा दिन में अन्न लाकर एक
वार खावे वा एक दिन उपवास करके दूसरे दिन सायंकाल को भोजन करे

वा तीन दिनरात्रि उपवास करके चौथे दिन रात्रि को भोजन करे ॥ १९ ॥
वा चान्द्रायण के विधान से शुक्ल कृष्ण पक्ष में ग्रास घटावे बढ़ावे वा पीर्ण-
मासी अमावस्या में पकी यवागू (लपसी) का एक बार भोजन करे ॥

(२० वें से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक मिलता है:—

[यतः पत्रं समादद्यान्न ततः पुष्पमाहरेत् ।

यतः पुष्पं समादद्यान्न ततः फलमाहरेत् ॥]

जिस(वृक्ष) से पत्ते ले, उससे फूल न ले, जिससे फूल ले उससे फल न ले) ॥ २० ॥

पुष्पमूलफलैर्वापि केशलैर्वर्तयेत्सदा । कालपक्वैः स्वयं जीर्णै-
र्वैखानसमते स्थितः ॥ २१ ॥ भूमौ विपरिवर्तत तिष्ठेद्वा प्रपदै-
र्दिनम् । स्थानासनाभ्यां विहरेत्सवनेषूपयत्नपः ॥ २२ ॥

अर्थ—अथवा पुष्प, मूल, फल जो काल पाकर पके और आप ही गिरे
उन से वानप्रस्थाश्रम में रहने वाला निर्वाह करे ॥ २१ ॥ भूमि में बैठा करे
वा दिन भर खड़ा रहे । स्थान और आसन पर घूमे और सायं, प्रातः,
मध्याह्न में त्रिकाल स्नान करे ॥ २२ ॥

ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद्वर्षास्त्रिभ्रावकाशिकः । आर्द्रवासास्तु
हेमन्ते क्रमशोवर्धयन्तपः ॥ २३ ॥ उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितॄन्
देवांश्च तर्पयेत् । तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मनः ॥ २४ ॥

अर्थ—ग्रीष्म में पञ्चाग्निसाधन करे (चारों ओर अग्नि रखे, ऊपर से
सूर्य) और वर्षा काल में बादल का आश्रय करे और हेमन्त में भीगे कपड़ों
से रहे । इस प्रकार क्रम से (सहिष्णुता) तप को बढ़ावे ॥ २३ ॥ त्रिकाल
स्नान करके देवों और पितरों का तर्पण करे और उग्रतर तप करके अपने
शरीर को सुखावे ॥ २४ ॥

अग्नीनात्मनि वैतानान्समारोप्य यथाविधि । अनग्निरनिकेतः
स्यान्मुनिर्मूलफलाशनः ॥ २५ ॥ अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी
धराशयः । शरणेष्वममश्नैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥ २६ ॥

अर्थ—अग्नियों को (वैखानस शास्त्र के) विधान से आत्मा में समारो-
पित करके मुनिव्रत वाला फल मूल का भोजन किया करे । अग्नि और

निकेत=स्थान भी न रखे ॥ २५ ॥ सुख के लिये प्रयत्न न करे और स्त्री संभोगरहित, भूमि पर सोने वाला और निवासस्थानों में समत्वरहित वृद्ध के नीचे वास करे ॥ २६ ॥

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत् । गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥२७॥ ग्रामादाहृत्य वाश्रीयादष्टौ ग्राह्यान् वने वसन् । प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा ॥ २८ ॥

अर्थ-वानप्रस्थाश्रम वाले विप्रों से प्राण बचाने भर ही भिक्षा लेलेवे । उसके अभाव में अन्यवनवासी गृहस्थ द्विजों से लेलेवे ॥२७॥ ग्राम से लाकर वनवासी श्रम के आठ ग्रास पत्ते वा हाथ वा सकोरे पर रखकर भोजन करे ॥२८॥

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् । विविधाश्चौपनिपदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥२९॥ ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविताः । विद्यातपोविवृद्धयर्थं शरीरस्य च शुद्धये ॥ ३० ॥

अर्थ-इन दीक्षाओं और अन्यो (जो वानप्रस्थाश्रम में कही हैं) का वन में रहता हुआ विप्र सेवन करे और विविध उपनिषदों में आई श्रुतियों का आत्मज्ञानार्थ (अभ्यास करे)-॥२९॥ जो कि ऋषि ब्राह्मण गृहस्थों ने ही विद्या और तप की वृद्धितथा शरीर की शुद्धि के लिये सेवित की हैं ॥ ३० ॥

अपराजितां वास्पाय ब्रजेद्दिशमजिह्मगः । आनिपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः ॥ ३१ ॥ आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वाऽन्यतमया तनुम्प्राचीतशोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३२ ॥

अर्थ-अथवा शरीर के छुटने तक जल वायु भक्षण करता हुआ जिस का पराजय न हो ऐसी दिशा को जितेन्द्रिय और कुटिलगति से रहित होकर गमन करे ॥३१॥ इन महर्षियों के अनुष्ठानों में से कोई सा अनुष्ठान करके विप्र शरीर को छोड़ शोक भय से रहित हो, ब्रह्मलोक (मोक्ष) में महिमा को प्राप्त होता है । (यहां तक वानप्रस्थाश्रम का वर्णन है । इस में १९ वें से ३२ वें तक जो शरीर का कर्षण है, यह आवश्यक विधान नहीं किन्तु सहनशीलतादि तप की वृद्धि के लिये कथन है । जो जैसा कर सके वा करना चाहे, करे) ॥३२॥

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः । चतुर्थमायुषोभागं
त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत् ॥३३॥ आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो
जितेन्द्रियः । भिक्षाचलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन् प्रेत्य वर्धते ॥३४॥

अर्थ—ऐसे आयु के तीसरे भाग को वन में व्यतीत कर, चतुर्थ भाग में
(विषयादि का) सङ्ग छोड़कर, संन्यास आश्रम की धारण करे (आयु के
चार भाग चारों आश्रमों पर हैं) ॥ ३३ ॥ आश्रम से आश्रम में गमन करके
(अर्थात् ब्रह्मचर्य से गृहस्थ, उस से वानप्रस्थ, उस से) हवन करके भिक्षा
और बलि से थका हुआ जितेन्द्रिय “संन्यास आश्रम ” करने वाला मरने
पर ब्रह्मता=मोक्ष प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनोमोक्षे निवेशयेत् । अनपाकृत्य
मोक्षं तु सेवमानोव्रजत्यधः ॥३५॥ अनधीत्यविधिषट्वेदान्पुत्रांश्चो-
त्पाद्य धर्मतः । इष्ट्वा च शक्तितोयज्ञैर्मनोमोक्षे निवेशयेत् ॥३६॥

अर्थ—तीन ऋणों को चुका कर मन को मोक्ष में लगावे । विना ऋणों
के चुकाये मोक्ष का सेवन (चतुर्थ आश्रम का धारण) करने वाला नीचे
गिरता है ॥ ३५ ॥ विधिपूर्वक वेदों को पढ़कर, विवाहादि धर्म से पुत्रों को
उत्पन्न कर, यथाशक्ति ज्योतिषोमादि यज्ञ करके (ऋषि-ऋण, पितृऋण और
देव-ऋण से निवृत्त हुआ) मोक्ष में मन लगावे ॥ ३६ ॥

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान् । अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च
मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥३७॥ प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदस-
दक्षिणाम् । आत्मन्यग्नेः समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात् ॥३८॥

अर्थ—वेदाध्ययन किये विना और पुत्रों को उत्पन्न किये विना और यथा
विधि यज्ञों को न करके मोक्ष की इच्छा करता हुआ नीचे गिरता है ३७ सर्वस्य
दक्षिणा की प्रजापति देवता के उद्देशवाली इष्टि करके आत्मा में अग्नि की
समारोपण करके ब्राह्मण वानप्रस्थाश्रम से संन्यास की धारण करे ॥ ३८ ॥

यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् तस्य तेजो मया लोका
भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥३९॥ यस्मादएव पिभूतानां द्विजान्मोक्ष-
यते भयम् । तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥४०॥

अर्थ—जो सब प्राणियों को अभय देकर गृह से चतुर्थ आश्रम को जाता है उस ब्रह्मज्ञानी को तेजोमय लोक (मोक्ष) होते हैं ॥३९॥ जिस द्विज से प्राणियों को थोड़ा भी भय उत्पन्न नहीं होता, देह छूटने पर उस को किसी से भय नहीं है (वह भी अभय हो जाता है) ॥ ४० ॥

आगारादभिनिष्क्रान्तःपवित्रोपचितोमुनिः।समुपोढेषु कामेषु
निरक्षेपः परिव्रजेत् ॥ ४१ ॥ एकएव चरेन्नित्यं सिद्धयर्थम-
सहायवान् । सिद्धिर्मेकस्य संपश्यन्नजहाति न हीयते ॥४२॥

अर्थ—घर से निकला हुआ, पवित्र दण्डकमण्डलुयुक्त, अच्छे प्रकार मिलते हुये कामों में भी अपेक्षारहित मुनि संन्यास धारण करे ॥४१॥ एकाकी को मोक्षप्राप्ति होती है, ऐसा जानता हुआ सदा सहायकरहित अकेला ही रहे, (तब) वह न छोड़ता है, न छूटता है (एकरस हो जाता है) ॥ ४२॥

अनग्निरनिकेतः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् । उपेक्षकोऽराङ्क-
सुकोमुनिर्भावसमाहितः ॥ ४३ ॥ कपालं वृक्षमूलानि कुचैलम-
ऽसहायता । समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥४४॥

अर्थ—अग्नि तथा घर से रहित, भिक्षा के लिये ग्राम का आश्रय करे और दुःख हो तो चिन्ता न करे तथा स्थिरचित्त और मुनिधर्म से युक्त रहे ॥ ४३ ॥ (भोजनार्थ) खपरा, (स्थानार्थ) वृक्ष के नीचे की भूमि, मोटे वस्त्रों की गुदड़ी, किसी से सहायता न चाहना और सब में समानबुद्धि, यह मुक्त का लक्षण है ॥ ४४ ॥

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।

कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतकोयथा ॥ ४५ ॥

अर्थ—न जीवने में सुख माने, न मरने में माने किन्तु (मृत्यु के) समय की प्रतीक्षा करे, जैसे नौकर आज्ञा की (प्रतीक्षा करता है। “बहुत अच्छा” कह कर प्राण त्याग दे) ॥ नीचे लिखे ३ श्लोकों में से एक पुस्तक में पहले दो और एक पुस्तक में पहला एक और ८ पुस्तकों में तीनों श्लोक अधिक पाये जाते हैं और एक पर राघवानन्द की तथा तीनों पर रामचन्द्र की टीका भी है:-

[ग्रैष्म्यान्हैमन्तिकान्मासानऽष्टौ भिक्षुर्विचक्रमेत् ।

दयार्थं सर्वभूतानां वर्षास्वेकत्र संवसेत् ॥ १ ॥

नाऽसूयं हि ब्रजेन्मार्गं नाऽदृष्टां भूमिमाक्रमेत् ।

परिभूताभिरद्विस्तु कार्यं कुर्वीत नित्यशः ॥ २ ॥

सत्यां वाचमहिंसां च वदेदऽनपकारिणीम् ।

कलकापेतामऽपरुषामऽनृशंशामपैशुनाम् ॥ ३ ॥]

गरमी और जाड़े के ८ मास में संन्यासी देशाटन करे और सब जीव जन्तुओं पर दया के लिये वर्षा के ४ मास तक एक स्थान में निवास करे ॥१॥ रात्रि में जब सूर्य न हो, तब मार्ग न चले । भूमि को बिना देखे न चले । अधिक जल से नित्य कार्य करे ॥२॥ सत्य, हिंसारहित, दूसरे की हानि न करने वाली और कठोरता, क्रोध, निंदा और चुंगली से रहित वाणी बोले ॥३॥ ॥४५॥

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।

सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ ४६ ॥

अर्थ-दृष्टि से शोधित (मार्ग में) पैर रखे (देखकर चले) और वस्त्र से (छान कर) पवित्र हुवा जल पीवे और सत्य से पवित्र वाणी को बोले और मन से पवित्र आचरण को करे ॥ ४६ ॥

अतिश्रादांस्ति तिक्षेत नाशमन्येत कञ्चन । न चेमं देहमाश्रिन्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ४७ ॥ क्रुद्धन्तं न प्रतिक्रुद्धेदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् । सप्तद्वाराऽवकीर्णां च न वाचमऽनृतां वदेत् ॥ ४८ ॥

अर्थ-दूसरों के बुरे के कहने का सहन करे, किसी का अपमान न करे और इस देह का आश्रय कर किसी के साथ वैर न करे ॥ ४७ ॥ क्रोध करते पर वदले में क्रोध न करे और निन्दा करने वाले से आप अच्छा बोले और पञ्चेन्द्रिय, मन, बुद्धि इन ७ (अथवा १ सुस का, २ नाक के, २ कानों के, २ आंखों के, इन ७) छिद्रों में बिखरी हुई असत्य वाणी न बोले (किन्तु शास्त्रीय वचन बोले) ॥ ४८ ॥

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिपः* । आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ ४९ ॥ न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया । नानशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ॥ ५० ॥

* यहां सब टीकाकारों ने "आमिप" का अर्थ "विषय" ही किया है ॥

अर्थ—ब्रह्मच्यान में रहने और किसी की अपेक्षा न रखने वाला और विषयों के अभिलाष से रहित तथा अपनी ही सहायता से सुख चाहने वाला होकर इस संसार में विचरे ॥४९॥ (भविष्यत) उत्पात(भूकम्पादि) बताने का ग्रहों की विद्या वा उपदेश वा शास्त्रार्थ के बदले भिक्षा की इच्छा न करे ॥५०॥

न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः । आकीर्णं भिक्षुकै-
र्वा न्यैरागारमुपसंभ्रजेत् ॥५१॥ क्लृप्तकेशनखरमश्रुः पात्रो दण्डी
कुसुम्भवान् । विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥५२॥

अर्थ—वानप्रस्थों वा अन्य ब्राह्मणों तथा पक्षियों वा कुत्तों वा अन्य सांगने वालों से घिरे मकान में भिक्षा को न जावे ॥ ५१ ॥ नख, केश, रमश्रु जिसके सुँडे हों, पात्र, दण्ड, कमण्डलु और रंगे कपड़ों से युक्त, किसी को पीड़ा न देता हुआ सदा नियम से विचरे ॥ ५२ ॥

“अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्घ्रणानि चातेषामद्विःस्मृतं
शौचं चमसानामिवाध्वरे ॥५३॥ अलावुं दारुपात्रं च मृण्मयं
वैदलं तथा । एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥५४॥”

अर्थ—“उस के पात्र तैजस अर्थात् सोना, चांदी, पीतल आदि धातुओं के न हों और क्षिद्ररहित हों। पानी से उनकी पवित्रता कही है, जैसे यज्ञ में चमसों की ॥५३॥ तूँघी, एकड़ी, मिट्टी वा बांस के बने हुवे, ये यतियों के भिक्षापात्र हैं। ऐसा “स्वायम्भुव मनु ने कहा है” (इसी से स्पष्ट है कि अन्यकृत हैं) ॥५४॥”

एककालं चरेद्वैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे । भैक्षे प्रसक्तो हि यति-
र्विषयेष्वपि सज्जति ॥ ५५ ॥ विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे
भुक्तवज्जने । वृत्तेशरावसंपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ॥५६॥

अर्थ—एक बार भिक्षा करे, बहुत भिक्षा में आसक्त न हो क्योंकि बहुत भिक्षा में फंसा संन्यासी अन्य विषयों में भी आसक्त हो जाता है ॥ ५५ ॥ रसोई का धुआं निकल चुका हो, कूटना आदि दन्द हो गया हो, आग बुझा दी हो, सब भोजन कर चुके हों और रसोई के वर्तन ढाल दिये हों तब (ऐसे गृह में) सदा संन्यासी भिक्षा करे ॥ ५६ ॥

सूक्ष्मतां वाचस्पत्येन योगेन परमात्मनः । देहेषु च समरूपानि-
 मुत्तमेव वसेषु च ॥ ६५ ॥ दूषितोऽपि चरेद्देहं यत्र तत्रात्म-
 नः । समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ ६६ ॥

अर्थ-यं ग से परमात्मा की सूक्ष्मता का ज्ञान करे । वनम और अथम
 योगियों में जीवों के गुणगुणफल योग के लिये कल्पित का भी (विज्ञान
 करे) ॥ ६५ ॥ दोष जगत् पर भी संपूर्ण जीवों में समदर्पि काना हुआ
 पावे किन्ती आत्मन में रहे पर धर्म के आधारण करे कौटिक (दूषित) विरुद्ध
 धर्म का कारण नहीं है । (एक पुत्रक में दूषितः=यदस्यः और ४ पुत्रको
 में-भूषितः । पाठभेद है) ॥ ६६ ॥

फलं कलकटस्य यद्यप्यव्ययप्रसादकम् । न नामग्रहणादेव
 तस्य वारि प्रसीदति ॥ ६७ ॥ सरक्षणाय जन्तूनां राजावहेति वा
 सदा । शरीरस्थितयश्चैव समोऽयं वसुधां चरेत् ॥ ६८ ॥
 अर्थ-(कैषा कि) निर्वर्ण का फल यद्यपि पानी और करने वाला है,
 तथापि निर्वर्ण के नाम देने से ही पानी और नहीं होता ॥ ६७ ॥ (विष्णु-
 लोकादि सूक्ष्म) जन्तुओं की रक्षा के लिये राजा में वा दिन में शरीर की
 रक्षा होने पर भी भूमि की देख कर चले ॥ ६८ ॥

अर्था राजा च यद्यिच्छति समस्तपशूनां गोपतिः । तेषां रक्षां
 विधेयं प्रोक्तं प्राणायामादप्यज्ञाचरेत् ॥ ६९ ॥ प्राणायामां ब्राह्मणस्य
 प्रयोजितविषयकृतः । व्याहृतियमप्युक्तं विज्ञेयं परमं तपः
 अर्थ-यति से जो जीव जिना जाने दिन या रात्रि में भर जाते हैं, उस
 पर से दूर होने की रक्षा करके प्राणायाम करे ॥ ६९ ॥ (सूः भूतः सः) वन
 व्याहृति और प्रलय (शीघ्र) एक विधि से किये हुए ३ भी प्राणायाम
 ब्राह्मण का परम तप जानिये ॥ ७० ॥

दृष्ट्वा चैव प्राणमनात् धर्मेन हि यथा मत्तः । तथेतिदं यथा
 दृष्ट्वा चैव प्राणमनात् प्रहृतं प्राणायामं दृष्ट्वा चैव प्राणमनात्
 प्रहृतं किं वयम् । प्रहृतं प्राणमनात् प्रहृतं प्राणमनात् प्रहृतं प्राणमनात्

अलाभे न विषादी स्यात्लाभे चैव न हर्षयेत्। प्राणयात्रिकमात्रः
स्यान्मात्रासंगाद्विनिर्गतः ॥५७॥ अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्से-
तैव सर्वशः । अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्धते ॥५८॥

अर्थ—(भिक्षा) न मिले तो खेद न करे और मिले तो आनन्द न माने ।
जीवनयात्रा का उपाय करे । मात्रासङ्ग (शब्द रूप रस गन्ध स्पर्श) विषयों से
पृथक् रहे ॥ ५७ ॥ यति पूजापूर्वक (स्वादिष्ट भिक्षा) लाभों की निन्दा करे
(अर्थात् ऐसी भिक्षा प्रसन्न न करे) क्योंकि ऐसी भिक्षा के लाभों से मुक्त
भी यति (देने वाले के स्नेह ममत्वादि से) बन्धन को प्राप्त हो जाता है ॥५८॥

अल्पादानाभ्यवहारेण रहः स्थानासनेन च । ह्रियमाणानि विषयै-
रिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥५९॥ इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेष-
क्षयेण च । अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥६०॥

अर्थ—थोड़े भोजन, निर्जन देश और एकान्त स्थान में रहने से विषयों
से खिंची हुई इन्द्रियों को रोके ॥ ५९ ॥ इन्द्रियों को रोकने, राग द्वेष के
नाश तथा प्राणियों की हिंसा न करने से मोक्ष के योग्य होता है ॥ ६० ॥

अवेक्षेत गती नृणां कर्मदोषसमुद्भवाः । निरये चैव पतनं
यातनाश्च यमक्षये ॥६१॥ विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगं च तथा
ऽप्रियैः । जरया चाभिभवन्नं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ॥६२॥

अर्थ—मनुष्यों के कर्मदोषों से उत्पन्न दुःखाओं और नरक में गिरने और
मृत्यु के पश्चात् नाना प्रकार की शिखाओं का चिन्तन करे ॥ ६१ ॥ और
प्यारों के वियोग तथा शत्रुओं के संयोग, वृद्धावस्था से दबाये जाने तथा
व्याधियों से पीड़ित होने पर भी (ध्यान करे) ॥ ६२ ॥

देहादुत्क्रमणं चास्मात्पुनर्गर्भं च संभवम् । योनिकोटिसहस्रेषु
सृतीश्चास्यान्तरात्मनः ॥ ६३ ॥ अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं
शरीरिणाम् । धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम् ॥ ६४ ॥

अर्थ—इस देह से निकलना, फिर गर्भ में उत्पत्ति और कोटि सहस्रों
योनियों में इस जीवात्मा का जाना ॥ ६३ ॥ देहधारियों को अधर्म से दुःख के
योग और धर्म अर्थ से उत्पन्न अक्षय सुख के योग का भी (चिन्तन करे) ॥ ६४ ॥

अर्थ—जैसे (सुवर्णादि) धातुओं के सैल अग्नि में धींकने से फुंकते हैं, वैसे ही प्राण के रोकने से इन्द्रियों के दोष जल जाते हैं ॥७१॥ प्राणायामों से रोगादिदोषों को, धारणाओं से पाप को, इन्द्रियों के रोकने से विषयों के संसर्गों को और ध्यानादि से मोहादि गुणों को जलावे ॥ ७२ ॥

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः । ध्यानयोगेन संपश्येद्
गतिमस्यान्तरात्मनः ॥ ७३ ॥ सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिर्न
निबद्ध्यते । दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ ७४ ॥

अर्थ—इस जीव की उत्तम अधस योनियों में प्राप्ति को, जो अकृतात्मा पुरुषों से नहीं जानी जाती, ध्यानयोग से देखे (जाने) ॥७३॥ (ब्रह्म का) साक्षात् करने वाला कर्मों से नहीं बन्धता और साक्षात्कार से रहित संसार को प्राप्त होता है ॥ ७४ ॥

अहिंसयेन्द्रियासद्भैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः । तपसश्चरणैश्चोग्रैः
साधयन्तीह तत्पदम् ॥७५॥ अस्थिस्यूणं स्नायुयुतं मांसशो-
णितलेपनम् । चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ ७६ ॥

अर्थ—हिंसा न करने, इन्द्रियों को विषयों में न फंसाने और वैदिककर्मों और उग्रतप के आचरणों से इस लोक में उस पद को सिद्ध करते हैं ॥७५॥ हड्डी की स्थूणा (स्तम्भ) से युक्त, स्नायुरूप जेवड़ी से बँधे, मांस, रक्त से लिथड़े, चाम से मँडे हुवे, दुर्गन्धि और मलमूत्र से पूर्ण, ॥ ७६ ॥

जराशोकसमाभिष्टं रोगायतनमातुरम् । रजस्वलमनित्यं च
भूतावासमिमं त्यजेत् ॥७७॥ नदीकूलं यथा वृक्षोवृक्षं वा शकु-
निर्यथा । तथा त्यजन्निमं देहं कृच्छ्रादुग्राहाद्विमुच्यते ॥ ७८ ॥

अर्थ—जरा (बुढ़ापे) और शोक से घिरे हुवे, रोग के घर, सुधा प्यास से पीडित, रजस्वल (मलिन), अनित्य तथा पञ्चभूतों के गृह “ शरीर ” को छोड़ देवे (अर्थात् ऐसा करे कि फिर शरीर न हो) ॥७७॥ जैसे नदी के किनारे की वृक्ष छोड़ देता है और पत्नी जैसे वृक्ष को छोड़ देता है, ऐसे संन्यासी इस देह को छोड़ता हुआ कठिन (संसाररूपी) ग्राह से छूट जाता है ॥७८॥

प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम् । विसृज्य ध्यानयोगेन
ब्रह्माभ्येति सनातनम् ॥७९॥ यदा भावेन भवति सर्वभावेषु
निःस्पृहः । तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ ८० ॥

अर्थ—अपने प्रिय में (पूर्वजन्मार्जित) सुकृत और अप्रिय में दुष्कृत
(जान कर उन से होने वाले रागद्वेषादि) को छोड़कर ध्यानयोग से सना-
तन ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥७९॥ जब (विषयों के दोषों के) ज्ञान से संपूर्ण
पदार्थों में निःस्पृह हो जाता है तब इस लोक और परलोक में नित्य सुख
को प्राप्त होता है ॥ ८० ॥

अनेन विधिना सर्वास्त्यक्त्वा सङ्गान् शनैः शनैः । सर्वद्वन्द्ववि-
निर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥८१॥ ध्यानिकं सर्वमेवैतद्वदेतद-
भिप्रेक्षितम् । न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते ८२

अर्थ—इस प्रकार संपूर्ण (पुत्र कलत्रादि के) सङ्गों को धीरे २ छोड़ कर
संपूर्णद्वन्द्वों (मानाऽपमानादि) से छूटा हुआ ब्रह्म में ही स्थित हो जाता है
॥८१॥ यह जो (पुत्रादि का) समस्त त्याग कहा है वह सम्पूर्ण मन से ही
होता है; क्योंकि मन से (त्याग) न करने वाला (केवल दिखावे को अलग
रहने वाला) कोई उस क्रिया के फल को नहीं प्राप्त होता ॥ ८२ ॥

अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च । आध्यात्मिकं च सततं
वेदान्ताभिहितं च यत् ॥८३॥ इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजा-
नताम् । इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—यज्ञ और देवतों तथा आत्मा के विषय में और वेदान्त (ब्रह्म-
ज्ञान) विषय में जो वेदवाक्य हैं उन का निरन्तर जप करे ॥ ८३ ॥ यह
(वेदाभ्यास) अज्ञानियों को और ज्ञानियों को भी हित है । यह स्वर्ग और
मोक्ष की इच्छा करने वालों का भी शरण है (अर्थात् वेदद्वारा सब की
प्राप्ति है) ॥ ८४ ॥

अनेन कर्मयोगेन परिव्रजति यो द्विजः । स विधूयेह पाप्मानं
परं ब्रह्माधिगच्छति ॥८५॥ एष घर्मोऽनुशिष्टो बोधयतीनां निय-
तात्मनाम् । वेदसंन्यासिकानां तु कर्मयोगं निबोधत ॥८६॥

अर्थ—इस क्रम के अनुष्ठान से जो द्विज संन्यास धारण करता है, यह यहां पापों का नाश करके परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ॥ ८५ ॥ जितेन्द्रिय यतियों का यह धर्म तुम को बताया । अब वेदसंन्यासियों (ज्ञान से ही संन्यासी, जिन्होंने बाहर से संन्यस्त धिहू वा गृह्वास्त्यागादि नहीं किये) का कर्मयोग सुनो ॥ ८६ ॥

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा एते गृहस्थप्रभवा-
श्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥ ८७ ॥ सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं
निषेविताः । यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥ ८८ ॥

अर्थ—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति; ये पृथक् २ चार आश्रम गृहस्थ से उत्पन्न हैं ॥ ८७ ॥ ये चारों ही आश्रम क्रम से शास्त्रानुकूल सेवित किये हों, उक्तविधि से करने वाले विप्र को मोक्ष प्राप्त कराते हैं ॥ ८८ ॥

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः । गृहस्थउच्यते श्रेष्ठः
स त्रीनेतान्निभर्ति हि ॥ ८९ ॥ यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति
संस्थितिम् । तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ९०

अर्थ—इन सब आश्रमों में वेदों और स्मृतियों के विधान से गृहस्थ श्रेष्ठ कहा है क्योंकि वह तीनों का पोषण करता है ॥ ८९ ॥ जैसे संपूर्ण नदी और नद समुद्र में जाकर ठहरते हैं, वैसे ही सब आश्रमी गृहस्थ में ठहरते हैं (आश्रय पाते हैं) ॥ ९० ॥

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः । दशलक्षणक्रोधर्मः
सेविनव्यः प्रयत्नतः ॥ ९१ ॥ धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमि-
न्द्रियनिग्रहः । धीर्विद्या सत्यमक्रोधोदशकं धर्मलक्षणम् ९२

अर्थ—चारों आश्रमी द्विजों को दश लक्षण वाले धर्म का सेवन यत्न से करना चाहिये ॥ ९१ ॥ १-धैर्य २-दूसरे की करी हुई बुराई को सह लेना ३-मन का रोकना ४-चोरी न करना ५-गुह्य होना ६-इन्द्रियों का रोकना ७-शास्त्र का ज्ञान, ८-आत्मा का ज्ञान, ९-सत्य बोलना और १०-क्रोध न करना; ये धर्म के दश लक्षण हैं (५ पुस्तकों और नन्दनकृत टीका में:- धीः=हीः पाठभेद है) ॥ ९२ ॥

दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते । अधीत्य चानु-
वर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ६३ ॥ दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्
समाहितः । वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेद नृणो द्विजः ॥ ६४ ॥

अर्थ-जो विप्र धर्म के दश लक्षणों को पढ़ते हैं और पढ़कर उस के अनु-
सार चलते हैं, वे मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ ६३ ॥ (ऋषि पितर देवों के)
ऋणों से मुक्त द्विज स्वस्थचित्त होकर दश लक्षण वाले धर्म को करता हुआ
विधि से वेदान्त का अवगण करके संन्यास धारण करे ॥ ६४ ॥

संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन् ।

नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्यं सुखं वसेत् ॥ ६५ ॥

अर्थ-संपूर्ण (गृहस्थ के) कर्मों को छोड़कर और (बिना जाने जीवों के
नाशजनित) पापों को (प्राणायामों से) नष्ट करता हुआ जितेन्द्रिय होकर वेद
का अभ्यास करके पुत्र के ऐश्वर्य में (वृत्ति की चिन्ता से रहित) सुखपूर्वक
निवास करे (६५ वें से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:-

[संन्यसेत्सर्वकर्माणि वेदमेकं न संन्यसेत् ।

वेदसंन्यासतः शूद्रस्तस्माद्वेदं न संन्यसेत् ॥]

सब काम छोड़ दे, परन्तु एक वेद को न छोड़े । क्योंकि वेद के छोड़ने
से शूद्र हो जाता है, इस लिये वेद को न छोड़े ॥ इसी आशय का श्लोक
पाठभेद से अन्य दो पुस्तकों में भी मिलता है कि:-

संन्यसेत्सर्वकर्माणि वेदं तु न परित्यजेत् ।

परित्यागाद्धि वेदस्य शूद्रतामनुगच्छति) ॥ ६५ ॥

एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृहः ।

संन्यासेनापहत्यैनः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ६६ ॥

अर्थ-इस प्रकार कर्मों को छोड़ कर अपने कार्य (आत्मसाक्षात्कार)
में तत्पर हुआ निःस्पृह संन्यास से पाप को दूर करके परमगति को प्राप्त
होता है ॥ ६६ ॥

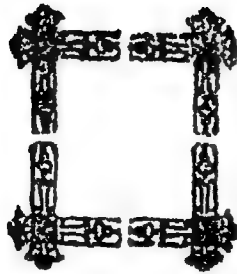
एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत ॥६७॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे (भृगुप्रोक्तायां संहितायां)
षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अर्थ—(हे ऋषियो !) तुम से यह ब्राह्मण का चार प्रकार का धर्म जो परलोक में पुण्य तथा अक्षय फल देने वाला है, कहा । अब राजाओं का धर्म सुनो—॥ ६७ ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिधिरचिते मनुभाषानुवादे
षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

—६७:४:०—



ओ३म्

अथ सप्तमोऽध्यायः

राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तोभवेन्नृपः। संभवश्च यथा तस्य
सिद्धिश्च परमा यथा॥१॥ ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथा-
विधि । सर्वस्यास्य यथान्यान्यं कर्तव्यं परिरक्षणम् ॥ २ ॥

अर्थ—जैसे आचरण वाला राजा होना चाहिये, उस प्रकार के राजधर्मों
और राजा की उत्पत्ति और जैसे (राजा के प्रभुत्व की) उत्तमसिद्धि हो, उस
को आगे कहूंगा ॥ १ ॥ वेदोक्त संस्कार हुवे क्षत्रिय को इस संपूर्ण (राज्य)
की न्यायानुसार रक्ता करनी चाहिये ॥ २ ॥

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतोविद्रुते भयात् । रक्षार्थमस्य
सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥३॥ इन्द्रानिलयमाकाङ्गामग्नेश्च
वरुणस्य च । चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतोः॥४॥

अर्थ—बिना राजा के इस लोक में भय से चारों ओर चल विचल हो
जाता, इस कारण सब की रक्षा के लिये ईश्वर ने राजा को उत्पन्न किया
॥ ३ ॥ इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर की शाश्वत
मात्राओं (सारभूत अंगों) को निकाल कर (राजा को बनाया अर्थात्
इन दिव्यगुणांशों से युक्त पुण्य राजा होता है) ॥ ४ ॥

यस्मादेपां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः। तस्मादभिभव-
त्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥५॥ तपत्यादित्यवच्चैषां चक्षूषि च
मनसि च। न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिघ्नोक्षितुम् ॥६॥

अर्थ—क्योंकि देवेंद्रों की मात्राओं से राजा बनाया गया है, इस लिये
यह (राजा) तेज से सब प्राणियों को दवाता है ॥ ५ ॥ (अब दो श्लोकों
में यह बताते हैं कि राजा में कैसे उक्त आठ देवों का प्रभाव रहता है)
राजा अपने तेज से इन (देखने वालों) की आंखों और मनों को सूर्य सा
असंख्य होता है और पृथिवी में कोई इस (राजा) के सामने होकर नहीं
देख सकता (इस से मूयांश कहा, इसी प्रकार—) ॥ ६ ॥

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् । स कुबेरः स
वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥७॥ बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य
इति भूमिपः । महती देवता होषा नररूपेण सिष्ठति ॥८॥

अर्थ—वह राजा प्रभाव से अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, यम, कुबेर, वरुण
और इन्द्र है ॥ ७ ॥ मनुष्य जान कर बालक राजा भी अपमान करने योग्य
नहीं है । क्योंकि यह एक बड़ा देवता मनुष्यरूप से स्थित है ॥ ८ ॥

एकमेव दहत्यग्निर्नरं दुरूपसर्पिणम् । कुलं दहति राजाऽग्निः
स पशुद्रव्यसञ्जयम् ॥९॥ कार्यं सोवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च
तत्त्वतः । कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः ॥ १० ॥

अर्थ—(अग्नि के ऊपर काँड़े मनुष्य कुचाल चले ली) अग्नि उनी एक
को जलाता है परन्तु राजा (कुचाल चलने वाले के) कुल को भी पशु और
धनसहित नष्ट कर देता है ॥ ९ ॥ कार्य, शक्ति, देश और काल को तत्त्व से
देख कर धर्मसिद्धि के लिये राजा बार २ नाना प्रकार का रूप धरता है
(कभी क्षमा, कभी क्रोध, कभी मित्रत्व, कभी शत्रुत्व इत्यादि) ॥ १० ॥

यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे । मृत्युश्च वसति क्रोधे
सर्वतेजोमयो हि सः ॥११॥ तं यस्तु द्वेष्टि संमोहात् स विनश्यत्य-
संशयम् । तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः ॥१२॥

अर्थ—जिस की प्रसन्नता में लक्ष्मी रहती है (द्रव्यप्राप्ति होती है), और
पराक्रम में जय रहता है और क्रोध में मृत्यु वास करता है, वह (राजा)
अवश्य सर्वतेजोमय है ॥११॥ जो अज्ञानवश राजा से द्वेष करता है वह
निश्चय नाश को प्राप्त होता है, क्योंकि उस के शीघ्र नाश के लिये राजा
मन बिगाड़ता है ॥ १२ ॥

तस्माद्दुर्मयमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः । अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु
तं धर्मं न विचालयेत् ॥ १३ ॥ तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्हारं
धर्ममात्मजम् । ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत् पूर्वमीश्वरः ॥१४॥

अर्थ—इस लिये राजा अपने अनुकूलों में जिस धर्म=कानून का और प्रति-
कूलों में जिस अनिष्ट का निश्चय करके स्थापन करे (कानून बनावे) उस धर्म

(फ़ानून) को न विचलावे (न तोड़े) ॥१३॥ उस (राजा) के लिये प्राणिमात्र के रक्षक आत्मा से उत्पन्न ब्रह्मतेज से बने दण्डधर्म को ईश्वर ने पूर्व बनाया है ॥१४॥
तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि चाभयाद्भोगाय कल्प-
न्ते स्वधर्मान् चलन्ति च ॥ १५ ॥ तं देशकालौ शक्तिं च विदां
चावेक्ष्य तत्त्वतः । यथार्हतः संप्रणयेन्नरेऽन्याथवर्तिषु ॥१६॥

अर्थ—उस (दण्ड) के भय से सम्पूर्ण स्थावर और जङ्गम भोग को प्राप्त होते हैं और अपने धर्म से नहीं विचलते ॥१५॥ देश, काल, शक्ति और विद्या के तत्त्व को शास्त्रानुसार विचार कर अपराधी मनुष्यों को यथायोग्य उस दण्ड को देवे ॥१६॥

स राजा पुरुषोदण्डः स नेता शासिता च सः । चतुर्णामाश्रमाणां
च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥१७॥ दण्डः शासित प्रजाः सर्वा दण्ड
एवाभिरक्षति । दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं त्रिदुर्बुधाः ॥१८॥

अर्थ—वह दण्ड ही राजा है, वही पुरुष है और वही नेता तथा शासिता और चारों आश्रमों के धर्म का प्रतिभू (जामिन) है ॥ १७ ॥ दण्ड सम्पूर्ण प्रजा का शासन करता है, दण्ड ही रक्षा करता है, सब के सोते हुए दण्ड ही जागता है (उसी के डर से चोर चोरी नहीं करते) विद्वान् लोग दण्ड को धर्म जानते हैं ॥ १८ ॥

समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः । असमीक्ष्य
प्रणीतरतु त्रिनाशयति सर्वतः ॥१९॥ यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं
दण्डेयव्रतन्दितः । शूले मत्स्यानि वापक्ष्यन्दुर्वलान्धलवत्तराः २०

अर्थ—वह (दण्ड) शास्त्र से अच्छे प्रकार देखकर धरा हुआ सम्पूर्ण प्रजा को प्रसन्न करता और बिना देखे किया हुआ चारों ओर से नाश करता है ॥१९॥ आलस्यरहित राजा यदि अपराधियों को दण्ड न देवे तो शूल पर मछली के समान अतिशयवान् लोग मिर्बलों को भून डालें ॥ २० ॥

अद्रात्काकः पुरोडाशं श्वा च लिह्यादुविस्तथा । स्वाम्यं च न
स्यात्कस्मिंश्चित्प्रवर्तताधरोत्तरम् ॥२१॥ सर्वा दण्डजितो लोको
दुर्लभो हि शुचिर्नरः । दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते २२

अर्थ- (यदि राजा दण्ड न करे तो) कौवा पुरोहारा भक्षण कर जावे और कुत्ता हवि का भक्षण करले और कोई किसी का स्वामी (मालिक) न हो सके और नीचे कंच और कंचे नीचता में प्रवृत्त हो जावें ॥ २१ ॥ सम्पूर्ण लोग दण्ड से नियमित किये हुवे ही सन्मार्ग में रहते हैं । क्योंकि (स्वभाव से सन्मार्ग में रहने वाला) शुचि मनुष्य दुर्लभ है । सम्पूर्ण जगत् दण्ड के भय से ही भोग कर सकता है ॥ २२ ॥

देवदानवगन्धर्वा रक्षांसिपतगोरगाः। तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥२३॥ दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिक्षारेण सर्व-
सेतवः । सर्वलोकप्रकोपश्च भवेदण्डस्य विप्रमात् ॥ २४ ॥

अर्थ-देव, दानव, गन्धर्व, राक्षस, पक्षी, सर्प, ये भी दण्ड के ही दबे हुवे भोग को पा सकते हैं ॥ २३ ॥ दण्ड के बिना सम्पूर्ण वर्ण दुष्टाचरण में प्रवृत्त हो जावें और (चतुर्वर्गरूप) सब पुल टूट जावें और सम्पूर्ण लोगों में उपद्रव हो जावे ॥ २४ ॥

यत्र श्यामोलोहिताक्षोदण्डश्चरति पापहा। प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेतसाधु पश्यति ॥२५॥ तस्माद्गुह्यः संप्रणेतारं राजानं सत्य-
वादिनम् । समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥२६॥

अर्थ-जिस देश में श्यामवर्ण और लाल आंख वाला, पाप का नाशक दण्ड विचरता है, वहां प्रजा प्रमाद नहीं करती, यदि नेता (राजा) अच्छे प्रकार देखता हो ॥ २५ ॥ सत्य बोलने वाले और अच्छे प्रकार समझ कर करने वाले, बुद्धिमान् और धर्म अर्थ काम के जानने वाले राजा को उस (दण्ड) के देने का अधिकारी कहते हैं ॥ २६ ॥

तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते । कामात्मा विषमः क्षुद्रोदण्डेनैव निहन्यते ॥२७॥ दण्डो हि सुमहत्तेजोदुर्धरश्चा-
ऽकृतात्मभिः। धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥२८॥

अर्थ-जो राजा उस (दण्ड) को अच्छे प्रकार चलाता है वह धर्म अर्थ काम से वृद्धि को प्राप्त होता है और जो विषय का अभिलाषी और उलटा चलने वाला तथा क्षुद्रता करने वाला है वह उसी दण्ड से नष्ट हो जाता है ॥२७॥ बड़े तेजवाला दण्ड है और शास्त्रोक्त संस्काररहित राजाओं से धारण नहीं किया जा सकता किन्तु राजधर्म से विपरीत राजा ही का बन्धुमहित नाश कर देता है ॥२८॥

ततोदुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम् । अन्तरिक्षगतांश्चैव
मुनीन्देवांश्च पीडयेत् ॥२९॥ सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृत-
बुद्धिना । न शक्योन्यायतोनेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ ३० ॥

अर्थ-राजा के नाश के अनन्तर क़िला, राज्य और स्थावर जङ्गम प्रजा
और अन्तरिक्ष के रहने वाले पक्षी और वायु आदि देवतों को (हव्यादि न
मिलने से) और सब मुनियों को (वह अधर्मी राजा का दण्ड) पीडित करने
लगेगा ॥ २९ ॥ (मन्त्री वा सेनापतियों के) सहाय से रहित, मूर्ख, लोभी,
निबुद्धि और विषयों में आसक्त राजा से वह (दण्ड=राजधर्म) न्यायपूर्वक
नहीं चल सकता ॥ ३० ॥

शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणाऽप्रणेतुं शक्यते दण्ड-
सुसहायेन धीमता ॥३१॥ स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद्दृष्टदण्डश्च
शत्रुषु । सुहृत्स्वजिह्वाः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥३२॥

अर्थ-शुद्धिवादी, सत्यप्रतिष्ठ, शास्त्र के अनुसार चलने वाले, अच्छे
सहायकों वाले और बुद्धिमान् राजा से दण्ड चलाया जा सकता है (ऐसा
राजा शिक्षा करने को योग्य है) ॥३१॥ राजा को अपने राज्य में न्यायकारी
और शत्रुओं को सदा दण्ड देने वाला और प्यारे मित्रों से कुटिलतारहित
और ब्राह्मणों पर क्षमायुक्त होना चाहिये ॥ ३२ ॥

एवंवृत्तस्य नृपतेः शिलोच्छेनापि जीवतः । त्रिस्तोर्यते यशो लोके
तैलविन्दुरिवाम्भसि ॥३३॥ अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजिता-
त्मनः । संक्षिप्यते यशो लोके घृतविन्दुरिवाम्भसि ॥ ३४ ॥

अर्थ-उक्त प्रकार चलने वाले शिलोच्छेदवृत्ति से भी जीवते हुये राजा का
यश जगत् में फैल जाता है, जैसे पानी में तैल की बूंद ॥३३॥ विपयासक्त
और इस से विपरीत चलने वाले राजा का यश लोगों में सङ्कोच को प्राप्त
हो जाता है, जैसे पानी में घृत की बूंद ॥ ३४ ॥

स्वैः स्वैः धर्मैः निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः । वर्णानामाश्रमाणां
च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥३५॥ तेन यदा तसमृत्त्येन कर्तव्यं
रक्षता प्रजाः । तत्तद्वोऽहं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥३६॥

अर्थ—अपने अपने धर्म में चलने वाले आनुपूर्व्य से सब वर्गों और आश्रमों की रक्षा करने वाला राजा (ईश्वर ने) उत्पन्न किया है ॥ ३५ ॥ प्रजा की रक्षा करते हुवे अमात्यों सहित उस राजा को जो जो करना चाहिये सो तुम से मैं क्रम के साथ यथावत् कहूंगा ॥ ३६ ॥

ब्राह्मणान्पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः। त्रैविद्यावृद्धान्विदु-
षस्तिष्ठेत्तेषां च शासने॥३७॥ वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदयिदः
शुचीन् । वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरऽपि पूज्यते ॥ ३८ ॥

अर्थ—राजा को प्रातःकाल उठकर ऋग्, यजुः, सामवेद और धर्मशास्त्र के जानने वाले ब्राह्मणों के साथ बैठना और उन के गामन को मानना चाहिये ॥ ३७ ॥ वेद जानने वाले, पवित्र, आयु में वृद्ध ब्राह्मणों की नित्य सेवा करे क्योंकि बड़े विद्वानों की सेवा करने वाला (राजा) दुष्ट जीवों से भी पूजा (सत्कार) पाता है ॥ ३८ ॥

तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः। विनीतात्मा हि
नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित् ३९ वहवोऽविनयान्नष्टा राजानः
सपरिच्छदाः। वनस्यापि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे॥४०॥

अर्थ—शिक्षित राजा भी उन (विद्वानों) से शिक्षा का नित्य अभ्यास करे क्योंकि सुशिक्षित राजा कभी नाश को प्राप्त नहीं होता ॥ ३९ ॥ (हाथी घोड़ा खजाना इत्यादि सब) सामानों से युक्त बहुत से राजा विनयरहित नष्ट होगये और बहुत से (वे सामान) जङ्गल में रहते हुवे भी विनय से राज्य को प्राप्त हो गये ॥ ४० ॥

“वेनोविनष्टोऽविनयान्नहुपश्चैव पार्थिवः। सुदासोयवनश्चैव
सुमुखोनिमिरेव च ॥ ४१ ॥ पृथुस्तु विनयाद्वाज्यं प्राप्तवान्
मनुरेव च। कुबेरश्च धनैश्चर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः ॥ ४२ ॥”

अर्थ—वेन, नहुष, सुदास, यवन, सुमुख और निमि भी अविनय से नष्ट हो गये ॥ ४१ ॥ पृथु और मनु विनय से राज्य पा गये और कुबेर ने (विनय से) धनादिपत्य पाया और गाधि के पुत्र विश्वामित्र (विनय से) ब्राह्मण हो गये ॥ (ये श्लोक मनु के नहीं, क्योंकि स्वयं मनु और यवन तक को भी इन में भूतकालस्य वर्णन किया है) ॥ ४२ ॥”

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् । आन्धीक्षिकीं
चात्मविद्यां वार्तास्मांश्च लोकतः ॥ ४३ ॥ इन्द्रियाणां जयेयोगं समा-
तिष्ठेद्विद्यानिशम् । जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशेऽप्यपयितुं प्रजाः ॥ ४४ ॥

अर्थ—तीनों वेदों के जानने वालों से तीनों वेद (पढ़े) और सनातन दण्ड-
नीतिविद्या तथा वेदान्त (पढ़े) और लोगों से व्यवहार विद्या (पढ़े) ॥ ४३ ॥
इन्द्रियों के जय का रात दिन उद्योग करे क्योंकि जितेन्द्रिय ही प्रजा को
वश में कर सकता है ॥ ४४ ॥

दशकामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च । व्यसनानि दुरन्तानि
प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ४५ ॥ कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु मही-
पतिः । विद्युज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥ ४६ ॥

अर्थ—काम से उत्पन्न दश और क्रोध से उत्पन्न आठ (ऐसे १८) व्यसनों
को, जिन का अन्त मिलना दुर्लभ है, यत्र से छोड़ देवे ॥ ४५ ॥ काम से उत्पन्न
(दश) व्यसनों में आसक्त हुवा राजा अर्थ और धर्म से हीन हो जाता है और
क्रोध से उत्पन्न (८) व्यसनों में आसक्त तो अपने शरीर से ही (नष्ट हो
जाता है) ॥ ४६ ॥

मृगयाक्षादिवारखमः परिवादः स्त्रियो मदः । तौर्यत्रिकं वृथाया च
कामजो दशको गणः ॥ ४७ ॥ पैशुन्यं साहसं मोह ईर्ष्याऽसूयार्थ-
दूषणम् । वारदण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥ ४८ ॥

अर्थ—शिकार करना, जुवा खेलना, दिन में सोना, दूसरे के दोषों को
फहते रहना, स्त्रीसम्भोग, मद्यपान, भाषना, गाना, बजाना और विना
प्रयोजन घूमना, ये दश काम के व्यसन हैं ॥ ४७ ॥ चुगली, साहस, द्रोह,
ईर्ष्या, दूसरे के गुणों में दोष लगाना, द्रव्यहरण, गाली देना और कठोरता;
ये आठ क्रोध से उत्पन्न व्यसन हैं ॥ ४८ ॥

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वं कवयो विदुः । तं यत्नेन जयेत्प्रोभं
तज्जावेतावुभौ गणौ ॥ ४९ ॥ पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च
यथाक्रमम् । एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥ ५० ॥

अर्थ—जिस को सम्पूर्ण विद्वान् इन दोनों गणों का कारण बताते हैं उस लोभ को यत्न से छोड़ देवे । उसी से ये दोनों गण उत्पन्न हैं ॥ ४९ ॥ काम से उत्पन्न हुवे गण में मद्यपान, जुवा खेलना, स्त्रीप्रसङ्ग और शिकार, इस चौकड़े को बहुत कष्ट जाने ॥ ५० ॥

दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे । क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा ॥ ५१ ॥ सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानु षड्भिः । पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान् ॥ ५२ ॥

अर्थ—क्रोध से उत्पन्न हुवे गण में कठोर वचन कहना, दण्ड से मारना और द्रव्य का हरण करना; इस त्रिक (३) को सदैव अति कष्ट जाने ॥ ५१ ॥ ये जो सब में साथ लगे सात व्यसन हैं, इन में पहिले पहिले (व्यसन) को शानी पुरुष भारी (व्यसन) जाने ॥ ५२ ॥

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते । व्यसन्यधोऽधो ब्रजति स्वर्गात्यव्यसनीमृतः ॥ ५३ ॥ मौलाञ्छास्त्रविदः शूरांल्लब्धलक्षान् कुलोद्गतान् सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥ ५४ ॥

अर्थ—व्यसन और मृत्यु (दोनों नाश करने वाले हैं) में मृत्यु से व्यसन कष्ट है । क्योंकि व्यसनी दिन दिन अवनति में जाता है और निर्व्यसनी मर कर स्वर्ग को जाता है ॥ ५३ ॥ मूल से नौकरी किये हुवे, शास्त्र के जानने वाले, शूरवीर, अच्छा निशाना लगाने वाले, अच्छे कुल के और परीक्षोत्तीर्ण ७ या ८ मन्त्री रखे ॥ ५४ ॥

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् । विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम् ॥ ५५ ॥ तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं संधिविग्रहम् । स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥ ५६ ॥

अर्थ—जब कि सुगम काम भी एक से होना कठिन है तौ विशेष कर बड़े फल का देने वाला राज्यसम्बन्धी काम एकला कैसे कर सकता है ॥ ५५ ॥ इस लिये उन (मन्त्रियों) के साथ साधारण सन्धि विग्रह की और (दण्ड, कौश, पुर, राष्ट्र=चतुर्विध) स्थान की और द्रव्य धान्यादि की उन्नति और सब की रक्षा और जो प्राप्त है उस की शान्ति का विचार करे ॥ ५६ ॥

तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक् । समस्तानां च
कार्येषु विदध्याद्वितमात्मनः॥५७॥ सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन
विपश्चितामन्त्रयेत्परमं मन्त्रं राजा षाड्गुणयसंयुतम्॥५८॥

अर्थ-उन मन्त्रियों के अलग अलग और सब के मिले अभिप्राय (अलग
अलग राय और मिली हुई राय) को जान कर कार्यों में अपना हित करे
॥ ५७ ॥ उन सब (मन्त्रियों) में अधिक धर्मात्मा और बुद्धिमान् ब्राह्मण
(मन्त्री) के साथ राजा षड्गुणयुक्त परम मन्त्र (सलाह) करे ॥ ५८ ॥

नित्यं तस्मिन्समाश्रितः सर्वकार्याणि निक्षिपेत् । तेन सार्धं विनि-
श्चित्य ततः कर्म समारभेत् ॥५९॥ अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्रा-
ज्ञानवस्थितान् । सम्यगर्थं समाहर्तृन्मात्यान्सुपरीक्षितान्॥६०॥

अर्थ-उस (ब्राह्मण मन्त्री) में अच्छा विश्वास करता हुआ सब काम
उस को सौंपे और जो करना हो, उस के साथ निश्चय करके तब उस काम
को करे ॥ ५९ ॥ अन्य भी पवित्र, बुद्धिमान्, परीक्षित तथा द्रव्य के उपाजने
की युक्ति जानने वालों को मन्त्री बनावे ॥ ६० ॥

निर्वर्त्ततास्य यावद्विरितिकर्त्तव्यतानृभिः । तावतो नन्दितान्दक्षान्
प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥६१॥ तेषामर्थं नियुञ्जीत शूरान्दक्षान्
कुलोद्भूतान् । शुचीनां करकर्मन्ते भीरून्तर्निवेशने ॥६२॥

अर्थ-इस (राजा) का जितने मनुष्यों से पूरा काम निकले उतने आलस्य-
रहित चतुर बुद्धिमानों को (मन्त्री) बनावे ॥६१॥ उन में शूर, चतुर, कुलीन
मन्त्रियों को धन के स्थान में और अर्थगुणियों को रत्नों की खानि खोदवाने
में तथा डरपोकों को महलों के भीतर जाने आने में नियुक्त करे ॥ ६२ ॥

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् । इक्षिताकारचेष्टज्ञं
शुचिं दक्षं कुलोद्भूतम् ॥६३॥ अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान्
देशकालवित् । अपुष्मान्धीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥६४॥

अर्थ-और दूत उस को रखे जो बहुश्रुत, हृदय के भाव आकार
चेष्टाओं की जानने वाला, अन्तःकरण का शुद्ध तथा चतुर और कुलीन हो

॥ ६३ ॥ प्रीति वाला, शुद्धचित्त, चतुर, याद रखने वाला, देश काल का जानने वाला, अच्छे देह वाला, निडर और बोलने वाला, राजा का दूत प्रशस्त है (अर्थात् राजा को ऐसा दूत रखना चाहिये ॥ ६४ वें से आगे एक पुस्तक में ये ५॥ श्लोक अधिक हैं:-

[सन्धिग्रहकालज्ञानसमर्थानायतिक्षमान्। परैरहायीं शुद्धांश्च धर्मतः कामतोऽर्थतः ॥ १ ॥ समाहर्तुं प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रि- पश्चितः। कुलीनान्वृत्तिसंपन्नान्निपुणान्कोशवृद्धये ॥ २ ॥ आयव्य- यस्य कुशलान्गणितज्ञानलोलुपान्। नियोजयेद्दुर्मनिष्ठान्सम्य- क्कार्यार्थचिन्तकान् ॥ ३ ॥ कर्मणि चातिकुशलांश्चिपिज्ञानायतिक्ष- मान्। सर्वविश्वासिनः सत्यान्सर्वकार्येषु निश्चितान् ॥ ४ ॥ अकृ- ताशांस्तथा भर्तुः कालज्ञांश्च प्रसङ्गिनः। कार्यकामोपधाशुद्धान् बाह्याभ्यन्तरचारिणः ॥ ५ ॥ कुर्यादासन्नकार्येषु गृहसंरक्षणेपु च]

कोशवृद्धि के लिये-सन्धि और ग्रह के समय को जानने वाले, समर्थ, समय पड़ें को भेल सकने वाले, शत्रुओं से न मिल जाने योग्य, धर्म अर्थ काम से शुद्ध, सब शास्त्रों के ज्ञाता, कुलीन, पुष्कलजीविका वाले और चतुर पुरुषों के इकट्ठा करने का उद्योग किया करे। आय व्यय में चतुर, हिसाब के पक्के, निर्लोभ, धर्म में अट्ठालु और कार्यों का तात्पर्य समझने वालों को नियुक्त करे। जो काम में अतिकुशल, अच्छा लिखना जानने वाले, भीड़ पड़ी को भेलने वाले, सब के विश्वासपात्र, सच्चे, सब कामों में निश्चित और स्वामी पर आशा न रखने वाले (सन्तुष्ट), समय और प्रसङ्ग (मौके) के जानने वाले हों। कार्य, काम और धरोहर में सच्चे, बाहर भीतर के भेदी (मन्त्री) लोगों को समीपी कामों और गृह की रक्षाओं में नियुक्त करे) ॥ ६४ ॥

अमात्येदण्ड आयत्तोदण्डेवैनयिकीक्रिया। नृपतौ कोशराष्ट्रं च दूते सन्धिग्रहपर्ययौ ॥ ६५ ॥ दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान्। दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः ॥ ६६ ॥

अर्थ-मन्त्री के अधीन दण्ड और दण्ड के अधीन सुशिक्षा और राजा अधीन देश तथा खजाना और दूत के अधीन सेल वा बिगाड़ है ॥ ६५ ॥ क्योंकि

दूत ही मेल कराता है और दूत ही मिले हुओं को फोड़ता है । दूत वह काम करता है जिस से मनुष्यों में भेद हो जाता है । (५ पुस्तकों में-मानवाः=वान्धवाः । पाठ है) ॥ ६६ ॥

स विद्यादस्य * कृत्येषु निगूढंङ्कितचेष्टितैः ।

आकारमिङ्कितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीर्षितम् ॥ ६७ ॥

इस श्लोक में राजदूत का कर्तव्य बताया गया है । अर्थ-(सः) वह दूत (अस्य) इस राजा के (कृत्येषु) असंस्तुष्ट विरुद्ध लोगों में (निगूढेङ्कितचेष्टितैः) छिपे इङ्कित इशारों और चेष्टाओं से (आकारम्) उन के आकार=सूरत शकल (इङ्कितम्) इशारे और (चेष्टाम्) काम वा हरकत को (विद्यात्) जानने का यत्न करे (च) और (भृत्येषु) भरण पोषण योग्य पुरुषों में (चिकीर्षितम्) क्या करना चाहते हैं, उस को जाने ॥

(इस में जो "कृत्य" शब्द है, वह राजनैतिक योगरूढि शब्द है, जिस का विवरण अमर कोष तृतीय काण्ड, नानार्थवर्ग ३, श्लोक १५८ में और उसी की अमरविवेक टीका में इस प्रकार है कि-

कृत्या क्रियादेवतयोस्त्रिषु भेदो धनादिभिः ॥

(अमरकोष ३ । ३ । १५८)

"धनस्त्रीभूभ्यादिभिर्भेदनीयोयः परराष्ट्रगतपुरुषादिस्तत्र कृत्याशब्दीवाच्यलिङ्गः " टीका ॥

पराये=शत्रु के राज्य में जो कोई धन के, स्त्री के वा पृथिवी आदि के लालच से लोड़ने (अपने अनुकूल कर लेने) योग्य पुरुष इत्यादि है, उस को "कृत्य" कहते हैं और उस का वाच्य के समान लिङ्ग होता है । स्त्री=कृत्या, पुरुषः=कृत्यः, नपुंसकं=कृत्यम् ॥

ये "कृत्य" ४ प्रकार के होते हैं । १-क्रुद्धकृत्य, २-लुब्धकृत्य, ३-भीतकृत्य, और ४-अवमानितकृत्य । यथा-

क्रुद्धलुब्धभीताऽवमानिताः परेषां कृत्याः ॥ कौटिल्यसूत्र

जो शत्रुराज्य पर क्रोध रखते हैं वे "क्रुद्ध कृत्य," जो लोभी हैं वे "लुब्ध कृत्य," जो डरे हुवे हैं वे "भीतकृत्य" और जो शत्रु राजा से अवमान किये गये हैं वे "अवमानित कृत्य" कहते हैं । इस श्लोक में राजदूत के कामों में

एक यह काम भी बताया गया है कि वह शत्रुराज्यों में लिपी इङ्कित चेष्टाओं से गुप्त रूप से शत्रुराज्य से नाराज बेदिल असन्तुष्ट Mal content पुरुषों के आकार इङ्कित और चेष्टाओं का भेद लेवे ॥

परन्तु मेधातिथि जैसे विद्वान् टीकाकार भी "कृत्येषु=कार्येषु" लिखकर भूल कर गये। कुल्लूकभट्ट ने भी सूत्र में कृत्य का अर्थ "कर्तव्य" ही लिख दिया। राघवानन्द भी भूल कर "कृत्य" का अर्थ "कर्तुमिष्ट" कर गये। रामचन्द्र टीकाकार भी "कर्तव्यं कार्यं" लिख कर भूल में ही रहे ॥

हां, सर्वज्ञानारायण टीकाकार का ध्यान "कृत्य" शब्द के योगरूढ अर्थ पर पहुंचा, उन्होंने "कृत्येषु सुबुधभीतावमानितैषु" अर्थ लिखा। तथा नन्दन टीकाकार ने भी "कृत्येषु स्वराज्ञा भेद्येषु परपक्षस्थेषु पुरुषेषु" लिख कर राजनीतिज्ञान का परिचय दिया है ॥

नवीन काल के पुस्तक "मुद्राराक्षस" में भी "कृत्य" शब्द योगरूढि प्रयुक्त हुवा है। यथा—

कृत-कृत्यतामापादिताश्चन्द्रगुप्तसहोत्थायिनो

भद्रभटप्रभृतयः प्रधानपुरुषाः ॥

मुद्राराक्षस अङ्क १ पृ० ३२। ३३ तथा उसी की टीका में लिखा है कि—

स्त्रीमद्यमृगयाशीलावित्यादि तृतीयाङ्के वक्ष्यमाण-मुत्पाद इतोनिःसार्य मलयकेतुना सह संधाय कृतकृत्यताम् एते वयं देवकार्येऽवहिताः स्म इत्येवंरूपाम् ॥

इत्यादि स्थलों पर "कृत्य" शब्द राजनैतिक योगरूढ पाया जाता है। 'कृत्य' शब्द भट्टी और कामन्दकीय नीतिशार आदि ग्रन्थों में भी प्रयुक्त है ॥६९॥

बुद्ध्वा च सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम् ।

तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथात्मानं न पीडयेत् ॥ ६८ ॥

शत्रु राजा की सब इच्छाओं को ठीक ठीक जान कर वैसा प्रयत्न करे जिस से (वह) अपने को पीड़ा न दे सके ॥ ६८ ॥

जाङ्गलं सस्यसंपन्नमार्यप्रायमनाविलम् । रम्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत् ॥६९॥ धनुर्दुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्ष-मेव वा । गिरिदुर्गं नृदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥ ७० ॥

अर्थ—जङ्गल, जहाँ थोड़ा घास और पानी भी हो, धान्य बहुत हो, अच्छे शिष्ट आर्य पुरुष निवास करते हों और रोगादि उपद्रवों से रहित हो, देखने में मनीहर और जिस के पास अच्छे वृक्ष पक्षी खेती और बाज़ार हों, ऐसे देश में रहे॥६९॥ जहाँ धनुर्दुर्ग, महीदुर्ग, जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग, सेनादुर्ग वा गिरिदुर्ग हों, ऐसे किसी दुर्ग का आश्रय करके पुर बसावे (जहाँ धनुषों वा भूमि की बनावट वा जल वा वृक्ष वा सेना वा पहाड़ों का ऐसा घेरा हो जिसे दुर्ग [किला] कह सकें । जहाँ शत्रु को आना कठिन हो) ॥ ७० ॥

सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत् । एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते ॥७१॥ त्रीण्यादान्याश्रितास्वेषां मृगगर्ता-
श्रयाऽप्सराः । त्रीण्युत्तराणि क्रमशः प्लवङ्गमनरामराः ॥७२॥

अर्थ—सब दुर्गों में पहाड़ी दुर्ग श्रेष्ठ है, इस लिये सब प्रयत्नों से उस का आश्रय करे । क्योंकि इस में सब से अधिक गुण हैं ॥७१॥ (इन छः प्रकार के दुर्गों से छः प्रकार के प्राणी अपने को बचा लेते हैं जैसा कि—) इनमें से पहिले ३ दुर्गों में क्रम से धनुर्दुर्ग में मृग, महीदुर्ग में मूँसे आदि, जलदुर्ग में अप्सर=चलचर । अगले ३ में से वृक्षदुर्ग में वानर, नदुर्ग में साधारण मनुष्य और पहाड़ीदुर्ग में पर्वतवासी देवजाति रहते (और अपनी रक्षा करते) हैं ॥७२॥ यथादुर्गाश्रितानेतान्नोपहिंसन्ति शत्रवः । तयारयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम् ॥७३॥ एकः शतं योधयति प्राकारस्थो घनुर्धरः । शतं दश सहस्राणि तस्माद्दुर्गं विधीयते ॥ ७४ ॥

अर्थ—जैसे इन दुर्गवासियों को शत्रु पीड़ा नहीं दे सकते, वैसे ही दुर्ग के आश्रय करने वाले राजा को शत्रु नहीं मार सकते ॥७३॥ किले के भीतर रहने वाला एक घनुर्धर—सौ के साथ लड़ सकता है और सौ—दश हजार के साथ लड़ सकते हैं, इस लिये किला बनाया जाता है ॥

(७४ वें से आगे दो पुस्तकों में यह श्लोक अधिक प्रक्षिप्त है:—

[मन्दरस्यापि शिखरं निर्मनुष्यं न शिष्यते ।

मनुष्यदुर्गं दुर्गाणां मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्] ॥

स्वायम्भुव मनु ने कहा है कि दुर्गों में दुर्ग मनुष्यों का दुर्ग है क्योंकि मन्दराचल (पर्वत) का शिखर भी मनुष्यों से रहित होता तो शत्रु उसे शेष न छोड़ते) ॥७४॥

तत्स्यादायुधसंपन्नं धनधान्येन वाहनैः । ब्राह्मणैः शिल्पिभि-
र्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ॥ ७५ ॥ तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद्
गृहमात्मनः । गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम् ॥ ७६ ॥

अर्थ—वह दुर्ग आयुध (शस्त्रादि), धन, धान्य, वाहनों, ब्राह्मणों, कलों
के जानने वालों, कलों, चारा, जल और इन्धन से समृद्ध हो (८ पुस्तकों में
उदकेन च=उदकेन्धनैः । पाठ है) ॥७५॥ उस क़िले के भीतर पर्याप्त (खीर, दूध,
देवागार, आयुधमन्दिर, अग्निशालादि) और भित्तियों से रक्षित और सब
ऋतुओं के फल पुष्पादि युक्त और सफ़ेदी किया हुआ तथा जल और वृक्षों
से युक्त अपना घर बनावे ॥ ७६ ॥

तदध्यास्योद्वहेद्वार्यां सर्वर्णां लक्षणान्विताम् । कुले महतिसंभूतां
हृद्यां रूपगुणान्विताम् ॥ ७७ ॥ पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव
चत्विजम् । तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानि कानि च ॥ ७८ ॥

अर्थ—उस घर में रहकर अपनी सुवर्णां शुभलक्षणयुक्त बड़े कुल में उत्पन्न
हुई मन प्रसन्न करने वाली तथा रूप और गुणों से युक्ताभार्या को विवाहे
॥७७॥ पुरोहित और ऋत्विज् का वरण करे, वे इस के गृह्यकर्म (अग्निहोत्र)
और शान्त्यादि किया करें (इन को भी क़िले में रखे) ॥ ७८ ॥

यजेत राजा ऋतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः । धर्मायं चैव विप्रेभ्यो
दद्याद्भोगान्यनानि च ॥ ७९ ॥ सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहार-
येद्द वलिम् । स्याच्चाम्नायपरोलोके वर्तेत पितृवन्नृपु ॥ ८० ॥

अर्थ—राजा नाना प्रकार के बहुत दक्षिणा वाले (अश्वमेधादि) यज्ञ
करे और ब्राह्मणों को भोग और सुवर्णवस्त्रादि धन धर्मार्थ देवे ॥७९॥ राज्य
से प्रामाणिकों द्वारा वार्षिक वलि (मालगुजारी) उगहावे और लोक में
शास्त्रानुकूल चलने में तत्पर हो, प्रजा में पिता के सा वर्ते ॥ ८० ॥

अध्यक्षान्निविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः । तेऽस्य सर्वाण्य-
वेक्षेरन्नृणां कार्याणिकुर्वताम् ॥ ८१ ॥ आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां
पूजको भवेत् । नृपाणामक्षयो ह्येव निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते ॥ ८२ ॥

अर्थ- नाना प्रकार के कामों को देखने वाले अध्वर्यु (अध्वर) उक्त २ कामों में नियत करे, वे राजा के सब काम करने वालों के काम को देखें ॥ ८१ ॥ गुरु-कुल से आये हुये ब्राह्मणों का (धन धान्यों से) पूजन किया करे, राजाओं की यह ब्राह्मणनिधि अक्षय कही है (अर्थात् देने से कमी नहीं होती) ॥ ८२ ॥
न तं स्तेना न चामित्रा हरन्ति न च नश्यति । तस्माद्ब्राह्मणनिधा-
तव्यो ब्राह्मणेष्वक्षयो निधिः ॥ ८३ ॥ न रुक्न्दते न व्यथते न विन-
श्यति कर्हिचित् । वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्रह्मणस्य मुखे हुतम् ॥ ८४ ॥

अर्थ-उक्त (ब्राह्मणार्थ दिये हुये) निधि की चोर नहीं चुरा सकते और शत्रु नष्ट नहीं कर सकते, इस लिये राजा ब्राह्मणों में अक्षय निधि जमा करे ॥ ८३ ॥ अग्नि में जो हवन किया जाता है वह कभी गिर जाता है, कभी सूख जाता है और कभी नष्ट हो जाता है, परन्तु ब्राह्मण के मुख में जो हवन किया जाता है उसमें ये दोष नहीं होते । इस लिये अग्निहोत्रों से (उक्त) ब्राह्मण को देना श्रेष्ठ है ॥ ८४ ॥

“सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे ।

प्राधीते शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे ॥ ८५ ॥”

पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्धाधानतयैव च ।

जल्पं वा बहु वा प्रेत्य दानस्यावाप्यते फलम् ॥ ८६ ॥

अर्थ-“कृत्रियादि को देने में बराबर फल होता है (अर्थात् न्यूनाधिक नहीं), (जो कृत्रियारहित) अपने को ब्राह्मण कहता है, उस को देने में दूना और पड़े हुये को देने में १ लक्षगुणा और पूर्ण वेद पड़े ब्राह्मण को देने से अनन्त फल होता है ॥” (यह नाममात्र के ब्राह्मणब्रुवों ने बनाया जान पड़ता है) ॥ ८५ ॥ वेदाध्ययनादि पात्र के विशेष से और श्रद्धा की अतिशयता के अनुसार घोड़ा वा बहुत परलोक में दान का फल मिलता है ॥

(८६ वें से आगे दो श्लोक हैं, जिनमें से पहिला ३ पुस्तकों और दूसरा १ पुस्तक और मेधातिथि के तथा राघवानन्दी टीके में पाया जाता है:-

[एष एव परोधर्मः कृत्स्नो राज्ञ उदाहृतः । जित्वा धनानि संग्रामाद् द्विजैश्च्यः प्रतिपादयेत् ॥ १ ॥ देशकालविधानेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम् । पात्रे प्रदीयते यत्तु तद्धर्मस्य प्रसाधनम् ॥ २ ॥]

राजा का सारा परम धर्म यही है कि संग्राम से धन जीत कर द्विजों को बांट दे ॥ १ ॥ देशकाल के विधान से अद्वासहित द्रव्य जो कुछ पात्र को दिया जाता है वह धर्म का अङ्गार है ॥ २ ॥ यह दानपात्र द्विजों ने पीछे से बढ़ा दिये जान पड़ते हैं जो कि सब पुस्तकों में नहीं पाये जाते, न सब की टीका इन पर है और आश्चर्य नहीं कि ८३ । ८४ वें भी इन्होंने दानपात्रों ने बनाये हों) ॥ ८६ ॥

समोत्तमाधमैराजा त्वाहूतः पालयन् प्रजाः । न निवर्तत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥ ८७ ॥ संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम् । शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥ ८८ ॥

अर्थ-प्रजा का पालन करता हुवा राजा, सम उत्तम वा हीन शत्रु के साथ बुलाने पर क्षत्रियधर्म को स्मरण करता हुवा युद्ध से न हटे ॥ ८७ ॥ संग्राम से न भागना और प्रजा का पालन करना तथा ब्राह्मणों की सेवा; ये राजा के परम कल्याण करने वाले कर्म हैं ॥ ८८ ॥

आह्वेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः । युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ८९ न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानोरणेरिपून् । न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः ९०

अर्थ-संग्रामों में एक को एक मारने की इच्छा करते हुवे राजा लोग परस शक्ति से लड़ते हुवे पीछे न हटने वाले स्वर्ग को प्राप्त होते हैं ॥ ८९ ॥ लड़ता हुवा रण में शत्रुओं को कूट (छिपे) आयुधों से न मारे और कर्णों (बाण जो फिर निकलने कठिन हों) उन से और विष में बुझाये हुयों तथा जलतीं से भी न मारे ॥ (पूर्व श्लोकों में योद्धा को स्वर्गप्राप्ति कही थी, अब उस संग्राम के ऐसे नियमों का वर्णन है जो अदृष्टार्थ हैं अर्थात् जिन नियमों से लड़ने वालों को मानुषी स्वाभाविक अक्रूरता से लड़ते हुवे अदृष्ट पारलौकिक फल मिल सकता है क्योंकि केवल राज्यलोभार्थ जैसे बने वैसे जीत कर लेने वाले स्वार्थी योद्धा उत्तम गति के अधिकारी नहीं हो सकते) ॥ ९० ॥

न च हन्यात् स्थलारूढं न क्लोबं न कृताञ्जलिम् । न मुक्तकेशं नासीनं न तवासमीतिवादिनम् ॥ ९१ ॥ न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् । नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥ ९२ ॥

अर्थ—(रथ से उतरे) भूमि पर स्थित को न मारे, न नपुंसक को, न हाथ जोड़े हुवे को, न सिर के बाल खुले हुवे को, न बैठे हुवे को और न “ तुम्हारा हूँ ” ऐसे कहते को (मारे) ॥९१॥ न सोते को, न कवच उतारे हुवे को, न नङ्गे को, न बे हथियार को, न बेलड़ने वाले को, न (तमाशा) देखने वाले को और न दूसरे से समागन करने वाले को (मारे) ॥९२॥

नायुधव्यसनप्राप्तं नातं नातिपरिक्षतम् । न भीतं न परावृत्तं
सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ९३ ॥ यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे
हन्यते परैः । भर्तुर्यद् दुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥९४॥

अर्थ—न टूटे आयुध वाले को, न (पुत्रादि नरने से) आर्त को, न जिस के बहुत घाव हुवे हों उस को, न डरपोक को और न भागने वाले को, सत्पुरुषों के धर्म का अनुस्मरण करता हुआ (मारे) ॥ ९३ ॥ जो योद्धा युद्ध में डर कर पीछे हटा हुआ शत्रुओं से मारा जाता है, वह स्वामी का जो कुछ पाप है उस सब को पाता है ॥ ९४ ॥

यच्चास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थमुपार्जितम् । भर्ता तत्सर्वमादत्ते
परावृत्तहतस्य तु ॥९५॥ रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून्
स्त्रियः । सर्वद्रव्याणि कुर्यात् च योयज्जयति तस्य तत् ॥९६॥

अर्थ—पीछे हटके मरे का जो कुछ परलोक के लिये उपार्जन किया हुआ सुकृत है वह सम्पूर्ण स्वामी लेलेता है ॥ ९५ ॥ रथ, घोड़े, हाथी, छत्र, धन धान्य, (बैल आदि) पशु, स्त्रियों और सब द्रव्यों तथा छत्र, तैलादि; (इन में से) जो जिस को जीते वह उस का है ॥ ९६ ॥

राज्ञश्च दक्षुरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः ।

राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्विजितम् ॥ ९७ ॥

अर्थ—(लूट में से) उत्तम धन और वाहनादि राजा को देवे, यह वेदों से सुना है । साथ मिलकर जीती वस्तु विभागपूर्वक राजा सब योद्धों को देदेवे ॥ (९७ वें से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है—

[भृत्येभ्यो विभजेदर्थान्नैकः सर्वहरो भवेत् ।

नाममात्रेण तुष्येत छत्रेण च महीपतिः ॥]

(राजा) नौकरों को धन बांट दे, अकेला ही सब न लेले । क्योंकि राजा को तो छत्र और नामसात्र से प्रसन्न होना चाहिये) ॥ ९७ ॥

एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो यो धर्मः सनातनः ।

अस्माद्गुमान्न च्यवेत क्षत्रियोऽप्यन् रणे रिपून् ॥ ९८ ॥

अर्थ—यह सनातन अनुपस्कृत=अनिन्दित योद्धाओं का धर्म कहा । रण में शत्रुओं को मारता हुआ क्षत्रिय इस धर्म को न छोड़े ॥ ९८ ॥

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः । रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥ ९९ ॥ एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थप्रयोजनम् । अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः ॥ १०० ॥

अर्थ—जो नहीं मिला है, उस के लेने की इच्छा करे, मिले हुवे की प्रयत्न से रक्षा करे और जो रक्षित है, उस को बढ़ावे और बड़े को अच्छे योग्य पात्रों को देवे ॥ ९९ ॥ यह चार प्रकार का पुरुषार्थ प्रयोजन जाने । आलस्यरहित होकर नित्य अच्छे प्रकार इस का अनुष्ठान करे ॥ १०० ॥

अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया । रक्षितं वर्धयेद्दृष्ट्वा वृद्धं दानेन निक्षिपेत् ॥ १०१ ॥ नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः । नित्यं संवृतसर्वार्थो नित्यं छिद्रानुसार्थरेः ॥ १०२ ॥

अर्थ—जो नहीं प्राप्त है, उस को दण्ड से (जीतने की) इच्छा करे और प्राप्त की देखने से रक्षा करे और रक्षित को व्यापार से बढ़ावे और बड़े को दान से जमा कर देवे ॥ १०१ ॥ सदा दण्ड को उद्यत रखे और सदा फैले पुरुषार्थ वाला रहे और सदा अपने सम्पूर्ण अर्थों को गुप्त रखे और शत्रु के छिद्रों को सदा देखे ॥ १०२ ॥

नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत् । तस्मात्सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥ १०३ ॥ अमाययैव वर्त्तत न कथञ्चन मायया । बुद्धो तारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः ॥ १०४ ॥

अर्थ—नित्य उद्यत दण्ड वाले राजा से सम्पूर्ण जगत् डरता है, इस लिये दण्ड ही से सम्पूर्ण जीवों को स्वाधीन करे ॥ १०३ ॥ छल से रहित व्यवहार

करे, किसी प्रकार छल से न करे और अपनी रक्षा करता हुआ शत्रु के किये छल को जानता रहे ॥ १०४ ॥

नास्य छिद्रं परोविद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु ।

गूहेत्कूर्मइवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥ १०५ ॥

अर्थ—(ऐसा यत्न करे कि जिस में) अपने छिद्रों को शत्रु न जाने, परन्तु शत्रु के छिद्रों को आप जाने । कछुवे के समान राजा अपने (राज्यसम्बन्धी) अङ्गों को गुप्त रखे और अपने छिद्र का संरक्षण करे ॥ (१०५ में आगे १ पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:—

[न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।

विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलादपि निकृन्तति ॥]

अविश्वासी पर विश्वास न करे, विश्वासी पर अति विश्वास न करे, क्योंकि विश्वास से उत्पन्न भय जड़ से काट देता है) ॥ १०५ ॥

वृकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत् ।

वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥ १०६ ॥

अर्थ—बगला सा अर्थों (प्रयोजनों) का चिन्तन करे और सिंह सा पराक्रम करे और वृक सा मारहाले और शश ना भाग जावे ॥ १०६ ॥

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः । तानानयेद्वशं सर्वान्सामादिभिरुपक्रमैः ॥ १०७ ॥ यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः । दण्डेनैव प्रसह्यतांश्छिनकैर्वशमानयेत् ॥ १०८ ॥

अर्थ—इस प्रकार विजय करने वाले राजा के जो विरोधी हों, उन को सामादि उपायों से वश में करे ॥ १०७ ॥ यदि प्रथम के तीन (साम दान भेद) उपायों से न माने तो दण्ड से ही बल करके क्रम से वश में लावे ॥ १०८ ॥

सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डिताः । सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये ॥ १०९ ॥ यथोद्भूति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ॥ ११० ॥

अर्थ—पण्डित लोग सामादि चार उपायों में सदा राज्य की वृद्धि के लिये साम और दण्ड की प्रशंसा करते हैं ॥ १०९ ॥ जैसे खेती नलाने वाला धान्यों की रक्षा करता है और तृण को उखेड़ डालता है, वैसे ही राजा राष्ट्र की रक्षा और विरुद्ध चलने वालों का नाश करे ॥ ११० ॥

मोहाद्राजास्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया । सोऽधिरादुभृशयतेरा-
ज्याज्जीविताञ्च सबान्धवः ॥ १११ ॥ शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते
प्राणिनां यथा ॥ तथाराज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ॥ ११२

अर्थ—जो राजा अज्ञान से विना विचारे अपने राज्य को दुःख देता है वह शीघ्र ही राज्य तथा जीवन और बान्धवों से भ्रष्ट हो जाता है ॥ १११ ॥ जैसे शरीर के शोषण से प्राणियों के प्राण क्षीण होते हैं, वैसे राजाओं के भी प्राण राष्ट्र को पीड़ा देने से क्षीण होते हैं ॥ ११२ ॥

राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत् । सुसंगृहीतराष्ट्रो हि
पार्थिवः सुखमेधते ॥ ११३ ॥ द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्म-
मधिष्ठितम् । तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ॥ ११४ ॥

अर्थ—राज्य के संग्रहार्थ यह उपाय (जो आगे कहते हैं) करे, क्योंकि अच्छे प्रकार सुरक्षित राष्ट्र वाला राजा सुखपूर्वक बढ़ता है ॥ ११३ ॥ दो, तीन, पांच तथा सौ ग्रामों के बीच में संग्रह करने वाले पुरुषों का समूह स्थापन करे । (अर्थात् कलकटरी इत्यादि राष्ट्र के स्थानों का स्थापन करे) ॥ ११४ ॥

ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा । विंशतीशं शतेशं च
सहस्रपतिमेव च ॥ ११५ ॥ ग्रामदोषान्समुत्पन्नान् ग्रामिकः श-
नकैः स्वयम् । शंसेद्ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिनम् ॥ ११६ ॥
विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत् । शंसेद्ग्रामशतेशस्तु
सहस्रपतये स्वयम् ॥ ११७ ॥ यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्राम-
वासिभिः । अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात् ॥ ११८ ॥

अर्थ—एक गांव का अधिपति नियत करे, वैसे ही दश गांव का, और बीस का, और सौ का, तथा हजार का ॥ ११५ ॥ ग्रामाधीश उत्पन्न हुवे

ग्रामों के दोषों को आप धीरे से जान कर (अपने योग्य न समझे) तो दश ग्राम के अधिपति को सूचित करे । इसी प्रकार दश ग्राम वाला बीस ग्राम वाले को ॥ ११६ ॥ और बीस वाला यह सब सौ वाले को और सौ वाला हजार वाले को स्वयं सूचित करे ॥ ११७ ॥ और अन्न पान इन्धनादि जो ग्रामवासियों को प्रतिदिन देने योग्य हों उन को उस २ ग्राम पर नियत राजपुत्र्य ग्रहण करे ॥ ११८ ॥

दशी कुलं तु भुञ्जीत विंशी पञ्चकुलानि चाग्रामं ग्रामशताध्यक्षः
सहस्राधिपतिः पुरम् ॥ ११९ ॥ तेषां ग्राम्याणिकार्याणि पृथक्कार्या-
णि चैव हि राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः ॥ १२० ॥

अर्थ—(छः बेल का एक मध्यम हल, ऐसे दो हलों से जितनी पृथिवी जोती जाय उस को “कुल” कहते हैं) दश ग्राम वाला एक ‘कुल’ का भोग ग्रहण करे । और बीस गांव वाला पांच कुल का । और सौ ग्राम वाला एक मध्यम ग्राम तथा हजार गांव वाला एक मध्यम नगर का भोग ग्रहण करे (अर्थात् यह २ उन २ की जीविका हो) ॥ ११९ ॥ उन के ग्रामसम्बन्धी तथा अन्य कामों को एक प्रीति वाला राजा का (प्रतिनिधि) मन्त्री आलस्यरहित होकर देखे ॥ १२० ॥

नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम् । उच्चैः स्थानं घोररूपं
नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥ १२१ ॥ स ताननुपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा
स्वयम् । तेषां वृत्तं परिणयेत्सम्यग्ग्राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥ १२२ ॥

अर्थ—प्रति नगर में एक एक बड़े कुल का प्रधान, सेना आदि से भय का दे सकने वाला और तारों में (शुक्रादि) ग्रह सा तेजस्वी, कार्य का द्रष्टा नगराधिपति नियत करे ॥ १२१ ॥ वह नगराधिपति सर्वदा आप उन सब ग्रामाधिपतियों के ऊपर दौरा करे और राष्ट्र में उन के समाचारों को उस विषय में नियुक्त दूतों से जाने ॥ १२२ ॥

राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः । भृत्या भवन्ति प्रा-
येण तेभ्योरक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १२३ ॥ ये कार्यान्तेभ्योऽर्थमेव गृह्णीतुः
पापचेतसः । तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम् ॥ १२४ ॥

अर्थ-क्योंकि रक्षा के लिये नियत राजा के नौकर प्रायः दूसरों के द्रव्य को हरण करने वाले और बन्धक होते हैं। राजा उन से इन प्रजाओं की रक्षा करे ॥ १२३ ॥ जो पापबुद्धि कार्यार्थियों से द्रव्य ही ग्रहण करते हैं उन को राजा सर्वस्व हरण करके देश के बाहर निकाल देवे ॥ १२४ ॥

राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेप्यजनस्य च । प्रत्यहं कल्पयेद् वृत्तिस्थानं कर्मानुरूपतः ॥ १२५ ॥ पणोदेयोऽवकृष्टस्य पडुत्कृष्टस्य वेतनम् । पाणमासिकस्तथाच्छादोधान्यद्रोणस्तु मासिकः ॥ १२६ ॥

अर्थ-राजा के काम में नियुक्त स्त्रियों और काम करने वाले पुरुषों की उन के कर्म के अनुसार पदवी और वृत्ति सदा नियत किया करे (अर्थात् वेतन में घटी वा वृद्धि आदि करे) ॥ १२५ ॥ निकृष्ट चाकर को वेतन एक पण (जो आगे कहेंगे) देवे और छः महीने में दो कपड़े और एक महीने में द्रोण भर धान्य देवे और उत्कृष्ट=उत्तम काम वाले को छः गुणा देवे (मध्यम को तिगुणा समझलो ॥ ५ पुस्तकों में वेतनं=भक्तकम्, पाठ है) ॥ १२६ ॥

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् । योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजोदापयेत्करान् ॥ १२७ ॥ यथा फलेन युज्येत राजा कर्त्ता च कर्मणाम् । तथावेक्ष्य नृपोराष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान् ॥ १२८ ॥

अर्थ-वेचना खरीदना और रास्ते के खर्च, रक्षादि के खर्च, और उन के निर्वाह को देख कर अनियों से कर दिवावे ॥ १२७ ॥ कामों के करने वाले और राजा, दोनों को फल अच्छा रहे, ऐसा विचार कर सदा राज्य में कर (टैक्स) लगावे ॥ १२८ ॥

यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सप्तपदाः । तथाल्पालपो ग्रहीतव्योराष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः १२९ पञ्चाशद्भाग आदेयोराज्ञा पशुहिरण्ययोः । धान्यानामष्टमोभागः षष्ठोद्वादशएववा ॥ १३० ॥

अर्थ-जैसे जोक, बछड़ा और भौंरा धीरे २ अपनी खुराक को खींचते हैं, वैसे राजा भी थोड़ा २ करके राष्ट्र से वार्षिक कर ग्रहण करे (अर्थात् थोड़ा कर लेवे, उजाड़ न दे) ॥ १२९ ॥ पशु और सुवर्ण के लाभ का पचासवां भाग और धान्य का आठवां वा छठा वा बारहवां भाग (पैदावार के भ्रम को देख कर) राजा ग्रहण करे ॥ १३० ॥

आददीताथषड्भागंदुमांसमधुसर्पिषाम्। गन्धौषधिरसानांच
पुष्पमूलफलस्य च॥१३१॥ पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य
च । मृणयानां च भाण्डानां सर्वस्यामशमयस्य च ॥ १३२ ॥

अर्थ—वृक्ष 'मांस' मधु घृत गन्ध औषधिरस पुष्प मूल फल और—॥ १३१ ॥
पत्र शाक तृण चर्म और मिट्टी वा पत्थर की चीजों की आमदनी का छठा
भाग लेवे (दो पुस्तकों में दुमांस=दुमाणां, पाठ है) ॥ १३२ ॥

स्त्रियमाणोप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम् । न च क्षुधाऽस्य
संसीदेच्छ्रोत्रियोविषयेव सन् १३३ यस्य राज्ञस्तुविषये श्रोत्रियः
सीदति क्षुधा । तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति ॥ १३४ ॥

अर्थ—नरता हुआ भी राजा, श्रोत्रिय से कर ग्रहण न करे और इस के
राज्य में रहता हुआ श्रोत्रिय क्षुधासे पीड़ित न हो ॥ १३३ ॥ जिस राजा के
राज्य में श्रोत्रिय (वेदपाठी) क्षुधा से पीड़ित होता है उस की क्षुधा से
उस राजा का राज्य भी थोड़े ही दिनों में बैठ जाता है ॥ १३४ ॥

श्रुतवृत्ते विदित्वास्य वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् । संरक्षेत्सर्वतश्चैनं
पिता पुत्रमिवौरसम् ॥ १३५ ॥ संरक्ष्यमाणो राज्ञाऽयं कुरुते धर्म-
मन्वहम् । तेनायुर्वर्धते राज्ञोद्रविणं राष्ट्रमेव च ॥ १३६ ॥

अर्थ—राजा इसका वेदाध्ययनपूर्वक कर्मानुष्ठान जानकर धर्मयुक्त जीविका
नियत कर देवे और सब प्रकार इस की रक्षा करे । जैसे पिता औरस पुत्र की
(रक्षा करता है) ॥ १३५ ॥ क्योंकि राजा से रक्षा किया हुआ यह (श्रोत्रिय) नित्य
धर्म करता है, उस पुण्य से राजा की आयु, धन और राज्य बढ़ता है ॥ १३६ ॥

यत्किञ्चिदपि वर्षस्य दापयेत्करसंज्ञितम् । व्यवहारेण जीवन्तं
राजाराष्ट्रे पृथग्जनम् ॥ १३७ ॥ कारुकाजिच्छलिपनश्चैव शूद्रांश्चा-
त्मोपजीविनः । एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः ॥ १३८ ॥

अर्थ—राजा अपने राज्य में व्यापार वाले से भी कुछ वार्षिक थोड़ा सा
कर दिलावे ॥ १३७ ॥ लोहार बढ़ई आदि और दासों से राजा महीने में
एक २ काम (राजकर के बदले) करावे ॥ १३८ ॥

नोच्छिन्द्यादात्मनोमूलं परेषां चातितृणया। उच्छिन्दन्त्यात्म-
नोमूलमात्मानं तांश्च पीडयेत् ॥ १३९ ॥ तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात्कार्यं
वीक्ष्य महीपतिः। तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति संमतः ॥ १४० ॥

अर्थ—(प्रजा के स्नेह से अपना कर न लेना) अपना मूलच्छेद और
लालच से (बहुत कर ग्रहण करना) शत्रुओं का मूलच्छेद (है)। ये दोनों काम
राजा न करे, अपना मूलच्छेद करता हुआ (कोश के क्षीण होने से) आप
क्षेत्र को प्राप्त होगा और (अधिक कर ग्रहण करने से) प्रजा क्षेत्र को प्राप्त
होगी ॥ १३९ ॥ राजा काम को देख कर न्यायानुसार तीक्ष्ण और नम्र हो
जाया करे क्योंकि इस प्रकार का राजा सब के संमत होता है ॥ १४० ॥

अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्भूतम् । स्यापयेदाग्ने
तस्मिन्निवृत्तः कार्यक्षणे नृणाम् ॥ १४१ ॥ एवं सर्वं त्रिधायेदमिति
कर्त्तव्यमात्मनः। युक्तश्चैवाऽप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १४२ ॥

अर्थ—आप मनुष्यों के कामों के देखने में निवृत्त (रोगादिवश मुकदमों
को न देख सकता) हो तब मुख्य मन्त्री जो धर्म का जानने वाला बुद्धिमान्
जितेन्द्रिय और कुलीन हो, उस की उस जगह मनुष्यों के काम देखने पर
योजना करे ॥ १४१ ॥ अपने संपूर्ण कर्त्तव्य को इस प्रकार पूरा करके प्रसाद-
रहित और युक्त राजा इन प्रजाओं की सब से रक्षा करे ॥ १४२ ॥

विक्रोशन्त्योयस्य राष्ट्रादध्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः। संपश्यतः सभृ-
त्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥ १४३ ॥ क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजाना-
मेव पालनम् । निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥ १४४ ॥

अर्थ—भृत्यों के सहित जिस राजा के देखते हुवे चिह्नाती हुई प्रजा
चोरों से लूटी जाती हैं, वह राजा जीता नहीं किन्तु मरा है ॥ १४३ ॥
प्रजा का पालन ही क्षत्रिय का परम धर्म है । इस लिये अपने धर्म ही से
राजा को फलभोग करना ठीक है ॥ १४४ ॥

उत्थाय पश्चिमेयामेकृतशौचः समाहितः। हुताग्निर्त्राहिणांश्चाचर्य
प्रविशेत्सशुभां सभाम् ॥ १४५ ॥ तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य
विसर्जयेत् । विसृज्य च प्रजाः सर्वामन्त्रयेत्सहमन्त्रिभिः ॥ १४६ ॥

अर्थ—(राजा) पहरभर के तड़के उठ कर शौच (मुखमार्जन स्नानादि) कर, एकाग्रचित्त हो, अग्निहोत्र और ब्राह्मणों का पूजन करके सुन्दर सभा में प्रदेश करे ॥ १४५ ॥ उस सभा में स्थित संपूर्ण प्रजा को निवटेरे से प्रसन्न करके विसर्जन करे, अनन्तर मन्त्रियों से (राजसम्बन्धी सन्धिविग्रहादि) मन्त्र (सलाह) करे ॥ १४६ ॥

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वारहोगतः । अरण्येति शलाके वा मन्त्रयेदविभावितः ॥ १४७ ॥ यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः । सकृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोपि पार्थिवः ॥ १४८ ॥

अर्थ—पर्वत पर चढ़ कर वा एकान्त घर में वा वृक्षारहित वन में वा एकान्त में, जहाँ भेद लेने वाले न पहुँच सकें, मन्त्र करे ॥ १४७ ॥ जिस के मन्त्र को मिल कर अन्य मनुष्य नहीं जान पाते, वह कोशहीन राजा भी संपूर्ण पृथिवी को भोगता है ॥ १४८ ॥

जडमूकान्धधिरांस्तिर्यग्योनान्वयोतिगान् । स्त्रीस्तेच्छव्याधित व्यङ्गान्मन्त्रकालेऽपसारयेत् ॥ १४९ ॥ भिन्दन्त्यवमतामन्त्रं तिर्यग्योनास्तथैव चास्त्रियश्चैव विशेषेण तस्मात्तत्रादृतो भवेत् ॥ १५० ॥

अर्थ—जड़ मूक अन्ध धिर पक्षी आदि, बहुत खाँ स्तेच्छ रोगी और विकृत अङ्ग वालों को मन्त्र के समय में (वहाँ से) हटा देवे ॥ १४९ ॥ पूर्वोक्त जड़ादि अपमान को प्राप्त हुवे मन्त्रभेद कर देते हैं । ऐसे ही शुक्र सारिकादि पक्षी और विशेष करके स्त्री मन्त्रभेदक हैं । इस लिये उन को (अपमान न करे) आदरपूर्वक हटादेवे ॥ १५० ॥

मध्यंदिनेर्धरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः । चिन्तयेद्दुर्मकामार्थान् सार्धं तैरेक एव वा ॥ १५१ ॥ परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम् । कन्यानां संप्रदानं च कुमारानां च रक्षणम् ॥ १५२ ॥

अर्थ—दोपहर दिन में वा अर्धरात्रि में चित्त के खेद और शरीर के क्लेश से रहित हुआ मन्त्रियों के साथ वा अकेला धर्म अर्थ काम का चिन्तन करे ॥ १५१ ॥ यदि धर्म अर्थ काम परस्पर विरुद्ध हों तो इन के विरोधदोष के परिहार द्वारा उपार्जन और कन्याओं के दान और पुत्रों के रक्षण शिक्षणादि (का चिन्तन करे) ॥ १५२ ॥

दूतसंप्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च । अन्तःपुरप्रचारं च प्रणि-
धीनां च चेष्टितम् ॥१५३॥ कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पञ्चवर्गं च
तत्त्वतः । अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च ॥१५४॥

अर्थ—परराज्य में दूत भेजने और शेष कामों तथा अन्तःपुर अर्थात् महल में जो प्रचार हो रहा है उसका और प्रतिनिधियों के काम का (विचार करे) ॥१५३॥ सम्पूर्ण अष्टविधकर्म और पञ्चवर्ग का तत्त्व से विचार करे और अमा-
त्यादि के अनुराग विराग को जाने और मण्डल के प्रचार (कौन लड़ना चाहता है और कौन सुलह करना चाहता है) को विचारे। (यहां आठ प्रकार के या पांच प्रकार के कामों को गिनती नहीं लिखी है इस लिये हम मेधातिथि के भाष्य से उद्धृत करके उग्रतःस्मृति के श्लोकों को सार्थ लिखना उचित समझते हैं:—

[आदाने च विसर्गे च तथा प्रैषनिषेधयोः ।

पञ्चमे चार्थवचने व्यवहारस्य चेक्षणे ॥

दण्डशुद्ध्योस्तथा युक्तस्तेनाष्टगतिकोऽनृपः ।]

भेंट वा कर लेना, दैतन वा पारितोषिकादि देना, दुष्टों को त्यागना= पृथक् करना, अधिकारियों के मतभेद का स्वीकार न करना (या विधि और निषेध), बुरी प्रवृत्तियों को नहीं करना (अपील में रद्द करना), व्यवहार पर दृष्टि, अपराधियों को दण्ड और पराजितों की भूल के प्रायश्चित्त करना, ये आठ हैं ॥ और दूसरे प्रकार से भी मेधातिथि ने गणना की है। यथा—व्यापार, पुल बांधना, किले बनवाना, उन की स्वच्छता का ध्यान, हाथी पकड़ना, खानि खोदना, जङ्गलों को बसाना और वन कटवाना ॥८॥ अन्य भी कई प्रकार से भाष्यकारों ने गणना की है ॥ अब पांच की गणना सुनिये—कोई तो मानते हैं कि १ कर्मरम्भोपाय २ पुरुषसंपत्ति ३ हानि का प्रतिकार ४ देश काल का विभाग ५ कार्यसिद्धि । और कोई कहते हैं कि १ कापटिक २ उदासीन ३ वैदेह ४ गृहपति ५ तापस; ये ५ प्रकार के वनावटी साधु वेद्यवनाये अन्य राजों की ओर से अन्य राजों का भेद जानने को फिरा करते हैं, उन के लिये वैसे ही अपने यहां रखे ॥ इसी भाव के २ श्लोक नन्दन की टीका में मिलते हैं:—

[वने वनेचराः कार्याः श्रमणाटविकादयः । परप्रवृत्तिज्ञानार्थं
शौचाचारपरंपराः ॥ परस्य चैते बोहुव्यास्तादृशैरेव तादृशाः ।
चारसंचारिणः संस्थाः शठाश्चारूढसंज्ञिताः] ॥ १५४ ॥

मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्चैष्टितम् । उदासीनप्रचारं च
शत्रोश्चैव प्रयत्नतः ॥ १५५ ॥ एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समा-
सतः । अष्टौ चान्याः समाख्याता द्वादशैव तु ताः स्मृताः ॥ १५६ ॥

अर्थ—१ मध्यम, २ जीतने की इच्छा करने वाले, ३ उदासीन और ४ शत्रु
के प्रचार को प्रयत्न से (राजा विचारे) ॥ १५५ ॥ ये चार प्रकृतियाँ संक्षेप
से मण्डल की मूल हैं और आठ अन्य कही गई हैं (इन ४ के मित्र ४ और
४ के शत्रु ४=८) ये सब धारह हैं ॥ १५६ ॥

अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याः पञ्च चापराः । प्रत्येकं कथिता
ह्येताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः ॥ १५७ ॥ अनन्तरमरिं विद्यादरिसे-
विनमेव च । अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोः परम् ॥ १५८ ॥

अर्थ—अमात्य देश दुर्ग कोश और दण्ड; ये पाँच और भी (प्रकृति) हैं ।
पूर्वोक्त मूल प्रकृति चार और शाखा प्रकृति आठ, ऐसे) धारह की पाँच २
प्रत्येक की प्रकृति हैं (ये मिलकर साठ होती हैं और वे मूल धारह मिला
कर) संक्षेप से यहतर होती हैं ॥ १५७ ॥ शत्रु और शत्रु के सेवियों को समीप
ही जाने । उस के अनन्तर मित्र को जाने । पश्चात् उदासीन को अर्थात् इन
पर उत्तरोत्तर दृष्टि रखे ॥ १५८ ॥

तान्सर्वानभिसंदध्यात्सामादिभिरुपक्रमैः । वयस्तैश्चैव समस्तैश्च
पौरुषेण नयेन च ॥ १५९ ॥ सन्धिं च विग्रहं चैव यान्मासनमेव
च । द्वैर्बोभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत्सदा ॥ १६० ॥

अर्थ—उन सब को सामादि उपायों से वश में करे । एक एक उपाय से
या सब से और पुरुषार्थ तथा नीति से (वश में करे) ॥ १५९ ॥ १ मेल, २ लड़ाई
३ शत्रु पर चढ़ जाना, ४ उस की राह देखना, ५ अपने दो भाग कर लेना
और ६ दूसरे का आश्रय कर लेना; इन छः गुणों को सर्वदा विचारे ॥ १६० ॥

आसनं चैव यानं च सन्धिं विग्रहमेव चाकार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत
द्वैथं संश्रयमेव च ॥ १६१ ॥ सन्धिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रह-
मेव च । उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६२ ॥

अर्थ—आसन यान सन्धि विग्रह द्वैध और आश्रय; इन गुणों की अवसर देख कर जब वैसा उचित हो तब वैसा करे ॥ १६१ ॥ सन्धि दो प्रकार की जाने और विग्रह भी दो प्रकार का । यान, आसन और संश्रय भी दो प्रकार के हैं ॥ १६२ ॥

समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च । तदात्वायतिसंयुक्तः
सन्धिर्ज्ञेयोद्विलक्षणः ॥ १६३ ॥ स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकालेकाल
एव वा । मित्रस्य चैवापकृते द्विभिधोविग्रहः स्मृतः ॥ १६४ ॥

अर्थ—तत्काल वा आगामी समय के फल लाभ के लिये, जहां दूसरे राजा के साथ किसी और राजा पर चढ़ाई की जाती है उस को) “समानयान-कर्मा” सन्धि और (“ हम इस पर चढ़ाई करगे, तुम उस पर करो ” इस प्रकार मेल करके दो भिन्न २ राज्यों पर चढ़ाई करने के लिये जो मेल किया जाता है उस को) “ असमानयानकर्मा ” कहते हैं, इन दो की दो प्रकार की सन्धि जाने ॥ १६३ ॥ शत्रु के जयरूप कार्य के लिये (शत्रु के व्यसनादि जन कर उचित मार्गशीर्षादि) काल में वा विना काल में स्वयं युद्ध करना, एक विग्रह और अपने मित्र के अपकार होने से (उस की रक्षा को) जो युद्ध है सो दूसरा है, (ऐसे) दो प्रकार का विग्रह कहा है ॥ १६४ ॥

एकाकिनश्चात्यायिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया । संहतस्य च मित्रेण
द्विविधं यानमुच्यते ॥ १६५ ॥ क्षीणस्य चैव क्रमशोदैवात् पूर्व
कृतेन वा । मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥ १६६ ॥

अर्थ—दैवयोग से अत्यावश्यक कार्य में अकेला शत्रु पर चढ़ाई करना या मित्र के साथ होकर शत्रु पर चढ़ाई करना, यह दो प्रकार का “ यान ” (धावा) है ॥ १६५ ॥ पूर्व जन्म के दुष्कृत से वा यहीं की घुराई से क्षीण राजा का चुप चाप बैठा रहना १ आसन है और मित्र के अनुरोध से चुप चाप बैठे रखना २ दूसरा, ये दो प्रकार के आसन कहे हैं ॥ १६६ ॥

बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये । द्विविधं कीर्त्यते
द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः ॥ १६७ ॥ अर्थसंपादनार्थं च पीड्यमा-
नस्य शत्रुभिः । साधुषु व्यवपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६८ ॥

अर्थ—अर्थसिद्धि के लिये कुछ सेना को एक स्थान पर स्थापित करके शेष सेना के साथ राजा दुर्ग में रहे, यह दो प्रकार का द्वैध षड्गुण्य लोचन कहते

हैं ॥१६७॥ शत्रुओं से पीड़ित राजा को प्रयोजन की सिद्धि के लिये किसी का शरण लेना और सज्जनों के साथ व्यपदेश के लिये शरण लेना (अर्थात् विना शत्रु पीड़ा भी किसी बड़े राजा के आश्रय रहना, जिस से अन्य राजों को उस बड़े के आश्रय का भय रहे) ऐसे दो प्रकार का संश्रय कहा है ॥ १६८ ॥

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः। तदात्वे चाल्पिकां
पोडां तदा सन्धिं समाश्रयेत् ॥१६९॥ यदाप्रकृष्टामन्येत सर्वास्तु
प्रकृष्टोर्भृशम्। अत्युच्छ्रितं तयात्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम् ॥१७०॥

अर्थ—जब भविष्यत्काल में निश्चय अपना आधिक्य जाने और वर्तमान समय में अल्पपीड़ा देख पड़े, उस समय में सन्धि का आश्रय करे ॥ १६९ ॥ जब (अमात्यादि) सब प्रकृति अत्यन्त दही हुई (उन्नत) जाने और अपने को अत्यन्त बलिष्ठ देखे तब विग्रह करे ॥ १७० ॥

यदा मन्येन भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वयम्। परस्य विपरीतं च
तदा यायाद्विपुं प्रति ॥१७१॥ यदा तु स्यात्परिक्षीणोवाहनेन
बलेन च। तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सान्त्वयन्तरीन् ॥ १७२ ॥

अर्थ—जब अपनी सेना हर्षयुक्त और (द्रव्यादि से) पुष्ट प्रतीत हों और शत्रु की निर्बल हों, तब शत्रु के सामने जावे ॥ १७१ ॥ परन्तु जब वाहन और बल से आप क्षीण हो, तब धीरे २ शत्रुओं को प्रयत्न से शान्त करता हुआ आसन पर ठहरा रहे ॥ १७२ ॥

मन्येता रिपुदाराजा सर्वथावलवत्तरम्। तदा द्विधा बलं कृत्वा
साधयेत् कार्यमात्मनः ॥१७३॥ यदा परवलानां तु गमनीयतमो
भवेत्। तदा तु संश्रयेक्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम् ॥ १७४ ॥

अर्थ—जब लड़ाई में राजा शत्रुओं को सर्वथा अतिबलवान् समझे तब कुछ सेना के साथ आप क़िले का आश्रय करे और कुछ सेना लड़ने को मोरछों पर रखे, इन दोनों प्रकार से अपना कार्य साधे ॥ १७३ ॥ जब शत्रु सेना की बहुत बढ़ाई हो (और आप क़िले के आश्रय से भी न बच सके) तब शीघ्र किसी धार्मिक बलवान् राजा का आश्रय (पनाह) लेवे ॥ १७४ ॥

निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्यादोऽरिबलस्य च । उपसेवेन तं नित्यं
 सर्वयत्नैर्गुरुं यथा ॥१७५॥ यदि तत्रापि संपश्येद्दोषं संप्रयका-
 रितम् । सुयुद्धमेव तत्रापि निर्विशङ्कः समाचरेत् ॥ १७६ ॥

अर्थ—जो मित्र, प्रकृतियों का और अपने शत्रुओं के बल का निग्रह करे,
 उस का सदा सम्पूर्ण यत्नों से गुणवत् सेवन करे ॥१७५॥ परन्तु यदि आप्रय
 किये जाने से भी दोष देखे (अर्थात् उस में भी कुछ धोका समझे) तब
 उस के साथ भी निःशङ्क होकर युद्ध करे ॥ १७६ ॥

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः । यथास्याभ्यधिका
 नस्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥१७७॥ आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं
 च विचारयेत् । अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः ॥१७८॥

अर्थ नीति का जानने वाला राजा सामादि सब उपायों से ऐसा करे
 कि जिस में उस के मित्र उदासीन और शत्रु बहुत न होवें ॥१७७॥ सम्पूर्ण
 भावी गुण दोष और वर्तमान समय के कर्त्तव्य और सब व्यतीत हुवों को
 भी विचारे कि ठीक २ किस २ में क्या २ गुण दोष निकले ॥ १७८ ॥

आयत्यांगुणदोषज्ञस्तदात्वेक्षिप्रनिश्चयः । अतीते कार्यशेषज्ञः
 शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥ १७९ ॥ यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीन
 शत्रवः । तथा सर्वं संविदध्यादेप सामासिकोनयः ॥१८०॥

अर्थ—जो होने वाले कार्यों के गुण दोष को जानने वाला (अच्छे का
 प्रारम्भ करता है और बुरे को छोड़ देता है) और उस समय के गुण दोषों
 को शीघ्र निश्चय करके काम करता है और हुवे कार्यों के शेष कर्त्तव्य का जानने
 वाला है, वह शत्रु से नहीं दबता ॥ १७९ ॥ जिस में मित्र उदासीन और शत्रु
 अपने को दबाने न पावें, वैसे सब विधान करे । यह संक्षेप से नीति है ॥१८०॥

यदा तु यातमातिष्ठेदरिराष्ट्रं प्रति प्रभुः । तदाऽनेन विधानेन
 यायादरिपुरं शनैः ॥१८१॥ मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्वात्रां
 महीपतिः । फाल्गुनं वाऽथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथावलम् ॥१८२॥

अर्थ—जब राजा शत्रु के राज्य में जाने की यात्रा (घड़ाई) करे तब इस विधि से धीरे-२ शत्रु के राज्य में गमन करे (कि—) ॥ १८१ ॥ जैसी अपनी सेना वा अन्य बल हो, तदनुसार शुभ मार्गशीर्ष अथवा काल्गुने वा चैत्र के महीने में राजा यात्रा करे ॥ १८२ ॥

अन्येष्वपितुकालेषु यदापश्येद्गुप्तं जयम्। सदायायाद्विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः॥१८३॥ कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि। उपगृह्यास्पदं चैव चारान्सम्यग्विधाय च॥१८४॥

अर्थ—और दूसरे कालों में भी जब निश्चय जय समझे तब यात्रा करे, चाहे तो अपनी ओर से ही युद्ध ठान कर अथवा जब शत्रु की ओर से उद्भव पड़े ॥ १८३ ॥ अपने राज्य और दुर्ग की रक्षा करके और यात्रासम्बन्धी ठीक ठीक विधान करके डेरा तम्बू आदि लेकर और दूतों को भले प्रकार नियत कर (यात्रा करे) ॥ १८४ ॥

संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम्। सांपरायिक कल्पेन यायादरिपुरं शनैः॥१८५॥ शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत्। गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः॥१८६॥

अर्थ—(जल, स्थल, आकाश; वा ऊँचे, नीचे, सम) तीन प्रकार के मार्गों का शोधन करके और छः प्रकार का अपना बल लेकर संग्रामकल्प की विधि से धीरे-२ शत्रु के नगर को यात्रा करे। (६ प्रकार का बल यह है—१ मार्ग रोकने वाले वृक्षादि कटवाना, २ गढ़ों को बराबर करना, ३ नदी वा झील के पुल बांधना वा नौकादि रखना, ४ मार्ग रोकने वालों को नष्ट करना, ५ जिन से शत्रु की सहाय मिलना सम्भव हो उन्हें अपना बनाना, ६ रसद और सेनादि तैयार रखना अथवा १ हस्त्यारोही, २ अश्वारोही, ३ रथारोही, ४ पैदल सेना, ५ फौज और ६ नौकर चाकर) ॥ १८५ ॥ जो मित्र छिपकर शत्रु से मिला हुआ हो और जो पहिले लुहाया फिर आया हुआ (नौकर) हो, इन से सचेत रहे क्योंकि ये (दोनों) शत्रुता करें तो बड़ा दुःख दे सकते हैं ॥ १८६ ॥

दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा। वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा॥१८७॥ यतश्च भयमाशङ्केत्ततो विस्तारयेद्

बलम् । पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत् सदा स्वयम् ॥ १८८ ॥

अर्थ—(दण्ड के आकार व्यूह की रचना दण्डव्यूह कहलाती है । ऐसे ही शकटादि व्यूह भी जानिये । उस में आगे सेना के अफसर, पीछे में राजा, पीछे सेनापति, दोनों वगल हाथी, उन के पास घोड़े और उन के आसपास पैदल । इस प्रकार लम्बी रचना दण्डव्यूह कहाती है । ऐसे) दण्डव्यूह से मार्ग चले अथवा शकट, वराह, मकर, सूची और गरुड़ के तुल्य आकृति वाले व्यूह से (जहां जैसा उचित समझे वहां वैसे यात्रा करे) ॥ १८९ ॥ जिस ओर हर समझे उस ओर सेना बढ़ावे । सर्वदा आप (कमलाकार) पद्मव्यूह में रहे ॥ १८८ ॥

सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वादिक्षु निवेशयेत् । यतश्च भयमाशङ्केत् प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम् ॥ १८९ ॥ गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान् वृत्त संज्ञान्समन्ततः । स्थाने युद्धे च कुशलानभीरुन विकारिणः ॥ १९० ॥

अर्थ—सेनापति और सेनानायकों को सब दिशाओं में नियुक्त करे और जिस दिशा में भय समझे उसे पहली (पूर्व) दिशा कल्पना करे ॥ १८९ ॥ सेना के स्तम्भ के समान वृद्ध आप्त पुरुषों को भिन्न २ संज्ञा धरकर सब ओर स्थापित करे जो स्थान और युद्ध में प्रवीण तथा निर्भय हों और विगड़ने वाले न हों ॥ १९० ॥

संहतान्यो धयेदल्पान्कामं विस्तारयेद्वहून् । सूच्या वज्रेण चैवैतान्व्यूहेन व्यूह्य योधयेत् ॥ १९१ ॥ स्यन्दनाश्रैः समे युद्धे दनूपे नौ द्विपैस्तथा । वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मा युधैः स्थले ॥ १९२ ॥

अर्थ—अल्प योद्धा हों तो उन को इकट्ठा करके युद्ध करावे और बहुतों को चाहे फैलाकर लड़ावे । पूर्वोक्त सूच्याकार वा वज्राकार व्यूह से रचना करके इन से युद्ध करावे ॥ १९१ ॥ बराबर की पृथिवी पर रथों और अश्वों से युद्ध करे पानी की जगह हाथी और नावों से, वृक्ष लताओं से घिरी पृथिवी पर घनुषों और कण्टकादिरहित स्थल में खड्गचर्मादि आयुधों से (लड़े) ॥ १९२ ॥

कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पञ्चालान्शूरसेनजान् । दीर्घाल्लघूंश्चैव नरानग्रानीकेषु योजयेत् ॥ १९३ ॥ प्रहर्षयेद्वलं व्यूह्य तांश्च सम्यक् परीक्षयेत् । चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन्यो ध्रियतामपि ॥ १९४ ॥

अर्थ—कुक्षेत्रनिवासी और मत्स्यदेश के निवासी तथा पाञ्चाल और शूरसेनदेशनिवासी नाटे और कंचे मनुष्यों को सेना के आगे करे (क्योंकि ये रणकर्कश वीर होते हैं) ॥ १९३ ॥ व्यूह की रचना करके उन को उत्साहित करे और उन की परीक्षा करे । शत्रुओं से लड़ते हुवे भी उन की चेष्टाओं को जाने (कि कैसे लड़ते हैं) ॥ १९४ ॥

उपसृधारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् । दूषयेच्चास्यं सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥ १९५ ॥ भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा । समवरकन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा ॥ १९६ ॥

अर्थ—शत्रुओं को घेर कर देश को उच्छिन्न करे और निरन्तर घास, अन्न जल और इन्धन को मष्ट करे ॥ १९५ ॥ तालाब और शहरपनाह और घेरे भी तोड़ डाले और शत्रु को निर्बल करे और रात्रि में कष्ट देवे ॥ १९६ ॥

उपजप्यानुपजपेद् व्युध्येतैव च तत्कृतम् । युक्ते च दैवे व्युध्येत जयप्रेप्सुरपैतभीः ॥ १९७ ॥ साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक् । विजेतुं प्रयतेतारीक्ष युद्धेन कदाचन ॥ १९८ ॥

अर्थ—शत्रु के मन्त्री आदि को तोड़ कर भेद लेवे । और उस के इसी काम का ज्ञेय जाने । यदि दैव सहायक हो तो निहर होकर जय की इच्छा करने वाला ऐसा युद्ध करे ॥ १९७ ॥ (हो सके तो) साम, दान, भेद, इन में से एक से वा तीनों से शत्रु को जय करने का प्रयत्न करे, (पहले) युद्ध से कभी नहीं ॥ १९८ ॥

अनित्यो विजयो यस्माद् दृश्यते युद्ध्यमानयोः । पराजयश्च संग्रामे तस्माद्दुर्ध्वं विवर्जयेत् ॥ १९९ ॥ त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसम्भवे । तथा व्युध्येत संपन्नो विजयेत रिपून्यथा ॥ २०० ॥

अर्थ—(संग्राम में) लड़ने वालों के जय पराजय अनित्य देखे जाते हैं । इस लिये (अन्य उपायों के होते) युद्ध न करे ॥ १९९ ॥ पूर्वोक्त तीनों उपायों से जय संभव न हो तो संपन्न (हस्ती अश्वदि से युक्त) जिस प्रकार शत्रुओं को जीते, उस प्रकार लड़े ॥ २०० ॥

जित्वा संपूजयेद्देवान्ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान् । प्रदद्यात्परिहारांश्च ख्यापयेद्भवानि च ॥ २०१ ॥ सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन

चिकीर्षितम् । स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम् ॥२०२॥

अर्थ-परराज्य को जीत कर वहां देवता और धार्मिक ग्राहकों का पूजन करे और उस देश वालों को परिहार (लड़ाई के समय जिन दीन पुरुषों की हानि हुई हो, उन के निर्वाहार्थ) देवे और अभय की प्रसिद्धि करे ॥२०१॥ (शत्रु राजा और) उन सब के (मन्त्र्यादि के) अभिप्राय को संक्षेप से जान कर उस (शत्रु) राजा के वंश में हुवे पुत्रादि को उस गद्दी पर बैठावे और " यह करो, यह न करो" तथा उस के अन्य विषयों के नियम (अहद) स्वीकार करावे ॥२०२॥

प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्मान्यथोदितान् । रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह ॥२०३॥ आदानमप्रियकरं दानं च प्रियकारकम् । अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते ॥ २०४ ॥

अर्थ-उन के यथोदित धर्मों (रिवाजों) को प्रमाण करे और रत्नों से प्रधान पुरुषों के साथ उस का पूजन करे (अर्थात् मये वज़ीरों के उस गद्दी पर बैठाये राजा को खिलत देवे) ॥ २०३ ॥ यद्यपि अभिलषित पदार्थों का लेना अप्रिय और देना (सब को) प्रिय है । तथापि समय विशेष में लेना और देना दोनों अच्छे हैं ॥ २०४ ॥

सर्वं कर्म दयायुक्तं विधाने दैवमानुषे ।

तयोर्दैवमचिन्त्यं तु मानुषे विद्यते क्रिया ॥२०५॥

अर्थ-यह सम्पूर्ण कर्म दैव तथा मनुष्य के आधीन है । परन्तु उन दोनों में दैव अचिन्त्य है (उस की चिन्ता व्यर्थ है) इस लिये मनुष्य के आधीन अंश में कार्य किया जाता है ॥

(२०५ से आगे वृहों भाष्यों में प्राचीन भाष्यकार मेधातिथि का भाष्य इन ३ श्लोकों पर अधिक है जो कि अब अन्य भाष्यों वा मूल पुस्तकों में नहीं पाये जाते । प्रतीत होता है कि ये श्लोक पीछे से नष्ट होगये वा किये गये:-
[दैवेन विधिनाऽयुक्तं मानुष्यं यत्प्रवर्तते । परिक्लेशेन महता तदर्थस्य समाधकम् ॥ १ ॥ संयुक्तस्यापि दैवेन पुरुषकारेण वर्जितम् । विना पुरुषकारेण फलं क्षेत्रं प्रयच्छति ॥ २ ॥ चन्द्रार्काद्या ग्रहा वायुरग्निरापस्तथैव च । इह दैवेन साध्यन्ते पौरुषेण प्रयत्नतः ॥ ३ ॥

जब कभी दैव की विमुखता में पुरुषार्थ किया जाता है, तब भी अधिक कष्ट उठाने से काम बन ही जाता है ॥१॥ और दैव की अनुकूलता में पुरुषार्थ न किया जाय तो जैसे घोड़ा हुवा ही बीज खेती से मिलता है, (वैसे पूर्व पुरुषार्थ का ही फल होता है) ॥२॥ चन्द्र सूर्य आदि ग्रह, वायु और अग्नि तथा वादल सब संसार में यज्ञपूर्वक ईश्वरीय पुरुषार्थ से ही सध रहे हैं ॥३॥ ॥२७५॥

सह वापि व्रजेद्युक्तः सन्धिं कृत्वा प्रयत्नतः ।

मित्रं भूमिं हिरण्यं वा संपश्यंस्त्रिविधं फलम् ॥ २७६॥

अर्थ—अथवा मित्रता, सुवर्ण, भूमि; यह तीन प्रकार का यात्रा का फल देखते हुवे उस के साथ सन्धि करके वहां से गमन करे (अर्थात् मित्रता या कुछ रुपया या भूमि लेकर उसके साथ प्रयत्न से सुलह कर चला आवे) ॥ २७६ ॥

पाणिर्ग्राहं च संप्रेक्ष्य तथा क्रन्दं च मण्डले मित्रा दद्याप्य मित्रा-
द्वा यात्राफलमवाप्नुयात् ॥२७७॥ हिरण्यभूमिसंप्राप्त्या पार्थिवो
न तथैधते । यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायति क्षमम् ॥२७८॥

अर्थ—(जो पराये राज्य का जय करते राजा के पीछे राज्य दवाता हुवा राजा आवे उस को) मण्डल में “पाणिर्ग्राह” (कहते हैं) और (जो उस को ऐसा करने से रोके उस को) “क्रन्द” (कहते हैं) दोनों को देख कर मित्र से वा अमित्र से यात्रा का फल ग्रहण करे (ऐसा न करे जिस से पाणिर्ग्राह वा क्रन्द अपने से बिगड़ जावें) ॥ २७७ ॥ राजा सुवर्ण और भूमि को पाकर वैसा नहीं बढ़ता, जैसा (वर्तमान) दुर्बल भी आगामी काल में काम देने योग्य स्थिर मित्र को पाकर बढ़ता है ॥ २७८ ॥

धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च । अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघु
मित्रं प्रशस्यते ॥ २७९॥ प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव
च । कृतज्ञं धृतिमन्तं च कष्टमाहुररिं बुधाः ॥ २८० ॥

अर्थ—धर्मज्ञ, कृतज्ञ, प्रसन्नचित्त, प्रीति करने वाला, स्थिर कार्य का आरम्भ करने वाला, छोटा मित्र अच्छा होता है ॥२७९॥ बुद्धिमान्, कुलीन, शूर, चतुर, दाता, कृतज्ञ और धैर्य वाले शत्रु को विद्वान् लोग कठिन कहते हैं ॥२८०॥

आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता । स्थौललक्ष्यं च सतत-
मुदासीनगुणोदयः ॥ २११ ॥ क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धि-
करीमपि । परित्यजेन्नुपोभूमिमात्मार्थमविचारयन् ॥ २१२ ॥

अर्थ—सभ्यता, सनुष्यों की पहिचान, शूरता, कृपालुता और मोटी २ बातों पर ऊपरी लक्ष्य रखना; यह उदासीन गुणों का उदय है ॥ २११ ॥ कल्याण करने वाली, संपूर्ण धान्यों को देने वाली और पशुवृद्धि करने वाली भूमि को भी राजा अपनी रक्षा के लिये विचार न करता हुवा छोड़ देवे ॥ २१२ ॥

आपदर्थे धनं रक्षेद्वारान् रक्षेद्दुनैरपि । आत्मानं सततं रक्षेद्द्वारै-
रपि धनैरपि ॥ २१३ ॥ सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदो
भृशम् । संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्वोपायान्सृजेद् द्युधः ॥ २१४ ॥

अर्थ—आपत्ति (की निवृत्ति) के लिये धन की रक्षा करे और धनों से स्त्रियों की रक्षा करे और अपने को स्त्री और धनों से भी निरन्तर रक्षित करे ॥ २१३ ॥ बहुत सी आपत्ति एक साथ उत्पन्न होती देखे तब (उन के हटाने को) बुद्धि-मान् (सामादि) सब ही उपाय अलग ९ वा मिलकर करे ॥ २१४ ॥

उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांश्च कृत्स्नशः । एतत्त्रयं समाश्रित्य
प्रयतेतार्थसिद्धये ॥ २१५ ॥ एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य
मन्त्रिभिः । व्यायम्याप्लुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्त पुरं विशेत् ॥ २१६ ॥

अर्थ—उपाय करने वाले और उपाय के योग्य साध्य और उपाय इन तीनों का ठीक २ आश्रय करके अर्थसिद्धि के लिये प्रयत्न करे ॥ २१५ ॥ उक्त प्रकार से सम्पूर्ण वृत्त को राजा मन्त्रियों के साथ विचार कर स्नान तथा (शस्त्र के अभ्यास द्वारा) व्यायाम (कसरत) करके मध्याह्न में भोजन को अन्तःपुर में प्रवेश करे ॥ २१६ ॥

तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः । सुपरीक्षितमन्त्राद्य-
मद्यान्मन्त्रैर्विषापहैः ॥ २१७ ॥ विषघ्नैरगदैश्चास्य सर्वद्रव्याणि
योजयेत् । विषघ्नानि च रत्नानि नियतोधारयेत्सदा ॥ २१८ ॥

अर्थ—उस अन्तःपुर में भोजनकाल के भेद जानने वाले, दूट कर शत्रुपक्ष में न मिल जाने योग्य, अपने सेवकों के द्वारा सिद्ध कराया हुवा और (चको-

रादि पक्षियों से) परीक्षित और विष के दूर करने वाले मन्त्रों (गुप्त विचारों) से शुद्ध हुवे अन्न का भोजन करे ॥ २१७ ॥ राजा के सब भोज्य द्रव्यों में विष का नाश करने वाली दवा डाले और विष के दूर करने वाले रत्नों का नियम से सदा (राजा) धारण करे ॥ २१८ ॥

परीक्षिताः स्त्रियश्चैनं वयजनोदकधूपनैः । वेषाभरणसंशुद्धाः
स्पृशेयुः सुसमाहिताः ॥ २१९ ॥ एवं प्रयत्नं कुर्वीत यानशय्या-
सनाशने । स्नाने प्रसाधने चैव सर्वालङ्कारकेषु च ॥ २२० ॥

अर्थ—परीक्षा की हुई, वेष आभूषणों से शुद्ध, एकाग्रचित्त स्त्रियां पक्का, पानी, धूप, गन्ध से राजा की सेवा करें ॥ २१९ ॥ इसी प्रकार का (परीक्षादि) प्रयत्न याहन, शय्या, आसन, भोजन, स्नान, अनुलेपन और सब अलङ्कारों में भी करें ॥ २२० ॥

भुक्तवान् विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तःपुरे सह । निहत्य तु यथाकालं
पुनःकार्याणि चिन्तयेत् ॥ २२१ ॥ अलङ्कृतश्च संपश्येदायुधीयं पुन-
र्जनम् । वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राण्याभरणानि च ॥ २२२ ॥

अर्थ—भोजन करके इसी अन्तःपुर में स्त्रियों के साथ कुछ देर रहले, फिर (राजसम्बन्धी) कामों का विचार करे ॥ २२१ ॥ शस्त्राभूषणादि अलङ्कार धारण किये हुवे, आयुध से जीने वालों (सवार सिपाही आदि) और संपूर्ण वाहनों तथा शस्त्रों और आभूषणों को देखे ॥ २२२ ॥

संध्यांचोपास्यशृणुयादन्तर्वेश्मनि शस्त्रभृत् । रहस्याख्यायिनां
चैव प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥ २२३ ॥ गत्वा कक्षान्तरं त्वन्यत्समनु-
ज्ञाप्य तं जनम् । प्रविशेद्भोजनार्थं च स्त्रीवृत्तोऽन्तःपुरं पुनः ॥ २२४ ॥

अर्थ—फिर सन्ध्योपासन करके निवासगृह के एकान्त स्थान में शस्त्र धारण किये हुवे, गुप्त समाचार कहने वाले दूतों और प्रतिनिधियों के समा-
चार और कामों को सुने ॥ २२३ ॥ अन्य कमरे में उन का विसर्जन कर अन्तःपुर की स्त्रियों के साथ फिर से भोजन के लिये अन्तःपुर में जावे ॥ २२४ ॥

तत्र भुक्त्वा पुनः किञ्चित् तूर्यघोषैः प्रहर्षितः । संविशेत्तु यथाकाल-
मुत्तिष्ठेच्च गतक्रमः ॥ २२५ ॥ एतद्विधानमातिष्ठेदरोगः पृथिवी-
पतिः । अस्वस्थः सर्वमेतत्तु भृत्येषु विनियोजयेत् ॥ २२६ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे (भृगुप्रोक्तायां संहितायां)

राजधर्मीनाम् सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अर्थ—वहाँ भोजन करके फिर घोड़े गाने बजाने से प्रसन्न किया हुआ उचित काल में शयन करे, पुनः (४ घड़ी के तड़के) विश्रान्त होकर उठे ॥ २२५ ॥
रोगरहित राजा यह सब इस प्रकार से (आप ही) करे और यदि अस्वस्थ हो तो भृत्यों से यह सब कार्य करावे ॥ २२६ ॥

इति श्री तुलसीराम स्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे

सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥



ओ३म्

अथाष्टमोऽध्यायः

व्यवहारान्दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः। मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव
विनीतः प्रविशेत्सभाम्॥१॥ तत्रासीनः स्थितो वापि पाणिमुखाभ्य
दक्षिणम् । विनीतवेषाभरणः पश्येत्कार्याणि कार्याणाम् ॥२॥

अर्थ-विशेष करके नीति से सुशिक्षित राजा व्यवहारों के देखने की
ब्राह्मणों और मन्त्र (सलाह) के जानने वाले मन्त्रियों के साथ सभा में प्रवेश
करे ॥१॥ विनययुक्त, वेष आभूषण धारण करके उस (सभा) में बैठा या
खड़ा हुवा दाहिने हाथ को उठा कर काम वालों के कामों को देखे ॥२॥

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः ।

अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक् पृथक् ॥३॥

अर्थ-(जो कि) अष्टादश १८ व्यवहार के मार्गों में नियत कार्य हैं, उन को
देशव्यवहार और शास्त्रद्वारा समझे हुवे हेतुओं से पृथक् १ नित्य (विचारे)
वे अठारह आगे कहे हैं । इस में “ निबद्धानि=विविधानि ” यह पाठभेद
मेधातिथि ने व्याख्यात किया है । तथा एक पुस्तक में इस तीसरे श्लोक से
आगे एक श्लोक यह अधिक पाया जाता है:-

[हिंसां च कुरुते कश्चिद्देयं वा न प्रयच्छति ।

स्थाने ते द्वे विवादस्य भिन्नोऽष्टादशधा पुनः] ॥

कोई किसी की हिंसा करे वा देने योग्य न देवे, ये दो [फौजदारी व
दीवानी] विवाद के मुख्य स्थान हैं । फिर अष्टादश १८ प्रकार का विवाद है ॥३॥

तेषामाक्षमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः । संभूय च समु-
त्थानं दत्तस्थानपक्रमं च ॥ ४ ॥ वेतनस्यैव चादानं संविदश्च

व्यतिक्रमः । क्रयविक्रयानुशयोविवादः स्वामिपालयोः ॥ ५ ॥

सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके । स्तेयं च साहसं चैव

स्त्रीसंग्रहणमेव च ॥६॥ स्त्रीपुं धर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वयएव च ।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिता विह ७ एषु स्थानेषु भूयिष्ठं वि-
वादं चरतां नृणां धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्यं विनिर्णयम्

अर्थ—उन में पहिला १ ऋणाऽदान है कि ऋण लेकर न देना वा दिना
दिये मांगना, २ निक्षेप=घरोहर, ३ विना स्वामी होने के बेचना, ४ साफे का
व्यापार, ५ दान दिये को फिर लेलेना ॥४॥ ६ नौकरी का न देना, ७ इकरारनरमें
के विरुद्ध चलना, ८ खरीदने बेचने का झगड़ा, ९ पशु स्वामी और पशुपाल का
झगड़ा ॥५॥, १० सरहद्द की लड़ाई, ११ कड़ी बात कहना, १२ मारपीट, १३
चोरी, १४ जबरदस्ती धनादि का हरण करना, १५ परस्त्री का ले लेना ॥६॥
१६ स्त्री और पुरुष के धर्म की व्यवस्था, १७ धन का भाग, १८ जुवा और
जानवरों की लड़ाई में हार जीत का दाव लगाना । संसार में ये अठारह
व्यवहार प्रवृत्ति के स्थान हैं ॥७॥ (इन ऋणाऽदानादि) व्यवहारों में बहुत
झगड़ने वाले पुरुषों का सनातनधर्म के अनुसार कार्यनिर्णय करे ॥ ८ ॥

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनमातदानियुज्याद्विद्वांसं
ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥८॥ सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रि-
भिर्वृतः । सभामेव प्रविश्याग्रयामासीनः स्थितएव वा ॥९॥

अर्थ—जब राजा आप (किसी कारण) कार्यदर्शन न कर सके (अर्थात्
कार्याधिकादि में आप सब मुकद्दमों को न देख सके) तब विद्वान् (नीतिज्ञ)
ब्राह्मण को कार्य देखने में नियुक्त करे, ॥८॥ वह ब्राह्मण तीन सभ्य पुरुषों
के ही साथ, सभा में ही प्रवेश करके, एकाग्र खड़े हुवे वा बैठ कर राजा के
देखने के सब कामों को देखे ॥ ९ ॥

यस्मिन् देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः । राज्ञश्चाधिकृतो वि-
द्वान् ब्राह्मणस्तां सभां विदुः ॥१०॥ धर्मो विदुस्त्वधर्मेण सभां यत्रो-
पतिष्ठते । शूल्यं चास्य न कृन्तन्ति विदुस्तत्र सभासदः ॥११॥

अर्थ—जिस देश में वेदों के जानने वाले ३ ब्राह्मण (राजद्वार में) रहते
हैं और राजा के अधिकार को पाया हुवा १ विद्वान् ब्राह्मण रहता है, उस
को ब्रह्मा की सभा जानते हैं ॥ १० ॥ जिस सभा में अधर्म से धर्म को

बींधा जाता है (उस सत्य को क्लेश देने वाले) शल्य (कांटे) को जो सभासद् नहीं निकालते, तब उसी अधर्मरूप कांटे से वे सभासद् बिंधते हैं (अर्थात् सभासद् लोग मुकट्टमें की पेचीदगी को न निकालें तौ पापभागी होते हैं। एक पुस्तक में यह पाठभेद है कि "निकृन्तन्ति विद्वांसोऽत्र सभासदः" इस पत्र में यह अर्थ है कि उस कांटे को विद्वान् सभासद् निकालते हैं) ॥ १२ ॥

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम्। अब्रुवन्विब्रुवन्वापि नरोभवति किल्बिषी ॥ १३ ॥ यत्र धर्मोऽधर्मेण सत्यं यत्राऽनृतेन च। हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥ १४ ॥

अर्थ-या तौ सभा (कचहरी) न जाना, जावेतो सच कहना। कुछ न बोले या झूठ तो मनुष्य पापी होता है। (८ पुस्तकों में "सभा वा न प्रवेष्टव्या" पाठभेद है और एक में "सभायां न प्रवेष्टव्यम्" पाठभेद भी देखा जाता है) ॥ १३ ॥ जिस सभा में सभ्यों के देखते हुवे धर्म, अधर्म से और सच, झूठ से नष्ट होता है, वहां के सभासद् (उस पाप से) नष्ट होते हैं ॥ १४ ॥

धर्मएव हतोहन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः। तस्मादुर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥ १५ ॥ वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्। वृषलं तं विदुर्देवास्तस्मादुर्मं न लोपयेत् ॥ १६ ॥

अर्थ-नष्ट हुवा धर्म ही नाश करता है और रक्षित हुवा धर्म रक्षा करता है। इस लिये धर्म को नष्ट न करना चाहिये, जिस से नष्ट हुवा धर्म हमारा नाश न करे ॥ १५ ॥ भगवान् धर्म को "वृष" कहते हैं, उस को जो नष्ट करता है उस को देवता "वृषल" जानते हैं। इस लिये धर्म का लोप न करे ॥ १६ ॥ एकएव सुहृदुर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः। शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्वि गच्छति ॥ १७ ॥ पादोऽधर्मस्य कर्तारं पादः साक्षिणमृच्छति। पादः सभासदः सर्वान् पादो राजानमृच्छति ॥ १८ ॥

अर्थ-एक धर्म ही मित्र है, जो मरने पर भी साथ चलता है, अन्य सब शरीर के साथ ही नाश को प्राप्त हो जाता है ॥ १७ ॥ (दुर्गव्यवहार के करने से, अधर्म के चार भाग हैं, उन में) एक भाग अधर्म करने वाले को लगता है, दूसरा भाग झूठा साक्ष्य देने वाले को, तीसरा सभासदों को और चौथा राजा को लगता है ॥ १८ ॥

राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभाश्रदः । एनोगच्छति
कर्त्तारं निन्दाहोयत्र निन्द्यते ॥ १९ ॥ जातिमात्रोपजीवी वा कामं
स्याद्ब्राह्मणब्रुवः । धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्रः कथञ्चन ॥ २० ॥

अर्थ—जिस सभा में असत्यवादी वा पापकर्त्ता की ठीक ठीक दुपार्ह
(निन्दा) की जाती है, वहां राजा और सभाश्रद निष्पाप हो जाते हैं
और (उस अधर्म) करने वाले को ही पाप पहुंचता है ॥ १९ ॥ जिस की
जातिमात्र से जीविका है (किन्तु वेदादि का पूर्ण ज्ञान नहीं) ऐसा अपने
को ब्राह्मण कहने वाला पुरुष चाहे (अभाव में) धर्म का प्रवक्ता हो, परन्तु
शूद्र कभी नहीं ॥ (इस का यह तात्पर्य नहीं है कि ब्राह्मणकुलोत्पन्न कुपट
लोग धर्मप्रवक्ता हों, किन्तु एक तो ऐसा पुरुष हो जो ब्राह्मणकुल में उत्पन्न
मात्र हुवा है, वेदाध्ययनादि विशेष विद्या नहीं रखता; दूसरा शूद्रकुलोत्पन्न
हो और वह भी विशेषविद्या से हीन हो तो इन दोनों में वह उत्तम है
जो कि ब्राह्मणकुल में उत्पन्न है) ॥ २० ॥

यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम् । तस्य सीदति तद्राष्ट्रं
पङ्के गौरिव पश्यतः ॥ २१ ॥ यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्त-
मद्विजम् । विनश्यत्याशु तत्कृस्नं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम् ॥ २२ ॥

अर्थ—जिस राजा के यहां धर्म का निर्णय शूद्र करता है, उस का वह राज्य,
देखते हुवे कीचड़ में गौ सा (फंस)पीड़ा को प्राप्त हो जाता है ॥ २१ ॥ जिस
राज्य में शूद्र और नास्तिक अधिक हों और द्विज न हों, वह सम्पूर्ण राज्य
दुर्भिक्ष और व्याधि से पीडित हुवा शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥
धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः । प्रणम्य लोकपालेभ्यः
कार्यदर्शनमारभेत ॥ २३ ॥ अर्थानिर्थावुभी बुद्धिना धर्माधर्मौ च
केवलौ । वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत्कार्याणि कार्प्यणाम् ॥ २४ ॥

अर्थ—(राजा) धर्मासन (गद्दी) पर बैठ कर, शरीर ढके, स्वस्थचित्त,
लोकपालों (जिन ८ दिव्यगुणों से राजा को युक्त होना चाहिये) को नम-
स्कार (आदर) करके काम देखना आरम्भ करे (अर्थात् अच्छी तरह इज-
लरस पर बैठ कर मुकद्दमों को देखे) ॥ २३ ॥ अर्थ, अनर्थ दोनों को तथा केवल

धर्म और अधर्म को जानकर वर्णक्रम से (अर्थात् प्रथम ब्राह्मण का, फिर क्षत्रिय का—इस क्रम से) कार्य वालों के सम्पूर्ण कार्यों को देखे ॥ २४ ॥

वाह्यैर्विभावयैल्लिङ्गैर्भास्वमन्तर्गतं नृणाम् । स्वरवर्णैर्द्विताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥ २५ ॥ आकारैरिद्वितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च । नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ २६ ॥

अर्थ—मनुष्यों के बाहर के लक्षण-स्वर (आवाज़) और (शरीर) का वर्ण और नीचे ऊपर देखना, आकार (पसीना रोमाञ्च आदि) और चक्षु तथा चेष्टा से भीतरी अभिप्राय को समझे ॥ २५ ॥ आकार, इशारे, गति, चेष्टा, भाषण और नेत्र तथा मुख के विकारों से मन का भेद जाना जाता है ॥ २६ ॥

बालदायादिकं विवृण्वतावद्राजानुपालयेत् । यावत्सस्यासमावृत्तोयावच्चातीतशैशवः ॥ २७ ॥ वशाऽपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च । पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥ २८ ॥

अर्थ—बालक के दायभाग का द्रव्य, राजा तब तक (जैसे कोर्ट आफ़ वार्ड्स में) पालन करे, जब तक वह समावर्तन वाला (पढ़ लिखकर होशियार) हो और जब तक लड़कपन जाता रहे (अर्थात् जब तक बालिग हो) ॥ २७ ॥ वन्ध्या, अपुत्रा, सपिण्डरहिता, पतिव्रता और विधवा तथा स्त्रिरोगिणी स्त्री में भी ऐसा ही हो (उनके द्रव्य की भी राजा रक्षा करे ॥

२८ वें से आगे मेधातिथि के भाष्यानुसार एक यह श्लोक अधिक है:—

[एवमेव विधिं कुर्यादोषित्सु पतितास्वपि ।

वस्त्रान्नपानं देयं च वसेयुश्च गृहान्तिके] ॥

यही विधि पतित स्त्रियों में करे कि वस्त्र अन्न पान और घर के समीप रहने की जगह दी जावे) ॥ २८ ॥

जीवन्तीनांतुतासां येतदुरेयुःस्वबान्धवाः । ताजिष्ठुष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥ २९ ॥ प्रणष्टस्वामिकं विवृण्वता राजा त्र्यब्दं निधापयेत् । अर्वाक् त्र्यब्दादुरेत्स्वामी प्रेरेण नृपतिर्हरेत् ॥ ३० ॥

अर्थ—उन जीवती हुई स्त्रियों का वह धन, जो बान्धव हरण-करें उन को चौरदण्ड के समान धार्मिक राजा दण्ड देवे ॥ २९ ॥ जिस का स्वामी न हो

उस(लावारिस) धन को राजा तीन वर्ष तक रखे, तीन वर्ष के भीतर (उस के) स्वामी (का पता लेंगे तो वह) लेलेवे, अनन्तर राजा दण्ड (जप्त) करे (अर्थात् डंडोरा पीटने से कि "जिसकी हो ले जाओ" ३ वर्ष तक कोई लेने वाला न मिले तो वह धन राजा का हो जावे) ॥ ३० ॥

ममेदमिति यो ब्रूयात् सोऽन योज्यो यथाविधासंवादाद रूपसंख्या.

दीन् स्वामी तद्द्रव्यमर्हति ॥३१॥ अवेदयानोनष्टस्य देशंकालं

च तत्त्वतः । वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति ॥ ३२ ॥

अर्थ—जो कहे कि यह धन मेरा है, तब उस से राजा यथाविधि पूछे कि क्या स्वरूप है और कितना है, वा कैसा है इत्यादि । तब यह सब सही कहे, तब उस धन को उस का स्वामी पावे ॥३१॥ नष्ट द्रव्य का देश काल वर्ण रूप प्रमाण (अर्थात् कहां, कब, कौनसा रङ्ग, कैसा आकार, कितना यह सब अच्छे प्रकार न जानता हो तो उसी के बराबर दण्ड पाने योग्य है (अर्थात् झूठा दावा करने वाले को उस धन के बराबर दण्ड दिया जाये, जिस धन पर उसने दावा किया हो) ॥ ३२ ॥

आददीताथ षड्भागं प्रणष्टाधिगतान्नृपः दशमं द्वादशं वापि

सतां धर्ममनुस्मरन् ॥३३॥ प्रणष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेद्द्रव्यैरधि

ष्ठितम् । यांस्तत्र चौरान्गृह्णीयात्तान् राजेभेन घातयेत् ॥३४॥

अर्थ—नष्ट द्रव्य फिर पावे तो उस में उस द्रव्य का छठा भाग वा दशवां वा बाहरवां, सत्पुरुषों के धर्म का अनुस्मरण करता हुआ राजा ग्रहण करे ॥ ३३ ॥ जो द्रव्य किसी का गिरा, राजपुरुषों को पाया, पहरे में रक्खा हो, उस को जो चोर चुरावें, उन को राजा हाथी से मरवा डाले ॥ ३४ ॥

ममायमिति यो ब्रूयान्निधिं सत्येनमानवः तस्याददीत षड्भागं

राजा द्वादशमेव वा ॥३५॥ अनृतं तु वदन् दण्डयः स्ववित्तस्यांश-

मष्टमम् । तस्यैव वा निधानस्य संख्यायात्पीयसी कलाम् ॥३६॥

अर्थ—जो पुरुष सचार्थ से कहे कि "यह निधि मेरा है" उस के निधि से राजा छठा वा बारवां भाग ग्रहण करे, (शेष उस को देदेवे) ॥३५॥ (यदि वह पराये को "मेरा है" ऐसा) असत्य कहे तो अपने धन का आठवां भाग दण्ड के योग्य है वा गिनकर उसी धन के अल्प भाग पर दण्ड के योग्य

है (निधि उस को कहते हैं जो पुराना बहुत काल का धन पृथिवी में दबा हुआ रक्खा हो । दैवयोग से वह कभी किसी को मिलजावे, तो वह राजा का धन है और यदि उस पर कोई अपनेपन का दावा करे और सत्य सिद्ध हो जावे तो छठा भाग राजा ले, शेष उसे देदेवे । यदि झूठा दावा हो तो दावा करने वाले की जितनी हैसियत हो उस का अष्टमांश वा उस निधि का कुछ अंश दावा करने वाले पर दण्ड किया जावे) ॥ ३६ ॥

विद्वांस्तु ब्राह्मणोदृष्ट्वा पूर्वोपनिहितं निधिम् ।

अशेषतोऽप्याददीत सर्वस्याधिपतिर्हि सः ॥ ३७ ॥

अर्थ—यदि विद्वान् ब्राह्मण, पूर्वकालस्यादित निधि को पावे तो वह सब लेले, क्योंकि वह सब का स्वामी है (अर्थात् उस में से छठा भाग राजा न लेवे ॥

३७ वें से आगे ४ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक पाया जाता है:—

[ब्राह्मणस्तु निधिं लब्ध्वा क्षिप्रं राज्ञे निवेदयेत् ।

तेन दत्तं तु भुञ्जीत स्तेनः स्यादऽनिवेदयन्]

यदि ब्राह्मण भी निधि को पावे तो शीघ्र राजा को विदित करदे । फिर जब राजा उसे देदेवे तो भोग लगावे और राजा को निवेदन न करता हुआ [किन्तु चुपचाप भोगता हुआ] चोर समझा जावे) ॥ ३७ ॥

यं तु पश्येन्निति राजा पुराणं निहितं क्षितौ ।

तस्माद् द्विजेभ्योदत्तार्धमर्धं कोशे प्रवेशयेत् ॥ ३८ ॥

अर्थ—राजा पड़ी हुई भूमि में जो पुरानी निधि को (स्वयं) पावे तो उस में से आधा द्विजों को दान देकर आधा कोश में रखे ॥ ३८ ॥

निधीनां तु पुराणानां धातूनामेष्वक्षितौ । अर्धभाग्रक्षणा-
द्राजा भूमेरधिपतिर्हि सः ॥ ३९ ॥ दातव्यं सर्ववर्णैर्भ्यो राज्ञा चौरै-
र्हतं धनम् । राजा तदुपयुञ्जानश्चौरस्याप्नोति किल्बिषम् ॥ ४० ॥

अर्थ—पुरानी निधि (ब्राह्मण से भिन्न को पाई हुई) और सुवर्णादि के उत्पत्तिस्थानों का, राजा आधे का भागी है । क्योंकि भूमि की रक्षा करने से वह उस का स्वामी है ॥ ३९ ॥ जो धन चोरों ने हरण किया है, उस को राजा पाकर धन के स्वामी को, चाहे वह किसी वर्ण का हो, देदेवे । उस धन का यदि राजा स्वयं भोग करे तो चोर के पाप को पाता है ॥ ४० ॥

जातिजानपदान्वर्मान् श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित् । समीक्ष्यकुलधर्मां-
श्च स्वधर्मं प्रतिपायेत् ॥ ४१ ॥ स्वानि कर्माणिकुर्वाणा दूरे सन्तो
ऽपिमानवाः । प्रिया भवन्ति लोकस्य स्वैस्त्वे कर्मण्यवस्थिताः ॥ ४२ ॥

अर्थ—धर्म का जानने वाला (राजा) जातिधर्म देशधर्म और श्रेणीधर्म
(वणिग्वृत्त्यादि) और कुलधर्म, इन को अच्छे प्रकार देख कर, (इन के विरुद्ध
न हो) राजधर्म को प्रचरित करे (यहां धर्म शब्द रिवाजों का वाचक है, जो
रिवाज वैदिक धर्म के विरुद्ध न हों) ॥ ४१ ॥ जाति, देश और कुल के धर्मों
और अपने कर्मों को करते हुवे अपने अपने कर्म में वृत्तमान दूर रहते हुये
लोक भी, लोक (सोसाइटी) के प्रिय होते हैं (अर्थात् मनुष्य कहीं किसी
विलायत में भी रहता हुआ, अपने देशादि धर्म कर्म करता रहे तो सोसा-
इटी का प्रिय रहता है । इस लिये इस को न छोड़े, न लुड़ावे) ॥ ४२ ॥

नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः । न च प्रापितमन्येन
ग्रसेदर्थं कथञ्चन ॥ ४३ ॥ यथा नयत्यसृक्पातैर्मृगस्य मृगयुः
पदम् । नयेत्तथाऽनुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—राजा और राजपुरुष (कामदार) भी ऋणाऽदानादि का भगड़ा स्वयं
उत्पन्न न करावे और यदि कोई पुरुष विवाद को प्रस्तुत (पेश) करे तो
राजा और राजपुरुष उस की उपेक्षा (हज़म) न करें । (वारिश्चत लेकर
झारिज न कर दें) ॥ ४३ ॥ जैसे मृग के रुधिरपात के मार्ग से खोजता हुआ
व्याध ठिकाने को प्राप्त होता है, वैसे ही राजा अनुमान से धर्म के पद
(मुआमले की असलियत) को प्राप्त होवे ॥ ४४ ॥

सत्यमर्थं च संपश्येदात्मानमथ साक्षिणः । देशं रूपं च कालं च
व्यवहारविधौ स्थितः ॥ ४५ ॥ सद्विराचरितं यत्स्याद्दामिकैश्च
द्विजातिभिः । तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥ ४६ ॥

अर्थ—व्यवहार (मुआमला, मुकद्दमा) के देखने में प्रवृत्त (राजा वा
राजपुरुष) सत्य अर्थ (गोहिरण्यादि) तथा आपे और साक्षियों तथा देश
रूप और काल को देखे (विचारे) ॥ ४५ ॥ जो धार्मिक सत्पुरुष द्विजातियों
से आचरण किया हुआ हो और कुल जाति तथा देश के विरुद्ध न हो ऐसा
व्यवहार का निर्णय करे ॥ ४६ ॥

अधमर्णार्थसिद्धयर्थमुत्तमर्णेन चोदितः । दापयेदुनिकस्यार्थ-
मधमर्णाद्विभावितम् ॥ ४७ ॥ यैर्यैरुपायैरर्थं स्वं प्राप्नुयादुत्तम-
र्णिकः । सैस्तैरुपायैः संगृह्य दापयेदधमर्णिकम् ॥ ४८ ॥
धर्मेण व्यवहारेण कुलेनाचरितेन च । प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्च-
मेन बलेन च ॥ ४९ ॥ यः स्वयं साधयेदर्थमुत्तमर्णोऽधमर्ण-
कात् । न स राज्ञाभियोक्तव्यः स्वकं संसाधयन्धनम् ॥ ५० ॥

अर्थ-अधमर्ण (करजदार) से ऋण=करज का धन मिलने के लिये उत्तमर्ण=
महाजन के करजदार से महाजन का निश्चित धन दिलावे ॥ ४७ ॥
जिन २ उपायों से महाजन अपना रुपया पासके उन उन उपायों से ऋण
संग्रह करके दिवावे ॥ ४८ ॥ या तो धर्म से या व्यवहार=राजद्वार या कुल की
चाल से या आचरित (लेन देन के दवाव) से या पाँचवें बलात्कार से यथार्थ
धन का साधन करे (अदा करादे) ॥ ४९ ॥ जो महाजन आप करजदार से
रुपया निकालले तो उस पर राजा अभियोग (मुकदमा कायम) न करे,
जब कि वह ठीक २ अपना धन निकाल रहा हो ॥ ५० ॥

अर्थोऽपव्ययमानं तु करणेन विभावितम् । दापयेदुनिकस्यार्थं
दण्डलेशं च शक्तिसः ॥ ५१ ॥ अपन्हवेऽधमर्णस्य देहीत्युक्तस्य
संसदि । अभियोक्ता दिशेद्देश्यं करणं वान्यदुद्दिशेत् ॥ ५२ ॥

अर्थ-धन के विषय में नकार करने वाले से लेख साक्ष्यादि द्वारा प्रमाणित
कर महाजन का रुपया और यथाशक्ति थोड़ा दण्ड भी (राजा) दिलावे ॥ ५१ ॥
प्रथम सभा में अभियोक्ता (धर्मासनस्थ) करज लेने वाले से कहे कि महाजन
का रुपया दे । उस पर जब वह कहे कि मैं नहीं जानता, तब राजा साक्षी
(गवाह) या अन्य कुछ साधन (तमस्सुक आदि) के प्रस्तुत करने की
उत्तमर्ण को आज्ञा देवे ॥ ५२ ॥

अदेश्यं यश्च दिशति निर्दिश्यापहूते च यः । यश्चाधरोत्तरान-
र्थान्विगीतान्नाश्वबुद्धते ॥ ५३ ॥ अपदिश्यापदेश्यं च पुनर्यस्त्व-
पधावति । सम्यक्प्रहिणितं चार्थं पृष्टः सन्नाभिनन्दति ॥ ५४ ॥

असंभाष्ये साक्षिभिश्च देशे संभाषते मियः॥निरुच्यमानं प्रश्नं च
नेच्छेदश्चापि निष्पतेत् ॥५५॥ ब्रूहीत्युक्तश्च न ब्रूयादुक्तं च न
विभावयेत् । न च पूर्वापरं विद्यात्तस्मादर्यात्स होयते ॥५६॥

अर्थ—जो झूठ गवाह या कागज़ पत्र को निर्देश (पेश) करता है और
को निर्देश करके नकार करता है और जो कि घागे पीछे कहे का ध्यान नहीं
रखता, ॥५५॥ और जो बात को उलटता है, अपने प्रतिज्ञात किये हुये तात्पर्य
को धर्मासनस्य के पूछने से फिर नकार करता है ॥५६॥ और जो एकान्त में,
गवाहों के साथ बात चीत करता है, जो बात के सत्य होने की जांच के
लिये अभियोक्ता (अदालत) के पूछने को अच्छा न समझे और जो इधर
उधर बिना प्रयोजन बात को न मानता हुआ घूमे ॥५५॥ और पूछने पर
कुछ न कहे और जो कहे तौ दृढ़ता के साथ न कहे और जो पूर्वापर बात
को न जाने, वह अपने अर्थ (धन) को हार जाता है ॥५६॥

साक्षिणः सन्ति मेत्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेन्न यः । धर्मस्यः कार-
णैरेतैर्हीनं तमपि निदिशेत् ॥५७॥ अभियोक्तान चेद्ब्रूयाद्वध्योद-
ण्ड्यश्च धर्मतः । न चेत्त्रिपक्षात्प्रब्रूयादुर्मं प्रति पराजितः ॥५८॥

अर्थ—मेरे साक्षी (हाज़िर) हैं, ऐसा कहकर जब (धर्माधिकारी) कहे कि
लावो, तब (उस को) न लावे तौ धर्मस्थ (अदालत) इन कारकों से उसको
भी पराजित (हारा) कहदे ॥५७॥ जो अभियोक्ता (मुद्दई) राजद्वार में
निवेदन करके न बोले (अर्थात् नालिश करके ज़ायानी न बोले) तब (छोट
वड़े मुकदमों के अनुसार) बन्ध वा जुमाने के योग्य हो और यदि उस पर
मुद्दआ-इलह डेढ़ नहीने के भीतर झूठे दावे से झुई हानि की नालिश न
करे, तौ धर्मतः (क़ानून से) हार जावे ॥५८॥

यो यावन्निहूवीतार्थं मिथ्या यावति वावदेत् । तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञौ
दाप्यौ तदुद्विगुणं दमम् ॥५९॥ पृष्टोऽपव्ययमानस्तु कृतावस्थो
धनैः पिण्डा । त्र्यवरैः साक्षिभिर्भाव्यो नृपब्राह्मणसन्निधौ ॥६०॥

अर्थ—जो (मुद्दआइलह असल धन में से) जितने धन को न दे और जो
(मुद्दई असल धन से) जितना बढ़ाकर दावा करे, उस (घटाये बढ़ाये) धन का

दूना (अर्थात् घटाने वाले से घटाने का दूना और बढ़ाने वाले से बढ़ाने का दूना) दण्ड उन दोनों अधर्मियों से राजा दिलावे ॥ ५९ ॥ राजा और ब्राह्मण के सामने पूछा जावे और मकार करे तौ महाजन कम से कम तीन गवाहों से सिद्ध करे ॥ ६० ॥

यादृशा धनिभिः कार्याव्यवहारेषु साक्षिणः । तादृशान्संप्रवक्ष्यामि यथावाच्यमृतसंचतैः ॥६१॥ गृहिणः पुत्रिणोमौलाः क्षत्रत्रिशूद्रयो नयः । अथ्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति नयेकेचिदनापदि ६२

अर्थ—मुकदमों में महाजनों को जैसे गवाह करने चाहिये और उन (गवाहों) को जैसे सच बोलना चाहिये सो भी आगे कहता हूँ ॥ ६१ ॥ कुटुम्बी, पुत्र वाले, उसी देश के रहने वाले, क्षत्रिय वैश्य शूद्र वर्ण वाले; ये लोग जब कि अर्थी (मुद्दई) कहे कि मेरे साक्षी हैं, तब साक्ष्य के योग्य होते हैं, हर कोई नहीं, जब तक कि कुछ आपत्ति न हो । (यहां ब्राह्मण को गवाही में इस लिये नहीं कहा है कि सांसारिक कार्यों में पड़ने से उस के पारमार्थिक कामों में बाधा न पड़े और यदि अन्य साक्षी न मिल सकें तौ ब्राह्मण साक्षी कैसे तौ सर्वोत्तम है, इस लिये आगे “ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत् ” कहेंगे) ॥ ६२ ॥

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः । सर्वधर्मत्रिदोऽलुब्धा विपरीतास्तुवर्जयेत् ॥६३॥ नार्थसंबन्धिनोऽनाप्ता न सहाया न वैरिणः । न दूष्टदोषाः कर्तव्या न व्याध्यार्ता न दूषिताः ॥६४॥

अर्थ—सब वर्णों में जो यथार्थ कहने वाले और सम्पूर्ण धर्म के जानने वाले हों, उन को कामों में साक्षी करना चाहिये और इन से विपरीतों को नहीं ॥६३॥ धन के सम्बन्धी, असत्यवादी, नौकर आदि सहायक, शत्रु, दूसरी जगह जानकर झूठी गवाही देने वाले, रोगी और (सहायताकादि से) दूषितों को (गवाह) न करे ॥ ६४ ॥

न साक्षी नृपतिः कार्यान्कारुण्यकुशीलवौ । न श्रोत्रियो न लिङ्गस्थो न संगेभ्यो विनिर्गतः ॥६५॥ नाध्यधीनो न वक्तव्यो न दस्युर्न विकर्मकृतः । न वृद्धो न शिशुर्नैको नान्त्यो न विकलेन्द्रियः ॥६६॥

अर्थ-राजा, कारीगर, नट, श्रोत्रिय, ब्रह्मचारी और संन्यासी को भी साक्षी न बनावे ॥६५॥ परतन्त्र, बदनाम, दस्यु, निपिदु कर्म करने वाला, वृद्ध, बालक और १ एक ही और चण्डाल और जिस की इन्द्रियें स्वस्थ न हों उसे (साक्षी) न करे ॥ ६६ ॥

नातीनमत्तो नोन्मत्तो न क्षुत्तृणोपपीडितः । न श्रमातीनकामा-
तीन क्रुद्धो नापि तस्करः ॥६७॥ स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां
सदृशा द्विजाः शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययो नयः ॥६८॥

अर्थ-दुःखी, मद्यादिमत्त, पागल, लुधा तृषा से पीडित, थका, काम-
पीडित, क्रोध वाला और चोर; (ये भी साक्षी योग्य नहीं हैं) ॥६७॥ स्त्रियों का
साक्ष्य स्त्री करें। द्विजों का (साक्ष्य) उन्न के सदृश द्विज करें। शूद्रों का
(साक्ष्य) सज्जन शूद्र करें और चण्डालों का (साक्ष्य) चण्डाल करें ॥६८॥

अनुभावी तु यः कश्चित् कुर्यात्साक्ष्यं विवादिनाम् । अन्तर्वेश्मन्य-
रण्ये वा शरीरस्यापि चात्यये ॥६९॥ स्त्रियाप्यसंभवे कार्यं बालेन
स्थविरेण वा । शिष्येण बन्धुना वापि दासेन भृतकेन वा ॥७०॥

अर्थ-घर के भीतर, वन में, शरीर के अन्त (खून) में; इन भगड़ों में
जो कोई भी अनुभव करने वाला हो, वही साक्षी किया जा सकता है ॥६९॥
(मकान के भीतर आदि स्थानों में ऊपर लिखे साक्ष्य के) न होने पर स्त्री,
बालक, वृद्ध, शिष्य, बन्धु और नौकर चाकर भी साक्ष्य करें ॥ ७० ॥

बालवृद्धातुराणां च साक्ष्येषु षडतां मृषा । जानीयादस्थिरां
वाचमुत्सक्तमनसां तथा ॥७१॥ साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रह-
णेषु च । वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः ॥७२॥

अर्थ-बाल, वृद्ध, आतुर और अलक्षित लोग साक्ष्य में झूठ बोलें तो
इन की वाणी को स्थिर न जाने ॥ ७१ ॥ संपूर्ण साहसों (डाका, मकान
जलाना इत्यादि) में, चोरी परस्त्रीसङ्ग, गाली और मारपीट में साक्षियों
की परीक्षा न करे (अर्थात् ६१ से ६८ श्लोक तक जिस प्रकार के साक्षी कहे
हैं, वैसे ही का नियम नहीं) ॥ ७२ ॥

बहुत्वं परिगृह्णीयात्साक्षिद्वैधेन गधिपः । समेषु तु गुणोत्कृष्टान्
गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान् ॥७३॥ समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणञ्चैव
सिद्ध्यति । तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्माधीभ्यां न हीयते ॥७४॥

अर्थ-परस्परविरुद्ध साक्षियों में जिस बात को बहुत कहें उस को राजा
प्रमाण करे और विरुद्ध कहने वाले साक्षी जहां संख्या में समान हों वहां
अधिक गुण वालों का और यदि गुण वाले विरुद्ध कहें तो वहां द्विजोत्तमों
(ब्राह्मणों) का प्रमाण करे ॥७३॥ सामने देखने से और सुनने से भी साक्ष्य
सिद्ध होता है, उस में सच बोलने वाला साक्षी धर्म अर्थ से नहीं हारता ॥७४॥
साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन्नार्थसंसदि । अवाङ्मनरकमभ्येति
प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ॥७५॥ यत्रानिबद्धोऽपीक्षेत शृणुयाद्वापि
किञ्चन । पृष्टस्तत्रापि तद्ब्रूयादथादृष्टं यथाश्रुम् ॥ ७६ ॥

अर्थ-आर्यों की सभा में देखे सुने से विरुद्ध कहने वाला साक्षी अधोमुख
नरक में जाता और मर कर भी स्वर्ग से हीन हो जाता है ॥ ७५ ॥ जिस
(मुकद्दमें) में न भी कहा हुआ हो (कि तुम इस में साक्षी हो) उस में भी
जो देखे और सुने, उस को पूछने पर जैसा देखे सुने, वैसा ही कहे ॥७६॥
एकोऽलुब्धस्तु साक्षी स्याद्ब्रूयः शुच्योऽपि न स्त्रियः । स्त्रीबुद्धेर-
ऽस्थिरत्वात्तु दोषैश्चान्येऽपि यवृताः ७७ स्वभावेनैव यद्ब्रूयुस्तद्
ग्राह्यं व्यावहारिकम् । अतो यदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थक्यम् ७८

अर्थ-एक ही साक्षी लोभादिरहित हो तो पर्याप्त है परन्तु स्त्रियां बहुत
और पवित्र भी होवें तो भी नहीं, क्योंकि स्त्री की बुद्धि स्थिर नहीं होती ।
और दोषों से युक्त अन्य लोगों को भी साक्षी न करे ॥ ७७ ॥ साक्षी स्वभाव
से (अर्थात् भयादि से रहित होकर) जो कहे, वह व्यवहार के निर्णय में
प्राप्त है और इस से विपरीत (भय लोभादि से) जो विरुद्ध वाद कहें सो
व्यवहार के निर्णयार्थ निर्णयक है ॥ ७८ ॥

समान्तःसाक्षिणः प्राप्ता नार्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ । प्राड्विवाकोऽनु-
युज्यते विधिनानेन सान्त्वयन् ७९ यद्द्वयोरनयोर्वैत्यकार्येऽस्मि-
श्लेषितं मिथः । तद्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥८०॥

अर्थ—सभा के बीच प्राप्त हुवे साक्षियों से अर्थी और प्रत्यर्थी के सामने प्राह्विवाक (वकील आदि) धैर्य देकर आगे कहे प्रकार से पूछे कि ॥३९॥ इन दोनों (मुद्दे मुद्दाइलह) ने आपस में इस काम में जो कुछ किया हो उस को तुम जो कुछ जानते हो सो सब सच्चाई से कहो क्योंकि तुम्हारी इस में गवाही है ॥ ८० ॥

सत्यं साक्ष्येऽब्रुवन्साक्षी लोकानामोति पुष्कलान्। इह चानुत्तमां कीर्त्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥८१॥ साक्ष्येऽनृतं वदन्पाशैर्वद्भुते वारुणैर्भृशम्। विवशः शतमाजातीस्तस्मात्साक्ष्यं वदेदृतम् ॥८२॥

अर्थ साक्ष्य कर्म में सच बोलता हुवा साक्षी उत्कृष्ट (प्राप्तादि) लोकों और इस लोक में उत्तम कीर्त्ति को प्राप्त होता है क्योंकि यह सत्य वाणी ब्रह्म=वेद से पूजी हुई है ॥ ८१ ॥ क्योंकि साक्ष्य में असत्य कहने वाला वरुण के पाशों से परतन्त्र हुवा शतजन्मपर्यन्त अत्यन्त पीड़ित होता है (अर्थात् जलोदरादि से पीड़ित होता है) इस कारण सच्चा साक्ष्य (गवाही) दे ॥

(८२ वें से आगे ३ श्लोक अधिक भी पाये जाते हैं । जिनमें से पहिला और तीसरा एक एक पुस्तक में और दूसरा तीन पुस्तकों में मिलता है:-

[ब्राह्मणो वै मनुष्याणामादित्यस्तेजसां दिवि । शिरो वा सर्वगात्राणां धर्माणां सत्यमुत्तमम् ॥१॥ नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम् । साक्षिधर्मं विशेषेण तस्मात् सत्यं विशिष्यते ॥२॥ एकमेवाऽद्वितीयं तु प्रब्रुवन्नाथ बुध्यते । सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥३॥]

जैसे मनुष्यों में ब्राह्मण, आकाश के तारागणों में सूर्य और अन्य सब अङ्गों में शिर, (ऐसा ही) धर्मों में सत्य उत्तम है ॥१॥ सत्य से बढ़ कर धर्म नहीं है, असत्य से बढ़ कर पाप नहीं । विशेष कर साक्षी के धर्म में । इस कारण सत्य उत्तम है ॥२॥ जो एक सत्य ही कहता है, दूसरी बात नहीं कहता वह भूलता नहीं । सत्य स्वर्ग की सीढ़ी है, जैसे समुद्र में नौका ॥३॥) ॥८२॥ सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते। तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥८३॥ आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः । मावसंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ८४

अर्थ—सत्य से साक्षी पवित्र हो जाता है और सत्यभाषण से धर्म बढ़ता है । इस लिये सब वर्णों के साक्षियों को सत्य ही बोलना चाहिये ॥ ८३ ॥ (शुभ और अशुभ कर्मों में) आत्मा ही अपना साक्षी है और आप ही अपनी गति (शरण) है । इस लिये इस मनुष्यों के उत्तम साक्षी अपने आत्मा का (झूठ साक्ष्य से) अपमान मत कर ॥ ८४ ॥

मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीति नः। तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः ॥ ८५ ॥ द्यौर्भूमिरपो हृदयं चन्द्राकाराग्नि यमानिलाः । रात्रिः संध्ये च धर्मश्च वृत्तजाः सर्वदेहिनाम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—पाप करने वाले जानते हैं कि हम को कोई देखता नहीं, पनरतु उन को देवता (जो अगले श्लोक में गिनाये हैं) देखते हैं और अपने ही शरीर का भीतर वाला पुरुष देखता है ॥ ८५ ॥ आकाश, भूमि, जल, हृदय, चन्द्र, सूर्य, अग्नि, यम, वायु, रात्रि, दोनों सन्ध्या और धर्म; ये सब प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों को जानते हैं ॥ (इस लिये साक्षी असत्य न बोलें ॥ इन जड़ पदार्थों का अधिष्ठातृदेव (परमात्मा) ज्ञाता समझो । प्रपञ्चपूर्वक कथन प्रभावार्थ है ॥ ८६ ॥

देवब्राह्मणसाक्षिभ्यो साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान् । उदङ्मुखान्प्राङ्मुखान्वा पूर्वाह्ने वै शुचिः शुचीन् दब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत्सत्यं ब्रूहीति पार्थिवम् । गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ८८ ॥

अर्थ—देवता और ब्राह्मण के समीप में पवित्र द्विजातियों को पूर्वमुख वा उत्तरमुख कराके आप शुद्ध स्वस्थचित्त हुवा अभियोक्ता, सबेरे के समय सब सच वृत्तान्त पूछें ॥ ८७ ॥ “ कहो ” ऐसा ब्राह्मण से पूछें और “ सच बोलो ” ऐसा क्षत्रिय से पूछें । और “ गाय, बीज, सुवर्ण के घुराने का पातक तुम को होगा जो झूठ बोलोगे तौ ” ऐसा कह कर वैश्य से पूछें । “ सब पातक तुम को लगेंगे जो झूठ बोलोगे तौ ” ऐसा कह कर शूद्र से पूछें ॥ ८८ ॥

ब्रह्मघ्नो ये स्मृता लोका ये च स्त्रीवालघातिनः । मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य ते ते स्युर्ब्रुवतो मृषा ॥ ८९ ॥ जन्मप्रभृति यत्किञ्चित्पुण्यं भद्र त्वया कृतम् । तत्ते सर्वं शुनोगच्छेद्वादि ब्रूयास्त्वमन्यथा ॥ ९० ॥

अर्थ—ब्राह्मण के मारने वाले और खीचाती तथा बालघाती और मित्रद्रोही और कृतघ्न को जो २ लोक प्राप्त होने कहे हैं, वे ही भूँठ धोलेने वाले को हों ॥८९॥ हे भद्र । तू ने आयु भर जो कुछ पुण्य किया है, वह सब तेरा पुण्य कुत्ते पावें, जो तू इन विषय में अन्यथा कहे ॥ ९० ॥

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे । नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥९१॥ यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः । तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरुन् गमः ॥९२॥

अर्थ—हे भद्रपुरुष । 'मैं एकछा ही हूँ' ऐसा यदि अपने को मानता है, तो तेरे हृदय में नित्य पाप पुण्यों का देखने वाला मुनि (परमात्मा) तो स्थित है ॥९१॥ वैवस्वत यम (परमात्मा) जो यह तेरे हृदय में स्थित है, उस के साथ यदि विवाद नहीं है, तो (पाप के प्रायश्चित्त वा दण्डभोगार्थ) गङ्गा और कुरुदेशों को मत जा । (ऐसा जान पड़ता है कि आर्य राजों ने गङ्गातट और कुरुदेशों में विकर्मफल भोगने के स्थान विशेष नियत कर रखे थे ॥ और एक प्रकार से तो यह श्लोक पीछे का ही जान पड़ता है क्योंकि गङ्गा को भगीरथ ने प्रकट किया, मनु के समय में तो यह गङ्गा का प्रवाह ही न था) ॥९२॥

नग्नो मुण्डः कपालेन भिक्षार्थी क्षुत्पिपासितः । अन्यः शत्रुकुलं गच्छेद्यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥९३॥ अवाविशरास्तमस्यन्धे किलिष-पी नरकं व्रजेत् । यः प्रश्नं वितथं ब्रूयात्पृष्टः सन्धर्मनिश्चये ॥९४॥

अर्थ—जो भूँठ गवाही देवे वह कपड़े से नग्न, सिर मुण्डा, कपाल हाथ में लिये, भिखमँगा, क्षुधा पिपासा से पीड़ित और अन्धा होकर शत्रुकुल में गमन करे ॥९३॥ जो धर्म निर्णय के लिये पूछा हुआ असत्य बोले, वह पापी अधोमुख बड़े अन्याकाररूप नरक में जावे ॥ ९४ ॥

अन्यो मत्स्यानिवाश्र्नाति स नरः कण्टकैः सह । यो भाषतेऽर्थवै-कलयमप्रत्यक्षं समां गतः ॥९५॥ यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते । तस्मान्न देवाः श्रेयासं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥९६॥

अर्थ—जो सभा में जाकर बिना देखी बात को भूँठी बना कर बोलता है, वह अन्या होकर कांटों सहित अछली सी खाता है ॥ ९५ ॥ जिस के

बोलते हुवे चेतन जीवात्मा शङ्का नहीं करता, उस से बड़ कर देवता लोग दूसरे को अच्छा नहीं मानते ॥ ६६ ॥

यावत्तोत्रान्धवान् यस्मिन् हन्ति साक्ष्येऽनृतं वदन् । तावत्तः संख्यया तस्मिन् शृणु सौम्यानुपूर्वशः ॥ ६७ ॥ पञ्च पञ्चनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते । शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥ ६८ ॥

अर्थ—हे सौम्य ! (साक्षिन्) जिस साक्ष्य में झूठ बोलने वाला जितने बान्धवों को मारने का फल पाता है, उस में क्रमशः उतनों को गिनती से सुन । (देखिये बड़ों से भी भूल होती है) । इस श्लोक में "सौम्य ।" यह सम्बोधन स्पष्ट प्रकरणानुसार गवाह (साक्षी) के लिये है, परन्तु प्राचीन भाष्यकार मेधातिथि कहते हैं कि यह सम्बोधन मनु ने भृगु को दिया है । एक पुस्तक में इस से आगे १ प्रक्षिप्त श्लोक भी मिलता है, परन्तु हमने व्यर्थ सा समझ कर उद्धृत नहीं किया ॥ ६७ ॥ पशु के विषय में झूठ बोलने से पांच बान्धवों के मारने का फल पाता है । गौ के विषय में दश । घोड़े में विषय में सौ । और पुरुष के विषय में सहस्र (बान्धवों के हनन का पातक प्राप्त होता है) ॥ ६८ ॥

हन्ति जातान् जातांश्च हिरण्याऽर्थेऽनृतं वदन् ।

सर्वं भूम्यऽनृते हन्ति मा स्म भूम्यऽनृतं वदीः ॥ ६९ ॥

अर्थ—सुवर्ण के लिये असत्य बोलने वाला, उत्पन्न हुवों और न हुवों (होने वाले पुत्रादि) के मारने के फल को पाता है और भूमि के लिये असत्य बोलने वाला संपूर्ण प्राणियों के हनन का फल पाता है, इसलिये तू भूमि के लिये भी झूठ मत बोल । (६९ वें से आगे नन्दन के टीके वाले पुस्तक में डेढ़ श्लोक यह अधिक प्रक्षिप्त हुवा है :—

[पशुवत्क्षौद्रघृनयोर्यच्चान्यत्पशुसंभवम् । गोश्वद्वत्सहिरण्येषु धान्यपुष्पफलेषु च । अश्ववत्सर्वयानेषु खरोष्ट्रवतरादिषु]

शहद और घृत के विषय में झूठी गवाही देने वाले को पशु विषयक पातक के समान पातक लगता है । और अन्य भी जो कुछ पशु से उत्पन्न (दुग्धादि) पदार्थ हैं, उन में भी । बछड़ों वा सुवर्ण के विषय में गौ के तुल्य; धान्य, पुष्प और फलों के विषय में भी । गधा, ऊँट, वतरादि सब सवारियों के विषय में झूठे गवाह को घोड़े के विषय में कहे असत्यजनित पातक के तुल्य पातक लगता है) ॥ ६९ ॥

अप्सु भूमिर्वदित्याहुः स्त्रीणां भोगे च मैथुने ।

अवजेषु चैव रत्नेषु सर्वेष्वश्वमयेषु च ॥ १०० ॥

अर्थ—(तालाव, बावड़ी इत्यादि) जलाशय के विषय में और स्त्रियों के भोग मैथुन में और (मौक्तिकादि) जलोत्पन्न रत्नों के विषय में तथा हीरा आदि पत्थरों के विषय में (भूँट बोलने का) भूमि क्षेत्र तकसमान (पातक) है । १०० वें के आगे भी ५ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक मिलता है—

[पशुवत्क्षौद्रघृतयोयानिषु च तथाऽश्ववत् ।

गोवद्रजतवस्त्रेषु धान्ये ब्राह्मणवद्विधिः] ॥

शब्द और घृत में पशु के तुल्य, सवारियों में घोड़े के तुल्य, चांदी और वस्त्रों में गी के तुल्य और धान्य के विषय में असत्य गवाही देने वाले को ब्राह्मणविषयक पाप के समान पाप होता है) ॥ १०० ॥

एतान्दोषान्ऽवेक्ष्य त्वं सर्वाननृतभाषणे । यथाश्रुतं यथादृष्टं सर्वमेवाञ्जसा वद ॥ १०१ ॥ गौरक्षकान्वाणिजिकांस्तथा कारुकुशीलवान्प्रेष्यान्वार्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रदाचरेत् ॥ १०२ ॥

अर्थ—इन सब भूँट बोलने में पातकों को समझ कर, जैसा देखा और सुना है वही सब शीघ्र कह ॥ १०१ ॥ गौ रखाने वाले, वनिये, लुहार, बढई आदि के काम वा रसोई करने वाले, गाने बजाने वाले, हलकारे की नौकरी करने वाले और व्याज से जीने वाले ब्राह्मणों से भी (राजा) शूद्र के समान प्रश्न करे (१०२ वें से आगे भी एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है—

[येऽप्यतीताः स्वधर्मैभ्यः परापिण्डोपजीविनः ।

द्विजत्वमभिकाङ्क्षन्ति तंश्च शूद्रानिवाचरेत्] ॥

जो लोग अपने वर्णधर्मों को छोड़ कर पराई जीविका करने लगे हों और द्विज होने की इच्छा करें उन को राजा शूद्र के तुल्य सम्बोधन करे । इसी तात्पर्य का श्लोक एक अन्य पुस्तक में इसी जगह मिलता है । यथा—

[येऽप्यपेताः स्वकर्मैभ्यः परकर्मोपजीविनः ।

द्विजा धर्मं विजानन्तस्तांश्च शूद्रवदाचरेत्] ॥ १०२ ॥

“तद्वदन्धर्मतोऽर्थेषु जानन्नप्यन्यथा नरः । न स्वर्गाच्च्यवते
लोकाद्देवीं वाचं वदन्ति ताम् ॥१०३॥ शूद्रविट्क्षत्रविप्रानां
यत्रर्तोक्तो भवेद्धर्मः । तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद्विशिष्यते ॥१०४॥”

“अर्थ—जो पुरुष जानता हुआ भी धर्म के व्यवहारों में अन्यथा कहने वाला
है, वह स्वर्ग लोक से भ्रष्ट नहीं होता क्योंकि उस (असत्य) को देववाणी कहते
हैं ॥१०३॥ जिस मुकदमे में शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मणों का सच बोलने से
बध हो, वहां झूठ बोलना चाहिये, क्योंकि वह सच से अधिक है ॥१०४॥”

“वाग्देवतैश्च चरुभिर्यजेरंस्ते सरस्वतीम् । अनृतस्यैनसस्तस्य
कुर्वाणानिष्कृतिं पराम् ॥१०५॥ कूष्माण्डैर्वापि जुहुयाद् घृतम-
ग्नौ यथाविधि । उदित्युवा वा वारुण्या तृचेनाव्देवतेन वा ॥१०६॥”

“अर्थ—उस झूठ बोलने के पाप का अत्यन्त प्रायश्चित्त करते हुवे (वे
साक्षी) वाग्देवतासम्बन्धी चरु से सरस्वती का यजन करें ॥ १०५ ॥ अथवा
कूष्माण्डों (यद्देवादेवदेहनम् इत्यादि यजु० २० । १४ मन्त्रों) से यथाविधि
घृत की अग्नि में दहन करे । वा “उदुत्तमं वरुणपाशम०” यजु० १२ । १२
इस वरुण देवता वाले मन्त्र से, वा (आपोहिष्ठा० यजुः ११ । ५०) इन जल
देवता की ३ ऋचाओं से (पूर्वोक्त आहुति करें ॥ ”

(१०३ से १०६ तक ४ श्लोक ठीक नहीं जान पड़ते । १०३ में असत्य साक्ष्य
से भी धर्मनिमित्त बोलने में दोष नहीं बनाया, फिर १०४ में उस धर्मनिमित्त
की स्पष्ट किया है कि ब्राह्मणादि चारों वर्णों को सत्य साक्ष्य देने से बध
दण्ड होता देखे तो झूठ बोलदे । वह झूठ, सच से बढ़ कर है । १०५ । १०६
में उस झूठ बोलने के पाप का प्रायश्चित्त है । धर्मशास्त्र का सिद्धान्त है कि
अन्यायोपार्जित धनादि के व्यय से पुण्यकार्य करने में पुण्य नहीं है, जैसा
कि पूर्व मनु ही कहते आये हैं । फिर चारों वर्ण किसी को मार डालें और
राजा के सामने कोई सच्ची गवाही न दे तो कदाचित् चण्डालादि ही शेष
बचे बधदण्ड पा सकें, अन्य तो ४ वर्ण छूट ही गये । फिर यह भी विचारना
चाहिये कि यदि यह झूठ सच से बढ़ कर है तो पाप के होते हुवे प्राय-
श्चित्त किस बात का कहा है ? इस विषय में मेधातिथि ने १०० श्लोकों के
बराबर इन्हीं चार श्लोकों पर भाष्य बढ़ा कर समाधान का उद्योग किया है,
परन्तु उस समाधान से सन्तोष नहीं होता) ॥ १०६ ॥

त्रिपक्षाद ब्रूवन्साक्ष्यमृणादिषु नरोऽगदः। तद्वृणं प्राप्नुयात्सर्वं
दशबन्धं च सर्वतः ॥१०७॥ यस्य दृश्येत सप्ताहादुक्तवाक्यस्य
साक्षिणः। रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणमृणं दाप्योदमं च सः ॥१०८॥

अर्थ—व्याधि आदि विग्रहरहित मनुष्य लेन देन के विषय में छेड़ महीने तक गवाही न देवे तौ महाजन का कुल ऋण (रुपया) देवे और उस सब रुपये का दशवां भाग राजा को दण्ड देवे ॥ १०७ ॥ जिस गवाही देकर गये हुवे साक्षी के सात दिन के भीतर रोग, अग्नि और पुत्रादि का मरण होजाय तौ वह महाजन को रुपया और राजा को दण्ड देने योग्य है ॥

(सब भाष्यकारों ने ऐसे साक्षी को इस हेतु से झूठा माना है कि दैवी आपत्तियां उस की झूठी गवाही का प्रमाण हैं। सर्वज्ञनारायण भाष्यकार ने इतना अधिक लिखा है कि (तत्प्रागनुपजातनिमित्तरुतं याच्यम्) अर्थात् “जब कि रोगोत्पत्ति, गृहादि में अग्नि लगने और पुत्रादि की मृत्यु का हेतु गवाही देने से पहला न हो तब उसे झूठा गवाह संझना चाहिये” परन्तु यह भी युक्ति दुर्बल जान पड़ती है और प्रायः रोगादि के हेतु बहुत प्राचीन होते हैं और जाने नहीं जा सकते, उस दशा में बड़ा अन्याय होगा। तथा वैद्यादि के भरोसे बड़ा कार्य जा पड़ेगा और अग्नि लगने के हेतु जानने में तथा पुत्रादि की मृत्यु का हेतु जानने में भी असंख्य कठिनाई हैं और फिर भी पूरा निश्चय होना कठिन ही है। इत्यादि कारणों से हमारी सम्मति में ती राजद्वारादि लौकिक निर्णयों में दैवानुमान उचित नहीं है) ॥ १०८ ॥

असाक्ष्यकेषु त्वर्थेषु मिथोविवदमानयोः ।

अविन्दस्तत्त्वतः सत्यं शपथेनापि लम्भयेत् ॥१०९॥

“महर्षिभिश्च देवैश्च कार्यार्थं शपथाः कृताः ।

वसिष्ठश्चापि शपथं शेषे वै यवने नृपे ॥११०॥”

अर्थ—विना गवाह के मुकद्दमों में आपस में झगड़े वाले दोनों के सत्य वृत्तान्त ज्ञात न होने पर शपथ (हलफ) से भी निर्णय करलेवे ॥ १०९ ॥

“क्योंकि महर्षि और देवतों ने कार्य के लिये शपथें कीं, वसिष्ठ जी ने भी यवन राजा के सामने शपथ किया था ॥ ” (कहां वसिष्ठ ! कहां यवन ! और कहां मनु । यह सब पश्चात् की रचना स्पष्ट है) ॥ ११० ॥

न वृथा शपथं कुर्यात्स्वलपेऽप्यर्थे नरोबुधः ।

वृथा हि शपथं कुर्यात्प्रेत्य चेह च नश्यति ॥ १११ ॥

“कामिनीषु विवाहेषु गवां भक्ष्ये तथेन्धने ।

ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथे नास्ति पातकम् ॥ ११२ ॥

अर्थ—थोड़े अर्थ में भी पण्डित मिथ्या शपथ न करे क्योंकि वृथा शपथ करने वाला इस लोक तथा परलोक में नाश को प्राप्त होता है ॥ १११ ॥

“सुरत लाभ को कामिनी के विषय में, विवाहों में, गौवों के चारे, इन्धन और ब्राह्मण की रक्षा के लिये (वृथा) शपथ करने में पातक नहीं है ॥”

(यह अपवाद भी अन्यायप्रवर्तक, असत्यपोषक तथा धर्मशास्त्र के सत्य सिद्धान्त का बाधक है और “ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ, ब्राह्मणस्य विपत्तौ, ब्राह्मणावपत्तौ” । ये तीन पाठ भी भिन्न २ प्रकार से मिलते हैं) ॥ ११२ ॥

सत्येन शपथेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः ।

गोवीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ११३ ॥

“अग्निं वाहारयेदेनमप्सु चैनं निमज्जयेत् ।

पुत्रदारस्य वाप्येनं शिरांसि स्पर्शयेत्पृथक् ॥ ११४ ॥”

अर्थ—ब्राह्मण को सत्य की शपथ (कसम) करावे । क्षत्रिय को वाहन तथा आयुध (हथियार) की, वैश्य को गाय या बैल, गीज और सौने की और शूद्र को सम्पूर्ण पातकों से [शपथ (कसम) करावे] ॥ ११३ ॥ “जलते अग्नि को इस (शूद्र साक्षी) से उठवावे और पानी में इस को डुबावे और पुत्र स्त्री के शिर पर अलग २ इस से हाथ धरावे ॥ ११४ ॥”

“यमिदो न दहत्यग्निरापो नोन्मज्जयन्ति च । न चार्तिमृच्छति क्षिप्रं स ज्ञेयः शपथे शुचिः ॥ ११५ ॥ वत्सस्य ह्यभिशस्तस्य पुरा भ्रात्रा यधीयसा । नाग्निर्ददाह रोमापि सत्येन जगतः स्पृशः ॥ ११६ ॥”

“अर्थ—जिस को जलती आग नहीं जलाती और पानी जिस को नहीं डुबाते और जिस को पुत्रादिके वियोगजनित बड़ी पीड़ा जल्दी नहीं प्राप्त होती वह (शूद्र) शपथ में सच्चा जानना चाहिये ॥ ११५ ॥ क्योंकि पूर्वकाल में वत्स ऋषि को छोटे भ्राता ने कहा कि (तू शूद्रा का लड़का है, ब्राह्मण का

नहीं, इस कहने से उस ने जगत् के शुभाशुभ जानने वाले अग्नि में प्रवेश किया, सो सत्यके कारण) अग्नि ने उस का एक रोम भी नहीं जलाया ॥

(११४ । ११५ । ११६ भी असंभवादि दोषों से चिन्त्य होने के अतिरिक्त वत्स ऋषि के इतिहास से अत्यन्त स्पष्ट है कि पीछे से मिलाये गये । इस प्रकरण में ८२ से आगे ३, ९९ से आगे १॥, १०० वें से आगे १, १०२ से आगे १, और दूसरे पुस्तक में १, सब ३॥ श्लोक तौ स्पष्ट ही सब पुस्तकों में नहीं पाये जाते, इस पर इन इतिहासों से और भी निश्चित होता है कि हमारे प्रक्षिप्त बताये हुवे श्लोक जो सब पुस्तकों में अब मिल रहे हैं, वे भी अवश्य पीछे से ही मिले हैं) ॥ ११६ ॥

यस्मिन्यस्मिन्निवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत्तत्तत्कार्यं निवर्ततकृतंचापकृतं भवेत् ॥ ११७ ॥ लोभान्मोहाद्व्यान्मैत्र्यात्क्रामात् क्रोधात्तथैव च । अज्ञानाद्बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥ ११८ ॥

अर्थ—जिस मुकद्दमे में गवाहों ने झूठी गवाही दी, ऐसा निश्चय हो, उस मुकद्दमे को फिर से दौहरावे और जो दण्डादि कर चुका हो उसे नहीं किया समझे (फिर से विचार हो) ॥ ११७ ॥ लोभ, मोह, भय, मित्रता, काम, क्रोध, अज्ञान तथा लड़कपन से गवाही झूठी कही जाती है ॥ ११८ ॥

एषामन्यतमेस्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत् । तस्य दण्डविशेषास्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ११९ ॥ लोभात्सहस्रं दण्ड्यस्तु मोहात्पूर्वतु साहसम् । भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्र्यात्पूर्वं चतुर्गुणम् ॥ १२० ॥

अर्थ—इन लोभादि में से किसी कारण मुकद्दमे में जो झूठी गवाही दे, उस के दण्ड विशेष क्रम ये आगे कहता हूँ ॥ ११९ ॥ लोभ से (मिथ्या गवाही देने वाले पर) “हज़ार” पण [१५॥=] दण्ड हो और मोह से कहने वाले को “प्रथम साहस” [३॥=] दण्ड देवे और भय से कहने वाले को “दो मध्यम साहस” [१५॥=] दण्ड और मैत्री से (झूठ कहने वाले को) “प्रथम साहस का चतुर्गुण” [१५॥=] दण्ड देवे (“ ” चिन्हित परिमाण संज्ञा आगे १३१ से १३८ तक संज्ञाप्रकरण में कहे अनुसार जानिये) ॥ १२० ॥

क्रामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम् । अज्ञानाद्द्वैशते पूर्णं

यालिश्याच्छतमेवतु १२१ एनानाहुः कौटसाक्ष्ये प्रोक्तान्दण्डान्
मनीषिभिः । धर्मस्याव्यभिचारार्थमधर्मनियमाय च ॥१२२॥

अर्थ—कामनिमित्त(असत्य गवाही दे तो) “प्रथम साहस दशगुण” [३९-])
और क्रोध से (भूँठी गवाही दे तो) “सिगुना उत्तम साहस” [४६॥१८॥] और
अज्ञान से (भूँठी गवाही दे तो) सौ पण [१॥-]) दण्ड पावे ॥ (हनने पण
को एक पैसा कल्पित करके ये रकम लिखी हैं परन्तु इस में कुछ अन्तर है ।
आज कल का सिद्धा उस में ठीक जड़ी मिलता) ॥ १२१ ॥ सत्यरूप धर्म के
लोप न होने और असत्यरूप अधर्म के दूर होने के लिये भूँठे साक्षी को ये
दण्ड विद्वानों ने कहे हैं ॥ १२२ ॥

कौटसाक्ष्यंतु कुर्वाणां स्त्रीन्वर्णान्वार्मिको नृपः । प्रवासयेद्दण्डादि-
त्वा ब्राह्मणंतु त्रिधा सयेत् ॥१२३॥ दण्डस्थानानि दण्डस्य मनुः स्वा-
यं भुवोऽब्रवीत् त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो ब्रजेत् ॥१२४॥

अर्थ—धार्मिक राजा भूँठी गवाही देने वाले तीनों वर्णों को दण्ड देकर
देश से बाहर निकाल देवे और ब्राह्मण को (केवल) निकाल दे ॥१२३॥ जो
दण्ड के १० स्थान स्वायंभुव मनु ने कहे हैं, वे क्षत्रियादि तीन वर्णों को हैं ।
और ब्राह्मण को बिना चाँट के (केवल) निकाल देवे ॥ (नमुरब्रवीत् ० से
संदेह तो स्पष्ट है कि यह अन्यकृत है) ॥ १२४ ॥

उपस्थमुदरं जिह्वा हस्ती पादौ च पञ्चमम् । चक्षुर्नासा च कर्णौ च
धनं देहस्तथैव च ॥ १२५ ॥ अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च
तत्त्वतः । सारापराधी चालोक्य दण्डं दण्डेषु पातयेत् ॥१२६॥

अर्थ—लिङ्ग, उदर, जीभ, हाथ, पाँचवें पैर और आँख, नाक, कान, धन
और देह (ये १० दण्ड के स्थान हैं) ॥१२५॥ प्रकरण (सिलसिले) को समझ
कर, देशकाल को ठीक २ जान कर और (धन शरीरादि) सामर्थ्य तथा
अपराध को देख कर, दण्ड के योग्यों को दण्ड देवे ॥ १२६ ॥

अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्त्तिनाशनम् । अस्वर्ग्यं च परत्रापि
तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥१२७॥ अदद्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यां
श्रैवाप्यदण्डयन् । अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥१२८॥

अर्थ—क्योंकि अधर्म से दण्ड देना लोगों में इस जन्म में यश और (आगे को) कीर्ति का नाश करने वाला है और परलोक में स्वर्ग का अहित करने वाला है। इस कारण उसे न करे (अर्थात् बेइन्माफी से सजा न देवे) ॥१२९॥ अदण्डनीयों को दण्ड देता हुवा और दण्डनीयों को छोड़ देने वाला राजा बड़े अपयश को पाता और नरक में भी जाता है ॥ १२० ॥

वाग्दण्डं प्रथमंकुर्याद्विदण्डं तदनन्तरम् । तृतीयं धनदण्डं तु
बधदण्डमतः परम् ॥ १२६ ॥ बधेनापि यदा त्वेवास्तिग्रहीतुं न
शक्नुयात् । तदैषु सर्वमप्येतत्प्रयुज्जीत चतुष्टयम् ॥ १३० ॥

अर्थ—प्रथम वाग्दण्ड देवे (अर्थात् यह कहे कि तूने यह दुरा किया, इस कहने पर न माने तो) दूसरी बार धिक्कार दण्ड देवे। तीसरी बार धनदण्ड (जुरमाना) करे। चौथी बार बधदण्ड=(अमराधनुसार) देहदण्ड देवे ॥१२९॥ यदि देहदण्ड से भी इन को वश में न कर सके तो इन पर वाग्दण्डादि सब चारों दण्ड करे ॥ १३० ॥

लोकसंव्यवहारार्थं याः संज्ञाः प्रथिता भुवि ता मरू प्यसुवर्णानां
ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १३१ ॥ जालान्तरगते भागौ यत्सूक्ष्मं
दृश्यते रजः । प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रवक्षते ॥ १३२ ॥

अर्थ—तांबा, चांदी और सौने की जो (पणादि) संज्ञा लोगों के व्यवहार के लिये पृथिवी में प्रसिद्ध हैं, उन सब को (दण्डप्रकरणोपयोगी होने से) आगे कहता हूँ ॥१३१॥ मकान के रोशनदान में सूर्य की धूप में जो घारीकर छोटे रज (जरे) दीखते हैं, इस मापे को प्रमाणों में ग्रहिला (परिमाण) “त्रसरेणु” कहते हैं ॥ १३२ ॥

त्रसरेणवोष्टौ विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः । ता राजसर्पप-
स्तिस्त्रस्ते त्रयोगौरसर्पपः ॥ १३३ ॥ सर्पपाः पट्यवो मध्यस्त्रियवं
त्वेककृष्णलम् । पञ्चकृष्णलको मापस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥ १३४ ॥

अर्थ—आठ त्रसरेणु की एक “लिप्ता” और तीन लिप्ता की एक “राजसर्पप”= राई और तीन राई का एक “श्वेत सरसों” जानिये ॥१३३॥ और छः सरसों

का एक सभला "यव" और तीन यव का एक "कण्डल" और पांच कण्डल का एक "माप" और सोलह मापों का एक "सुवर्ण" होता है ॥ १३४ ॥

पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दश । द्वे कण्डले समधृते विज्ञेयोरौप्यमापकः ॥ १३५ ॥ ते षोडश स्यादुरणं पुराणश्चैव राजतः । कार्पापणं तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्पिकः पणः ॥ १३६ ॥

अर्थ-चार सुवर्ण का एक "पल" । दश पल का १ "धरण" । बराबर के दो कण्डलों को १ "रौप्यमापक" (चांदी का मापक) जाने ॥ १३५ ॥ सोलह मापक का १ "रौप्यधरण" और चांदी का "पुराण" भी होता है । तांबे के कर्ष भर के पण (वैसे) "कार्पापण" को "ताम्रिक, कार्पिक, पण" जाने ॥ १३६ ॥

धरणानि दशज्ञेयः शतमानस्तुराजतः । चतुःसौवर्णिको निष्कः विज्ञेयस्तु प्रमाणतः ॥ १३७ ॥ पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः । मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः ॥ १३८ ॥

अर्थ-दश धरण का १ चांदी का "शतमान" जाने और प्रमाण से चार सुवर्ण को १ "निष्क" जाने ॥ १३७ ॥ दो सौ पञ्चास पणों का "प्रथम साहस" कहा है और पांच सौ पणों का "मध्यमसाहस" तथा १ सहस्र पणों का "उत्तम साहस" जाने ॥ १३८ ॥

ऋणे देये प्रतिज्ञाते पञ्चकं शतमर्हति । अपहृत्वे तद्विगुणं तन्मनोरनुशानम् ॥ १३९ ॥ वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्वित्तविवर्धनीम् । अशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद्वार्धुषिकः शते ॥ १४० ॥

अर्थ-यदि ऋणदार सभा में कहदे कि मुझे सहाजन का रुपया देना है तो पांच प्रति सैकड़ा दण्ड योग्य है । और नकार करे (परन्तु सभा में फिर प्रमाणित हो) तो दश प्रति सैकड़ा दण्ड देने योग्य है । इस प्रकार (मुक्त) मनु की आज्ञा है ॥ १३९ ॥ धन को बढ़ाने वाली वसिष्ठोक्त वृद्धि (सूद) अस्सीवां भाग सौ पर व्याज खाने वाला मासिक ग्रहण करे (अर्थात् सवा रुपया सैकड़ा व्याज ले ॥ १३९ व १४० में भी नवीनता की भूलक ती है क्योंकि "मनु की आज्ञा" और "वसिष्ठ" का नाम आया है) ॥ १४० ॥

द्विकं शतं वा गृह्णीयात्सतां धर्ममनुस्मरन्। द्विकं शतं हि गृह्णीतानो
न भवत्यर्थकिलिषी ॥१४१॥ द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चकं च
शतं समम् । मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः ॥१४२॥

अर्थ-सत्पुरुषों के धर्म का स्मरण कर (यहों का नाम ले) दो रुपया
सैकड़ा व्याज ग्रहण करे। दो रुपया सैकड़ा व्याज ग्रहण करने वाला उस धन
से पापी नहीं होता ॥१४१॥ ब्राह्मणादि वर्णों से क्रम से दो, तीन, चार और
पांच रुपये सैकड़ा माहवारी व्याज ग्रहण करे ॥१४२॥

नखेवाधौ सोपकारे कौसीदौ वृद्धिमाप्नुयात् । न चाधेः कालसं-
रोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः ॥१४३॥ न भोक्तव्यो बलादाधिर्भुञ्जानो
वृद्धिमुत्सृजेत् । मूल्येन तोपयेच्चैनमाधिस्तेनोन्यथा भवेत् ॥१४४॥

अर्थ-(भूमि गौ धन आदि) भोगयुक्त पदार्थ बन्धक गिरवी रखे तो पूर्वो-
क्त व्याज न ग्रहण करे और बहुत दिन होने पर भी उस के अन्य को दे देने या
बेचने का (धनी को) अधिकार नहीं है ॥१४३॥ आधि (गिरवी की चीज़) को
जबरदस्ती भोग न करे। यदि भोग करे तो व्याज छोड़ देवे या मूल्य से उस
(वस्तुस्वामी) को (उन बल्लालङ्कारादि को भोगने से जो घाटा हो गया है,
उस का मूल्य देकर) प्रसन्न करे, नहीं तो बन्धकचोर कहलावे ॥१४४॥

आधिश्चोपनिधिश्चोभौ न कालात्ययमर्हतः । अवहार्यौ भवेतां तौ
दीर्घकालमवस्थितौ ॥१४५॥ संप्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति
कदाचन । धेनुरुष्ट्रो वहन्श्चोयश्च दम्यः प्रयुज्यते ॥१४६॥

अर्थ-आधि=बन्धक (गिरवी) और उपनिधि (अमानत=प्रीतिपूर्वक
उपभोग के लिये दी हुई वस्तु) इन दोनों में काल बीतने से स्वत्व नष्ट नहीं
होता। बहुत दिन की भी रखी को जब स्वामी चाहे तब ले सकता है ॥१४५॥
प्रीतिपूर्वक (अन्यों से) उपभोग किये जाते गाय, ऊँट, घोड़ा, बैल आदि
कामों में लाये जावें तो इन पर का स्वामित्व नहीं जाता रहता ॥१४६॥
यत्किञ्चिद्दशवर्षाणिसन्निधौ प्रेक्षते धनीः । भुज्यमानं परैस्तूष्णीं
न स तल्लब्धुमर्हति ॥१४७॥ अजडश्चेदपौ गण्डो विषये चास्य
भुज्यते । भग्नं तद्व्यवहारेण भोक्ता तद्द्रव्यमर्हति ॥१४८॥

अर्थ—यदि किसी वस्तु को अन्य लोग दश वर्ष तक वर्तते रहें और उस का स्वामी चुपचाप देखता रहे तो फिर वह उसे नहीं पा सकता ॥ १४७ ॥
जो (वस्तुस्वामी) पागल नहो और न पौगण्ड (बालक) हो और उसी के सामने वस्तु को पर पुरुष भोगता रहे, तो अदालत से उस का अधिकार नहीं रहता किन्तु भोक्ता ही उस को पाने योग्य है ॥ १४८ ॥

आधिःसीमा बालधनं निक्षेपोपनिधी स्त्रियः राजस्वं श्रोत्रि-
यस्वं च न भोगेन प्रणश्यति १४९ यः स्वामीनाऽननुज्ञातमाधिं
भुङ्क्ते विचक्षणः तेनार्धवृद्धिर्भोक्तव्या तस्य भोगस्य निष्कृतिः १५०

अर्थ—अन्धक (गिरजी), सीमा, बालधन, धरोहर, प्रीतिपूर्वक भोगार्थ दिया धन, स्त्री और राजा का धन तथा श्रोत्रिय का धन, इन को (दश वर्ष) भोगने से भी भोग करने वाला नहीं पा सकता (इस से आगे १ पुस्तक में एक श्लोक अधिक है) ॥ १४९ ॥ जो चालाक मनुष्य आधि (गिरजी) को विना स्वामी के कहे भोगता है, उसे उस भोग के बदले आधा सूद लेना चाहिये ॥ १५० ॥

कुसीदवृद्धिद्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहता । धान्ये सदे लवे बाह्ये
नातिक्रामति पञ्चताम् ॥ १५१ ॥ कृतानुसारादधिका व्यतिरिक्ता
न सिद्ध्यति । कुसीदपथमाहुस्तं पञ्चकं शतमर्हति ॥ १५२ ॥

अर्थ—(रुपये का) सूद एक बार लेने पर मूल धन से दूने से अधिक नहीं हो सकता और धान्य, वृक्ष के मूल और फल, ऊन और वाहन, पांच गुने से अधिक नहीं हो सकते ॥ १५१ ॥ ठहराये से अधिक व्याज शास्त्र के विपरीत नहीं मिल सकता । व्याज का मार्ग इसी को कहा है कि (अधिक से अधिक) पांच रुपये सँकड़ा लिया जा सकता है ॥ १५२ ॥

नातिसांवत्सरी वृद्धिं न चादृष्टां पुनर्हरेत् । चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः
कारिता कायिका च यः ॥ १५३ ॥ ऋणं दातुमशक्तो यः कर्तुमिच्छेत्
पुनः क्रियाम् । स दत्त्वा निर्जिता वृद्धिं करणं परिवर्तयेत् ॥ १५४ ॥

अर्थ—एक वर्ष हो जाने पर (जो माहवारी सूद ठहरा हो, ग्रहण करले) अधिक समय न बढ़ावे, और सूद पर सूद और माहवारी सूद और सूद के दशव से ऋण कराके उस पर सूद और शरीर से कोई काम सूद में न ले ॥ १५३ ॥

जो ऋण देने को असमर्थ है और फिर से हिसाब करना चाहे, वह चढ़ा हुआ सूद देकर दूसरा करण (क्रागज=तमस्सुक) बदल देवे ॥ १५३ ॥

अदर्शयित्वा तत्रैव हिरण्यं परिवर्तयेत् । यावती संभवेद्वृद्धि-
स्तावतीं दातुमर्हति ॥१५४॥ चक्रवृद्धिं समारुढो देशकालव्यव-
स्थितः । अतिक्रामन्देशकालौ न तत्फलमवाप्नुयात् ॥ १५५ ॥

अर्थ—यदि सूद भी न दे सके तो सूद के धन को मूल में जोड़ देवे और फिर जितनी संख्या व्याज सहित हो उतनी देने योग्य है ॥१५४॥ चक्रवृद्धि का आश्रय करने वाला महाजन देश काल से नियमित हुआ ही फल पाये, किन्तु नियत देश वा काल को उल्लङ्घित करने वाले फल को नहीं प्राप्त हो, (नियाद गुजरने पर हकदार न रहे) ॥ १५५ ॥

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः । स्यापयन्ति तु यां वृद्धिं
सा तत्राधिगमं प्रति ॥१५६॥ योयस्य प्रतिभूस्तिष्ठेद्दर्शनायेह
मानवः । अदर्शयन् स तं तस्य प्रयच्छेत्स्वधनादुणम् ॥१५७॥

अर्थ—समुद्रपथ के यान में कुशल और देश काल अर्थ के जानने वाले (अर्थात् इतनी दूर, इतने दिन तक, इस काम के करने में, यह लाभ होता है, इस को जानने वाले महाजन) जिस वृद्धि का स्यापन करते हैं, वही उसमें प्रमाण है ॥१५६॥ जो मनुष्य जिस का हाज़िर करने के लिये प्रतिभू (ज़ामिन) हो, वह उस को सामने न करे तो अपने पास से उस का ऋण दे ॥१५७॥

प्रातिभाठयं वृथादानमाक्षिकं सौरिकंचयत् । दण्डशुल्कावशेषं
च न पुत्रोदातुमर्हति ॥१५८॥ दर्शनप्रातिभाठये तु विधिः स्यात्
पूर्वचोदितः । दानप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत् ॥१५९॥

अर्थ—प्रतिभू होने (ज़मानत) का धन और वृथा दान तथा जुवे का रुपया मद्य का रुपया और दण्ड शुल्क का शेष, (ये सब पिता के मरने पर उस के बदले) पुत्र देने योग्य नहीं है ॥१५८॥ सामने कर देने के प्रातिभाठय (ज़मानत) में ही पूर्वोक्त विधि है (अर्थात् पिता की ज़मानत पिता ही देवे) और धन देने का प्रतिभू (ज़ामिन) मरजावे तो उस के वारिसों से भी दिलावे ॥ १५९ ॥

अदातरि पुनर्दाता विज्ञातप्रकृतावृणम् । पश्चात्प्रतिभुविप्रेते
परीप्सेत्केन हेतुना ॥१६१॥ निरादिष्टधनश्चेत्तु प्रतिभूः स्याद-
लंघनः । स्वधनादेव तद्व्याप्तिरादिष्ट इति स्थितिः ॥१६२॥

अर्थ—अदाता प्रतिभू (जिस ने देने की जमानत न की हो किन्तु अधमर्ण
को सामने कर देना मात्र स्वीकार किया हो । जिस की प्रतिज्ञा दाता ने
जान भी रखी है (कि वह देने का प्रतिभू नहीं बना था) उस के मर जाने
पश्चात् (उस के पुत्रादि दायादों से) दाता अपना ऋण किस हेतु से बाना
चाहे ? (किसी से भी नहीं) ॥१६१॥ यदि [प्रतिभू] (जामिन) को अधमर्ण
रुपया सौंप गया हो इसलिये प्रतिभू के पास वह रुपया हो, पर अधमर्ण ने
आज्ञा न दी हो [कि तुम उत्तमर्ण को देदेना, तौ वह] निरादिष्ट प्रतिभू
(जामिन) अपने पास से अवश्य उत्तमर्ण का ऋण देवे । यह निर्णय है ॥१६२॥
मत्तोन्मत्तात्ताध्यधीनैर्बालेन स्थविरेण वा । असंबद्धकृतश्चैव
व्यवहारो न सिद्ध्यति ॥१६३॥ सत्या न भाषा भवति यदापि स्यात्
प्रतिष्ठिता । बहिश्चेद्भाष्यते धर्माब्धियताद्वयावहारिकात् ॥१६४॥

अर्थ— मत्त, उन्मत्त, श्रान्त, परतन्त्र, बाल और बृहों का तथा पूर्वापर विरुद्ध
किया हुआ व्यवहार सिद्ध नहीं होता ॥१६३॥ आपस की भाषा (शर्त वा इक-
रार) चाहे लिखा पढ़ी से वा जवानी ठहरी भी हो तौ भी यदि धर्म (कानून)
या परम्परा के रिवाज के विरुद्ध ठहरी हो तौ सच्ची नहीं मानी जाती ॥१६४॥
योगाधमनविक्रोतं योगदानप्रतिग्रहम् । यत्र वाप्युपधिं पश्ये-
त्तत्सर्वं विनिवर्तयेत् ॥१६५॥ ग्रहीता यदि नष्टः स्यात्कुटुम्बार्थं
कृतो व्ययः । दातव्यं बान्धवैस्तत्स्यात्प्रतिभक्तैरपि स्वतः ॥१६६॥

अर्थ—बल से किये हुवे बन्धक (गिरवी), विक्रय, दान, प्रतिग्रह और
निक्षेप=धरोहर भी लौटा देवे ॥१६५॥ कुटुम्ब के लिये ऋण लेकर व्यय करने
वाला यदि मरजावे तौ उस के बान्धव विभाग किये हुवे वा न विभाग
किये हुवे हों अपने धन में से उस के बदले ऋण देवें ॥ १६६ ॥

कुटुम्बार्थं ध्यधीनोपिव्यवहारं यमाचरेत्स्वदेशे वा विदेशे वा
तं ज्यायान्न विचालयेत् ॥१६७॥ बलादुक्तं बलाद्भुक्तं बलादपि
लेखितम् । सर्वान्वलकृतानप्यनिकृतान्मनुरब्रवीत् ॥ १६८ ॥

अर्थ-जो कोई अधीन (पुत्रादि) भी कुटुम्ब के लिये स्वदेश वा विदेश में कुछ व्यवहार=लेन देन करले तो उस का बड़ा (अभिठाता) उसे विचलित न करे (कमूल ही करे) ॥ १६७ ॥ बलात्कार से दिया, बलात्कार से भोग किया और बलात्कार से जो कुछ लिखाया तथा बलात्कार से कराये सब काम नहीं किये के समान (मुक्त) मनु ने कहे हैं ॥ १६८ ॥

त्रयः परार्थे क्रियन्ति साक्षिणः प्रतिभू कुलम् । चत्वारस्तूपचो-
यन्ते विप्रआढ्योऽणिहूतृपः ॥ १६९ ॥ अनादेयं नाददीत परिक्षी-
णोऽपि पार्थिवः । न चादेयं समृद्धोऽपि सूक्ष्ममप्यर्थमुत्सृजेत् ॥ १७० ॥

अर्थ-तीन दूसरे के लिये क्लेश पाते हैं साक्षी, प्रतिभू तथा कुल । और चार दूसरे के कारण बढ़ते हैं ब्राह्मण, धनी, यनिया और राजा ॥ १६९ ॥ क्षीण धन वाला भी राजा लेने के अयोग्य धन को न ग्रहण करे और समृद्ध भी (राजा) उचित थोड़े धन को भी न छोड़े ॥ १७० ॥

अनादेयस्य चादानादादेयस्य च वर्जनात् । दौर्वलयं ख्यायते
राज्ञः स प्रेत्येह च नश्यति ॥ १७१ ॥ स्वादानाद्वर्णसंसर्गाच्च बलानां
च रक्षणात् । बलं संजायते राज्ञः स प्रेत्येह च वर्धते ॥ १७२ ॥

अर्थ-ऋष्याह के ग्रहण तथा ग्राह्य के त्याग से राजा की दुर्बलता (बील) प्रसिद्ध हो जाती है । इस कारण वह इस लोक और परलोक में नष्ट होता है ॥ १७१ ॥ (न्यायोचित) धन के ग्रहण करने और वर्णों के नियम में रखने और निर्बलों के संरक्षण से राजा को बल होता है । इस से वह (राजा) इस लोक तथा परलोक में वृद्धि पाता है ॥ १७२ ॥

तस्मादमइव स्वामी स्वयंहित्वा प्रिया प्रियो वर्तेत याम्ययावृत्त्या
जितक्रोधो जितेन्द्रियः ॥ १७३ ॥ यस्त्वधर्मेण कार्याणि मोहात्कु-
र्यान्नराधिपः । अचिरात्तंदुरात्मानं वशे कुर्वन्ति शत्रवः ॥ १७४ ॥

अर्थ-इस लिये यमराज के मुख्य राजा जितक्रोध और जितेन्द्रिय होकर अपने प्रिय अप्रिय को छोड़कर यमराज (न्यायी ईश्वर) के सी (सब में सम) वृत्ति से वर्ते ॥ १७३ ॥ जो राजा अज्ञानवश अधर्म से व्यावहारिक कार्य करता है, उस दुष्टात्मा को थोड़े ही दिनों में शत्रु वश में कर लेते हैं ॥ १७४ ॥

कामक्रोधौ तु संयम्य योऽर्थान् धर्मेण पश्यति । प्रजास्तमन-
वर्त्तन्ते समुद्रमिव सिन्धवः ॥ १७५ ॥ साधयन्तं छन्देन वेदयेदुनिकं
नृपे । स राज्ञा तच्चतुर्भागं दायस्तस्य च तद्वनम् ॥ १७६ ॥

अर्थ—जो (राजा) काम क्रोधों को छोड़ कर धर्म के कार्यों को देखता
है, प्रजा उस के अनुकूल रहती है, जैसे समुद्र के नदियां ॥ १७५ ॥ जो अधमर्ण
स्वतन्त्रता से अपना रुपया वसूल करते हुवे उत्तमर्ण की राजा से सूचना
(शिकायत) करे, उस अधमर्ण से राजा वह रुपया और उस का चतुर्थांश
दण्ड अधिक दिलावे ॥ १७६ ॥

कर्मणापि समं कुर्यादुनिकायाधमर्णिकः । समो वृष्टजातिस्तु
दद्याच्छूरेयांस्तुतच्छनैः ॥ १७७ ॥ अनेन विधिनाराजा मिथो विव्र-
दत्तां नृणाम् । साक्षिप्रत्ययसिद्धानि कार्याणि समतां नयेत् ॥ १७८ ॥

अर्थ—समान जाति वा हीन जाति (करजदार, महाजन का रुपया न
देसके तौ) काम करके पूरा करदेवे और उत्तम जाति धीरे २ रुपया दे देवे
॥ १७७ ॥ राजा परस्पर भगड़ा करने वाले मनुष्यों के मुकद्दमे कागज आदि
और गवाहों से ऐसे बराबर न्याय को प्राप्त करे ॥ १७८ ॥

कुलजे वृत्तसंपन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि । महापक्षे धनिन्यार्थे
निक्षेपं निक्षिपेद्बुधः ॥ १७९ ॥ यो यथा निक्षिपेद्बुस्ते यमर्थं यस्य
मानवः । स तथैव ग्रहीतव्यो यथा दायस्तथाग्रहः ॥ १८० ॥

अर्थ—सत्कुल में उत्पन्न हुवे, सदाचारी, धर्मात्मा, सत्यभाषण करनेवाले,
बड़े पक्ष वाले, धनवान्, आर्य के पास बुद्धिमान् पुरुष धरोहर रखे ॥ १७९ ॥
जो मनुष्य जिस प्रकार जिस द्रव्य को जिस के हाथ रखे, उस को उसी
प्रकार ग्रहण कराना योग्य है । जैसा देना, वैसा लेना, ॥ १८० ॥

यो निक्षेपं वाच्यमानो निक्षेप्तुर्न प्रयच्छति । स याच्यः प्राड्वि-
वाकेन तन्निक्षेप्तुरसन्निधौ ॥ १८१ ॥ साक्ष्यभावे प्रणिधिभिर्वयो-
रूपसमन्वितैः । अपदेशैश्च संन्यस्य हिरण्यं तस्य तत्त्वतः ॥ १८२ ॥

अर्थ—जो धरोहर रखने वाले की धरोहर मांगने पर नहीं देता, उस से
न्यायकर्त्ता राजपुरुष धरोहर रखने वाले के पीछे (सामने नहीं) मांगे ॥ १८१ ॥

यदि धरोहर रखने वाले का कोई सादी न हो तो राजा अपने नीकरों से जो कि अवस्था और स्वरूप से भले मानुष प्रतीत हों, उन के हाथ बहाने बनवा कर (कि हमारे धन की धरोहर रख लीजिये, हमारे यहां इस की रक्षा नहीं हो सकती इत्यादि) अपना धन उस धरोहर न देने वाले के यहां रखवावे जैसे कि ठीक २ धरोहर रखी जाती हैं ॥ १८२ ॥

सयदिप्रतिपद्येत यथान्यस्तं यथाकृतम् । न तत्र विदंते किञ्चि-
द्व्यत्परैरभियुज्यते ॥१८३॥ तेषां न दद्याद्ददितु तद्विरण्यं यथा-
विधि । उभौ निगृह्य दाप्यः स्यादिति धर्मस्य धारणा ॥१८४॥

अर्थ—यदि वह (राजा का भेजा हुआ पुरुष) ज्यों का त्यों अपनी धरोहर मांगने से पा जावे तो राजा जानले कि और लोगों ने जो धरोहर न देने की नालिश (अभियोग) की है, उन का उस पर कुछ नहीं चाहिये ॥१८३॥ और यदि उन (राजपुरुषों) का यथाविधि धरोहर न देवे तो राजा पकड़वा कर उस से दोनों को दिलावे (अर्थात् पहिली भी नालिश सच समझे) यह धर्म का निर्णय है ॥ १८४ ॥

निक्षेपोपनिधी नित्यं न देयौ प्रत्यनन्तरे । नश्यतो विनिपाते ता-
वनिपाते त्वनाशिनौ ॥१८५॥ स्वयमेव तु धोदद्यान्मृतस्य प्रत्यन-
न्तरे । न स राज्ञा नियोक्तव्यो न निक्षेपतुश्च बन्धुभिः ॥१८६॥

अर्थ—धरोहर और मँगनी धरने और देने वाले के वारिसों को न दे और यदि धरने वाला और मँगनी देने वाला बिना अपने वारिसों को कहे मर जावे तो वे धरोहर और मँगनी नष्ट होजाती है, परन्तु जीवते हुवे अविनाशी हैं ॥१८५॥ जो स्वयं ही मरे हुवे के वारिसों को रखने वाला उस का धरोहर वा मँगनी का धन दे देवे तो राजा और धरोहर वाले वारिसों को कुछ रोक टोक (मदाखलत) करनी योग्य नहीं है ॥ ॥१८६॥

अच्छलेनैव चान्निच्छेत्तमर्थं प्रीतिपूर्वकम् । विचार्य तस्य वा
वृत्तं साम्नैव परिसाधयेत् ॥१८७॥ निक्षेपेष्वेव सर्वेषु विधिः स्यात्त्व-
रिसाधने । समुद्रे नापनुयात्किञ्चिद्वादि तस्मान्न संहरेत् ॥१८८॥

अर्थ-यदि उस के पास द्रव्य हो तो छलरहित प्रीतिपूर्वक ही लेना चाहे वा इस का वृत्तान्त समझ कर सीधेपन से ही उस से प्राप्त (वरासद) करे ॥१८९॥ इन सब धरोहरों में सही करने की यह विधि है । और (मुहर) चिन्हसहित दिये हुवे में यदि कुछ मुहर (चिन्ह) को हरण न करे तो कुछ शङ्का नहीं पाई जाती ॥ १८८ ॥

चौरैर्हतं जलेनोढमग्निना दग्धमेव वा । न दद्यादादितरमात्स
न संहरति किञ्चन ॥ १८९ ॥ निक्षेपस्यापहर्तारमऽनिक्षेपार-
मेव च । सर्वैरुपायैरऽन्विच्छेच्छपथैश्चैव वैदिकैः ॥ १९० ॥

अर्थ-जो चोरों ने चुराया और जो पानी में डूब गया तथा आग में जल गया, वह द्रव्य धरनेवाला न देवे, यदि उस में से उस ने स्वयं कुछ नहीं लिया है तो ॥ १८९ ॥ धरोहर के हरण करने वाले और धरोहर विना रक्खे मांगने वाले को राजा सम्पूर्ण (सामादि) उपायों और वैदिक शपथों (हलफों) से पता लगाने का उद्योग करे ॥ १९० ॥

योनिक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते । तावुभौ चौरवच्छा-
स्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम् ॥ १९१ ॥ निक्षेपस्यापहर्तारं तत्समं
दापयेद्दमम् । तथोपनिधिहर्तारमविशेषेण पार्थिवः ॥ १९२ ॥

अर्थ-जो धरोहर नहीं देता और जो विना रक्खे जाल करता है वे दोनों चोर के समान दण्ड देने योग्य हैं वा उस धन के समान जुर्माना देने योग्य हैं ॥१९१॥ धरोहर (अमानत) हरण करने वाले को राजा उसी के समान दण्ड देवे तथा पूर्वोक्त उपनिधि के हरण करने वाले को भी यह दण्ड देवे ॥१९२॥

उपधाभिश्च यः कश्चित्परद्रव्यं हरेन्नरः । ससहायः स हन्तव्यः
प्रकाशं विविधैर्वधैः ॥ १९३ ॥ निक्षेपो यः कृतो येन यावांश्च कुल
सन्निधौ । तावानेव स विज्ञेयोऽत्रिभुवन्दण्डमर्हति ॥ १९४ ॥

अर्थ-("तुम पर राजा अग्रसन्न है, उस से हम तुम को बचते हैं, हमको धन दो" इत्यादि धोखा वा दबाव) उपधा देकर दूसरे का धन जो कोई लेता है वह सहायकों सहित नाना प्रकार की ताड़ना देकर प्रत्यक्ष मारने योग्य है ॥ १९३॥ जो सुवर्णादि जितना जितने साक्षियों के सामने धरोहर रक्खा हो

उस में (तौल का बखेड़ा हाने पर) साक्षी जितना कहे, उतना ही जानना चाहिये (उस में) तकरार करने वाला दण्ड परने योग्य है ॥ १९४ ॥

मिथोदायःकृतोयेन गृहीतोमिथएव वा । मिथएव प्रदातव्यो
यथादायस्तथा ग्रहः॥१९५॥निक्षिप्तस्यधनस्यैवं प्रीत्योपनिहि-
तस्य च । राजा विनिर्णयं कुर्यादक्षिणवन्त्यासधारिणम् ॥१९६॥

अर्थ—जिस ने एकान्त में धरोहर रखी और लेने वाले ने भी एकान्त में ली हो, वह एकान्त ही में देने योग्य है। जैसे लेवे वैसे देवे ॥ १९५ ॥ ध-
रोहर का धन और प्रीति से उपभोग के लिये रखे धन का राजा धरो-
हरधारी को पीड़ा न देता हुआ ऐसे निर्णय करे ॥ १९६ ॥

धिक्रीणीते परस्य स्वं योऽस्वामी स्वाम्यसंमतः । न तं नयेत सा-
क्ष्यं तु स्तेनमस्तेनमानिनम् ॥१९७॥ अत्रहार्योभवेच्चैव सान्त्रयः
षट्शतं दम् । निरन्वयोऽनपसरः प्राप्नोति स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥१९८॥

अर्थ—दूसरे की वस्तु जिसने बिना स्वामी की आज्ञा के बेची हो, आपने को साहु मानने वाले उस चोर को साक्षी न करे ॥ १९७ ॥ दूसरे की वस्तु का बेचने वाला यदि धनस्वामी के वंश में हो तो उसे छः सौ पण दण्ड दे और यदि सम्बन्धी न हो तथा बेचने को प्रतिनिधि (मुद्दार) न हो तो चोर के समान अपराधी है ॥ १९८ ॥

अस्वामिना कृतोयस्तु दायोविक्रयएव वा ।

अकृतः स तु विज्ञेयोव्यवहारे यथा स्थितिः ॥ १९९ ॥

अर्थ—बिना स्वामी जो दिया तथा बेचा, वह सब व्यवहार की जैसी मर्यादा है तदनुसार दिया वा बेचा नहीं समझा जावे ॥

(१९९ से आगे १३ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:—

[अनेन विधिना शारता कुर्वन्नास्वामिविक्रयम् ।

अज्ञानाज्ज्ञानपूर्वं तु चौरवद्दण्डमर्हति] ॥

उक्त विधि से राजा अस्वामिविक्रयकर्ता को शासन करे यदि बिना जाने किसी ने अस्वामिविक्रय किया हो, परन्तु जान बूझ कर करने वाला चोर के तुल्य दण्ड योग्य है ॥ १९९ में “दायोविक्रयएववा=क्रयोविक्रयएववा १ पाठभेद भी चार पुस्तकों में देखा जाता है) ॥ १९९ ॥

संभोगोदृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित् ।

आगमः कारणं तत्र न संभोग इति स्थितिः ॥ २०० ॥

अर्थ—जिस वस्तु का संभोग तौ देखा जाता हो और क्रयादि आगम नहीं, वहां आगम प्रमाण है, संभोग नहीं। यह शास्त्र की मर्यादा है (अर्थात् जिस ने जिस वस्तु को खरीदने आदि के उचित [जादज] द्वार से नहीं पाया, केवल भोग रहा है, उस में खरीदने आदि से प्राप्त करने वाला ठीक समझा जायगा। भोक्ता नहीं) ॥ २०० ॥

श्रिक्रयादोधनं किञ्चिद् गृह्णीयात्कुलसन्निधौ। क्रयेण स विशुद्धं हि न्यायतो लभते धनम् ॥ २०१ ॥ अथ मूलमनाहार्यं प्रकाशक्रय शोधितः । अदण्ड्यो मुच्यते राज्ञा नाष्टको लभते धनम् ॥ २०२ ॥

अर्थ—जो कुल के सामने बेचने से खरीद कर कुछ धन ग्रहण करे, वह खरीदारी को सिद्ध करके राजा के न्याय से उस धन को पाता है ॥ २०१ ॥ विना स्वामी बेचने वाले से प्रत्यक्ष खरीद करने वाला शुद्ध पुरुष यदि बेचने वाले को न भी ला सके तो भी राजा का अदण्ड्य है। परन्तु नष्ट धन का स्वामी उस धन को (खरीदने वाले से) पाता है ॥ २०२ ॥

नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रयमर्हति ।

न चासारं न च न्यूनं न दूरेण तिरोहितम् ॥ २०३ ॥

“अन्यां चेद्दृशयित्वाऽन्यावोढुः कन्या प्रदीयते ।

उभे ते एकशुल्केन बहेदित्यब्रवीन्मनुः ॥ २०४ ॥

अर्थ—एक वस्तु दूसरी के रूप में मिलती हो तो भी उस को उस के धोके से बेचना योग्य नहीं है और न सही हुई, न तोल में कम और न विना दिखाये ढकी को बेचना योग्य है ॥ २०३ ॥ “ठहराव में किसी और कन्या को दिखावे और विवाह समय वर को अन्य कन्या देदे तो वे दोनों कन्याएँ एक ही ठहरावे मूल्य पर विवाह ले, ऐसा मनु ने कहा था” (मनु ने कन्या विक्रय वर्जित किया है, इस लिये भी यह वचन मनु का नहीं माना जा सकता) ॥ २०४ ॥ तोन्मत्ताया न कुप्टन्या न च या स्पृष्टमैथुना । पूर्वं दोषानभिख्याप्य प्रदाता दण्डमर्हति ॥ २०५ ॥ ऋत्विग्यद्वितीयज्ञे स्वकर्म परिहापयेत् । तस्य कर्मानुरूपेण देयोऽशः सह कर्तृभिः ॥ २०६ ॥

अर्थ-पगली, कोढ़िन और योनिबिद्धा कन्या के दोषों को प्रथम न बता कर कन्या का दाता दण्ड के योग्य है ॥ २०५ ॥ यज्ञ में वरणा किया हुआ ऋत्विक् (बीमारी आदि से) कुछ कर्म करके लोड़ दे ती उस को काम किये के अनुसार कर्त्ताओं के साथ दक्षिणा का अंश देना योग्य है ॥ २०६ ॥

दक्षिणासु च दत्तासु स्वकर्म परिहापयन् । कृत्स्नमेव लभेतां ग-
मन्थेनैव च कारयेत् ॥ २०७ ॥ यस्मिन् कर्मणि यास्तु स्युः कृत्वाः
प्रत्यङ्गदक्षिणाः । स एव ता आददीत भजेरन्सर्व एव वा ॥ २०८ ॥

अर्थ-दक्षिणा दे देने पर (याजक व्याधि आदि से पीड़ित हो ने के कारण) अपने कर्म को समाप्त न करे तौ संपूर्ण दक्षिणा पावे और शेष कर्म को दूसरे से करा देवे ॥ २०७ ॥ जिस कर्म में जो प्रत्यङ्ग दक्षिणा कहीं हैं, उन को यही उस कर्म का कर्त्ता लेवे, अथवा बांट कर ग्रहण करले ॥ २०८ ॥

रथं हरेत वाध्वर्युर्ब्रह्माधाने च वाजिनसू होता वापि हरेदश्व-
मुद्धाता चाप्यनः क्रये ॥ २०९ ॥ सर्वेषामधि नो मुख्यास्तथार्धेना-
धि नोऽपरे । तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थ्यांशाश्च पादिनः ॥ २१० ॥

अर्थ-आधान में रथ को अध्वर्यु ग्रहण करे और ब्रह्मा अश्व को और होता भी अश्वको और उद्धाता सोमक्रय धारण करने के लिये शकट (गाड़ी) को ग्रहण करे ॥ २०९ ॥ संपूर्णों में दक्षिणा का आधा भाग लेने वाले (चार) मुख्य ऋत्विज् होते हैं और उस से आधी दक्षिणा ग्रहण करने वाले दूसरे (चार) ऋत्विज् होते हैं । ऐसे ही तीसरे भाग को ग्रहण करने वाले (चार) और चतुर्थ को ग्रहण करने वाले (चार, ऐसे सोलह ऋत्विक् होते हैं) ॥ २१० ॥

संभूय स्वानि कर्माणि कुर्वद्भिरिह मानवैः । अनेन विधियो-
गेन कर्त्तव्यांशप्रकल्पना ॥ २११ ॥ धर्मार्थेन दत्तं स्यात्कस्मैचि-
दाचते धनम्पश्चाच्च न तथा तत्स्यान्नदेयं तस्य तद्वेन ॥ २१२ ॥

अर्थ-मिल कर काम करने वाले मनुष्यों को यहां इस विधि से बांट करना योग्य है ॥ २११ ॥ जिस ने किसी मांगने वाले को धर्मार्थ जो धन दे दिया, फिर वह उस का दुवारा दान नहीं कर सकता क्योंकि वह दिया हुआ धन उस का नहीं रहा ॥ २१२ ॥

यदिसंसाधयेत्तत्तु दर्पाहोभेनवापुनः। राज्ञादाप्यः सुवर्णं स्या-
त्तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः॥२१३॥ दत्तस्यैषोदिता धर्म्या यथाव-
दनपक्रिया। अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपक्रियाम्॥२१४॥

अर्थ—यदि दान किये हुवे धन को लोभ से वा अहङ्कार से छीने तो
राजा उस चोरी की निष्कृति को “सुवर्ण” का दण्ड दे ॥ २१३ ॥ यह दिये
हुवे के उलट फेर करने का ठीक २ धर्मानुकूल निर्णय कहा। इस के उप-
रान्त वेतन (तन्द्वाह) न देने का निर्णय करता हूं ॥ २१४ ॥

भृतो नार्त्तान् कुर्यादोदर्पात्कर्म यथोदितम्। स दद्व्यः कृष्णाला-
न्यष्टौ न देयं चास्य वेतनम्॥२१५॥ आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन्यथा-
भाषितमादितः। स दीर्घस्यापि कालस्य तल्लभतैव वेतनम्॥२१६॥

अर्थ—जो नौकर दिना बीमारी के अहङ्कार से कहे हुवे काम को न करे,
वह आठ “ कृष्णल ” दण्ड के योग्य है। और वेतन भी उस को न देवे
॥२१५॥ यदि व्याध्यादि पीडारहित नौकर जैसा काम कहा वैसा ठीक ठीक
करता रहे तो बीमार होने पर बहुत दिन का भी वेतन पावे ॥ २१६ ॥

यथोक्तमार्तः सुस्थो वा यस्तत्कर्म न कारयेत्। न तस्य वेतनं देय-
मल्पो न स्यापि कर्मणः॥२१७॥ उपधर्मोऽखिलेनोक्तो वेतनाऽदान
कर्मणः। अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्मं समयभेदिनाम् ॥ २१८ ॥

अर्थ—जो काम जैसा ठहरा हो वैसा स्वयं बीमार हो और दूसरे से भी न
करावे या स्वस्थ (तन्दुरुस्त) हुवा आप न करे तो उस के थोड़े ही काम शेष
रहने पर भी सब काम का वेतन न देना चाहिये ॥२१७॥ वेतन के न देने का यह
संपूर्ण धर्म कहा, अब इस के आगे प्रतिज्ञाभेदियों का धर्म कहता हूं—॥२१८॥

योग्रामदेशसंघानां कृत्वा सत्येन संविदम्। त्रिसंवदेन्नरो लोभा-
त्तराष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥२१९॥ निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभि-
चारिणम्। चतुःसुवर्णान्पणिनष्काञ्छतमानं च राजतम्॥२२०॥

अर्थ—जो मनुष्य ग्राम वा देश के समूहों का सत्य से समय (इफ़रार,
प्रतिज्ञा, ठेका वा पहा) करके लोभ के कारण उस को छोड़ देवे तो उस को
राजा राज्य से निकाल दे ॥२१९॥ और उक्त समयव्यभिचारी को पकड़वा कर
राजा चार सुवर्ण और छः निष्क और १ चांदी का शतमान दण्ड दे ॥२२०॥

एतद्वृण्विधिं कुर्याद्दुर्मिकः पृथिवीपतिः । ग्रामजातिसमूहेषु
समयव्यभिचारिणाम् २२१ क्रीत्वा विक्रीय वा किञ्चिदस्येहा-
नुशयोभवेत् । सोऽन्तर्दशाहः । तद्द्रव्यं दद्याच्चैवाद्दीत च ॥ २२२ ॥

अर्थ—धार्मिक राजा ग्राम और जाति के समूहों में प्रतिज्ञा के द्यभिचार करने वालों को ऐसे दण्ड देवे ॥ २२१ ॥ कोई द्रव्य खरीद कर वा बेच कर दण्ड दिन के बीच में पसन्द न हो तो वापिस करदे और ले सकता है ॥ २२२ ॥

परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत् । आददानोददच्चैव
राज्ञादण्ड्यः शतानिषट् ॥ २२३ ॥ यस्तु दोषवर्तो कन्यामनाख्याय
प्रयच्छति । तस्य कुर्यान्नृपोदण्डं स्वयं पणवति पणान् ॥ २२४ ॥

अर्थ—दण्ड दिन के ऊपर न देवे न दिलावे, नहीं तो देने और लेने वाले दोनों राजा से ६०० पण के दण्डयोग्य हैं ॥ (२२३ से आगे दो पुस्तकों में ३ श्लोक तथा एक पुस्तक में पहला एक ही श्लोक अधिक है । परन्तु कुछ विशेष प्रयोजनीय नहीं होने से हमने उद्धृत नहीं किये) ॥ २२३ ॥ जो दोष वाली कन्या का बिना कहे विवाह करता है, उस पर राजा आप ६ पण दण्ड करे ॥ २२४ ॥

अकन्येति तु यः कन्यां ब्रूयाद्द्वेषेण मानवः । स शतं प्राप्नुयादण्ड
तस्यादोषमदर्शयन् ॥ २२५ ॥ पाणिग्रहणिकामन्त्राः कन्यारवेत्र
प्रतिष्ठिताः । ना कन्यासुक्लचिन्तृणां लुप्तधर्मक्रिया हि ताः ॥ २२६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य द्वेष से कन्या को अकन्या (दुष्टा) कहे, वह सौ पण दण्ड पावे, यदि उस के कन्यात्वभङ्ग के दोष को न निह करे ॥ २२५ ॥ क्योंकि मनुष्यों के पाणिग्रहणसम्बन्धी वैदिक मन्त्र कन्या के ही विषय में कहे हैं, अकन्या के विषय में कहीं नहीं । क्योंकि विवाह के पूर्व दूषित कन्याओं की धर्मक्रिया लुप्त हो जाती है ॥ २२६ ॥

पाणिग्रहणिकामन्त्रा नियतंदारलक्षणम् । ते पां निष्ठा तु विज्ञेया
विद्वद्भिः सप्तमे पदे ॥ २२७ ॥ यस्मिन्यस्मिन्कृते कार्ये यस्येहानु-
शयोभवेत् । तस्मिन् विधानेन धर्मे पथि निवेशयेत् ॥ २२८ ॥

अर्थ—पाणिग्रहण के मन्त्र निश्चय दार (स्त्री) हो जाने के लक्षण हैं । उन मन्त्रों की समाप्ति सप्तपदी के ७ वें पद में विद्वानों को जाननी चाहिये

॥ २२७ ॥ जिस जिस किये काम में पीछे पसन्द न हो उस को राजा इस (उक्त) विधि से धर्ममार्ग में स्थापन करे ॥ २२८ ॥

पशुषु स्वामिनां चैव पालानां च व्यतिक्रमे । विश्वादां संप्रवक्ष्यामि
यथावदुर्मतस्त्वतः ॥ २२९ ॥ दिवा वक्तव्यता पाले रात्रौ स्वामिनि
तद्गृहे । योगक्षेमेऽन्यथा चेत्तु पालो वक्तव्यतामियात् ॥ २३० ॥

अर्थ—पशुओं के विषय में पशुस्वामी और पशुपालों के बिगाड़ में यथा-
वत धर्मतत्त्व के विवाद कहता हूँ—॥ २२९ ॥ दिन में घरवाहे पर और
रात्रि में स्वामी के घर में स्वामी पर जवाबदेही है । और कुछ चारे की
कमी आदि हो तो भी जवाबदेह घरवाहा हो ॥ २३० ॥

गोपः क्षीरभृतो यस्तु स दुह्याद्दशतो वराम् । गोस्वाम्यनुमते भृत्यः
सा स्यात्पालेऽभृते भृतिः ॥ २३१ ॥ नष्टं विनष्टं कृमिभिः श्वहतं
विपमे मृतम् । हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यात्पाल एव तु ॥ २३२ ॥

अर्थ—जो गोपाल दूध पर ही भृत्य हो, वह स्वामी की अनुमति से १०
गीशों में श्रेष्ठ १ गी को भृति (तनखाह) के लिये दोहन करले, वही उस
का वेतन है । (उसी एक गी के दोहन से दश गाय का पालन करे) ॥ २३१ ॥
जो पशु खोया जावे या कीड़े पड़कर खराब हो जावे, कुत्तों से मारा जावे
या पाँव ऊपर नीचे पड़ने से मर जावे, या पुरुषार्थहीन हो जावे तो (स्वामी
को) गोपाल ही पशु देवे ॥ २३२ ॥

विघुष्य तु हतं चौरैर्न पालो दातुमर्हति । यदि देशे च काले च
स्वामिनः स्वस्य शंसति ॥ २३३ ॥ कर्णौ चर्मचबालांश्च बस्तिं स्नायुं
च रोचनाम् । पशुषु स्वामिनां दद्यान्मृतेष्वङ्गानि दर्शयेत् ॥ २३४ ॥

अर्थ—यदि चोर जबरदस्ती छीन लेती गोपाल को (पशु देना) योग्य नहीं
है, यदि अपने स्वामी से उस का वृत्तान्त उचित देश काल में कह दे ॥ २३३ ॥
और यदि स्वयं पशु मर जावे तो उन के अङ्ग स्वामी को गोपाल दिखला दे
और कान, त्वचा, बाल, बस्ति, स्नायु और रोचना; स्वामी को दे देवे ॥ २३४ ॥

अजात्रिकेतुसंरुद्धे वृकैः पाले त्वनायति । यां प्रसह्य वृको हन्यात्
पाले तत्किल्बिषं भवेत् ॥ २३५ ॥ तासां चेदश्वरुद्धानां चरन्तीनां
मिथो वने । यामुत्प्लुत्य वृको हन्यान्नपालस्तत्र किल्बिषी ॥ २३६ ॥

अर्थ—बकरी और भेड़ को भेड़िये रोकलें और चरवाहा छुड़ाने को न जावे, इस पर जिन को भेड़िया मार डाले, उन का पातक चरवाहे को हो ॥ २३५ ॥ परन्तु यदि उन (चरवाहे से) घेरी हुई बकरी भेड़ों को एकाएक आकर भेड़िया मार डाले तौ उस का पातकी चरवाहा न हो ॥ २३६ ॥

धनुःशतंपरीहारोग्रामस्य स्यात्समन्ततः । शम्यापातास्त्रयो वाऽपि त्रिगुणोनगरस्य तु ॥ २३७ ॥ तत्राऽपरिवृतंधान्यं विहिंस्युः पशवो यदि । न तत्र प्रणयेदृण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम् ॥ २३८ ॥

अर्थ—ग्राम के आस पास चार सौ हाथ वा ३ वार लाठी फेंकने की दूरी तक छुटी भूमि (परिहार) और नगर के आस पास उस की त्रिगुनी रखनी उचित है ॥ २३७ ॥ उस परिहार स्थान में बाहरहित धान्य को यदि पशु नष्ट करें तौ राजा चरवाहों को दण्ड न करे ॥ २३८ ॥

वृत्तिं तत्र प्रकुर्वीत यामुष्ट्रो न विलोकयेत् । छिद्रं च वारयेत्सर्वं श्वसूकरमुखानुगम् ॥ २३९ ॥ पथिक्षेत्रेपरिवृते ग्रामान्तीयेऽथवा पुनः । सपालः शतदण्डार्हो विपालांश्चारयेत्पशून् ॥ २४० ॥

अर्थ—उस खेत के बचाने को इतनी जंची (कांटों की) बाड़ करे जिस में जंट न देख सके और बीच के छिद्र रोके, जिन में कुत्ते और सुवर का मुख न जा सके ॥ २३९ ॥ बाड़ दिये हुवे मार्ग के पास के क्षेत्र में वा ग्रामसमीपवर्ती क्षेत्र में यदि चरवाहा साथ होने पर पशु खेत चरें तौ चरवाहा १०० पण दण्ड के योग्य है और विना चरवाहे पशुओं को खेत का रखवाला हांकदे ॥ २४० ॥ क्षेत्रेष्वन्येषु तु पशुः सपादं पणमहति । सर्वत्र तु सदोदेयः क्षेत्रिकस्येति धारणा ॥ २४१ ॥ अनिर्दशाहां गां सूतां वृषान्देवपशूंस्तथा । सपालान्वा विपालान्वा न दण्ड्यान्मनुरब्रवीत् ॥ २४२ ॥

अर्थ—अन्य खेतों को पशु भक्षण करे तौ चरवाहा सपाद (सवा) पण दण्ड के योग्य है और सब जगह जितनी हानि हुई हो उतनी खेत वाले को दे, यह निश्चय है ॥ २४१ ॥ दश दिन के भीतर की बियाई हुई गाय, सांड, देवतासंबन्धी पशु (जो देवकार्य हवनार्थ घृतादि सम्पादनार्थ गौ आदि पाले रहते हों) के रखवाले के साथ वा विना पशुपाल के किसी का खेत खाने पर (मुफ) मनु ने दण्ड नहीं कहा ॥ २४२ ॥

क्षेत्रियस्यात्यये दण्डोभागादृशगुणोभवेत् । ततोऽर्धदण्डोभू-
त्यानामज्ञानात्क्षेत्रियस्य तु ॥२४३॥ एतद्विधानमातिष्ठेद्वार्मिकः
पृथिवी पतिः । स्वामिनांच पशूनांच पालानांचव्यतिक्रमे ॥२४४॥

अर्थ—यदि खेत वाले के अपने पशु खेत चरें तौ उस को राजभाग से दण्डगुणा दण्ड हो और खेती वाले के अज्ञान से नौकरों की रक्षा में पशु भक्षक करें तौ उस से आधा दण्ड हो ॥२४३॥ स्वामी और पशु तथा चर-वाहे के अपराध में धार्मिक राजा इस प्रकार विधान करे ॥२४४॥

सीमांप्रतिसमुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः । ज्येष्ठे मासि नयेत् सीमां
सुप्रकाशेषु सेतुषु ॥२४५॥ सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्च तथा
किंशुकान् । शालमलीन्शालतालांश्च क्षीरिणश्चैव पादपान् ॥२४६॥

अर्थ—दो ग्रामों की सरहद्द के भगड़े उत्पन्न होने पर ज्येष्ठ मास में जब वृणादि शुष्क होने से सरहद्द के चिह्न उपकाशित हों तब उस का निश्चय करे ॥ २४५ ॥ सीमा (सरहद्द) का चिह्न बट, पीपल, पलाश, सेंभर, साल और ताल तथा अन्य दूध वाले वृक्ष स्थापित करे ॥ २४६ ॥

गुल्मान्वेणुंश्च विविधाञ्छमीवल्लीस्थलानि च । शरान्कुबुजगु-
ल्मांश्च तथा सीमा न नश्यति ॥२४७॥ तडागान्युदपानानि वाप्यः
प्रस्रवणानि च । सीमासंधिषु कार्याणि देवतायतनानि च ॥२४८॥

अर्थ—गुल्म, नाना प्रकार के वांस, शमी, बल्लीस्थल, शर और कुब्जकगुल्म स्थापित करे, जिस से सीमा नष्ट न हो ॥२४७॥ तड़ाग, कूप, बावड़ी, झरना और यज्ञमन्दिर सीमा के जोड़ों पर बनावे (जिस से कि बहुत से मनुष्य जलपानादि करने तथा यज्ञार्थ परम्परा से सुन के आते रहें, इसी से वे सब साक्षी हों) ॥२४८॥

उपच्छन्नानि चान्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत् । सीमाज्ञाने नृणां
वीक्ष्य नित्यं लोके विपर्ययम् ॥२४९॥ अश्मनोऽस्थीनि गोबालांस्तु-
पान्भस्मकपालिकाः । करीषमिष्टकाङ्गारांश्छर्कराबालुकास्तथा
॥२५०॥ ग्रानि चैव प्रकाराणि कालाद्भूमिर्न भक्षयेत् । तानि सन्धिषु
सीमायामप्रकाशानि कारयेत् ॥२५१॥ एतैर्लिङ्गैर्नयेत् सीमां राजा

विवदमानयोः । पूर्वभुक्त्या च सततमुदकस्यागमेन च ॥२५२॥

अर्थ—सीमा निर्णय में सर्वदा इस लोक में मनुष्यों को श्रम देख कर अन्य गूढ़ सीमाचिन्ह भी स्थापित करावे ॥२५२॥ पत्थर, हड्डी, गोघाल, तुप, भस्म, खपड़ा, आरना, ईंट, कोयला, शर्करा और बालु ॥२५०॥ और जोकि इस प्रकार की वस्तु हों, जिन्हें बहुत दिनों में भी भूमि न खा जावे, उनकी सीमा की सन्धियों में गुप्त करावे, ॥२५१॥ राजा इन चिन्हों और पूर्वभोग तथा नदी आदि से जल के मार्ग इत्यादि चिन्हों से लड़ने वालों की सीमा का निर्णय करे ॥२५२॥

यदि संशयएवस्याल्लिङ्गानामपि दर्शने । साक्षिप्रत्ययएवस्यात् सीमावादविनिर्णयः ॥२५३॥ ग्रामीयककुलानां च समक्षं सोमि साक्षिणः । प्रष्टव्याः सीमलिङ्गानि तयोश्चैव विवादिनोः ॥२५४॥

अर्थ—चिन्हों के देखने पर भी संशय रहे तो साक्षी के प्रमाण से सीमाविवाद का निश्चय करे ॥२५३॥ ग्राम के कुलों और वादी प्रतिवादियों (मुद्दईमुद्द 1 ई-लहं) के समक्ष सीमा में साक्षियों से सीमा के चिन्ह पूछने योग्य हैं ॥ २५४ ॥

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः समस्ताः सोमि निश्चयम् । निवध्नीयात्तथा सीमां सर्वांस्तान् श्रैव नामतः २५५ शिरोभिस्ते गृहीत्वोर्वीं स्रग्विणो रक्तवाससः । सुकृतैः शापिताः स्वैः स्वैर्नयंयुस्ते समञ्जसम् ॥२५६॥

अर्थ—सीमा के विषय में निश्चय के लिये वे पूछे हुवे लोग जैसा कहें वैसा ही सब सीमा को बांधे और उन सब साक्षियों के नाम लिखले ॥ २५५ ॥ वे साक्षी फूलों की माला और लाल कपड़ा पहिर कर शिर पर मिट्टी के ढेले चठा कर कहें कि जो हमारा सुकृत है सो निष्फल हो जो हम असत्य कहें ॥२५६॥

यथोक्तेन नयन्तस्ते पूयन्ते सत्यसाक्षिणः । विपरीतं नयन्तस्तु दाप्याः स्रुर्द्विशतं दमम् ॥२५७॥ साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः सामन्तवासिनः । सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयत्ना राजसन्निधौ ॥२५८॥

अर्थ—वे सत्यप्रधान साक्षी शास्त्रोक्त विधि से निर्णय में सहायकर रह कर निष्पाप होते हैं । और असत्य से निश्चय कराने वालों को दो सौ पण दण्ड दिलावे ॥ २५७ ॥ साक्षी के अभाव में आस पास के जमींदार ४ ग्राम के निवासी धर्म से राजा के सामने सीमा का निर्णय करें ॥ २५८ ॥

सामन्तानामभावे तु मौलानां सीम्नि साक्षिणाम् । इमानप्यनु-
युञ्जीत पुरुषान्वनगोचरान् २५९ व्याधांश्चाकुनिकान् गोपान्कैव-
र्तान्मूलखानकान् व्यालग्राहान् उच्छृत्तीनन्यांश्च वनचारिणः २६०

अर्थ—सामन्त=आस पास के जहू साक्षियों के अभाव में इन वनघर
पुरुषों को भी साक्षी करते:-॥ २५९ ॥ व्याध, शाकुनिक, गोप, कैवर्तक, मूल
खोदने वाले और सपेरे तथा उच्छृत्ति और दूसरे वनचारियों को ॥ २६० ॥
ते पृष्ठास्तु यथा ब्रूयुः सीमां सन्धिषु लक्षणम् । तत्तथा स्थापयेद् राजा
धर्मेण ग्रामयोर्द्वयोः ॥ २६१ ॥ क्षेत्रकूपतडागानामारामस्य
गृहस्य च । सामन्तप्रत्ययोज्ञेयः सीमासेतुविनिर्णयः ॥ २६२ ॥

अर्थ—वे पूछे हुवे लोग जैसे सीमासन्धि का लक्षण बतावें, राजा धर्म से
दोनों ग्रामों के बीच में सीमा का वैसे ही स्थापन करे ॥ २६१ ॥ क्षेत्र, कूप,
तडाग, याग और गृहों के सीमासेतु के निर्णय में सामन्त=समीपवासियों
की प्रतीति करे ॥ २६२ ॥

सामन्ताश्चेन्मृपा ब्रूयुः सेतौ विवदतां नृणाम् । सर्वे पृथक्पृथक्
दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥ २६३ ॥ गृहंतडागमारामं क्षेत्रं वा
भीषया हरन् शतानि पञ्चदण्ड्य स्यादज्ञानाद्द्विशतोदमः ॥ २६४ ॥

अर्थ—विवाद करने वाले मनुष्यों के सेतु निर्णय में यदि सामन्त झूठ
बोलें तो राजा सब को "मध्यमसाहस" ॥ २६३ ॥ अलग २ दण्ड दे ॥ २६३ ॥
घर तडाग याग वा क्षेत्र को भय देके जो हरण करे उस को पांच सौ पण
दण्ड दे और अज्ञान से हरण करने में दो सौ पण दण्ड दे ॥ २६४ ॥

सीमायामविपह्यायां स्वयं राजैव धर्मवित् ।

प्रदिशेद्भूमिमेतेषामुपकारादिति स्थितिः ॥ २६५ ॥

अर्थ—सीमा का कोई पर्याप्त प्रमाण न मिलने पर धर्म का जानने वाला
राजा स्वयं ही उपकार से इन की भूमि बांट दे । यह सयादा है ॥

(२६५ से आगे यह श्लोक दो पुस्तकों में अधिक है:-

[ध्वजिनी मत्सिनी चैव निधानीः भयवर्जिता ।

राजशासननीता च सीमा पञ्चविधा स्मृता] ॥ २६५ ॥

एषोऽखिलेनाभिहितो धर्मः सीमाविनिर्णये ।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वाक्पारुष्यविनिर्णयम् ॥२६६॥

अर्थ—यह संपूर्ण सीमानिश्चय का धर्म कहा, अब वाणी की कृता (गाली) का निर्णय कहता हूं ॥ २६६ ॥

शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमहंति । वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे शूद्रस्तु बधमहंति ॥ २६७ ॥ पञ्चाशद्ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिर्शंसने । वैश्ये स्यादर्धपञ्चाशच्च शूद्रे द्वादशकोदमः ॥ २६८ ॥

अर्थ—ब्राह्मण को गाली देने से क्षत्रिय सौ पण दण्डयोग्य है । और वैश्य भी डेढ़ सौ या दो सौ पण दण्ड, और शूद्र तो (बेंत आदि से) पीटने योग्य है ॥२६७॥ और ब्राह्मण क्षत्रिय को गाली दे तो पञ्चास पण, वैश्य को गाली दे तो पच्चीस पण और शूद्र को गाली दे तो बारह पण दण्डयोग्य है ॥२६८॥

समवर्णे द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे ।

वादेऽप्रवचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत् ॥ २६९ ॥

अर्थ—द्विजातियों को अपने समान वर्ण में गाली आदि देने पर बारह पण दण्ड दे (मा बहिन की गाली आदि) न कहने योग्य गाली प्रदानादि में उस का दूना (२४ पण दण्ड दे) ॥ इससे आगे ३ पुस्तकों में ये दो श्लोक अधिक पाये जाते हैं:—

[विप्रक्षत्रियवत्कायेऽपि दण्डो राजन्यवैश्योः । वैश्यक्षत्रिययोः शूद्रे विप्रेयः क्षत्रशूद्रयोः । समुत्कर्षापकर्षास्तु विप्रदण्डस्य कल्पनाः । राजन्यवैश्यशूद्राणां घनवर्जमिति स्थितिः] ॥२६९॥

“एकजातिर्द्विजातीस्तु वाचा दारुणया क्षिपन् ।

जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जयन्यप्रभवो हि सः ॥२७०॥”

अर्थ—“यदि शूद्र द्विजातियों को गाली दे तो जीभ के छेदन का दण्ड प्राप्त हो क्योंकि वह निकृष्ट से उत्पन्न है” (यह दो सौ ६८ के विरुद्ध है) ॥२७०॥

“नागजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः । निक्षेप्यो यो मयः शङ्कुज्वलक्लास्ये दशाङ्गुलः ॥२७१॥ धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः । तप्तमासे च ये तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः ॥ २७२ ॥”

अर्थ—“जो शूद्र द्विजातियों के नाम और जाति का उच्चारण करें उसके मुह में जलती हुई दश अङ्गुल की लोहे की कील/ठोकनी चाहिये॥२९१॥ जो शूद्र अहङ्कार से ब्राह्मणों को धर्म का उपदेश करे, उस के मुख और कान में राजा गरम तैल डलवावे ॥ (ये दोनों श्लोक भी २९० के तुल्य उसी शैली के हैं) ॥ २९२ ॥”

श्रुतं देशं च जातिं च कर्मशारीरमेव चावितथेन ब्रुवन्दर्पादाप्यः
स्याद्विशतं दमम् ॥२९३॥ काणं वाप्यथवा खज्जमन्यं वापि
तथाविधमातथ्येनापि ब्रुवन्दाप्योदण्डं कार्पापणावरम् ॥२९४॥

अर्थ—श्रुत=पढ़ाई=और देश तथा जाति और शारीरक कर्म झूठ बतलाने वाले को राजा दो सौ पण दण्ड दे ॥ २९३ ॥ काणा तथा लङ्गड़ा और अन्य कोई इसी प्रकार का अङ्गहीन हो, उस को सच भी उसी दोष से पुकारने वाला एक “ कार्पापण ” तक दण्ड के योग्य है ॥ २९४ ॥

मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम्। आक्षारयञ्छतं दाप्यः
पन्थानं चाददद्गुरोः॥२९५॥ ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां तु दण्डः कार्यो
विजानता । ब्राह्मणे साहसः पूर्वः क्षत्रिये त्वेव मध्यमः॥२९६॥

अर्थ—माता, पिता, स्त्री, भाई, पुत्र और गुरु को अभिशाप=गाली देने तथा गुरु को मार्ग न छोड़ने वाला सौ पण दण्ड के योग्य है ॥२९५॥ ब्राह्मण क्षत्रियों के आपस में गाली गलौज करने में धर्म का जानने वाला राजा दण्ड करे तो उस में (ब्राह्मण का अपराध हो तो) ब्राह्मण को “ प्रथम साहस ” तथा क्षत्रिय को “ मध्यम साहस ” दण्ड दे ॥ २९६ ॥

“ धिदूशूद्रयोरेवमेव स्वजातिं प्रति तत्त्वतः ।

छेदवर्जं प्रणयनं दण्डस्येति त्रिनिश्चयः ॥२९७॥ ”

“अर्थ—वैश्य शूद्रों को आपस में इसी प्रकार गाली गलौज करने में अपनी-२ जाति के प्रति ठीक छेदरहित दण्ड का प्रयोग करे । इस प्रकार निर्णय है ॥”

(२९७ का कथन बड़ा अस्तव्यस्त है । प्रथम ती वैश्य शूद्रों के गाली देने का कथन है, फिर स्वजाति का वर्णन है । परन्तु स्वजाति में शूद्र को जिह्वा-छेद दण्ड का विधान प्रदत्त २९० में भी नहीं । इस लिये स्वजाति में जिह्वा-छेदवर्ज कहना व्यर्थ है । तथा दण्ड का ठपौरा भी इस श्लोक में नहीं है ॥

इन कारणों से यह श्लोक २१० के तुल्य प्रक्षिप्त जान पड़ता है । इस के आगे भी एक श्लोक है जो कि केवल दो पुस्तकों में पाया जाता है । यथा—

[पतितं पतितेत्युक्त्वा चौरं चौरिति वा पुनः ।

वचनात्तुल्यदोषः स्यान्मिथ्या द्विर्दोषतां व्रजेत् ॥]

व्यवहारमयूख में इस को नारद का वचन बताया है) ॥ २११ ॥

एष दण्डविधिः प्रोक्तोवाक्पारुष्यस्य तत्त्वतः ।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दण्डपारुष्यनिर्णयम् ॥ २१२ ॥

अर्थ—यह वाक्पारुष्य की ठीक २ दण्डविधि कही । अथ दण्डपारुष्य विधि (मार पीट का निर्णय) कहता हूँ ॥ २१२ ॥

येन केनचिदङ्गेन हिंस्याच्चेष्टेष्टमन्त्यजः । छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनम् ॥ २१३ ॥ पाणिमुक्षम्य दण्डं वा पाणिच्छेदनमर्हति । पादेन प्रहरन्कोपात्पादच्छेदनमर्हति ॥ २१४ ॥

अर्थ—अन्त्यज लोग जिस किसी अङ्ग से द्विजातियों को मारें, उन का वही अङ्ग कटवाना चाहिये । यह (मुक्) मनु का अनुशासन है ॥ २१३ ॥ हाथ वा लाठी उठा कर मारें तो हाथ काटना योग्य है (न कि लाठी, काटी जावे) और क्रोध से लात मारें तो पैर काटना योग्य है ॥ २१४ ॥

सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः । कट्याकृताङ्गो निर्वास्यः स्फिचं वाऽस्यावकर्तयेत् ॥ २१५ ॥ अवनिष्टो वतोदर्पाद्द्वौष्ठौ छेदयेन्नृपः । अवमूत्रयतो मेढ्रमवशर्ध्वतो गुदम् ॥ २१६ ॥

अर्थ—उच्च के साथ बैठने की इच्छा करने वाले नीच की कटी (कमर) में (दाग) चिन्ह करके निकाल दे वा उस के चूतड़ को घोड़ा कटवा देवे (जिस में मरे न) ॥ २१५ ॥ अहङ्कार से नीच—उच्च के ऊपर थूके तो राजा उस के दोनों होठ काटे और उस पर मूत्र डाले तो लिङ्ग और पादे तो उस की गुदा का छेदन करे ॥ २१६ ॥ केशेषु गृह्णतो हस्तौ छेदयेदऽविचारयन् । पादयोर्दाढिकायां च ग्रीवायां वृषणेषु च ॥ २१७ ॥ त्वग्भेदकः शतं दण्ड्यो लोहितस्य च दर्शकः । मांसभेत्ता तु षणिष्कान्प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः ॥ २१८ ॥

अर्थ—अहङ्कार से (मारहालने का) बाल पकड़ने वाले के दोनों हाथों को बिना विचारे (शीघ्र) कटवादे और पैर, हाड़ी, ग्रीवा तथा अग्रहकोश को (मारहालने के विचार से) पकड़ने वाले के भी (हाथ कटवा दे) ॥२८३॥ त्वचा का भेद करने वाले पर भी पण दण्ड करना चाहिये और रक्त निकालने वाले को भी भी पण दण्ड दे तथा मांस के भेदन करने वाले को छः “निष्क” दण्ड दे और अस्थिभेदक को देश से निकाल दे ॥ २८४ ॥

वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगं यथा यथा । तथा तथा दमः कार्यौ हिंसायामिति धारणा ॥२८५॥ मनुष्याणां पशूनां च दुःखाय प्रहृते सति । यथा यथा महद्दुःखं दण्डं कुर्यात्तथा तथा ॥२८६॥

अर्थ—सम्पूर्ण वनस्पतियों का जैसा २ उपभोग करे वैसा २ हिंसा (हानि) में दण्ड दिया जावे । यह मर्यादा है ॥२८५॥ मनुष्यों और पशुओं की पीड़ा के लिये प्रहार करने पर जैसे २ पीड़ा अधिक हो वैसे २ दण्ड भी अधिक करे ॥२८६॥

अङ्गावर्षाडनायांच व्रणशोणितयोस्तथा । समुत्थानव्ययं दाप्यः सर्वदण्डमथापि वा ॥२८७॥ द्रव्याणि हिंस्याद्व्योयस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा । सतस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञो दद्याच्च तत्समम् ॥२८८॥

अर्थ—अङ्गों (चरणादि) और व्रण तथा रक्त की पीड़ा होने पर चोट करने वाला स्वस्थ होने का सम्पूर्ण स्वर्च दे अथवा पूर्ण दण्ड दे ॥ २८९ ॥ जो जिस की वस्तु का जान कर वा धेजाने नुकसान करे, वह उस को प्रसन्न करे और राजा को उसी के बराबर दण्ड दे ॥ २९० ॥

चर्मचार्मिकभाण्डेषु काष्ठलोष्टमयेषु च । मूत्रयात्पञ्चगुणोदण्डः पुष्पमूलफलेषु च ॥२९१॥ यानस्य चैव यातुश्च यानस्वामिन एव च । दशातिवर्तनान्याहुः शेषे दण्डो विधीयते ॥ २९० ॥

अर्थ—चाम और चमड़े के बने मशकादि वर्तन तथा मही और लकड़ी की बनी वस्तुओं के मोल से पांच गुणा दण्ड ले । और पुष्प मूल फलों में भी (ऐसा ही करे) ॥२९१॥ सवारी के चलाने वाले तथा स्वामी को दण्ड अवस्थाएँ (देखो अगला श्लोक) छोड़ कर शेष अवस्थाओं में दण्ड कहा है ॥ २९० ॥

विघ्ननास्ये भग्नयुगे तिर्यक् प्रतिमुखागते । अक्षभङ्गे च यानस्य चक्रभङ्गे तथैव च ॥२९१॥ छेदने चैव यन्त्राणां योक्तृरश्म्योस्त-

धैत्र च । आक्रन्दे चाप्यपैहीति न दण्डं मनुरब्रवीत् ॥२६२॥

अर्थ—नाथ के टूटने, जुवे के टूटने, नीचे कंचे के कारण टेढ़े वा अड़ कर चलने, रथ के धुरे टूटने और पहिये के टूटने—॥२६१॥ और यन्धनादि यन्त्र टूटने और गले की रस्सी टूटने, लगाम टूटने पर और “हटो बचो” ऐसा कहते हुवे (सारथि) से कोई किसी का नुकसान होने पर (मुक्त) मनु ने दण्ड नहीं कहा ॥ २६२ ॥

यत्रापवर्तते युग्यं वैगुण्यात्प्राजकस्य तु । तत्र स्वामी भवेद्दण्डो हिंसायां द्विशतं दमम् ॥२६३॥ प्राजकश्चेद्भवेदाप्तः प्राजको दण्ड-मर्हति युग्यस्याः प्राजकोऽनाप्ते सर्वे दण्ड्याः शतं शतम् ॥२६४॥

अर्थ—जहां सारथि के कुशल (होशियार) न होने से रथ इधर उधर चलता है, उस में हिंसा (नुकसान) होने पर, स्वामी दो सौ पण दण्ड के योग्य है ॥ २६३ ॥ और यदि सारथि कुशल हो तो वही (सारथि) दो सौ पण दण्ड योग्य है और सारथि कुशल न होते हुवे, यान पर सवार होने वाले सब सौ २ पण दण्ड योग्य हैं ॥ २६४ ॥

स चेत्तु पथिसंरुद्धः पशुभिर्वारथेन वा प्रमापयेत्प्राणभृतस्तत्र दण्डोऽविचारितः ॥२६५॥ मनुष्यमारणं क्षिप्रं चौरवत्किल्बिषं भवेत् । प्राणभृतसु महत्स्वर्थं गोगजोष्ठहयादिषु ॥ २६६ ॥

अर्थ—वह सारथि यदि पशुओं से वा अन्य रथ से रुके हुवे भी रथ को चलावे उस से जीव मरजावे तो उस को बिना विचारे दण्ड दे ॥२६५॥ (सारथि के रथ चलाने से) मनुष्य के मरजाने में चोर का (उत्तम साहस) दण्ड दे और बड़े पशु बैल हाथी संट घोड़ों के मरजाने पर अर्ध (पांच सौ पण) दण्ड दे ॥२६६॥

क्षुद्रकाणां पशूनां तु हिंसायां द्विशतोदमः । पञ्चाशत्तु भवेद्दण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु ॥२६७॥ गर्दभाजात्रिकानां तु दण्डः स्यात्पञ्च-माषिकः । माषकस्तु भवेद्दण्डः श्वसूकरनिपातिते ॥ २६८ ॥

अर्थ—क्षुद्र पशुओं की हिंसा में दो सौ (पण) दण्ड हो और अच्छे मृग पक्षियों (की हिंसा) में पचास (पण) दण्ड हो ॥ २६७ ॥ गधा, बकरी, भेड़ के मरजाने में पांच “माषक” दण्ड और कुत्ते वा सुवर के मरजाने में एक “माषक” दण्ड देवे ॥ २६८ ॥

भार्यापुत्रश्च दासश्च प्रेष्यो भ्राता च सोदरः ॥ प्राप्तापराधास्ताद्याः
स्यूरज्ज्वा वेणुदलेन वा ॥ २९९ ॥ पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्गे
कथञ्चन । अतोऽन्यथा तु प्रहरन् प्राप्ताः स्याञ्चौरकिल्बिषम् ३००

अर्थ—भार्या, पुत्र, दास, हलकारा और छोटा सहोदर भाई अपराध करने पर रस्सी वा बांस की छड़ी से ताड़नीय हैं ॥ २९९ ॥ (परन्तु इन को) शरीर के पीठ की ओर मारे, शिर में कभी न मारे । इस से विपरीत मारने वाला चोर का दण्ड पावेगा ॥ ३०० ॥

एषोऽखिलेनाभिहितो दण्डपारुष्यनिर्णयः । स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि
विधिं दण्डविनिर्णये ॥ ३०१ ॥ परमं यत्नमातिष्ठेत्स्तेनानां निग्रहे
नृपः । स्तेनानां निग्रहादस्य यशोराष्ट्रं च वर्धते ॥ ३०२ ॥

अर्थ—यह सम्पूर्ण मार पीट का निर्णय कहा । अब चोर के दण्ड का निर्णय कहता हूँ ॥ ३०१ ॥ राजा चोरों के निग्रह के लिये बड़ा यत्न करे । चोरों के निग्रह से इस का यश और राज्य बढ़ता है ॥ ३०२ ॥

अभयस्य हि योदाता स पूज्यः सततं नृपः । सत्रं हि वर्धते तस्य
सदैवाऽभयदक्षिणम् ॥ ३०३ ॥ सर्वतो धर्मपटुभागो राज्ञो भवति
रक्षतः । अधर्मादपि पटुभागो भवत्यस्य ह्यऽरक्षतः ॥ ३०४ ॥

अर्थ—जो अभय का देने वाला राजा है, वह सदा पूज्य है । उस का यह सत्र (यज्ञ) अभय रूपी दक्षिणा से वृद्धि को प्राप्त होता है ॥ ३०३ ॥ रक्षा करने वाले राजा को सब से धर्म का छठा भाग और रक्षा न करने वाले राजा को भी सब से अधर्म का छठा भाग मिलता है ॥ ३०४ ॥

यदधीते यद्वजते यदृदाति यदर्चति । तस्य पटुभागभाग्राजा
सम्यग्भवति रक्षणात् ॥ ३०५ ॥ रक्षन्धर्मेण भूतानि राजा
वर्ध्यांश्च घातयन् । यजतेऽहरहर्यज्ञैः सहस्रशतदक्षिणैः ॥ ३०६ ॥

अर्थ—जो कोई वेदपाठ, यज्ञ, दान, गुरुपूजनादि करता है, उस का छठा भाग अच्छे प्रकार रक्षा करने से राजा पाता है ॥ ३०५ ॥ प्राणियों की धर्म से रक्षा करता हुवा और वध्यों को दण्ड देता हुआ राजा सानो प्रतिदिन लक्षदक्षिणायुक्त यज्ञों को करता है ॥ ३०६ ॥

योऽरक्षन्बलिमादत्ते वारं शुल्कं च पार्यिवः। प्रतिभागं च दण्डं च
स सद्यो नरकं व्रजेत् ॥ ३०७ ॥ अरक्षितारं राजानं बलिपट् भाग
हारिणम् । तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम् ॥ ३०८ ॥

अर्थ—जो राजा न करता हुआ राजा धान्य का छटा भाग, चुट्टी कर
तथा दण्ड का भाग लेता है, वह शीघ्र नरक में जावेगा (४ पुस्तकों में—“प्रति
भोगम्” पाठ है) ॥ ३०७ ॥ जो राजा राजा नहीं करता और धान्य का छटा भाग
लेता है, उस को सब लोगों का सम्पूर्ण पाप ढोने वाला कहते हैं ॥ ३०८ ॥
अनपेक्षितमर्यादं नास्तिकं विप्रलुम्पकम् अरक्षितारमऽत्तारं
नृपं विद्यादधोगतिम् ॥ ३०९ ॥ अधार्मिकं त्रिभिर्न्यायैर्निगृह्य-
यात्प्रयत्नतः । निरेधनेन बन्धेन त्रिविधेन बन्धेन च ॥ ३१० ॥

अर्थ—(शास्त्र की) मर्यादा को उल्लङ्घन करने वाले, नास्तिक, अनुचित
दण्डादि धन को ग्रहण करने वाले, राजा न करने वाले (कर आदि) भक्षण
करने वाले राजा को अधोगामी जाने ॥ ३०९ ॥ अधार्मिक पुण्य का तीन
उपायों से यत्नपूर्वक निग्रह करे । एक कारागार (हवानात,) दूसरा बन्धन,
और तीसरा विविध प्रकार बध (वेत आदि लगवाना) ॥ ३१० ॥

निग्रहेण हि पापानां साधूनां संग्रहेण चाद्विजातयद्वेज्याभिः
पूयन्ते सततं नृपाः ३११ क्षन्तव्यं प्रभुणानित्यं क्षिपतां कार्यिणाम्
नृणाम् । बालवृद्धातुराणां च कुर्वता हितमात्मनः ॥ ३१२ ॥

अर्थ—पापियों के निग्रह और साधुओं के संग्रह से राजा सदा पवित्र होते
हैं । जैसे यज्ञ करने से द्विज ॥ ३११ ॥ (दुःख से) आक्षेप करने वाले कार्यिणों तथा
बाल वृद्ध आतुरों को अपने हित की इच्छा करने वाला राजा क्षमा करे ॥ ३१२ ॥
यः क्षिप्तो मर्षयत्यस्तेन स्वर्गं महीयता यस्तद्वैश्वर्षाक्ष क्षमते
नरकं तेन गच्छति ॥ ३१३ ॥ राजा स्तेनेन गन्तव्यो मुक्तकेशेन
धावता आचक्षणेन तत्स्तेनेनैव कर्माऽस्मि शाधि माम् ॥ ३१४ ॥

अर्थ—जो राजा दुःखियों से आक्षेप किया हुआ सहता है वह स्वर्ग में पूजा
जाता है और जो ऐश्वर्य के नद से क्षमा नहीं करता, उस से वह नरक को

जाता है ॥ ३१३ ॥ चोरी करने वाला सिर के बाल खोले हुये और दौड़ता हुआ राजा के पास जाकर उस चोरी को कहता हुआ यह कहे कि मुझे दण्ड दो, मैं इस काम का करने वाला हूँ ॥ ३१४ ॥

रक्वधेनादाय मुसलं लगुडं वापि खादिरम् ।

शक्तिं चोभयतस्तीक्ष्णामायसं दण्डमेव वा ॥३१५॥

अर्थ—खैर की लकड़ी के मूल का लट्ट, वा जिस में दोनों ओर धार हो ऐसी थरकी वा लोहे का दण्ड। कन्धे पर उठा कर (कहे कि इस से मुझे मारो। ३१५ से आगे एक पुस्तक में एक श्लोक अधिक मिलता है। यथा—

[गृहीत्वा मुसलं राजा सकृदुन्यात्तु तं स्वयम् ।

वधेन शुध्यते स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव वा] ॥३१५॥

शासनाद्वा त्रिमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद्विमुच्यते ।

अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम् ॥३१६॥

अर्थ—तब चोर शासन से वा छोड़ देने से चोरी के अपराध से छूट जाता है और यदि राजा उस को दण्ड न दे तो उस चोर के पाप को पाता है ॥३१६॥

अन्नादेभूणहामर्षिर्पत्यौभार्यापचारिणी।गुरौशिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्बिषम् ३१७ राजनिर्धूतदण्डास्तुकृत्वा पापानि मानवाः । निर्मला स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥३१८॥

अर्थ—भूणहत्या वाले का पाप उस के अन्न खाने वाले को और व्यभिचारिणी स्त्री का पाप पति को और शिष्य का पाप गुरु को तथा यज्ञ करने वाले का कराने वाले को (उपेक्षा करने से) लगता है। वैसे ही चोर का पाप (छोड़ने से) राजा को होता है ॥३१७॥ पाप करके भी राजा से उचित दण्ड पाये हुये मनुष्य, निष्पाप होकर स्वर्ग को जाते हैं। जैसे पुण्य करने से सन्त ॥३१८॥

यस्तु रज्जुं घटं कूपादुरेद्विन्दाच्चयः प्रपाम् सदण्डं प्राप्नुयान्माप तच्च तस्मिन्समाहरेत् ॥ ३१९ ॥ धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतो ऽभ्यधिकं वधः । शेषेऽप्येकादशगुणं दाप्यस्तस्य चतुर्द्वनम् ३२०

अर्थ—जो कुवे पर से रस्सी और घड़े को चुरावे और जो प्याऊ को तोड़े उस को सीने का एक “काप” दण्ड हो और उस रज्जु और घड़े को उसी

से रखवावे और प्याऊ को भी वही धनवावे ॥३१९॥ (बीस द्रोण का एक कुम्भ, ऐसे) दश कुम्भों से अधिक धान्य का चुराने वाला अधिक वध (पीटने) के योग्य है और शेष में उस का ११ गुणा धन दिलवावे ॥ ३२० ॥
तथा धरिममेयानां शतादभ्यधिके वधः । सुवर्णरजतादीना-
मुत्तमानांच वाससाम् ॥३२१॥ पञ्चाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदन-
मिष्यते । शेषे त्वेकादशगुणं मूल्यादृण्डं प्रकल्पयेत् ॥३२२॥

अर्थ—जैसे धान्य में वध कहा है, वैसे ही (तराजू वा कांटा) तुलादि से तोलने योग्य सुवर्ण चांदी आदि और उत्तम वस्त्र चुराने पर भी १०० से अधिक पर दण्ड जानो ॥३२१॥ और पचास (पल) से कम चुराने से हाथ काटने चाहिये । शेष (एक से उनचास तक) चुराने में उस के मूल्य से ११ गुणा दण्ड देवे ॥३२२॥
पुरुषाणांकुलीनानां नारीणांच विशेषतः । मुख्यानांचैव रत्नानां
हरणे वधमर्हति ॥ ३२३ ॥ महापशूनां हरणे शस्त्राणामौप-
धस्य च । कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत् ॥३२४॥

अर्थ—बड़े कुल के पुरुषों और विशेष कर स्त्रियों और अधिक मूल्य के रत्नों के चुराने में वध (देहदण्ड) योग्य है ॥ ३२३ ॥ बड़े पशुओं और शस्त्र तथा औषध के चुराने में काल और कार्य को देख कर राजा दण्ड देवे ॥ ३२४ ॥
गोषु ब्राह्मणसंस्थासु छूरिकायांश्च भेदने । पशूनां हरणे चैव
सद्यः कार्योर्धपादिकः ॥३२५॥ सूत्रकार्पासकिएवानां गोमयस्य
गुडस्य च । दध्नः क्षीरस्य तक्रस्य पानीयस्य तृणस्य च ॥३२६॥

अर्थ—ब्राह्मण की गौवों के हरण और नाक काटने और पशुओं के हरण में शीघ्र अर्धपाद के छेदन का दण्ड करे ॥ ३२५ ॥ सूत, कपास, मदिरा को गाद, गोबर, गुड़, दही, दूध, मठा, जल, तृण ॥ ३२६ ॥

वेणुवैदलभाण्डानां लवणानां तथैव च । मृण्मयानां च हरणे
मृदोभस्मन एव च ॥३२७॥ मत्स्यानां पक्षिणां चैव तैलस्य च
घृतस्य च । मांसस्य मधुनश्चैव यच्चान्यत्पशुसंभवम् ॥३२८॥

अर्थ—बांस की गली और बरतनों, नमक, मही के बरतनों की चोरी और मही, राख—॥३२७॥ सबली, पत्ती, तेल, घृत, मांस, मधु और जो कुछ पशु से उत्पन्न होता है—(घाम सींग आदि) ॥ ३२८ ॥

अन्येषांचैवमादीनामादानामोदनस्य चापक्वान्नानांच सर्वेषां
तन्मूल्याद्विगुणोदमः ॥३२९॥ पुष्पेषु हरिते धान्ये गुल्मवल्ली
नगेषु च । अन्येष्वपरिपूतेषु दण्डः स्यात्पञ्चकृष्णलः ॥३३०॥

अर्थ—और भी इसी प्रकार की खाने की चीजों, चावलों के भात और
सम्पूर्ण पक्वान्तों की भी चोरी में इन के मूल्य से दूना दण्ड होना चाहिये
॥ ३२९ ॥ पुष्पों और हरे धान्य तथा गुल्म वल्ली वृत्तों और अन्य जिन के
तुपादि दूर करके अमनियां नहीं किये गये (उन की चोरी करने वाले को)
पांच “ कृष्णल ” दण्ड हो ॥ ३३० ॥

परिपूतेषु धान्येषु शाकमूलफलेषु च । निरन्वये शतं दण्डः
साऽन्वयेऽर्धशतं दमः ॥३३१॥ स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म
यत्कृतम् । निरन्वयं भवेत्स्तेयं हत्वाऽप्ययते च यत् ॥३३२॥

अर्थ—पवित्र शोधित धान्य और शाक मूल फल के चुराने में, वंशसम्बन्ध-
रहितों को शत १०० दण्ड और वंश में चोर हों तो पचास ५० दण्ड हो ॥३३१॥
जो धान्यादि को सामने बल से जुटुम्बियों के समान छीन लेवे, वह “साहस”
है । और (स्वामी के पीछे) ऊपरियों के समान लेवे, वह चोरी है तथा
लेकर जो नकार करे वह भी चोरी ही है ॥ ३३२ ॥

यस्त्वेतान्यपकृप्तानि द्रव्याणि स्तेनयेन्नरः । तमाद्यं दण्डये-
द्राजा यश्चाग्निं चोऽयेदृगृहात् ॥३३३॥ येन येन यथाङ्गेन स्तेनो
नृपु विचेष्टते । तत्तदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥३३४॥

अर्थ—जो मनुष्य इन बनाई हुई चीजों और अग्नि को चुरावे उसको राजा
“प्रथम साहस” दण्ड दे ॥३३३॥ जिस २ अङ्ग से जिस २ प्रकार चोर चोरी करता
है, राजा उस का आगे को प्रसङ्गनिवारण के लिये वही अङ्ग द्दित्त करे ॥३३४॥
पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः । नाऽदण्ड्योनाम
राज्ञोऽस्तियः स्वधर्मे न तिष्ठति ३३५ कार्पापणं भवेदृण्यो यत्रान्यः
प्राकृतोजनः । तत्र राजा भवेदृण्यः सहस्रमिति धारणा ॥३३६॥

अर्थ—पिता आचार्य मित्र माता भार्या पुत्र और पुरोहित; इन में जो
स्वधर्म में न रहे, वह राजा को अदण्ड्य नहीं है (दण्ड्योऽप्य है) ॥३३५॥

जित अपराध में अन्य लोग “कार्पापण” दण्ड के योग्य हैं, उसी अपराध में राजा को “सहस्र पण दण्ड हो” यह मर्यादा है ॥ ३३६ ॥

अष्टापदं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किलिबपम् पोडशैव तु वैश्यस्य
द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य च ॥ ३३७ ॥ ब्राह्मणस्य चतुःपट्टिः पूर्णं वापि
शतं भवेत् । द्विगुणा वा चतुः पट्टिस्तद्विपगुणमिद्वि सः ॥ ३३८ ॥

अर्थ—शूद्र को चोरी में अठगुणा पाप होता है, वैश्य को सोलहगुणा, क्षत्रिय को बत्तीस गुणा ॥ ३३७ ॥ ब्राह्मण को चौंसठ गुणा, वा पूरा सौ गुणा, वा एक सौ अठ्ठाइस गुणा पाप होता है, क्योंकि वह चोरी के दोप गुण जानने वाला है ॥ ३३८ ॥

“वानस्पत्यं मूलफलं दार्वगन्थर्थं तथैव च ।

तृणं च गोभ्योग्रासार्थमस्तेयं मनुरब्रवीत्” ॥ ३३९ ॥

योऽदत्तादायिनो हस्तालिप्सेत ब्राह्मणो धनम् ।

याजनाध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव सः ॥ ३४० ॥

अर्थ—“वनस्पतिसम्बन्धी मूल फल और जलाने को काष्ठ और गायों के लिये घास, यह चोरी नहीं है, ऐसा मनु ने कहा है” ॥ ३३९ ॥ जो ब्राह्मण चोर के हाथ से यज्ञ कराने और पढ़ाने से भी धन छेने की इच्छा करे, तो जैसा चोर है वैसा ही वह है ॥ ३४० ॥

द्विजोऽध्वरगः क्षीणवृत्तिर्द्वाविक्षुद्वेचमूलके । आददानः परक्षेत्रा-
न्नादण्डं दातुमर्हति ॥ ३४१ ॥ असन्वितानां सन्वितानां च
मोक्षकः । दासाश्चरथहर्ता च प्राप्तः स्याच्चौरकिलिबपम् ॥ ३४२ ॥

अर्थ—खुर्च से तङ्ग मार्ग का चलने वाला द्विज दूसरे के खेत से दो गन्ने और दो मूली ग्रहण कर लेने वाला दण्ड देने योग्य नहीं है ॥ ३४१ ॥ खुले हुवे दूसरे के पशवादि का बांधने वाला और बंधों को खोल देने वाला और दास अश्व और रथ का हरण करने वाला चोर के दण्ड को प्राप्त हो ॥ ३४२ ॥

अनेन विधिनाराजा कुर्वाणः स्तेननिग्रहम् । यशोऽस्मिन् प्राप्नुया-
ल्लोके प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ३४३ ॥ ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेत्य सुर्यश्चा-
क्षयमव्ययम् । नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम् ॥ ३४४ ॥

अर्थ—इस प्रकार चोरों का निग्रह करने वाला राजा इस लोक में यश और परलोक में अनुत्तम सुख को पावेगा ॥ ३४३ ॥ इन्द्र के स्थान की इच्छा करने वाला और अक्षय यश का चाहने वाला राजा साहस करने वाले मनुष्य की क्षण भर भी उपेक्षा न करे (तुरन्त दण्ड दे) ॥ ३४४ ॥

वाग्दुष्टात्तरकराच्चैव दण्डेनैव च हिंसतः । साहसस्य नरः कर्त्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥ ३४५ ॥ साहसे वर्त्तमानं तु यो मर्षयति पार्थिवः । स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥ ३४६ ॥

अर्थ—वाक्पारुष्य (गाली गलौज) करने वाले, चोर तथा दण्ड द्वारा मारने वाले से “ साहस ” (ज़बरदस्ती) करने वाले मनुष्य को अधिक पापकारी जाने ॥ ३४५ ॥ साहस करने वाले को जो राजा क्षमा करता है वह शीघ्र विनाश और लोगों में द्वेष को प्राप्त होता है ॥ ३४६ ॥

न मित्रकारणं राजा त्रिपुलाद्वाधनागमात्समुत्सृजेत्साहसिकान्सर्वभूतभयावहान् ॥ ३४७ ॥ शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते । द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ॥ ३४८ ॥ आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च सङ्गरे स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन्धर्मेण न दुष्यति ॥ ३४९ ॥ गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् । आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ ३५० ॥

अर्थ—मित्र के कारण वा बहुत धन की प्राप्ति से भी राजा सब लोगों को भय देने वाले साहसी मनुष्यों को न छोड़े ॥ ३४७ ॥ ब्राह्मणादि तीन वर्गों को शस्त्र ग्रहण करना चाहिये, जिस समय कि वर्णाश्रमियों का धर्म रोक जाता हो और श्रेष्ठियों के मध्य विप्लव (बलवे) में ॥ ३४८ ॥ और अपनी रक्षा के लिये, दक्षिणा के छीनने पर, स्त्रियों और ब्राह्मणों की विपत्ति में धर्मानुसार शत्रुओं की हिंसा करने वाला दोषभागी नहीं होता ॥ ३४९ ॥ गुरु वा बालक वा बृद्ध वा बहुश्रुत ब्राह्मण, इन में कोई हो, जो आततायी होकर आवे, उस को राजा बिना विचारे (शीघ्र) मारे ॥

(३५० से आगे दो पुस्तकों में यह श्लोक अधिक पाया जाता है:—

अग्निदीगरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।

क्षेत्रदारहरश्चैव पडेते ह्याततायिनः ॥]

अग्नि से स्थानादि जलाने वाला, विष देने वाला, (मारने को) शस्त्र हाथ में लिये हुवे, धन छीनने वाला, खेत और स्त्री का हरने वाला, ये छः “आततायी” हैं ॥ इस में छः को आततायी कहने से जान पड़ता है कि बस ये ही आततायी हैं, विशेष नहीं । परन्तु किसी ने दो नीचे लिखे श्लोक आततायी के लक्षण के और भी बढ़ा दिये हैं जिन में से पहला ३ और दूसरा २ पुस्तकों में पाया जाता है:-

[उदयतासिर्विषाग्निभ्यां शापोदयतकरस्तथा । आथर्वणेन हन्ता च पिशुनश्चापि राजनि॥भार्यारिक्थापहारी च रन्ध्रान्वेषणतत्परः । एवमाद्यान्विजानीयात्सर्वानेवाततायिनः ॥]

अर्थात्-प्रहारार्थे खड्ग उठाने वाला, विष और अग्नि से मारने वाला, शाप के लिये हाथ उठाता हुवा, अथर्ववेद के मन्त्र से मारने वाला, राजा से झूठी चुगली करने वाला ॥ स्त्रीधन का छीनने वाला, छिद्र ढूँढने में तत्पर इत्यादि सभी आततायी समझने चाहियें) ॥ ३५० ॥

नाततायिवधे दोषोहन्तुर्भवति कश्चनाप्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युरस्तं मन्युमृच्छति॥३५१॥परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान्मृन्महीपतिः । उद्वेजनकरैर्दण्डैश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत् ॥ ३५२ ॥

अर्थ-लोगों के सामने वा एकान्त में मारने को तैयार हुवे के मारने में मारने वाले को कुछ भी दोष नहीं होता, क्योंकि वह क्रोध उस क्रोध को प्राप्त होता है ॥ ३५१ ॥ परस्त्रीसंभोग में प्रवृत्त पुरुषों को हराने वाले दण्ड देकर और अङ्ग भङ्ग करके राजा देश से निकालदे ॥ ३५२ ॥

तत्समुत्थोहि लोकस्य जायते वर्णसंकरः । येन मूलहरोऽधर्मः सर्वनाशाय कल्पते॥३५३॥परस्य पत्न्या पुरुषःसंभाषां योजयन् रहः । पूर्वमाक्षारितोदोषैः प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् ॥ ३५४ ॥

अर्थ-उसी (परस्त्रीगमन) से लोगों में वर्णसङ्कर उत्पन्न होते हैं क्योंकि मूल का नाश करने वाला अधर्म सब के नाश करने में समर्थ है ॥३५३॥पहले दबनाम हुवा पुरुष एकान्त में दूसरे की स्त्री के साथ बात चीत करे तो “ प्रथम साहस ” दण्ड पावे ॥ ३५४ ॥

यस्त्वनाक्षारितः पूर्वमभिभाषेत कारणात् न दोषं प्राप्नुयात्कि-
ञ्चिन्नहि तस्य व्यतिक्रमः ॥३५५॥ परस्त्रियं योऽभिवदेत्तीर्थेऽरण्ये
वनेऽपि वा । नदीनां वापि संभेदे स संग्रहणमाप्नुयात् ॥३५६॥

अर्थ—जो पहले से वदनाम नहीं है और किसी कार्य से लोगों के सामने
(परस्त्री से) बोले, वह दोष को प्राप्त न हो, क्योंकि उस का कोई अपराध
नहीं है ॥३५५॥ जो पराई स्त्री से तीर्थ वा अरण्य (जङ्गल) वा वन वा नदी
के सङ्गम में संभाषण करे उस को पर स्त्री हरण का अपराध हो ॥ ३५६ ॥

उपचारक्रियाकेलिः स्पर्शोभूषणवाससाम् । सहस्रद्वयान्नं
चैत्र सर्वसंग्रहणं स्मृतम् ॥३५७॥ स्त्रियं स्पृशेद्देशे यः स्पृष्टो वा
मर्पयेत्तया । परस्परस्यानुमते सर्वसंग्रहणं स्मृतम् ॥३५८॥

अर्थ—नाला चन्दनादि का भेजना, परिहास, आलिङ्गनादि करना, वस्त्र
आभूषण का स्पर्श करना, आसन तथा शय्या पर साथ रहना; इन सब
कामों को भी परस्त्रीसंग्रहण के समान कहा है ॥३५७॥ जो परस्त्री को शुद्ध
स्थान में स्पर्श करे और जो परस्त्री से छुवा छुवा आपस की
प्रसन्नता में सहन करे, यह सब परस्त्रीसंग्रहण कहा है ॥

३५८ से आगे १ श्लोक दो पुस्तकों में अधिक पाया जाता है:—

[कामाभिपातिनी या तु नरं स्वयमुपव्रजेत् ।

राज्ञा दास्ये निग्रोज्या सा कृत्वा तद्वोपघोषणम्]

जो स्त्री कान के वश स्वयं पर पुरुष को समीप जावे तौ राजा उस के
दोष की ननादी=डिंडिमा पिटवाकर दासियों में नौकर रखे) ॥३५८॥

“ अत्राह्वणः संग्रहणे प्राणान्तं दण्डमर्हति ।

चतुर्णामपि वर्णानां दारा रक्ष्यतमाः सदा ॥३५९॥”

भिक्षुका वन्दिनश्चैव दीक्षिताः कारवस्तथा ।

संभाषणं सह स्त्रीभिः कुर्युः प्रतिवारिताः ॥३६०॥

अर्थ—“आह्वण को छोड़ कर अन्य जो कोई परस्त्रीसंग्रहण करे वह प्राणान्त
दण्डयोग्य है क्योंकि चारों वर्णों की स्त्री सर्वदा बहुत करके रक्षा के योग्य हैं

(यह ३५० के विरुद्ध है) ॥ ३५९ ॥” भिक्षुक, बन्दी, दीक्षित और रसोई करने वाले परस्त्री के साथ निवारण न करने पर संभाषण कर सकते हैं ॥ ३६० ॥

न संभाषां परस्त्रीभिः प्रतिषिद्धः समाचरेत् । निषिद्धोभाषमाणस्तु सुवर्णं दण्डमर्हति ॥ ३६१ ॥ नैष चारणदारेषु विधिर्नात्मोपजीविषु । सज्जयन्ति हि ते नारीर्निगूढाश्चारयन्ति च ॥ ३६२ ॥

अर्थ—पराई स्त्री के साथ निषेध करने पर बात न करे और करे तो एक “सुवर्ण” दण्डयोग्य है ॥ ३६१ ॥ यह विधि चारण=नट गायकादि की स्त्रियों में नहीं है (अर्थात् इन से बोलने का निषेध नहीं है) तथा (पुत्रादि) जो अपने अधीन जीविका वाले हैं, उन में भी नहीं है । क्योंकि ये (चारणादि) छिपे हुवे आप ही स्त्रियों को सज्जित करके पर पुरुषों के साथ मिलाते हैं ॥ ३६२ ॥

किञ्चिदेव तु दाप्यः स्यात्संभाषांताभिराचरन् । प्रैष्यासु चैकभक्तासु ग्रहः प्रव्रजितासु च ३६३ योऽक्रामां दूषयेत्कन्यां स सदो वधमर्हति । सकामां दूषयंस्तु तयो न वधं प्राप्नुयान्नरः ॥ ३६४ ॥

अर्थ—परन्तु उन के साथ भी निर्जन देश में संभाषण करता हुवा कुछ थोड़ा दण्ड देने योग्य है । और एकभक्ता तथा विरक्ता के साथ भी संभाषण करने से थोड़ा दण्ड दे ॥ ३६३ ॥ जो (हीनजाति) इच्छा न करने वाली कन्या से गमन करे वह उसी समय वध के योग्य है और कन्या की इच्छा से गमन करने वाला सजातीय पुरुष वध के योग्य नहीं है (किन्तु अन्य दण्ड के योग्य है) ॥ ३६४ ॥

“कन्यां भजन्तीमुत्कृष्टं न किञ्चिदपि दापयेत् । जघन्यं सेवमानां तु संयतां वासयेद्गृहे ॥ ३६५ ॥ उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति । शुल्कं दद्यात्सेवमानः समाभिच्छेत्पिता यदि ॥ ३६६ ॥”

“अर्थ ब्राह्मणादि उत्तम के साथ सङ्गम करने वाली कन्या को थोड़ा भी दण्ड न देवे और हीनजाति से सम्बन्ध करने वाली को रत्ना से घर में रखे ॥ ३६५ ॥ उत्कृष्ट जाति वाली कन्या के साथ सङ्गम करने वाला हीनजाति पुरुष वध के योग्य है । और समान जाति में हो तो सेवन करने वाला, यदि उस कन्या का पिता स्वीकार करे तो शुल्क (मूल्य) दे” ॥ यह व्यभिचारप्रवर्तक है । यदि विवाहविषयक माना जावे तो दण्ड की आशङ्का भी व्यर्थ है ॥ ३६६ ॥

अभिपह्य तु यः कन्यां कुर्यादूर्पेण मानवः। तस्याशु कर्त्ये अङ्गुल्यौ
दण्डं चाहंति षट्शतम् ॥ ३६७ ॥ सकामां दूषयंस्तुल्यो नाङ्गुलि-
च्छेदमाप्नुयात्। द्विशतं तु दमं दाप्यः प्रसङ्गविनिवृत्तये ॥ ३६८ ॥

अर्थ—जो मनुष्य बलात्कार से कन्या को घमण्ड से बिगाड़े, उस की दो
अङ्गुली शीघ्र काट ली जावें और छः सौ पण दण्ड योग्य है ॥ ३६७ ॥ परन्तु
कन्या की इच्छा के साथ बिगाड़ने वाले सजातीय की अङ्गुलियों का छेदन न
हो, किन्तु प्रसङ्ग की निवृत्ति के लिये दो सौ पण दण्ड दिलाना चाहिये ॥ ३६८ ॥

कन्यैव कन्यां या कुर्यात्तस्याः स्याद्द्विशतोदमः। शुल्कं च द्विगुणं
ददाच्छिफाश्चैवाप्नुयाद्दश ॥ ३६९ ॥ या तु कन्यां प्रकुर्यात्स्त्री सा
सदोमौ एवमर्हति। अङ्गुल्योरेव वा छेदं खरेणोद्धनं तथा ॥ ३७० ॥

अर्थ—और कोई कन्या ही कन्या को (अङ्गुलियों से) बिगाड़े तो उस की
दो सौ पण दण्ड होना चाहिये, और कन्या के पिता को (जितना दहेज देना
पड़ता, अथ वतयोनित्व की शक्का से कदाचित् कोई न विवाहे, इस की
कनींड़ में देने के लिये) द्विगुण धन दण्डरूप शुल्क देवे और दश बेत खावे
॥ ३६९ ॥ और जो स्त्री कन्या को (उङ्गली) से बिगाड़े वह उसी समय शिर
मुंडाने योग्य है, वा उङ्गुलियों के कटवाने का दण्ड पावे और गधे पर चढ़ा
कर घुमानी योग्य है ॥ ३७० ॥

भर्तारं लङ्घयेद्या तु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता। तांश्च भिः खादयेद्राजा
संस्थाने बहुसंस्थिते ॥ ३७१ ॥ पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप आ-
यसे। अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ॥ ३७२ ॥

अर्थ—जो स्त्री प्रबल पिता वान्धव धनादि के अभिमान से पति को छोड़
कर दूसरे से सम्बन्ध करे उस को राजा बहुत आदमियों के बीच में कुत्तों से
नुचवावे ॥ ३७१ ॥ व्यभिचारी पापी मनुष्य को जलते लोहे की चारपाई पर
जलावे, सब लोग उस पर लकड़ियां डालें, उन में पाप करने वाला जले ॥ ३७२ ॥
संवत्सराभिषेकस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणोदमः। ब्राह्मण्या सह संवासे
चण्डाल्या तावदेव तु ॥ ३७३ ॥ शूद्रो गुप्तमङ्गुप्तं वा द्वैजातं
वर्णमावसन्। अङ्गुप्तमङ्गुप्तं सर्वैर्गुप्तं सर्वेण हीयते ॥ ३७४ ॥

अर्थ—परस्त्रीगमन करते २ दुष्ट पुरुष को एक वर्ष हो जावे तो उस पुन्य को पूर्वोक्त दण्ड से दूना दण्ड होना चाहिये और ब्राह्म्या तथा चण्डाली के साथ रहने में भी दूना दण्ड होना चाहिये ॥ ३७३ ॥ रक्षिता वा अरक्षिता द्विजाति वर्ण की स्त्री के साथ यदि शूद्र गमन करे, तो उस को अरक्षिता में अङ्गच्छेदन तथा सर्वस्वहरण दण्ड हो और रक्षिता में खय (शरीर तथा धनादि) से हीन कर दे ॥ ३७४ ॥

वैश्यःसर्वस्वदण्डःस्यात्संवत्सरनिरोधतः। सहस्रंक्षत्रियोदण्डो मौण्ड्यं मूत्रेण चार्हति ॥३७५॥ ब्राह्मणीं यदगुप्तां तु गच्छेतां वैश्यपार्थिवौ।वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात् क्षत्रियं तु सहस्रिणम् ॥३७६॥

अर्थ—वैश्य यदि एक वर्ष तक परस्त्री को घर में ढाळे रहे तो सर्वस्व हरणरूप दण्ड करना चाहिये। और क्षत्रिय सहस्र दण्ड और मूत्र से गिर मुंडाने योग्य है ॥ ३७५ ॥ और यदि अरक्षिता ब्राह्मणी से वैश्य क्षत्रिय गमन करे तो क्षत्रिय को सहस्र और वैश्य को पांच सौ दण्ड चाहिये ॥ ३७६ ॥

उभावपितुताश्चैव ब्राह्मण्यागुप्तयासह।विप्लुती शूद्रवदृण्डयौ दग्धव्यौवाकटाग्निना ॥३७७॥ सहस्रंब्राह्मणोदण्ड्योगुप्तां विप्रां बलाद्ब्रजन्।शतानिपञ्चदण्डयः स्यादिच्छन्त्यासहसंगतः ॥३७८॥

अर्थ—वे दोनों (क्षत्रिय वैश्य) रक्षिता ब्राह्मणी के साथ हुये तो शूद्रवत् दण्ड योग्य हैं। अथवा उन्हें चटाई में लपेट कर जला देवे ॥३७७॥ रक्षिता ब्राह्मणी से यदि ब्राह्मण बलात्कार से मैथुन करे तो सहस्र पण और चाहती हुई से करे तो पांचसौ पण दण्ड योग्य है ॥ ३७८ ॥

“मौण्ड्यं प्राणान्तिकोदण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते। इतरेषां तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत् ॥३७९॥ न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम्। राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात्समग्रधनमक्षतम् ॥३८०॥”

“अर्थ ब्राह्मण का गिर मुंडाना ही प्राणान्तिक दण्ड कहा है। अन्य वर्णों का प्राणदण्ड प्राणान्तिक ही है ॥३७९॥ सम्पूर्ण पापों में भी स्थित ब्राह्मण को कभी न सारे। किन्तु सम्पूर्ण धन के साथ बिना सारे पीटे राज्य से निकाल दे ॥” (ये दोनों ३७० से विरुद्ध हैं। तथा ३८१ में भी यही दशा है) ॥ ३८० ॥

“न ब्राह्मणवधाद्भूयानऽधर्मो विद्यते भुवि।

तस्मादस्य बधं राजा मनसापि न चिन्तयेत् ॥ ३८१ ॥”

वैश्यश्चेत्क्षत्रियां गुप्तां वैश्यां वा क्षत्रियो ब्रजेत् ।

यो ब्राह्मणायामगुप्तायां तावुभौ दण्डमर्हतः ॥२८२॥

अर्थ—“ब्राह्मण के वध से बड़ा कोई पाप पृथिवी में नहीं है, इस से राजा इस के वध का मन से भी चिन्तन न करे ॥२८१॥” रक्षिता क्षत्रिया से यदि वैश्य गमन करे वा वैश्या से क्षत्रिय गमन करे तौ जो अरक्षिता ब्राह्मणी से गमन में दण्ड कहा है, वही (३९६ के अनुसार) दोनों को हो ॥

(३८२ से आगे ११ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:—

[क्षत्रियां चैव वैश्यां च गुप्तां तु ब्राह्मणो ब्रजन् ।

न मूत्रमुगदः कर्त्तव्यो दाप्यस्तूत्तमसाहसम्] ॥

अर्थ—यदि ब्राह्मण, रक्षिता क्षत्रिया या वैश्या से गमन करे तौ मूत्रसे मुगदित न कराया जावे, किन्तु “उत्तमसाहस” (१००० पण) दण्ड दिलाया जावे ॥३८२॥

सहस्रं ब्राह्मणो दण्डं दाप्यो गुप्ते तु ते ब्रजन् । शूद्रायां क्षत्रियविशो
साहसो वै भवेद्दमः ॥ ३८३ ॥ क्षत्रियायामगुप्तायां वैश्ये पञ्च
शतं दमः । मूत्रेण मौण्ड्यमिच्छेत् क्षत्रियो दण्डमेव वा ॥ ३८४ ॥

अर्थ—रक्षिता क्षत्रिया और वैश्या से जो ब्राह्मण गमन करे तौ सहस्र पण दण्ड होना चाहिये और रक्षिता शूद्रा से क्षत्रिय वैश्य गमन करें तौ भी सहस्र दण्ड देना चाहिये ॥३८३॥ अरक्षिता क्षत्रिया के गमन से वैश्य को पांच सौ पण दण्ड और क्षत्रिय को पांच सौ पण धन दण्ड दे अथवा चाहे तौ मूत्र से मुगदन करावे ॥

(३८४ से आगे भी २॥ श्लोक २ पुस्तकों में अधिक हैं—

[शूद्रोत्पन्नां शपापीयान्न वै मुच्येत किल्बिषात् । तेभ्यो
दण्डाहृतं द्रव्यं न कोशे संप्रवेशयेत् ॥ अयाजिकं तु तद्राजा
दद्याद् भृतकवेतनम् । यथा दण्डगतं वित्तं ब्राह्मणेभ्यस्तु
लभ्येत ॥ भार्यापुरोहितस्तेना ये चान्ये तद्विधाजनाः] ॥ ३८४ ॥

अगुप्ते क्षत्रिया वैश्ये शूद्रां वा ब्राह्मणो ब्रजन् शतानि पञ्च दण्ड्यः
स्यात्सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियम् ॥ ३८५ ॥ यस्य स्तेनः पुरेनास्ति नान्य-
ल्लो गो न दुष्टवाक् । न साहसिक दण्डघ्नो स राजा शक्रलोकभाक् ॥

अर्थ—अरक्षिता क्षत्रिया वैश्या वा शूद्रा से ब्राह्मण गमन करे तो पांच सौ पण दण्ड और अन्त्यजा के साथ गमन में सहस्रपण दण्ड होना चाहिये ॥३८५॥ जिस राजा के राज्य में चोरी, परस्त्री गमन, गाली देने, साहस करने और मार पीट करने वाले पुरुष नहीं हैं, वह राजा स्वर्ग वा सत्यलोक का भागी होता है (एक पुस्तक में “ सत्यलोक ” पाठभेद है) ॥ ३८६ ॥

एतेषां निग्रहो राज्ञः पञ्चानां विषयेष्वेकः । साम्राज्यकृत्स जात्येषु लोके चैव यशस्करः ॥३८७॥ ऋत्विजं यरत्यजेद्वाज्यो याज्यं च त्विजं यजेद्वादिशक्तं कर्मण्यदुष्टं च तयोर्दण्डः शतं यतम् ॥३८८॥

अर्थ—इन पांचों का अपने राज्य में निग्रह करना राजा की अपने साथी राजाओं में साम्राज्य कराने वाला और लोगों में यश करने वाला है ॥३८७॥ जो यजमान ऋत्विज् को छोड़े जो कि कर्म करने में समर्थ और दुष्ट न हो और जो ऋत्विज् यजमान को छोड़े, उन दोनों को सौ २ पण दण्ड होना चाहिये ॥३८८॥

न मातान् पितान् स्त्रीं न पुत्रस्त्यागमर्हति । त्यजन्नपतिताने तान् राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥३८९॥ आश्रमेषु द्विजातीनां कार्ये विवदतां मिथः । न बिभ्रूयान् नृपो धर्मं चिकीर्षन् हितमात्मनः ॥३९०॥

अर्थ—माता पिता पुत्र और स्त्री त्याग करने के योग्य नहीं हैं । जो इन बिना पतित हुओं का त्याग करे उस को राजा छः सौ पण दण्ड दे ॥३८९॥ वानप्रस्थाश्रमी कार्य में परस्पर झगड़ा करने वाले द्विजों के बीच में, अपना हित करना चाहने वाला राजा धर्म (न्याय) न करे (अर्थात् ऐसे कामों में बलपूर्वक राजा का हस्तक्षेप न हो) ॥ ३९० ॥

यथाहमेतान्भ्यर्च्य ब्राह्मणैः सह पार्थिवः । सान्त्वेन प्रशमय्यादौ स्रग्धर्मं प्रतिपादयेत् ॥३९१॥ प्रतिवेश्यानुवेश्यौ च कल्याणं विंशतिद्विजैः । अर्हावभोजयन्निप्रो दण्डमर्हति माषकम् ॥३९२॥

अर्थ—जो जैसा पूजा के योग्य है उस की वैसी पूजा करके ब्राह्मणों के साथ प्रथम उनको समझावे, उस के अनन्तर स्वधर्म बता देवे ॥ ३९१ ॥ निरन्तर अपने मकान में रहने वाले, और कभी २ आने जाने वाले; इन दोनों योग्यों को उत्सव में बीस ब्राह्मणों के भोजनावसर में जो ब्राह्मण, भोजन न करावे तो उसे १ रौप्य माषक दण्ड देना योग्य है ॥ ३९२ ॥

श्रोत्रियः श्रोत्रियं साधुं भूतिकृत्येष्वभोजयन् तदन्तर्द्विगुणं दाप्यो
हिरण्यं चैव माषकम् ॥३९३॥ अन्योजडः पीठसर्पी सप्तत्यास्य-
विरश्च यः । श्रोत्रियेषूपकुर्वंश्च न दाप्याः केनचित्करम् ॥३९४॥

अर्थ—यदि श्रोत्रिय विभवकार्य में एक साधु श्रोत्रिय को भोजन न करावे
तौ उस अन्न से दूना अन्न और “ हिरण्यमाषक ” दण्ड दिलाना योग्य है
॥३९३॥ अन्य, वधिर, पङ्गु और सत्तर वर्ष का वृद्ध तथा श्रोत्रियों के उपकार
करने वाला, इन से किसी को कर दिलाना योग्य नहीं है ॥३९४॥

श्रोत्रियं व्याधितातौ च बालवृद्धावकिञ्चनम् । महाकुलीनमार्यं च
राजासंपूजयेत्सदा ॥३९५॥ शालमलीफलके श्लक्ष्णे नेनिज्यान्ने-
जकः शनैः । न च वासांसि वासोभिर्निर्हरेन्न च वासयेत् ॥३९६॥

अर्थ—श्रोत्रिय, रोगी, दुःखी, बालक, वृद्ध, दरिद्र और बड़े कुल वाले
आर्य का राजा सदा सम्मान करे ॥ ३९५ ॥ सेमर की चिकनी पटिया पर
धोबी धीरे धीरे कपड़ों को धोवे और दूसरे के कपड़ों से औरों के कपड़े न
बदले जावें और न बहुत दिन पड़े रखे ॥३९६॥

तन्तुत्रायोदशपलं दद्यादेकपलाधिकम् । अतोऽन्यथावर्तमानो
दाप्योद्वादशकं दमम् ॥३९७॥ शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्य-
विचक्षणाः । कुर्युरर्घ्यं यथापण्यं ततोविंशं नृपो हरेत् ॥ ३९८ ॥

अर्थ—जुलाहा दश १० पल सूत लेके एकादश ११ पल (मांडी से बढ़ने
के कारण) वस्त्र तौल देवे, इस से विपरीत करे तौ (राजा) बारह पण
दण्ड दिलावे ॥३९७॥ जो चुङ्गी आदि के विषय में कुशल और हर एक प्रकार
के लेने देने में चतुर हों उन सौदागरों को जो लाभ हो उस का बीसवां
भाग राजा ले ॥ ३९८ ॥

राज्ञः प्रख्यातभागडानि प्रतिषिद्धानि यानि च । तानि निर्हरतो
लोभात्सर्वहारं हरेन्नृपः ॥३९९॥ शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रय-
विक्रयी । मिथ्यावादी च संस्थाने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम् ॥४००॥

अर्थ—राजा के जो प्रसिद्ध निजविक्रय द्रव्य और जो राजा ने बेचने से
निषेध किये हुये द्रव्य हैं, उन को लोभ के कारण और जगह लेजाकर बेचने

वाले का सर्वस्व राजा हरण करले ॥४९९॥ घुङ्गी की जगह से हट कर (चोरी से) और जगह माल ले जाने वाला, वेसमय वेचने खरीदने वाला और गिनती या तौल में झूठ बोलने वाला उचित राजकर का ८ गुणा या जितने का झूठ बोला हो उस का आठगुणा दण्ड दे ॥ ४०० ॥

आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ । विचार्य सर्व पण्यानां कारयेत्क्रयविक्रयौ ॥ ४०१ ॥ पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे पक्षेऽथवा गते । कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः ॥ ४०२ ॥

अर्थ—आने और जाने का खर्च, स्थान तथा वृद्धि और क्षय दोनों; इन को विचार कर सब वस्तुओं को खरीदने वेचने का भाव करावे ॥ ४०१ ॥ पाँच पाँच दिन या पक्ष (१५वें) दिन के भाव को राजा प्रत्यक्ष नियत करावे ॥ ४०२ ॥ तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुरक्षितम् । पट्पु पट्पु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥ ४०३ ॥ पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषोऽर्घ्यं पणं तरे । पादं पशुश्च घोषिञ्च पादार्धं रिक्तकः पुमान् ॥ ४०४ ॥

अर्थ—तुला की तौल और नापों को अच्छे प्रकार देखे और छः छः महीने में फिर से दिखावे ॥ ४०३ ॥ पुल पर गाड़ी का महसूल १ पण दे और एक आदमी के बोझ का आधा पण और गाय, बैल आदि पशु तथा स्त्री चौथाई पण और खाली आदमी १ पण का ८ वां भाग दे ॥ ४०४ ॥

भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः । रिक्तभाण्डानि यत्किञ्चित्पुमांश्चापरिच्छदाः ४०५ दीर्घाध्वनि यथादेशं यथा कालं तरोभवेत् । नदीतीरेषु तद्विद्यात्समुद्रे नास्ति लक्षणम् ४०६

अर्थ—पुल पर मालभरी गाड़ी का महसूल बोझ के अनुसार दे और खाली सवारी और दरिद्र पुरुषों से महसूल कुछ थोड़ा लेके ॥ ४०५ ॥ लम्बी उत्तराई का महसूल देशकालानुसार हो । उस को नदीतीर में ही जाने । समुद्र में यह लक्षण नहीं है ॥ ४०६ ॥

गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रव्रजितो मुनिः । ब्राह्मणालिङ्गिन-
श्चैव न दाप्यास्तारिकं तरे ॥ ४०७ ॥ यत्नात्रि किञ्चिद्वासानां त्रिशी-
र्यतापराधतः । तद्वा सैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोऽंशतः ॥ ४०८ ॥

अर्थ—दो महीने ऊपर की गर्भिणी, संन्यासी, वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी और ब्राह्मण खेवट की खेवाई न दें ॥४०७॥ नाव पर बैठने वालों की खेवने वालों के अपराध से जो कुछ हानि हो वह अपने भाग में से सब खेवने वालों को मिल कर देनी चाहिये ॥ ४०८ ॥

एष नौयायिनामुक्तोव्यवहारस्य निर्णयः । दासापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः ॥ ४०९ ॥ वाणिज्यं कारयेद्वैश्यं कुसीदं कृपिमेव च । पशूनां रक्षणं चैव दास्यं शूद्रं द्विजन्मनाम् ॥४१०॥

अर्थ—सम्राहों के अपराध से पानी में हानि हो तो वे देवें । यह नाव से उतरने वालों के व्यवहार का निर्णय कहा । परन्तु दैवी तूफान में सम्राहों को दण्ड नहीं है ॥ ४०९ ॥ वाणिज्य, गिरवी बहा, खेती और पशुओं की रक्षा वैश्यों से और शूद्र से द्विजों की सेवा (राजा) करावे ॥ ४१० ॥

क्षत्रियं चैव वैश्यं च ब्राह्मणो वृत्तिकर्षितौ । त्रिभूयादानृशंस्येन स्वानिकर्माणिकारयन् ४११ दास्यं तु कारयं लोभाद्ब्राह्मणः संस्कृता न्द्विजान् अनिच्छतः प्राभवत्याद्राज्ञादण्डः शतानि षट् ॥४१२॥

अर्थ—क्षत्रिय और वैश्य वृत्ति के अभाव से पीड़ित हों तो दया से अपने अपने कर्मों को कराता हुआ ब्राह्मण उन का पोषण करे ॥ ४११ ॥ ब्राह्मण, प्रभुता से वा लोभ से, संस्कार किये हुवे द्विजों से विना इच्छा के दासकर्म करावे तो राजा छः सौ पण दण्ड दिलावे ॥ ४१२ ॥

शूद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा । दास्य।यैव हि सृष्टोसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा ॥४१३॥ न स्वामिना निःसृष्टोऽपि शूद्रो दास्याद्विमुच्यते । निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तस्मात्तदपोहति ॥४१४॥

अर्थ—शूद्र से तो सेवा ही करावे, वह शूद्र खरीदा हो वा न खरीदा हुआ हो । क्योंकि ब्राह्मणादि की सेवा के लिये ही ब्रह्मा ने इसे उत्पन्न किया है ॥४१३॥ स्वामी से छुटाया हुआ भी शूद्र दास्य से नहीं छूट सकता । क्योंकि वह उस का स्वाभाविक धर्म है । उस से उस को कौन हटा सकता है ॥ ४१४ ॥

ध्वजाहनोभक्तदासो गृहजः क्रीतदत्रिमौ । पैत्रिको दण्डदासश्च सप्तैते दास्योनयः ॥४१५॥ भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाऽधनाः स्मृताः । यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तदुनम् ॥४१६॥

अर्थ-१-युद्ध में जीत कर लाया हुआ २-भक्तदास ३-दासीपुत्र ४-खरीदा हुआ ५-दान में दिया हुआ ६-जो बड़ों से चला आता हो और ७-दण्ड की शुद्धि के लिये जिस ने दासभाव स्वीकृत किया हो, ये सात प्रकार के दास होते हैं ॥४१५॥ भार्या, पुत्र और दास; ये तीन निर्धन कहे हैं क्योंकि जो कुछ ये कमाते हैं, वह उस का है, जिस के कि ये हैं ॥ ४१६ ॥

विस्त्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद्द्रव्योपादानमाचरेत् । न हि तस्यास्ति किञ्चित्स्वं भर्तृहार्यधनो हि सः ॥४१७॥ वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत् । तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत्

अर्थ-भरोसे से शूद्र=दास से ब्राह्मण धन ग्रहण करले क्योंकि उस का कुछ भी अपना नहीं है, किन्तु उस का धन भर्तृग्राह्य है ॥४१७॥ वैश्य और शूद्रों से प्रयत्न से राजा अपने २ कर्म करावे, नहीं तो वे अपने २ कानों से अलग होकर संपूर्ण जगत् को क्षोभ करा देंगे ॥ ४१८ ॥

अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मन्तान्वाहनानि चा आयव्ययौ च नियता-
वाकरान्कोशमेव च ॥४१९॥ एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान् समापयन् । व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ॥४२०॥

अर्थ-राजा कर्मों की निरूपति (फल) और वाहनों तथा आय व्यय और खानि तथा कोष को प्रतिदिन देखे ॥ ४१९ ॥ इस उक्त प्रकार से इन (ऋणादानादि) व्यवहारों को ठीक २ निर्णय को पहुँचाता हुआ राजा संपूर्ण पाप को दूर करके परमगति पाता है ॥ ४२० ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे (भृगुप्रोक्तायां) संहितायाम्
अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

—*o*—

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः

पुरुषस्य स्त्रियाश्चैव धर्म्ये वर्त्मनि तिष्ठतोऽसंयोगे विप्रयोगे च
धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान्॥१॥ अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः
स्वैर्दिवानिशम् विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे २

अर्थ—धर्ममार्ग पर चलने वाले स्त्री पुरुषों के साथ रहने और अलग रहने
के सनातनधर्मों को मैं आगे कहता हूँ (सुनो) ॥ १ ॥ पत्तियों को अपनी
स्त्रियें सदा स्वाधीन रखनी चाहियें और विषयों में आसक्त होती हुईयों को
अपने वश में रखना चाहिये ॥ २ ॥

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने रक्षन्ति स्याद्विरे पुत्रा
न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥३॥ कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चा-
नुपयन्पतिः । मृते भर्तारि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता ॥ ४ ॥

अर्थ—बाल्यावस्था में पिता रक्षा करता है । यौवन में पति रक्षा करता
है । बुढ़ापे में पुत्र रक्षा करते हैं । स्त्री स्वतन्त्रता के योग्य नहीं है ॥ ३ ॥
विवाहकाल (१६ वें वर्ष) में कन्यादान न करने वाला पिता और ऋतुकाल
में स्त्री के पास गमन न करने वाला पति और पति के मरने पर माता की
रक्षा न करने वाला पुत्र निन्दनीय है ॥ ४ ॥

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रमद्वेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः द्वयोर्हि कुलयोः
शोकमावहेयुररक्षिताः॥५॥ इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्म-
मुत्तमम् । यतन्ते रक्षितुं भार्या भर्ता गिदुर्बला अपि ॥ ६ ॥

अर्थ—थोड़े से भी कुसंग से स्त्रियों की विशेषतः रक्षा करनी चाहिये क्योंकि
अरक्षित स्त्रियें दोनों कुलों को शोक देने वाली होंगी॥५॥ इस सब वर्णों के उत्तम
धर्म को जानने वाले दुर्बल भी पति अपनी स्त्री की रक्षा का यत्न करते हैं॥६॥
स्वां प्रसूतिं च रित्रं च कुलमात्मानमेश च । स्वं च धर्मं प्रयत्नेन

जायां रक्षन् हि रक्षति ॥७॥ पतिर्भार्या संप्रविश्य गर्भाभूतं ह
जायते । जायायास्तद्वि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥८॥

अर्थ—अपनी सन्तान और घरित्र तथा कुल और धर्म; इन सब को यत्र
से स्त्री की रक्षा करने वाला ही रक्षित करता है ॥ ७ ॥ एक प्रकार से पति
ही स्त्री में प्रवेश करके गर्भरूप होकर संसार में उत्पन्न होता है । जाया
का जायात्व यही है जो कि इस में फिर से जन्मता है ॥ ८ ॥

यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूने तथा विधम्नानरमात्प्रजाविशुद्धयर्थं
स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः ॥९॥ न कश्चिदोपितः शक्तः प्रसह्य परि-
रक्षितुम् । एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥१०॥

अर्थ—जिस प्रकार के पुरुष को स्त्री सेवन करे, वसी प्रकार का पुत्र
जनती है । इस कारण प्रजा की शुद्धि के लिये भी प्रयत्न से स्त्री की रक्षा
करे ॥ ९ ॥ कोई बलात्कार से स्त्रियों की रक्षा नहीं कर सकता, किन्तु इन
उपायों से उन की रक्षा कर सकता है (कि—) ॥ १० ॥

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् । शौचे धर्मे न्नपत्न्यां च
पारिणाह्यस्य चेक्षणे ॥११॥ अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुनर्परास्त-
कारिभिः । आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ता सुरक्षिताः ॥१२॥

अर्थ—धन के संग्रह, व्यय, शौच, धर्म, रसोद्भूत पकाने और घर की
वस्तुओं के देखने में इस (स्त्री) की योजना करे ॥११॥ आत्मकारी पुरुषों से
घर के परदे में रोकी भी स्त्रियाँ अरक्षित हैं, किन्तु जो अपने आप ही
रक्षा करती हैं वे सुरक्षिता हैं ॥ १२ ॥

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् ।

स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीणां दूषणानि पट् ॥१३॥

“नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः ।

सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥ १४ ॥”

अर्थ—मद्यपान और दुर्जनसंसर्ग तथा पति से अलग रहना और इधर
उधर घूमना तथा वेसमय सोना और दूसरे के घर में रहना; ये स्त्रियों के

छः दूषण हैं ॥ १३ ॥ “ये न तौ रूप का विचार करती हैं, न इन के आयु का ठिकाना है, स्वरूप अथवा कुरूप पुरुष मात्र हो, उसे ही भोगती हैं ॥ १४ ॥”

“पौंश्चल्याञ्चलचित्ताञ्चनैस्नेह्याञ्च स्वभावतः। रक्षिता यत्नतो-
ऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते ॥ १५ ॥ एवं स्वभावं ज्ञात्वाऽऽसां प्रजा-
पतिनिसर्गजम्। परमं यत्नमातिष्ठेत्पुरुषोरक्षणं प्रति ॥ १६ ॥”

“अर्थ—पुरुष पर चलने वाली होने और चित्त की चञ्चल तथा स्वभाव से ही स्नेहरहिता होने से यत्नपूर्वक रक्षित स्त्रियों भी, पति में विकार कर बैठती हैं ॥ १५ ॥ ब्रह्मा के सृष्टिकाल से साथ रहने वाला इस प्रकार इन का स्वभाव जान कर पुरुष इन की रक्षा का परम यत्न करे ॥ १६ ॥”

“शय्यासनमलङ्कारं कामं क्रोधमनार्जवम्। द्रोहभावं कुचर्यां
च स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत् ॥ १७ ॥ नास्ति स्त्रीणां क्रियामन्त्रैरिति धर्मे
ऽपवस्थितिः। निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः ॥ १८ ॥”

“अर्थ—शय्या आसन अलङ्कार काम क्रोध अनार्जव द्रोहभाव और कुचर्या मनु ने स्त्रियों के लिये उत्पन्न किये हैं ॥ १७ ॥ जातकर्मादि क्रिया स्त्रियों की मन्त्रों से नहीं हैं। इस प्रकार धर्मशास्त्र की मर्यादा है। स्त्रियां निरिन्द्रिया और अमन्त्रा हैं और इन की स्थिति असत्य है ॥ १८ ॥”

‘तथा च श्रुतयोऽहव्योनिगीतानि गमेष्वपि। स्वालक्षण्यपरी-
क्षार्थं तासां शृणुत निष्कृतीः १९ यन्मे माता प्रलुलुभे विचरन्त्य-
ऽपतिव्रता। तन्मे रेतः पिता वृक्तामित्यस्यैतन्निर्दर्शनम् ॥ २० ॥’

“अर्थ—व्यभिचारशीला स्त्रियों के स्वभाव की परीक्षार्थ वेदों में बहुत श्रुतियाँ पठित हैं, उन श्रुतियों में जो व्यभिचार के प्रायश्चित्तभूत हैं, उन को सुनो ॥ १९ ॥ (कोई पुत्र माता का मानस व्यभिचार जान कर कहता है कि—) “जो कि मेरी माता अपतिव्रता हुई परपुरुष को चाहने वाली थी, उस दुष्टता को मेरा पिता शुद्धवीर्य से शोधन करे, यह उन श्रुतियों में से नमूना दिखाया गया ॥ २० ॥”

“ध्यायत्यनिष्टं यत्किञ्चिन्पाणिग्राहस्य चेतसा। तस्यैष व्यभि-
चारस्य निन्हवः सम्यगुच्यते ॥ २१ ॥ यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत
यथाविधि। तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा ॥ २२ ॥”

अर्थ - "भर्ता के विपरीत जो कुछ स्त्री दूसरे पुरुष के साथ गमन चाहती है उस के इस मानस व्यभिचार को यह अच्छे प्रकार गोधनमन्त्र कहा है ॥ २१ ॥ जिन गुणों वाले पति के साथ स्त्री रीति से विवाह करके रहे, वैसे ही गुण वाली वह (स्त्री) हो जाती है । जैसे समुद्र के साथ नदी " ॥ २२ ॥

“अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम् ॥ २३ ॥ एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्ट प्रसूतयः । उत्कर्षं योपितः प्राप्ताः स्वैरर्धैर्भृतृगुणैः शुभैः” ॥ २४ ॥

“अर्थ-अक्षमाला नाम की निरुपयोनि स्त्री वसिष्ठ से युक्त हो पूज्यता को प्राप्त हुई, ऐसे ही शारङ्गी मन्दपाल से युक्त होकर (पूज्यता को प्राप्त हुई) ॥ २३ ॥ इस लोक में ये और अन्य अधम योनियों में उत्पन्न हुई स्त्रियाँ अपने अपने शुभ पतिगुणों से उच्चता को प्राप्त हुई ” ॥

(१४ वें से २४ वें तक ११ श्लोकों में ऐसी झलक है, जैसी कि चाणक्य आदि के समय स्त्रियों की अत्यन्त अविश्वस्तता की दशा थी । १४ वें में स्त्रियों को युवा आदि अवस्था और सुरुपपुरुष की आवश्यकता का अभाव लिखा है, जो काल में कभी नहीं हो सकता कि स्त्रियाँ युवा और सुरुपपुरुष की इच्छा न करें, केवल पुरुषमात्र जिसे देखें उसे ही भोगने लगे । यदि कहीं अत्यन्त कामासक्ता स्त्री की यह दशा देखी भी जावे, तो पुरुषों की इस से भी बुरी अवस्थायें प्रायः होती हैं । इस लिये स्त्रियों की यह निन्दा अनुचित है । १५ वें में स्त्रियों में यह दोष बतलाया है कि उन का चित्त घबल है और पुरुष पर चलता है, उन में स्नेह वा प्रीति नहीं होती । अलक्षितता तो पुरुषों में भी कम नहीं होती । हां, स्नेह तो पुरुषों से स्त्रियों में अधिक होता है । १६ वें में इन के इस दोष को ब्रह्मा का बनाया हुआ स्वाभाविक बतलाया है । जिस से नानो यह कहा है कि उन का स्वभाव कभी धर्मानुकूल सुधर ही नहीं सकता । इस कथन से ऐसा कलङ्क स्त्रियों पर लगाया है कि जो प्राचीन काल की सच्चरिता देवियों की निन्दा का तो कहना ही क्या है । वर्तमान घोर समय में भी पुरुष चाहे कैसे ही घृणिताचार हों किन्तु स्त्रियों में अब भी अधिकांश सती वर्तमान हैं, उन की भी नितान्त असत्य निन्दा इस से होती है ॥ १७ वें में जो शय्यासनादि दोष बताये हैं, वे पुरुषों में भी कम नहीं होते । और इस श्लोक में यह जो कहा है कि (स्त्रीभ्योननुरक्तपयत्) ये दोष

स्त्रियों के लिये मनु ने रचे ॥ इस से इस प्रकरणगत स्त्रीनिन्दा का अन्यकृत होना तो संशयित हुआ ही, किन्तु यह असत्य भी है कि ये दोष जिन में काम क्रोध अनार्जव और द्रोह भी गिनाये हैं, स्त्रियों के लिये ही मनु ने रचे । क्या ये दोष पुरुषों में नहीं होते ? क्या मनु धर्मव्यवस्थापक होने के अतिरिक्त दोषयुक्त स्त्रीजाति के स्रष्टा भी थे ? १८ वें का यह कहना कि उन के इन्द्रियां नहीं होतीं, कैसा श्वेत झूठ है, जब कि उन के प्रत्यक्ष हस्त पादादि इन्द्रियों की सत्ता सर्वजगद्गोचरीभूत है । बस इसी से उन की अमन्त्रक क्रिया के पक्षपात और अज्ञान को भी समझ सकते हैं । १९ वें में कहा है कि इस विषय में वेद की श्रुतियाँ भी प्रमाण हैं, २० वें में भी “किसी पुत्र का अपनी माता के मानस व्यभिचार को वर्णन करना” वेद की श्रुति का नमूना बताया है । परन्तु यह श्रुति वेद में कहीं नहीं, सर्वथा असत्य है । २१ वें में इस असत्य कल्पित श्रुति को मानसी व्यभिचाररूप पाप का प्रायश्चित्त बताया है ॥ २२-२४ तक में इतिहास से वसिष्ठ और मन्दपाल की स्त्री अक्षमाला और शारङ्गी नीचयोनि के उदाहरणों से इस बात को पुष्ट किया है कि पुरुष चाहे जैसी नीच स्त्री को विवाह सकते हैं, वह उन पुरुषों के सङ्ग से पवित्र हो जाती हैं । धन्य ! पुरुष बड़े स्वतन्त्र रहे और पारस की पथरी हो गये ॥ और पूर्व जो द्विजों को सबर्ण स्त्री से ही विवाह करना कहा था, उस के विरोध का भी इस रचना करने वाले ने कुछ भय न किया, तथा मन्दपाल के वर्णन को जो मनु जी से बहुत पीछे हुआ है, मनुवाक्य (वा शृगुवाक्य ही सही, यदि मनु और शृगु एक काल में वर्तमान थे तो) में “जगाम” इस पराक्षभूतार्थ लिट् लकार से अत्यन्त प्राचीन वर्णन करने से भी यह असम्भव है । इत्यादि कारणों से हमारी सम्मति में यह रचना पश्चात् की है और ११ वें का २५ वें से सम्बन्ध भी ठीक मिलता है) ॥ २४ ॥

एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभा ॥ प्रेत्येह च सुखोद-
कार्णप्रजाधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥ प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा
गृहदीप्तयः । स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ २६ ॥

अर्थ—यह स्त्रीपुरुषसम्बन्धी सदा शुभ लोकाचार कहा । अब इस लोक तथा परलोक में शुभ सुख के वर्धक सन्तानधर्मों को सुनो ॥ २५ ॥ ये स्त्रियाँ बड़ी भाग्यवती, सन्तान की हेतु, सत्कार (पूजन) योग्य, घर की शोभा हैं और घरों में स्त्री तथा लक्ष्मी=श्री में कुछ अेद नहीं है (अर्थात् दोनों समान हैं) ॥ २६ ॥

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्। प्रत्यहं लोकयात्रायाः
प्रत्यक्षं स्त्री निघन्धनम् ॥ २७ ॥ अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा
रतिरुत्तमा। दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ॥ २८ ॥

अर्थ-सन्तान का उत्पन्न करना और हुवे का पालन करना तथा प्रति-
दिन (अतिथि तथा गित्रों के) भोजनादि लोकाचार का प्रत्यक्ष आधार स्त्री
ही है ॥ २७ ॥ सन्तानोत्पादन, धर्मकार्य (अग्निहोत्रादि), शुश्रूषा, उत्तम रति
तथा पितरों का और अपना स्वर्ग (सुख), ये सब भार्या के अधीन हैं ॥ २८ ॥

“पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंघता। सा भर्तृलोकानाम्प्रोति
सद्भिः साध्वीति चोच्यते २९ व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राम्प्रोति
निन्द्यताम्। शृगालयोनिं चाप्नोति पापयोगैश्च पीड्यते ॥ ३० ॥

“अर्थ-जो स्त्री मन वाणी और देह से संयमवाली पति से भिन्न व्यभिचार
नहीं करती वह पतिलोकों को प्राप्त होती और शिष्ट लोगों से साध्वी कही
जाती है ॥ २९ ॥ पुरुषान्तरसंपर्क से स्त्री, लोगों में निन्दा और जन्मान्तर में
शृगालयोनि को पाती तथा पाप के रोगों से पीड़ित होती है ॥” (५ अध्याय
के १६४ । १६५ से पुनरुक्त हैं । ठीक यही पाठ और अर्थ वहां है) ॥ ३० ॥

पुत्रं प्रत्युदितं सद्भिः पूर्वजैश्च महर्षिभिः। विश्वजन्यमिमं
पुण्यमुपन्यासं निबोधत ॥ ३१ ॥ भर्तुः पुत्रं विजानन्ति श्रुति-
द्वैधं तु भर्तरि। आहुरुत्पादकं केचिदपरे क्षेत्रिणं त्रिदुः ॥ ३२ ॥

अर्थ-पुत्र के विषय में पहले शिष्ट महर्षियों का कहा हुआ यह वक्ष्यमाण
पवित्र सर्वजनहितकारी विचार सुनो ॥ ३१ ॥ भर्ता का पुत्र होता है। ऐसा
लोग जानते हैं। परन्तु भर्ता के विषय में दो प्रकार की बात सुनते हैं। कोई
उत्पन्न करने वाले को लड़के वाला कहते हैं और दूसरे क्षेत्र के स्वामी=पति
को लड़के वाला कहते हैं ॥ ३२ ॥ (आगे इस विवाद का निर्णय है:-)

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान् क्षेत्रबीजसमा-
योगात्संभवः सर्वदेहिनाम् ॥ ३३ ॥ विशिष्टं कुत्रचिद्बीजं स्त्रीयोनि-
स्त्वेव कुत्रचित्। उभयं तु समं यत्र सा प्रसूतिः प्रशस्यते ॥ ३४ ॥

अर्थ-खेत रूप स्त्री और बीज रूप पुरुष होता है । इस कारण खेत और बीज के मिलने से संपूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति होती है ॥३३॥ कहीं बीज प्रधान है और कहीं क्षेत्र । परन्तु जहां दोनों समान हैं, वह उत्पत्ति श्रेष्ठ है ॥ ३४ ॥ बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते । सर्वभूतप्रसूतिर्हि बीजलक्षणलक्षिता ॥३५॥ यादृशं तूष्यते बीजं क्षेत्रे कालोपपादिते । तादृगोहति तत्तस्मिन्बीजं स्वैर्व्यञ्जितं गुणैः ॥३६॥

अर्थ-बीज और खेत इन दोनों में बीज प्रधान है, क्योंकि संपूर्ण जीवों की उत्पत्ति बीजों ही के लक्षण से जानी जाती है ॥३५॥ जिस प्रकार का बीज उचित समय (वर्षादि ऋतु) में संस्कृत खेत में बोया जाता है, उस प्रकार का ही बीज अपने रङ्गरूपादि गुणों से युक्त उस खेत में उत्पन्न होता है ॥३६॥ इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते । न च योनिगुणान् कांश्चिद्बीजं पुष्यति पुष्टिषु ॥३७॥ भूमावप्येककेदारैः कालोप्तानि कृषीत्रलैः । नानारूपाणि जायन्ते बीजानीह स्वभावतः ॥३८॥

अर्थ-यह भूमि प्राणियों की सनातन योनि कही जाती है, परन्तु बीज भूमि के किन्हीं गुणों को पुष्ट नहीं करता, (किन्तु अपने ही गुणों को बढ़ाता है) ॥३७॥ एक प्रकार की भूमि के खेत में किसान लोग समय पर अनेक बीज (यव गोधूमादि) बोते हैं, परन्तु अपने २ स्वभाव से वे नानारूप उत्पन्न होते हैं (अर्थात् एक भूमि होने से एक रूप नहीं होता, किन्तु बीजों ही के अनुकूल भिन्न २ दृशादि होते हैं) ॥ ३८ ॥

ब्रीहयः शालयो मुद्गास्तिला माषास्तथा यवाः । यथा बीजं प्ररोहन्ति लशुनानीक्षवस्तथा ॥३९॥ अन्यदुप्तं जातमन्यदित्येतन्नोपपद्यते । उप्यते यद्वि यद्बीजं तत्तदेव प्ररोहति ॥४०॥

अर्थ-साठी धान मूंग तिल उड़द यव लहसुन और गन्ने सब जैसे २ बीज हों, वैसे ही उत्पन्न होते हैं ॥ ३९ ॥ बोया कुछ हो और उत्पन्न कुछ हो, ऐसा नहीं होता, जो २ बीज बोया जाता है, वही २ उत्पन्न होता है ॥ ४० ॥

तत्प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना ।

आयुष्कामेन वस्तव्यं न जातु परयोषिति ॥४१॥

“अत्र गाथा वायुगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।

यथा बीजं न वप्सव्यं पुंसां परपरिग्रहे ॥४२॥”

अर्थ—वह बीज बुद्धिमान् और शिष्ट तथा ज्ञान विज्ञान के जानने वाले और श्रायु की इच्छा करने वाले को दूसरे की स्त्री में कभी न बोना चाहिये ॥ ४१ ॥ “भूतकाल के जानने वाले इस विषय में वायु की कही गाथा (छन्दोविशेषयुक्त वाक्यों) को कहते हैं । यथा—पुरुष को परार्थ स्त्री में बीज न बोना चाहिये ॥ ४२ ॥”

“नश्यतोपूर्यथाविदुः खेविदुमनुविध्यतः । तयानश्यतिवैक्षिप्रं
बीजं परपरिग्रहे ॥४३॥ पृथोरपीमां पृथिवीं भार्यां पूर्वविदोविदुः ।
स्थाणुच्छेदस्य केदारमाहुः शत्यवनोमृगम्” ॥४४॥

“अर्थ—जैसे दूसरे के बीधे मृग को फिर से मारने से बाण निष्फल होता है । ऐसे ही दूसरे की स्त्री में बीज का बोना शीघ्र निष्फल होता है ॥४३॥ इस पृथिवी को जो पहले राजा पृथु की भार्या थी, (अनेक राजाओं के सम्बन्ध होते भी) पुराने लोग पृथु की भार्या ही जानते हैं । ऐसे ही लकड़ी आदि काट कर प्रथम खेत बनाने वाले का खेत और जिस ने पहिले शिकार किया उसी का मृग है (ऐसे ही पहले विवाह करने वाले का पुत्र होता है । पश्चात् केवल उत्पन्न करने वाले का नहीं ॥’ स्पष्ट है कि यह वायुगीता पृथु राजा से पीछे मनु में मिलाई गई) ॥ ४४ ॥

एतावानेवपुरुषो यज्जायात्माप्रजेतिह । विप्राः प्राहुस्तथा चैत
दोभर्त्ता सा स्मृताङ्गना ॥४५॥ न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या
विमुच्यते । एवं धर्मं विजानीमः प्राक्प्रजापतिनिर्मितम् ॥४६॥

अर्थ—स्त्री और आपा तथा सन्तान ये तीनों मिल कर एक पुरुष कहा जाता है । तथा वेद के जानने वाले विप्र कहते हैं कि जो पति है वही भार्या है (जैसा कि कुल्लूक ने शतपथ का प्रमाण दिया है कि “अर्धो ह वां एष आत्मनस्तस्माद्यज्जायां न विन्दते० ” इत्यादि ॥ ४५ ॥ विक्रय वा त्याग से स्त्री, पति से नहीं छूट सकती, ऐसा पूर्व से प्रजापति का रचा हुआ नित्यधर्म हम जानते हैं ॥ ४६ ॥

सकृदंगोनिपतति सकृत्कन्या प्रदीयते । सकृदाह ददानोति
ग्रीयेतानि सतां सकृत्४७ यथागोश्चोष्ट्रासीषुमहिष्यजावि-
कासु च । नोत्पादकः प्रजाभागी तथैवान्याङ्गनास्वपि ॥४८॥

अर्थ—विभाग एक बार ही किया जाता है और एक ही बार कन्यादान
होता है और एक ही बार वचन दिया जाता है । सज्जनों की ये तीन
बातें एक ही बार होती हैं (छोट कर नहीं होता) ॥ ४७ ॥ जैसे गाय,
घोड़ा, ऊँट, दासी, बैस और भेड़ इन में सन्तान उत्पन्न करने वाला, उस
का भागी नहीं होता, वैसे ही दूसरे की स्त्री में भी (जानो) ॥ ४८ ॥

येऽक्षेत्रिणोऽग्रीजवन्तः परक्षेत्रप्रवापिणः । ते वै सस्यस्य जातस्य
न लभन्ते फलं क्वचित् ४९ यदन्यगोषु वृषभो वत्सानां जनये-
च्छतम् । गोमितामेव ते वत्सा मोघं सकन्दितमार्षभम् ॥५०॥

अर्थ—जो बिना खेत के बीज वाले (अपने बीज को) दूसरे के खेत में
बीते हैं, वे उत्पन्न हुये अनाज के भागी कभी नहीं होते ॥ ४९ ॥ दूसरे की
गायों में सांड सी १०० बछड़े भी पैदा करे, ती भी वे बछड़े गाय वालों के
ही होते हैं, सांड का शुक्रसेचन निष्फल होता है ॥ ५० ॥

तथैवाऽक्षेत्रिणोऽग्रीजं परक्षेत्रप्रवापिणः । कुर्वन्ति क्षेत्रिणामर्थं
न बीजीलभते फलम् ५१ फलं त्वनभिसंधाय क्षेत्रिणां बीजिनां
तथा । प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थं बीजादो निर्गरीयसी ॥ ५२ ॥

अर्थ—उसी प्रकार बिना खेत वाले, बीज को दूसरे के खेत में बीवें तो
खेत वाले ही का प्रयोजन सिद्ध करते हैं । बीज वाला फल नहीं पाता ॥५१॥
जहां पर खेत वाले और बीज वाले इन दोनों के फल के बांट का नियम
सुल न हुया हो, वहां प्रत्यक्ष में खेत वाले का प्रयोजन सिद्ध होता है । इस
लिये बीज से योनि बहुत बलवती है ॥ ५२ ॥

क्रियाभ्यपगमात्त्वेतद्वीजार्थं यत्प्रदीयते । तस्येह भागिनौदृष्टौ
बीजी क्षेत्रिक एव च ॥ ५३ ॥ ओघवाताहतं बीजं यस्य क्षेत्रे
प्ररोहति । क्षेत्रिकस्यैव तद्वीजं न वप्रा लभते फलम् ॥५४॥

अर्थ—परन्तु “ जो इस खेत में उत्पन्न होगा वह हमारा तुम्हारा दोनों का होगा ” इस नियम पर खेत वाला बीने के लिये बीज वाले को देता है तो उस के दोनों लोग भागी होते देखे गये हैं ॥ ५३ ॥ जो बीज जल के वेग वा वायु से उड़ कर दूसरे के खेत में गिर कर उत्पन्न हो, उस के फल का भागी खेत वाला ही होता है, न कि बीने वाला ॥ ५४ ॥

एषधर्मो भवाश्चर्य दास्युष्माजाविकस्य चाविहङ्गमहिषीणां च विज्ञेयः प्रसवं प्रति ॥ ५५ ॥ एतद्वृक्षारफलगुत्वं बीजघोन्योः प्रकीर्तितम् । अतः परं प्रवक्ष्यामि योपितां धर्ममापदि ॥ ५६ ॥

अर्थ—यह (५४ से ५४ तक) व्यवस्था गाय, घोड़ा, दासी, ऊँट, बकरी, भेड़, पत्नी, और भैंस की सन्तति में जाननी चाहिये ॥ ५५ ॥ यह बीज और बीने के प्राधान्य और अप्राधान्य तुम लोगों से कहे । अब स्त्रियों के आपत्काल का धर्म (अर्थात् सन्तान न होने में क्या होना चाहिये सो) कहता हूँ ॥ ५६ ॥

भातुर्ज्येष्ठस्य भार्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता ॥ ५७ ॥ ज्येष्ठो यवीयसो भार्या यवीयान् वाग्रजस्त्रियम् । पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ॥ ५८ ॥

अर्थ बड़े भाई की स्त्री छोटे भाई को गुरुपत्नी के समान है और छोटे की स्त्री बड़े को पुत्रवधू के समान कही है ॥ ५७ ॥ बड़ा भाई छोटे भाई की स्त्री के साथ वा छोटा भाई बड़े भाई की स्त्री के साथ बिना आपत्काल के (सन्तान रहते हुये) नियोगविधि से भी गमन करने से (दोनों) पतित होते हैं (किन्तु—) ॥ ५८ ॥

देवराट्वा सपिण्डाट्वा स्त्रिया सम्यह् नियुक्तया । प्रजेप्सिताधि गन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥ ५९ ॥ विधवायां नियुक्तस्तु घृता-क्तो वा गृह्यतो निशि । एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन ॥ ६० ॥

अर्थ—सन्तान न होतौ, पुत्र की इच्छा से भले प्रकार नियोग की हुई स्त्री को देवर या अन्य सपिण्ड से यथेष्ट सन्तान उत्पन्न कर लेनी चाहिये ॥ ५९ ॥ विधवा के साथ नियोग करने वाला शरीर में घृत लगा, मौन होकर रात्रि में (भोग करे, इस प्रकार) एक पुत्र उत्पन्न करे, दूसरा कभी नहीं ॥ ६० ॥

द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्त्रापु तद्विदः। अनिर्वृत्तं नियोगार्थं
पश्यन्तो धर्मस्तयोः ॥ ६१ ॥ विधवायां नियोगार्थं निर्वृत्ते तु
यथाविधि । गुरुञ्च स्नुषावञ्च वर्त्तयतां परस्परम् ॥ ६२ ॥

अर्थ-दूसरे आचार्य जो नियोग से पुत्रोत्पादन की विधि को जानने वाले
हैं, उन दोनों स्त्री पुरुषों के नियोग के तात्पर्य को (१ पुत्र से) सिद्ध न होता
देखते हुवे स्त्रियों में दूसरा पुत्र उत्पन्न करना भी धर्म से मानते हैं ॥ ६१ ॥ विधवा
में नियोग के प्रयोजन (गर्भधारण) की विधि से सिद्ध हो जाने पर बड़े और छोटे
भाई की स्त्रियों से दोनों आपस में गुरुपत्नी और पुत्रवधू की सा व्यवहार करें ॥ ६२ ॥
नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्त्तयतां तु कामतः । तावुभौ पतितीत्या-
तां स्नुषा गुरु तत्पगौ ६३ नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या
द्विजातिभिः । अन्यस्मिन् हि नियुज्याना धर्मं हन्युः सनातनम् ६४

अर्थ-जो छोटे और बड़े भाई अपनी भीजाइयों के साथ नियोग किये
हुवे भी विधि को छोड़ कर कामवश भोग करें वे दोनों पति, गुरु की स्त्री
और पुत्रवधू से गमन करने वाले हों ॥ ६३ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को
विधवा स्त्री का दूसरे (वर्ण) के साथ नियोग न करना चाहिये । दूसरे वर्ण
के साथ नियोग की हुई (स्त्रियें) सनातन धर्म का नाश करती हैं ॥ ६४ ॥

“नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् । न विवाहविधा-
वुक्तं विधवावेदनं पुनः । ६५ ॥ अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो
विगर्हितः । मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥ ६६ ॥”

अर्थ-विवाहसम्बन्धी मन्त्रों में कहीं नियोग नहीं कहा है और न
विवाह की विधि में विधवा का पुनर्विवाह कहा है ॥ ६५ ॥ यह प्रोक्त=विधान
किया हुआ भी मनुष्यों का नियोग, राजा येन के शासनकाल में विद्वान्
द्विजों द्वारा पशुधर्म और निन्दायुक्त कहा गया (क्योंकि:-) ॥ ६६ ॥ ”

“स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा । वर्णानां संकरं चक्रे
कामोहतचेतनः ॥ ६७ ॥ ततः प्रभृतियो मोहात्प्रमीतपतिकां
स्त्रियम् । नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः ॥ ६८ ॥”

“ अर्थ-वह वेन राजा जो राजर्षियों में बड़ा और पूर्वकाल में संपूर्ण पृथिवी को ओगता था, काम से नष्टबुद्धि होकर वर्णसङ्कर करने लगा था ॥ ६७ ॥ उस (वेन राजा के) समय से जो कोई सोह के कारण सन्तान के लिये विधवा स्त्री का नियोग करता है उस की साधु लोग निन्दा करते हैं (किन्तु वेन से पूर्व इस की निन्दा न थी ॥ ”

यद्यपि ६५ से ६८ तक ४ श्लोक मनु वा भृगु के बनाये गये नहीं हैं । क्योंकि स्वायंभुव मनु सृष्टि के आरम्भ में हुवे और वेन राजा वह था जिस से पृथु हुवा, तौ वेन के वैवस्वत मन्वन्तर में होने वाले जन्म को स्वायंभुव मनु अपने से पूर्व की भांति कैसे कह सकते कि भूतकाल में राजा वेन के राज्य समय से नियोग की परिपाटी निन्दित होगई । इसलिये निम्न ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं । परन्तु तथापि इन से नियोग की घुराई वा पूर्व मनुप्रोक्त नियोग से परस्पर विरोध नहीं आता । किन्तु यह आशय निकलता है कि वेन राजा ने कामवश नियोग की स्ववर्णानुसारिणी परिपाटी को तोड़ कर एक वर्ण का दूसरे वर्ण में नियोग प्रचरित कर वर्णसङ्कर कर दिया, तब से सज्जनों में नियोग निन्दित समझा जाने लगा । ६५ का आशय नियोग के निषेध में नहीं है, किन्तु यह है कि विवाह और नियोग भिन्न २ हैं, एक बात नहीं हैं, क्योंकि विवाह के मन्त्रों में नियोग नहीं कहा है । किन्तु विवाह से भिन्न प्रकरण के मन्त्रों (अथर्व ९ । ५ । २७-२८ ॥ ५ । १७ । ८ ॥ १८ । ३ १, अ० १० । १८ ८ इत्यादि) में तौ नियोगविधान है । विधवा का पुनर्विवाह विहित नहीं है, इस से नियोग का निषेध नहीं आता, किन्तु पुनर्विवाह का निषेध है । ६६ का तात्पर्य भी यही है कि पहिले द्विजों का सवर्णों में ५९ के अनुसार नियोग चला आता था, परन्तु जब राजा वेन ने एक वर्ण का दूसरे वर्ण से भी प्रचरित कर दिया, तब से यह निन्दित और पशुधर्म कहाने लगा । इस में भी सब से पुराने भाष्यकार मेधातिथि ने (द्विजैर्हि विद्वद्भिः) के स्थान में (द्विजैरऽविद्वद्भिः) पाठ माना है और यह भाष्य किया है कि (येऽविद्वांसः सम्यक् शास्त्रं न जानन्ति) जो शास्त्र के न जानने वाले थे उन्होंने ने पशुधर्म और निन्दित कहना आरम्भ कर दिया । ६७ वें में उस का कारण भी स्पष्ट बताया है कि क्यों यह कर्म निन्दित माना जाने लगा कि उस ने वर्णों का सङ्कर (घोल मेल) कर दिया । ६८ वें स्पष्ट कथन है कि तब से नियोग करने वालों की निन्दा होने लगी है । अर्थात् वेन से पूर्व द्विजों का द्विजों में सवर्ण स्त्री पुत्रों का नियोग निन्दित न था) ॥ ६८ ॥

यस्याभियेतकन्याया वचासत्येकृतेपतिः । तामनेनविधानेन
निजोऽन्दिदेत देवरः ॥ ६९ ॥ यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां
शुचित्रताम् । मिथोभजेताप्रसवात्सकृत्सकृद्वनावृतौ ॥ ७० ॥

अर्थ-जिस कन्या (पतिसंभोगरहिता) का सत्य वाग्दान (कन्यादान
सङ्कल्प) करने के पश्चात् पति मर जावे उस को इस विधान से निज देवर
प्राप्त हो (कि-) ॥ ६९ ॥ (वह देवर) नियोग विधि से इस के पास जाकर
श्वेत वस्त्र धारण किये हुई और काय मन वाणी से पवित्र हुई के साथ सन्ता
नोत्पत्तिपर्यन्त गर्भाधानकाल में एक एक बार परस्पर गमन करे (गर्भा-
धान हो जावे तब मैथुन त्यागदे) ॥ ७० ॥

न दत्वाकस्यचित्कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः । दत्वापुनःप्रयच्छन्
हि प्राप्नोतिपुरुषानृतम् ॥ ७१ ॥ विधिवत्प्रतिगृह्यापित्यजेत्कन्यां
विगर्हिताम् । व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मना चोपपादिताम् ॥ ७२ ॥

अर्थ-ज्ञानी पुरुष किसी को कन्यादान देकर फिर दूसरे को न देवे ।
क्योंकि एक को देकर दूसरे को देने वाला मनुष्य की चोरी के दोष को प्राप्त
होता है ॥ ७१ ॥ विधिपूर्वक ग्रहण की हुई भी निन्दित कन्या का त्याग करदे
जो कि दुष्ट वा रोगिणी और छल से दी गई हो ॥ ७२ ॥

यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्यायोपपादयेत् । तस्य तद्वितथं कुर्यात्
कन्यादातुर्दुरात्मनः ॥ ७३ ॥ विधाय वृत्तिं भार्यायाः प्रवसेत्
कार्यवान्नरः । अवृत्तिः कर्षिता हि स्त्री प्रदुष्येत्स्थितिमत्यपि ॥ ७४ ॥

अर्थ-जो दोषवाली कन्या का बिना दोष प्रकट किये विवाह करदे उस कन्या
के देने वाले दुष्ट के कन्यादान को निष्फल करदेवे (अर्थात् उसका त्याग करदे) ७३
कार्यवाला पुरुष स्त्री के भोजन कपड़े आदि का विधान करके परदेश जावे,
क्योंकि भोजन आदि से पीड़ित शीलवती भी स्त्री विगड़ सकती हैं ॥ ७४ ॥

विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता । प्रोषिते त्वविधा-
यैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः ॥ ७५ ॥ प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्यो
ऽष्टौ नरः समाः । विद्वार्थं षड्यशो र्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥ ७६ ॥

अथ भोजन आच्छादनादि देकर पति के देशान्तर जाने पर स्त्री शरीर के शृङ्गारत्यागादि नियम से निर्वाह करे और जो विना प्रबन्ध किये जावे तौ अनिन्दित शिल्पों से (निर्वाह करे) ॥ ७५ ॥ धर्मकार्य के लिये परदेश गये नर की स्त्री आठ वर्ष पर्यन्त, यश और विद्या के लिये गया हो तौ छः वर्ष, और काम को गया हो तौ ३ वर्ष प्रतीक्षा करे ॥ ७६ ॥

संवत्सरं प्रतीक्षेत द्विषन्तीं योषितं पतिः । ऊर्ध्वसंवत्सराख्येनां दायं हत्वा न संवसेत् ॥ ७७ ॥ अतिक्रामेत्प्रमत्तं या मत्तं रोगात्तं मेव वा । सा त्रीन्मासान्परित्याज्या विभूषणपरिच्छदा ॥ ७८ ॥

अर्थ—द्वेष करने वाली स्त्री की एकवर्षपर्यन्त पति प्रतीक्षा करे । फिर उस के अलङ्कारादि सब छीन ले और उस के साथ न रहे (केवल अन्न वस्त्र मात्र दे) ॥ ७७ ॥ जो स्त्री प्रमादी वा मदमत्त वा उन्मादी वा रोगी पति की आज्ञा भङ्ग करे वह वस्त्र भूषण उत्तार कर तीन महीने तक त्यागने योग्य है ॥ ७८ ॥ उन्मत्तपतितं क्लीबमबीजं पापरोगिणम् । न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश्च न च दायपवर्त्तनम् ७९ मदापाऽसाधुवृत्ताश्च प्रतिकूला च या भवेत् । व्याधितायाधिवेत्तव्या हिंस्त्रार्थघ्नी च सर्वदा ॥ ८० ॥

अर्थ—पागल और पतित तथा नपुंसक और बीजरहित और पापरोगी, इन से द्वेष करने वाली का त्याग नहीं है और न उस का धन छीनना उचित है ॥ ७९ ॥ मद्य पीने वाली और बुरे चलन वाली तथा पति के विरुद्ध चलने वाली और सदा बीमार और मारने वाली और सदा धन का नाश करने वाली स्त्री हो तौ उस के रहते हुवे भी दूसरी स्त्री करनी उचित है ॥ ८० ॥

वन्ध्याऽष्टमेधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा । एकादशे स्त्रीजननी सदास्त्रप्रियवादिनी ॥ ८१ ॥ यारोगिणी स्यात्तुहिता संपन्ना चैव शीलतः । सानुज्ञायाधिवेत्तव्या नावमान्या च कर्हिचित् ॥ ८२ ॥

अर्थ—आठ वर्ष तक कोई सन्तान न होतो दूसरी स्त्री करले और सन्तान होकर मरते ही रहें तौ दशवर्ष में और लड़की ही होती हों तौ ग्यारह वर्ष के पश्चात्, तथा अप्रिय बोलने वाली हो तौ उसी समय (दूसरी करले) ॥ ८१ ॥ जो सदा बीमार रहे, परन्तु पति के अनुकूल और शीलवती हो तौ उससे आज्ञा लेकर दूसरी स्त्री करले और पहली का अपमान करना कभी उचित नहीं ॥ ८२ ॥

अधिविज्ञातुयानारी निर्गच्छेदरूपितागृहात् । सासद्यःसन्नि-
गोद्व्या त्याज्यावाकुलसन्निधौ ॥८३॥ प्रतिषिद्धापिचेद्यातुमद्य-
मभ्युदयेष्वपि प्रेक्षा समाजंगच्छेद्वा सादण्ड्या कृष्णलानिषद् ॥८४॥

अर्थ—दूसरी स्त्री आने से रुंठी हुई पूर्व स्त्री घर से निकल जावे तो वह उसी समय रोक कर रखनी चाहिये या मा बाप के घर पहुंचा देवे ॥८३॥ जो स्त्री विवाहादि उत्सवों में निषेध करने पर भी मद्य पीवे या नाच तमाशे में जावे तो पूर्वोक्त छः ६ “ कृष्णल ” राजदण्ड योग्य है ॥ ८४ ॥

“यदि स्वाद्यापराद्यैव विन्देरन्योपितो द्विजाः । तासां वर्णक्रमेण स्याज्ज्यैष्ठ्यं पूजा च वेश्म च ॥८५॥ भर्तुःशरीरशुश्रूषां धर्मकार्यं च नैत्यिकम् । स्वा चैव कुर्यात्सर्वेषां नाऽस्वजातिः कथंचन ॥ ८६ ॥”

अर्थ—“यदि द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) अपनी जाति वाली वा दूसरी जाति वालियों से विवाह करें तो उन की बड़ाई और मान तथा घर वर्णक्रम से हो (२ पुस्तकों में “वेश्मनः” पाठ है) ॥ ८५ ॥ पति के शरीर की सेवा और नैत्यिक धर्मकार्य को सब की स्वजातीय स्त्रियां ही करें, अन्य जाति की कभी न (करें) ॥ ८६ ॥”

“यस्तु तत्कारयेन्मोहात्सजात्या स्थितयाऽन्यया ।

यया ब्राह्मणचण्डालः पूर्वदृष्टस्तथैव सः ॥ ८७ ॥”

अर्थ—“जो स्वजातीय के रहते हुवे दूसरी से पूर्वोक्त कर्म मोहवश करावे वह जैसा ब्राह्मण चण्डाल पुरातन मुनियों ने कहा है वैसा ही है ॥ ” (८५ । ८६ । ८७वें श्लोक इस लिये माननीय नहीं कि ये द्विजों के लिये अध्याय ३ के श्लोक १५ । १६ के अनुसार पतित कराने वाले और सवर्ण के साथ विवाह की विवाहप्रकरणोक्त “सवर्णं लक्षणा” इत्यादि मनु की पूर्वाज्ञा के विरुद्ध हैं) ॥८७॥

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च ।

अप्राप्तमपि तां तस्मै कन्यां दद्यादथाविधि ॥८८॥

अर्थ—कुल आचारादि से उच्च और सुन्दर तथा गुणों में बराबर वर के लिये कुछ कम आयुवाली भी कन्या यथाविधि दे देवे । ८८ वें से आगे ४ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक प्रसिद्ध है—

[प्रयच्छेन्नग्निकां कन्यामृतुकालभयान्वितः ।

ऋतुमत्यां हि तिष्ठन्त्यामेनोदातारमृच्छति]

ऋतुकाल के भय से अऋतुमती कन्या का ही दान करदे। क्योंकि ऋतु-
मती के बैठे रहने से दाता को पाप चढ़ता है) ॥ ८८ ॥

काममामरणात्तिष्ठेद्गृहे कन्यर्तुमत्यमपि । न चैवैनां प्रयच्छेत्तु
गुणहीनाय कर्हिचित् ॥ ८९ ॥ त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती
सती । ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥ ९० ॥

अर्थ—चाहे कन्या ऋतुवाली होकर मरने तक घर में बैठी रहे परन्तु
गुणहीन के लिये इस का कभी दान न करे ॥ ८९ ॥ रजस्वला कन्या तीन वर्ष
तक प्रतीक्षा करे, फिर अपने बराबर गुणवाले पति को विवाह ले ॥ ९० ॥

अदीयमानाभर्तारमधिगच्छेदादिस्वयम्नैनः किञ्चिदवाप्नोति
न च यं साऽधिगच्छति ॥ ९१ ॥ अलङ्कारं नाददीत पित्र्यं कन्या
स्वयंवरा । मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेना स्याद्वदितं हरेत् ॥ ९२ ॥

अर्थ—(यदि पिता आदि की) न दी हुई कन्या आप ही पति को घर
ले तौ कन्या को कुछ पाप नहीं और न जिस (पति) को वह व्याही जाती
है (उसे कुछ पाप होता है) ॥ ९१ ॥ परन्तु स्वयं विवाह करने वाली कन्या, पिता
और माता या भाई का दिया हुआ आभूषण न ले, यदि उसे ले तौ चोर हो ॥ ९२ ॥

“पित्रे न दद्याच्छुल्कं तु कन्यामृतुमतीं हरन् । स हि स्वाम्यादति-
क्रामेदृतूनां प्रतिरोधनात् ॥ ९३ ॥ त्रिंशद्वर्षोद्धहेत्कन्यां दद्यां द्वादश
वार्षिकीम् । त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः ॥ ९४ ॥ ”

अर्थ—“ऋतुवाली कन्या को हरण करता हुआ उस के पिता को शुल्क
न दे । क्योंकि रजों के रोकने से वह स्वामित्व से हीन हो जाता है। (धन्य !
क्या बिना ऋतुमती का पिता “स्वामी” था !!!) ॥ ९३ ॥ तीस वर्ष का पुरुष
बारह वर्ष की मनोहारिणी कन्या से विवाह करे वा चौबीस वर्ष वाला आठ
वर्ष वाली से करे, जब कि शीघ्र न करने से धर्म पीड़ित होता हो”

(९३, ९४ के श्लोक इस लिये माननीय नहीं जान पड़ते हैं कि इन में कन्या का
मूल्य ऋतुमती होने पर न देना कहा है तौ क्या बिना ऋतुमती का विवाह हो

सकता है? और क्या बिना ऋतुमती का मूल्य देना ही चाहिये? बिना ऋतु के विवाह करना ९० के विरुद्ध है और मूल्य लेना ९८ के विरुद्ध है ॥ ९५ ॥

देवदत्तां पतिर्भार्या विन्दते नेच्छयात्मनः। तां साधवीं विभृया-
न्नित्यं देवानां प्रियमाचरन् ॥ ९५ ॥ प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः संतानार्थं
च मानवाः। तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः ॥ ९६ ॥

अर्थ—(“अगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गोर्हपत्याय देवाः” इत्यादि मन्त्रानुसार) देवतों की दी हुई भार्या को पति पाता है, कुछ अपनी इच्छा से ही नहीं, इसलिये देवतों का प्रिय आचरण करता हुआ उस सती का नित्य पालन करे ॥ ९५ ॥ गर्भधारण करने के लिये स्त्रियों का (ईश्वर ने) उत्पन्न किया और वीर्यसन्तान के लिये पुरुष उत्पन्न किये हैं। इसी से स्त्री के साथ पुरुष का वेद में समान धर्म कहा है ॥ ९६ ॥

“कन्यायां दत्तशुल्कायां स्त्रियेत यदि शुल्कदः।

देवराय प्रदातव्या यदि कन्याऽतुमन्यते ॥ ९७ ॥”

आददीतं न शूद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं ददन् ।

शुल्कं हि गृह्णन्कुरुते छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥ ९८ ॥

अर्थ—“कन्या का शुल्क देने पर यदि शुल्क देने वाला मरजावे तो देवर को कन्या दे देने चाहिये, यदि कन्या स्वीकार करे तो यह अगले ही ९८ के विरुद्ध है ॥ ९७ ॥” शूद्र भी (द्विजों की तो कथा ही क्या है) लड़की देता हुआ शुल्क ग्रहण न करे। शुल्क ग्रहण करने वाला छिपा हुआ कन्या का विक्रय करता है ॥ ९८ ॥

एतत्तु न परे चक्रुर्नापरे जातु साधवः। यदन्यस्य प्रतिज्ञाय
पुनरऽन्यस्य दीयते ॥ ९९ ॥ नानुशुश्रुम जात्वेतत्पूर्वेष्वपि हि
जन्मसु। शुल्कसंज्ञेन मूल्येन छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥ १०० ॥

अर्थ—यह पहिले शिष्ट पुरुष कभी नहीं करते थे और न कोई (शिष्ट) इस समय करते हैं, जो कि एक के लिये कन्यादान करके दूसरे को दी जावे ॥ ९९ ॥ पूर्व जन्मों में भी हमने कभी शुल्कसंज्ञक मूल्य से छिपा लड़की का वेषना नहीं सुना ॥ १०० ॥

अन्योन्यस्याव्यभिचारोभवेदामरणान्तिकः । एषधर्मः समासेन
ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ॥१०१॥ तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु
कृतक्रियौ । यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम् ॥ १०२ ॥

अर्थ—भार्या पति का मरण पर्यन्त आपस में व्यभिचार न होना ही स्त्री
पुरुषों का संक्षेप से श्रेष्ठ धर्म जानना चाहिये ॥१०१॥ विवाहवाले स्त्री पुरुषों
को सदा ऐसा यत्न करना चाहिये जिसमें कभी आपस में जुदाई न हो ॥१०२॥
एषस्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्मो वोरतिसंहितः । आपदपत्यप्राप्तिश्च
दायभागं निबोधत ॥१०३॥ ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः
समम् । भजेरन्पतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः ॥ १०४ ॥

अर्थ—यह भार्या और पति का आपस में प्रीतियुक्त धर्म और सन्तान के
न होने में सन्तान की प्राप्ति भी तुम से कही । अब दायभाग को सुनो ॥१०३॥
माता पिता के मरने पर भाई लोग मिलकर बाप के रिक्थ (जायदाद आदि)
के बराबर भाग करें । उन के जीवते पुत्रों का अधिकार नहीं ॥ १०४ ॥

ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पितृयं धनमशेषतः । शेषास्तमुपजीवेयु-
र्यथैव पितरं तथा ॥ १०५ ॥ ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति
मानवः । पितृणामनृणश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति ॥ १०६ ॥

अर्थ—(अथवा) पिता के सम्पूर्ण धन को ज्येष्ठ पुत्र ही ग्रहण करे और
शेष छोटे भाई खाना कपड़ा लेवें, जैसे पिता के सामने रहते थे ॥ १०५ ॥ ज्येष्ठ
के उत्पन्न होने मात्र से मनुष्य पुत्र वाला कहलाता और पितृक्कण से छूट
जाता है । इस कारण ज्येष्ठ पुत्र सम्पूर्ण धन लेने योग्य है ॥ १०६ ॥

यस्मिन्ननृणं सन्नयति येन चानन्त्यमश्नुते । स एव धर्मजः पुत्रः
कामजानितरान्विदुः ॥ १०७ ॥ पितेव पालयेत्पुत्रान् ज्येष्ठो भ्रातृन्
यवीयसः । पुत्रवच्चापि वर्त्तेरन् ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः ॥ १०८ ॥

अर्थ—जिस के उत्पन्न होने से (पितृ) क्लेश दूर होता है और मोक्ष प्राप्त
होता है उसी को धर्मज पुत्र जाने । औरों को कामज कहते हैं ॥ १०७ ॥ ज्येष्ठ
भ्राता छोटे भाइयों का पिता, पुत्र के समान पालन करे और छोटे भाई
भी बड़े भाई को धर्म से पिता के समान मानें ॥ १०८ ॥

ज्येष्ठःकुलं वर्धयति विनाशयतित्रापुनः । ज्येष्ठ पूज्यतमोलोके
ज्येष्ठःसद्विरगर्हितः ॥१०९॥ योज्येष्ठोज्येष्ठवृत्तिः स्यान्मतेव स
पितेवसः । अज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात्स संपूज्यस्तु बन्धुवत् ॥११०॥

अर्थ-ज्येष्ठ कुल को बढ़ाता है, ज्येष्ठ ही कुल का नाश करता है, ज्येष्ठ
ही लोगों में अतिपूज्य है और ज्येष्ठ सत्पुरुषों से निन्दा को नहीं पाता
॥१०९॥ जो ज्येष्ठवृत्ति हो (पितृवत् पोषणादि करे) वह माता पिता के
समान पूज्य है और यदि माता पिता के तुल्य पोषणादि न करे तो बन्धुवत् ११०
एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया । पृथग्विवर्धते धर्म-
स्तस्माद्भूम्या पृथक्क्रिया ॥१११॥ ज्येष्ठस्य विंशउद्धारः सर्वद्रव्याच्च
यद्वरम् । ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तरीयं तु यवीयसः ॥११२॥

अर्थ-इस प्रकार विना बाँटे सब भाई साथ रहें अथवा धर्म की इच्छा
से सब भाई विभाग करके अलग रहें । अलग २ में धर्म बढ़ता है, इस लिये
विभाग धर्मानुकूल है ॥१११॥ उद्धार (जो निकाल कर-भाग के अतिरिक्त भेंट
दिया जाय) बड़े का सब द्रव्यों में से उत्तम बीसवां भाग होना चाहिये और
विचले का चालीसवां तथा छोटे का ८० वां भाग होना चाहिये (जो बचे
उस को ११६ के अनुसार सब बराबर बाँट लें) ॥११२॥

ज्येष्ठश्चैव कनिष्ठश्च संहरेतां यथोदितम् । येऽन्ये ज्येष्ठकनिष्ठाभ्यां
तेषां स्यान्मध्यमं धनम् ॥११३॥ सर्वेषां धनजातानामाददी-
ताग्रधमग्रजः । यच्च सातिशयं किञ्चिद्दशतश्राप्नुयाद्वरम् ॥११४॥

अर्थ-ज्येष्ठ और कनिष्ठ, पूर्व श्लोकानुसार उद्धार ग्रहण करें और ज्येष्ठ
तथा कनिष्ठों से जो अतिरिक्त हों उन (मध्यमों) का मध्यम भाग होना
चाहिये ॥११३॥ सब प्रकार के धनों में जो श्रेष्ठ धन हो उस को और जो सब
से अधिक हो उस को तथा जो एक वस्तु १० वस्तुओं में अधिक उत्तम हो
उस को भी ज्येष्ठ ग्रहण करे ॥ ११४ ॥

उद्धारो न दशस्वस्ति संपन्नानां स्वकर्मसु । यत्किञ्चिदेव देयं तु
ज्यायसे मानवर्धनम् ॥११५॥ एवं समुद्धृतोद्दारे समानं शान्

प्रकल्पयेत्। उद्धारऽनुदधृने त्वेषामियं स्यादंगकल्पना ॥११६॥

अर्थ—पूर्व श्लोक में दश में श्रेष्ठ वस्तु यथा पाये, दत्त्यादि उद्धार कम्पा परन्तु स्वकर्मों में समृद्ध भ्राताओं का नहीं है किन्तु वे जो कुछ ज्येष्ठ की देदेवें, वही सम्मानार्थ है ॥११५॥ पूर्वोक्त प्रकार से उद्धार निकलने पर बराबर भाग करें। यदि कोई उद्धार न निकाले तो आगे कहे अनुसार भाग बाँटे ॥११६॥
एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्धं ततो नुजः। अंशमंशं यत्रीयांस इति धर्मे व्यवस्थितः ॥११७॥ स्वेभ्योऽशेभ्यस्तुकन्याभ्यः प्रदद्युर्भा-
तरः पृथक्। स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः ॥११८॥

अर्थ—ज्येष्ठ पुत्र एक भाग अधिक (अर्थात् दो भाग) और उस में छोटा डेढ़ भाग और शेष छोटे सब एक एक भाग ग्रहण करें। इस प्रकार धर्म की व्यवस्था है ॥११७॥ भाई लोग अपने अपने भागों में से चीथा भाग बहनों को दें। यदि देना न चाहें तो पतित हों ॥ ११८ ॥

अजाविकं सैकशफं न जातु विषमं भजेत्। अजाविकं तु विषमं ज्येष्ठस्यैव विधीयते ॥११९॥ यत्रीयान् ज्येष्ठ भार्यायां पुत्रमुत्पादयेद्वादि। समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्मे व्यवस्थितः ॥१२०॥

अर्थ—बकरी, भेड़ तथा घोड़ा आदि एक खुर वाले पशु का विषम संख्या होने पर कभी भाग न करे। किन्तु वह ज्येष्ठ पुत्र का ही है ॥११९॥ यदि कनिष्ठ भाई, ज्येष्ठ की भार्या में (नियोगविधि से) पुत्र उत्पन्न करे तो वहां सम विभाग होना चाहिये। ऐसी धर्म की व्यवस्था है ॥ १२० ॥

उपसर्जनं प्रधानस्य धर्मतो नोपपद्यते।

पिता प्रधानं प्रजने तस्मादुर्मणं तं भजेत् ॥१२१॥

“पुत्रः कनिष्ठोज्येष्ठायां कनिष्ठायां च पूर्वजः।

कथं तत्र विभागः स्यादिति चेत्संशयो भवेत् ॥ १२२ ॥”

अर्थ—प्रधान की अप्रधानता धर्मानुकूल सिद्ध नहीं है। और उत्पादन में पिता प्रधान है। इस कारण धर्म से उस की सेवा करे ॥ १२१ ॥ “प्रथम विवाहिता में कनिष्ठ पुत्र और द्वितीय विवाहिता में ज्येष्ठ पुत्र होवे तो वहां किस प्रकार विभाग होना चाहिये? यदि इस प्रकार का संशय हो तो:—॥१२२॥”

“एकं वृषभमुद्धरं संहरेत स पूर्वजः । ततोऽपरे ज्येष्ठवृषास्तदूनानां
स्वमावृतः ॥ १२३ ॥ ज्येष्ठस्तु जातो ज्येष्ठार्यां हरेद्वृषभपोहशः ।
ततः स्वमावृतः शेषा भजेरन्निति धारणा ॥ १२४ ॥ ”

“अर्थ—पहिली में उत्पन्न हुवा वह कनिष्ठ भी एक श्रेष्ठ बैल भेंट में
ग्रहण करे । उस के अनन्तर कनिष्ठाओं से उत्पन्न हुवे पुत्र क्रम से अपनी २
माताओं के विवाहकगानसार ज्येष्ठ हों, वे एक एक वृषभ ग्रहण करें ॥ १२३ ॥
(एक श्लोक का पाठ भी अस्तव्यस्त है) यदि ज्येष्ठ पुत्र ज्येष्ठा में उत्पन्न हो
तो १ बैल के साथ पन्द्रह गाय ग्रहण करे । उस के अनन्तर अपनी माता
की छोटाई के हिसाब से शेष भाग बांट लेवें, यह निर्णय है ॥ १२४ ॥ ”

‘सहस्रस्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषतः ।

न मावृतो ज्येष्ठमस्ति जन्मतो ज्येष्ठममुच्यते ॥ १२५ ॥ ”

जन्मज्येष्ठ्येन चाह्वानं सुब्रह्मण्याख्यपि स्मृतम् ।

यमयोश्चैव गर्भेषु जन्मतो ज्येष्ठता स्मृता ॥ १२६ ॥

अर्थ—“समस्त समान जाति की स्त्रियों में उत्पन्न हुवे पुत्रों की माता
की ज्येष्ठता से ज्येष्ठता नहीं, किन्तु जन्म से ज्येष्ठता कहाती है ॥ ”

(१२२ से १२५ तक श्लोक अविहित शास्त्रविरुद्ध अनेक तथा असवर्णा
से विवाहों के समर्थक और ३।१५-१६ के विरुद्ध होने से त्याज्य हैं ॥ १२५ ॥

सुब्रह्मण्याख्य मन्त्र (“सुब्रह्मण्यो ३ इन्द्र आगच्छ”, इत्यादि ज्योति-
ष्टोम में इन्द्र को बुलाने में पढ़ते हैं । उस) में ज्येष्ठ पुत्र के नाम से कहते हैं
(कि अमुक का पिता यज्ञ करता है) सो वहां भी और जौड़िया दो पुत्रों
में से गर्भों में, प्रथम जन्मने वाले को ज्येष्ठता कही है ॥ १२६ ॥

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् ।

यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम् ॥ १२७ ॥

अर्थ—विना पुत्र वाला इस विधि से कन्या को “पुत्रिका,, करे कि वि-
वाह के समय में (जामाता से) कहे कि जो पुत्र इस के होगा वह मेरा
जलादि दान करने वाला हो (ऐसी प्रतिज्ञा करके विवाह करे ॥

१२७ वें के आगे १ श्लोक ३ पुस्तकों में अधिक पाया जाता है:—

[अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम् ।

अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रीभवेदिति] ॥

भ्राता से रहित अलंकृता कन्या आप को दूंगा, परन्तु इस में जो पुत्र उत्पन्न हो वह मेरा पुत्र हो जावे, यह) ॥ १२७ ॥

“अनेन तु विधानेन पुरा चक्रेऽय पुत्रिकाः ।

विवृदुषर्षं स्ववंशस्य स्वयं दत्तः प्रजापतिः ॥ १२८ ॥ ,,

अर्थ—“पहिछे अपने वंश की वृद्धि के लिये आप दत्त प्रजापति ने भी इस विधान से पुत्रिकाएं किई थीं ॥ १२८ ॥ ,, (यह दत्त के पद्यात् की रचना १२८ । १२९ में है) ॥

“ददौ स दंग धर्माय कश्यपाय त्रयोदश ।

सोमाय राज्ञे सत्कृत्य प्रीतात्मा सप्तविंशतिम् ॥ १२९ ॥”

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिना समा ।

तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्योधनं हरेत् ॥ १३० ॥

“अर्थ—उस प्रीतात्मा दत्त प्रजापति ने सत्कार करके दश धर्म को और तेरह कश्यप को तथा सत्ताईस कन्या चन्द्रमा को (पुत्रिका धर्म से) दीं थीं ॥ १२९ ॥”

जैसा आपा वैसा पुत्र और पुत्र के समान कन्या है । फिर भला उस के होते हुवे अपने यहां का धन दूसरा कैसे हरे ? ॥ १३० ॥

मातुस्तु यौतकं यत्स्यात्कुमारीभागएवसः। दीहित्रएवच हरे-
दपुत्रस्याखिलं धनम् ॥ १३१ ॥ दीहित्रोह्यखिलं रिक्थमपुत्रस्य
पितुर्हरेत् । सएव दद्याद्द्वौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च ॥ १३२ ॥

अर्थ - माता का कोड़चा कुमारी का ही भाग है और अपुत्र का संपूर्ण धन दीहित्र ही लेवे ॥ १३१ ॥ दीहित्र ही अपुत्र पिता का संपूर्ण धन ले और वही पिता और नाना इन दोनों को पिण्ड देवे । (पिण्डदान का तात्पर्य वृद्धावस्था में सेवार्थ भोजन आसादि देना जानो) ॥ १३२ ॥

पौत्रदीहित्रयोर्लोकेन विशेषोऽस्ति धर्मतः। तयोर्हि मातापितरौ
संभूतौ तस्य देहतः ॥ १३३ ॥ पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजा-
यते । समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ॥ १३४ ॥

अर्थ-लोक में पुत्र और दौहित्रों की धर्म से विशेषता नहीं है क्योंकि उन के माता पिता उसी के देह से उत्पन्न हैं ॥१३३॥ पुत्रका करने पर यदि पीछे से पुत्र हो जावे तौ वहाँ (पुत्र तथा दौहित्र के) सम विभाग करे । क्योंकि स्त्री की ज्येष्ठता नहीं है ॥ १३४ ॥

अपुत्रायां मृतायां तु पुत्रिकायां कथञ्चन धनं तत्पुत्रिकाभर्ता
हरेतैवाऽविचारयन् ॥१३५॥ अकृता वा कृता वापि यं विन्देत्सदृ-
शात्सुतम् । पौत्रीमातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेदुनम् ॥१३६॥

अर्थ-“पुत्रिका” कदाचित् पुत्ररहिता ही मर जावे तौ उस धन को पुत्रिका का पति ही विना विचार किये लेले ॥१३५॥ पुत्रिका का विधान किया हो वा न भी किया हो, समान जाति वाले जामाता से जिस पुत्र को पावे, उसी से मातामह पौत्र वाला कहावे और पिण्ड दे और धन ले ॥ १३६ ॥

पुत्रेण लोकान् जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते । अथ पुत्रस्य पौत्रेण
ब्रधनस्याप्नोति विष्टपम् ॥१३७॥ पुन्नाम्नो नरकादस्मात्त्रायते
पितरं सुतः । तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥१३८॥

अर्थ-पुत्र के होने से लोकों को जीतता और पौत्र के होने से चिरकाल पर्यन्त सुख में निवास करता है । और पुत्र के पौत्र (प्रपौत्र) से तौ मानों आदित्यलोक को पाता है ॥१३७॥ जिस कारण पुन्नाम नरक से पुत्र (सेवा करके) पिता को बचाता है, इस कारण आप ही ब्रह्मा ने ‘पुत्र’ कहा है ॥१३८॥ पौत्रदौहित्रयोर्लोक विशेषो नोपपद्यते । दौहित्रोपि ह्यमुत्रैव संतापयति पौत्रवत् ॥१३९॥ मातुः प्रथमतः पिण्डं निर्वपेत्पुत्रिकासुतः । द्वितीयं तु पितुस्तस्यास्तृतीयं सत्पितुः पितुः ॥१४०॥

अर्थ-लोक में पौत्र और दौहित्र में कुछ विशेषता नहीं समझी जाती। क्योंकि दौहित्र भी इस (मातामह) को पौत्रवत् ही परलोक पहुँचाता है ॥१३९॥ पुत्रिकापुत्र, प्रथम माता का पिण्ड करे और दूसरा मातामह का, तीसरा माता-मह के पिता का (इस प्रकार तीनों की अन्नादि से सेवा करे) ॥ १४० ॥

उपपन्नो गुणैः सर्वैः पुत्रो यस्य तु दन्निमः । स हरेतैव तद्विषयं
संप्राप्नोऽप्यन्यगोत्रतः ॥१४१॥ गोत्रविषये जनयितुर्न हरेद्दन्निमः
क्वचित् । गोत्रविषयानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा ॥१४२॥

अर्थ-जिसका दत्तक पुत्र (अध्ययनादि) सम्पूर्ण गुणों से युक्त है, वह दूसरे गोत्र से प्राप्त हुवा भी उस के भाग को ग्रहण करे ॥१४१॥ (जो उत्पादक पिता ने अन्य को दे दिया उस) उत्पन्न करने वाले पिता के गोत्र और धन को दत्तक कभी न पावे, क्योंकि पिण्ड=घास आदि देना ही गोत्र और धन का अनुगामी है और दिये हुवे पुत्र का पिण्डादि उस जनक पिता से छूट जाता है ॥१४२॥

अनियुक्तासुतश्चैव पुत्रिण्याप्रश्नदेवरात् । उभौतौ नार्हतौ भागं
जारजातककामजौ ॥१४३॥ नियुक्तायामपि पुमान्नार्यो जातो
ऽविधानतः । नैवार्हः पैतृकं रिक्थं पतितोत्पादितो हि सः ॥१४४॥

अर्थ-विना नियोगविधि से उत्पन्न हुवा पुत्र और लहके वाली का नियोग विधि से भी देवर से उत्पन्न हुवा पुत्र, ये दोनों भाग को नहीं पाते । क्यों कि ये दोनों जार से उत्पन्न और कामज हैं ॥ १४३ ॥ नियुक्ता स्त्री में भी विना विधान उत्पन्न हुवा पुत्र (अर्थात् घृतादि लगाकर जिस नियम से रहना चाहिये, उसके विपरीत करने वालों से उत्पन्न पुत्र) क्षेत्र वाले पिता के धन को पाने योग्य नहीं है । क्योंकि वह पतित से उत्पन्न हुवा है ॥ १४४ ॥

हरेत्तत्र नियुक्तायां जातः पुत्रो यथौरसः । क्षेत्रिकस्य तु तद्वीजं
धर्मतः प्रसवश्च सः ॥१४५॥ धनं यो विभृयाद्भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव
च । सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्वनम् ॥ १४६ ॥

अर्थ-नियुक्ता में उत्पन्न हुवा पुत्र, क्षेत्र वाले पिता का धन लेवे, जैसे औरस पुत्र लेता है क्योंकि वह धर्म से उत्पन्न हुवा, इस कारण क्षेत्र वाले का वीज समझा जाता है ॥१४५॥ जो मरे भाई की स्त्री तथा धन का धारण करे वह (नियोग-विधि से) भाई का पुत्र उत्पन्न करके उस धन को उसी को दे देवे ॥१४६॥

याऽनियुक्ताऽन्यतः पुत्रं देवराद्वाऽप्यऽब्राप्नुयात् ।

तं कामजमऽरिक्थीयं वृथोत्पन्नं प्रचक्षते ॥१४७॥

“एतद्विधानं विज्ञेयं विभागस्यैकयोनिषु ।

बह्वीषु चैकजातानां नानास्त्रीषु निबोधत ॥ १४८ ॥”

अर्थ-जो स्त्री विना नियोग देवर से वा दूसरे से पुत्र को प्राप्त हो, उस कामज को द्रव्य का भागी नहीं कहते ॥१४७॥ “समान जातिवाली भार्या में

एक पति से उत्पन्न पुत्रों के विभाग का यह विधान जानना चाहिये। अब जन्मा जाति की बहुत स्त्रियों में एक पति से उत्पन्न पुत्रों का (विभाग) सुनी (१४८)

“ब्राह्मणस्यानुपूर्व्येण चतस्रस्तु यदि स्त्रियः । तासां पुत्रेषु जातेषु
विभागेऽयं विधिः स्मृतः ॥ १५९ ॥ कीनाशोगोवृषोयानमलङ्कारश्च
वेश्म च । विप्रस्यौद्गारिकं देयमेकांशश्च प्रधानतः ॥ १५० ॥ ”

“अर्थ—ब्राह्मण की क्रम से: (ब्राह्मणी से आदि लेके) यदि चार भायाँ होवें तो उन के पुत्रों में यह विभाग विधि कही है कि:-॥१४९॥ कृषि, वाला बैल, अश्वादि सवारी, आभूषण, घर और प्रधान अंश प्रधानभूत ब्राह्मणी के पुत्र को देवे (श्रीरों को आगे कहे अनुसार दे) ॥ १५० ॥”

“अयं शं दायानुद्वेष्टि प्रोद्धावंशौ क्षत्रियासुतः । वैश्याजः सार्धमेवांश-
नंशं शूद्रासुतो हरेत् ॥ १५१ ॥ सर्वं वा रिक्थजातं तद्दृश्या
परिकल्प्य च । तस्यै विभागं कुर्वीत विधिवाजनेन धर्मवित् ॥ १५२ ॥”

“अर्थ-पिता के धन से ब्राह्मणी का पुत्र तीन अंश लेवे और क्षत्रिया का सुत दो अंश तथा वैश्या का पुत्र डेढ़ अंश और शूद्रा का एक अंश लेवे ॥ १५१ ॥ अथवा (विना उद्धार के निकाले) सम्पूर्ण धन के दश भाग करके धर्म का जानने वाला इस विधि से धर्म्य विभाग करे कि:-॥ १५२ ॥”

“चतुरोऽंशान्हरेर्द्विप्रस्त्रीनंशान्क्षत्रियासुतः । वैश्यापुत्रोहरेर्द्वद्वयं श-
मंशं शूद्रासुतोहरेत् ॥ १५३ ॥ यद्यपि स्यात्तु सत्पुत्रोऽप्यसत्पुत्रोऽपि
वा भवेत् । नाधिकं दशमाद्दद्याच्छूद्रापुत्राय धर्मतः ॥ १५४ ॥ ”

“अथ—(१० भागों में से) चार अंश ब्राह्मणी का पुत्र और क्षत्रिया का तीन अंश तथा वैश्या का पुत्र दो अंश और शूद्रा का पुत्र दो अंश ले ॥१५३॥ यद्यपि सत्पुत्र हो वा असत्पुत्र हो परन्तु धर्म से शूद्रा के पुत्र को दशमांश से अधिक न दे ॥ १५४ ॥”

“ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्रापुत्रो न रिक्थभाक् । यदेवास्य पिता
दद्यात्तदेवास्य धनं भवेत् ॥ १५५ ॥ समवर्णांश्च ये जाताः सर्वे पुत्रा
द्विजन्मनाम् । उदारं ज्यायसे दत्त्वा भजेरन्नितरे समम् ॥ १५६ ॥”

“अर्थ—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों का शूद्रा से उत्पन्न हुवा पुत्र धन का भागी नहीं, किन्तु जो कुछ उस का पिता देदे, वही उस का धन हो ॥१५५॥ समान जाति की भार्या में द्विजातियों से उत्पन्न हुवे सब पुत्र ज्येष्ठ को उद्धार देकर शेष को सम भाग करके बांट लें ॥ १५६ ॥”

“शूद्रस्य तु सवर्णैव नान्या भार्या विधीयते । तस्यां जाताः समांगाः स्युर्यदि पुत्रशतं भवेत् ॥ १५७ ॥ पुत्रान् द्वादश यानाह नृणां स्वायम्भुवोऽसुनुः । तेषां षड् बन्धुदायादाः षड्ऽदायादवान्धवाः ॥ १५८ ॥”

“अर्थ—शूद्रको समान जाति ही की भार्या कही है, दूसरे वर्ण की नहीं कही । उस शूद्रा में यदि १०० पुत्र भी उत्पन्न हों तो भी समान अंग वाले ही हों ॥ १५७ ॥ जो मनुष्यों के द्वादश पुत्र स्वायम्भुव मनु ने कहे हैं उन में छः बन्धुदायाद हैं और छः अदायाद बान्धव हैं ॥”

(१४८ से १५८ तक ११ श्लोक भी हमारी सम्मति में असमान्य हैं । क्योंकि यथार्थ में मनु की आज्ञा से द्विजों को सबर्णों से ही विवाह कहा है । अस-वर्णों से विवाह करने पर पतित हो जाते हैं । तब ब्राह्मणत्यादि द्विजत्व ही नहीं रहता । १४८ में इन असवर्णाओं के दायभाग की प्रस्तावना है । १४९ से १५४ तक ब्राह्मण की ४ स्त्रियों के, जो चारों वर्णों में से एक २ हों, पुत्रों का दायभाग है । फिर १५५ में शूद्रापुत्र को दायभागित्व का निषेध करके ये असमान्य श्लोक आपस में भी लड़ते हैं । तथा ब्राह्मण की चारों वर्ण की ४ स्त्रियों के पुत्रों का तौ वर्णन किया, परन्तु क्षत्रिय की ३ वर्ण की ३ स्त्रियों और वैश्य की २ वर्ण की २ स्त्रियों के पुत्र कोरंकोर ही रक्खे हैं । १५८ का स्पष्ट की अन्यकृत है जो इन अपने से पूर्व से १० के भी अन्यकृत होने की पुष्टि करता है) ॥ १५८ ॥ ”

औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिमएव च । गूढोत्पन्नोऽपविदुश्च दायादाबान्धवाश्च षट् ॥१५९॥ कानीनश्च सहोदश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा । स्वयंदत्तश्च शौद्रश्च षड्ऽदायादवान्धवाः ॥ १६० ॥

अर्थ—औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढोत्पन्न, अपविदु, ये छः धन के भागी बान्धव हैं ॥ १५९ ॥ कानीन, सहोद, क्रीत, पौनर्भव, स्वयंदत्त और शौद्र; ये छः धन के भागी नहीं किन्तु केवल बान्धव हैं (इन के लक्षण १६६ से कहेंगे) ॥ १६० ॥

यादृशं फलमाप्नोति कुल्लवैः सन्तरञ्जलम् । तादृशं फलमाप्नोति

कुपुत्रैः संतरंस्तमः ॥१६१॥ यद्वेकरिविधनौ स्यातामौरसक्षेत्रजौ
सुतौ । यस्य यत्पैतृकं विधत्तं स तद् गृह्णीत नेतरः ॥ १६२॥

अर्थ—बुरी (टूटी फूटी) नावों से जल में तरता हुवा जिस प्रकार के फल को पाता है, उसी प्रकारका फल कुपुत्रों से दुःख को तिरने वाला पाता है ॥१६१॥ यदि अपुत्रके क्षेत्र में नियोगविधि से एक पुत्र हो, और किसी प्रकार दूसरा औरस पुत्र भी होजावे तो दोनों अपने २ पिता के धन को ग्रहण करें, अन्य को अन्य का पुत्र न ले ॥ १६२ ॥

एकपुत्रौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः । शेषाणामानृशंस्यार्थं
प्रदद्यात्तु प्रजीवनम् ॥१६३॥ पष्टं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृका-
दुनात् । औरसो विभजन्दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा ॥ १६४ ॥

अर्थ—एक औरस पुत्र ही पिता के धन का भागी होता है, शेष सब को दया से भोजन यस्त्रादि देदेवे ॥ १६३ ॥ औरस पुत्र दाय का विभाग करता हुवा, क्षेत्रज को छटा वा पांचवां भाग पितृधन से देदेवे ॥ १६४ ॥

औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ पितृविधत्तस्य भागिनौ । दशापरे तु क्रमशो
गोत्रविधत्तांशभागिनः ॥१६५॥ स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुरपा-
येद्विधम् । तमौरसं विजानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम् ॥१६६॥

अर्थ—औरस और क्षेत्रज ये दोनों पुत्र (उक्त प्रकार से) पितृधन के लेने वाले हों और क्रमशः शेष दश पुत्र गोत्रधन के भागी हों ॥१६५॥ विवाहादि संस्कार किये हुवे अपने क्षेत्र में आप जिस को उत्पन्न करे, उस को पहिले कहा हुवा “ औरस ” पुत्र जानिये ॥ १६६ ॥

यस्तत्पुत्रः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा स्वधर्मेण नियु-
क्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः ॥१६७॥ मातापितावा दद्यातां यमद्विः
पुत्रमापदि । सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्तमः सुतः ॥१६८॥

अर्थ—जो मृत वा नपुंसक वा प्रसवविरोधी व्याधि से युक्त की स्त्री में नियोगविधि से उत्पन्न होवे वह “क्षेत्रज” पुत्र कहा है ॥१६७॥ माता वा पिता आपत्काल में जिस समान जाति वाले प्रीतियुक्त पुत्र को संकल्प करके दे दें, वह “दत्तम” पुत्र (दत्तक) जानने योग्य है ॥ १६८ ॥

सदृशं तु प्रकुर्यादं गुणदोषविचक्षणम् । पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स
विज्ञेयश्चकृत्रिमः ॥ १६९ ॥ उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्य
सः । स गृहे गूढोत्पन्नस्तस्य स्यादस्य तत्पजः ॥ १७० ॥

अर्थ—जो समान जाति वाला और गुण दोष का जानने वाला तथा पुत्र के
गुणों से युक्त पुत्र कर लिया जावे उसको “कृत्रिम” पुत्र जानना चाहिये १६९
जिसके घर में उत्पन्न होवे और न जाना जाय कि यह किसका है, वह घर
में “गूढोत्पन्न” उसका पुत्र है, जिसकी कि स्त्री ने जना है ॥ १७० ॥

मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा।यं पुत्रं परिगृह्णीयादप-
विदुः स उच्यते ॥ १७१ ॥ पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्गृहः ।
तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोदुः कन्यासमुद्रवम् ॥ १७२ ॥

अर्थ—जो माता पिता का अथवा उन दोनों में से किसी एक का छोड़ा
हुंवा है, उस पुत्र को जो ग्रहण करे, उसको उसका “अपविदु” पुत्र कहते
हैं ॥ १७१ ॥ पिता के घर में जो कन्या बिना प्रकट किये पुत्र को जने उस
कन्योत्पन्न को उस के पति का “कानीन” पुत्र नाम से कहै ॥ १७२ ॥

यागर्भिणीसंस्क्रियते ज्ञाताऽज्ञातापि वासती । वोदुःसगर्भो भ-
वति सहोदृतिर्चोच्यते ॥ १७३ ॥ क्रीणीयादस्त्वपत्यार्थं मातापित्रो-
र्यमन्तिकात् । स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ॥ १७४ ॥

अर्थ—जो ज्ञात वा अज्ञात गर्भिणी के साथ विवाह किया जावे, वह उसी
पति का गर्भ है और उसको “सहोद” कहते हैं ॥ १७३ ॥ सन्तान चलाने के
लिये माता पिता के पास से जिसे मोल ले लेवे, वह उसके सदृश हो वा
असदृश हो, उसको उस का “क्रीतक” पुत्र कहते हैं ॥ १७४ ॥

यापत्यावापरित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया । उत्पादयेत्पुनर्भू-
त्वा सपौनर्भव उच्यते ॥ १७५ ॥ सा चेदक्षतयोनिः स्याद् गतप्रत्या-
मतापि वा । पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥ १७६ ॥

अर्थ—जो पति की छोड़ी हुई वा विधवा स्त्री अपनी इच्छा से दूसरे की
भार्या होकर पुत्र को जने उसको “पौनर्भव” पुत्र कहते हैं ॥ १७५ ॥ वह
स्त्री यदि पूर्व पुरुष से संयुक्त न हुई तो दूसरे पौनर्भव पति से फिर

विवाह संस्कार करने के योग्य है । (अथवा फिर से उसी के पास जावे ती भी पुनः विवाह संस्कार करना योग्य है) ॥ १७६ ॥

मातापितृविहीनोयस्त्यक्तोवास्यादकारणात्।आत्मानंस्पर्शये-
दस्मै स्वयंदत्तस्तुसस्मृतः॥१७७॥ यंब्राह्मणस्तुशूद्रायां कामादु-
त्पादयेत्सुतम्। स पारयन्नेव शवस्तस्मात्पारशवःस्मृतः॥१७८॥

अर्थ-जो माता पिता से हीन वा विना अपराध निकाला हुआ अपने को जिसे देदे, वह "स्वयंदत्त" कहा है ॥ १७७ ॥ जिस को ब्राह्मण शूद्रा में काम से उत्पन्न करे वह जीता हुआ भी शव (मृतक) के तुल्य है, इस से उस को "पारशव" (या "शौद्र ") कहा है ॥ १७८ ॥

दास्यांवादासदास्यांवायःशूद्रस्यसुतोभवेत्।सोऽनुज्ञातोहरेदंश-
मिति धर्मोव्यवस्थितः ॥ १७९ ॥ क्षेत्रजादीन्सुतानेतानेकादश
यथोदितान्।पुत्रप्रतिनिधीनाहुःक्रियालोपान्मनीषिणः॥१८०॥

अर्थ-दासी में वा दास की स्त्री में जो शूद्र का पुत्र हो वह (पिता की आज्ञा से) भाग लेवे। यह शास्त्र की मर्यादा है ॥१७९॥ इन उक्त क्षेत्रजादि एकादश पुत्रों को (सेवादि) क्रिया का लोप न हो, इस कारण पुत्र का प्रतिनिधि बुद्धिमानों ने कहा है ॥ १८० ॥

यएतेऽभिहिताःपुत्राःप्रसङ्गादन्यवीजजाः।यस्यतेशीजतोजाता-
स्तस्यतेनेतरस्यतु ॥ १८१ ॥ भ्रातृणामेकजातानामेकश्चेत्पुत्र-
वान्भवेत्।सर्वास्तांस्तेन पुत्रेण पुत्रिणोमनुरव्रवीत् ॥ १८२ ॥

अर्थ-जो ये (औरस के) प्रसङ्ग से दूसरे के बीज से उत्पन्न हुवे पुत्र कहे हैं, वे जिस के बीज से उत्पन्न हुवे हों उसी के हैं, दूसरे के नहीं ॥१८१॥ सहोदर भाइयों में एक भाई भी पुत्रवान् हो ती उन सब को पुत्रवाला (मुक्त) मनु ने कहा है (अर्थात् अन्य भाइयों को नियोग वा पुनर्विवाहादि नहीं करना चाहिये) ॥ १८२ ॥

सर्वासामेकपत्नीनामेकाचेत्पुत्रिणीभवेत्।सर्वास्तास्तेन पुत्रेण
प्राहपुत्रवतीर्मनुः ॥ १८३ ॥ श्रेयसः श्रेयसोऽलाभे पापीयान्
रिक्थमर्हति।वहवश्चेत्तु सदृशाःसर्वेरिक्थस्य भागिनः॥१८४॥

अर्थ—एक पुरुष की कई स्त्रियों में यदि एक पुत्रवाली हो तो उस पुत्र से उन सब को (मुक्त मनु ने पुत्र वाली कहा है ॥१८३॥ औरसादि पुत्रों में पूर्व २ के अभाव में दूसरे २ नीच पुत्र धन को पाने योग्य हैं और यदि बहुत से समान हों तो सब धन के भागी होंगे ॥ १८४ ॥

न भ्रातरोन पितरः पुत्रास्त्रिव्यहराः पितुः । पिता हरेदऽपुत्रस्य
त्रिव्यं भ्रातर एव च ॥ १८५ ॥ त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः
प्रवर्त्तते । चतुर्थः संप्रदातेषां पञ्चमो नोपपद्यते ॥ १८६ ॥

अर्थ—न सहोदर भाई, न पिता धन को लेने वाले हैं किन्तु पुत्र ही धन के लेने वाले हैं, परन्तु अपुत्र का धन पिता और भाई ले लेंगे ॥१८५॥ पित्रादि तीनों को जल और पिण्ड (भोजन) देवे, चौथा पिण्ड वा उदक का देने वाला है । पांचवें का यहां (सेवादि कार्य में) सम्बन्ध ही नहीं हो सकता ॥

(१८६ से आगे यह श्लोक केवल एक पुस्तक में ही मिलता है, अनुमान है कि अन्यो में से जाता रहा:-

(असुतास्तु पितुः पत्न्यः समानांशाः प्रकीर्त्तिताः ।

पितामह्यश्च ताः सर्वा मातृकल्पाः प्रकीर्त्तिताः)

अर्थात्—अपने पिता की जो अन्य अपुत्र भार्या (अपनी मासी) हों वे सब समान अंश की भागिनी हैं और पितामही भी । ये सब (माता के समान ही कही हैं) ॥ १८६ ॥

अनन्तरः सपिण्डादस्तस्य तस्य धनं भवेत् । अत ऊर्ध्वं सकुल्यः
स्यादाचार्यः शिष्य एव वा ॥ १८७ ॥ सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा
त्रिव्यभागिनः । त्रैविद्याः शुचयो दान्तास्तथा धर्मान् हीयते ॥ १८८ ॥

अर्थ—सपिण्डों में जो २ बहुत समीपी हो, उस २ का धन हो और इस के उपरान्त (सपिण्ड न हो तो) आचार्य, इसके अनन्तर शिष्य धनभागी हो ॥१८७॥ और यदि ये भी न हों तो उस धन के भागी ब्राह्मण हैं । वे ब्राह्मण वेदत्रय के जानने वाले और पवित्र तथा जितेन्द्रिय हों तो धर्म नष्ट नहीं होता ॥१८८॥

अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञानित्यमिति स्थितिः । इतरेषां तु वर्णानां
सर्वाभावे हरेन्मृगः ॥ १८९ ॥ संस्थितस्यानपत्यस्य सगोत्रात्पुत्र-
माहरेत् । तत्र यद्विव्यजातं स्यात्तत्तस्मिन् प्रतिपादयेत् ॥ १९० ॥

अर्थ-ब्राह्मण का धन राजा कभी भी न ले । यह शास्त्र की नित्य मर्यादा है । अर्थात् वेवारिस ब्राह्मण का धन ब्राह्मणों ही को देदेवे । अन्य सब वर्णों का धन दायभागी न हो तो राजा ले लेवे ॥१८९॥ राजा, अपुत्र मरे ब्राह्मण की सन्तति के लिये समानगोत्र वाले से पुत्र दिलाकर उस ब्राह्मण को कुछ धन हो वह उस पुत्र को देदेवे ॥ १९० ॥

द्वीतुयोवित्रदेयातां द्वाभ्यांजातौस्त्रियाधने । ततोऽयं द्यस्यपिद्वयं स्यात्तत्सगृह्णीतनेतरः ॥१९१॥ जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वं सहोदराः । भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥१९२॥

अर्थ-दो पिताओं से एक माता में उत्पन्न हुवे दो पुत्र यदि स्त्रीधन के लिये लहें, तो उन में जो जिस के पिता का धन हो, वह उस को ग्रहण करे, अन्य न लेवे ॥१९१॥ माता के मरने पर सब सहोदर भाई और सहोदरा भगिनी मिलकर मातृधन को बराबर बांट लें ॥ १९२ ॥

यास्तासांर्युर्दुहितरस्तासामपियथार्हतः । मातामह्याधनात्किञ्चित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ॥१९३॥ अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तञ्च प्रीतिकर्मणि । भ्रातृमातृपितृप्राप्तं पण्डुविधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥१९४॥

अर्थ-उन लड़कियों की जो (अविवाहिता) कन्या हों उन को भी यथायोग्य मातागृही के धन से प्रीतिपूर्वक थोड़ा सा धन देना चाहिये ॥१९३॥ १ विवाह काल में अग्नि के सन्निधि में पित्रादिका दिया हुआ धन, २ बुलाकर दिया हुआ, ३ प्रीतिकर्म में तथा समयान्तर में पति का दिया हुआ, ४ पिता ५ भ्राता ६ माता से पाया हुआ । यह ६ प्रकार का स्त्रीधन कहा है ॥१९४॥ अन्वाधेयंचयद्वत्तं पत्याप्रीतेन चैव यत् । पत्यौ जीवतिवृत्तायाः प्रजायास्तद्वनं भवेत् ॥१९५॥ ब्राह्मदैवार्पगान्धर्वप्राजापत्येषु यद्वसु । अप्रजायामतीतायां भर्तुरेव तदिष्यते ॥ १९६ ॥

अर्थ-(विवाह के ऊपर पति के कुल में स्त्री जो धन पावे वह) अन्वाधेय धन और जो पति ने प्रीतिकर्म में दिया हो, पति के जीते हुवे मरी स्त्री का वह सम्पूर्ण धन, सन्तान का हो ॥ १९५ ॥ ब्राह्म, दैव, आर्ष, गान्धर्व और प्राजापत्य, इन पांच प्रकार के विवाहों में जो (स्त्रियों का छः प्रकार का) धन है वह अपुत्रा स्त्री के मरने पर पति का ही कहा है ॥ १९६ ॥

यत्त्वस्याः स्याद्दुनं दत्तं विवाहेऽप्रासुरादिषु । अपजायामती-
तायां मातापित्रोस्तदिष्यते ॥ १९७ ॥ स्त्रियां तु यद्वेदित्तं पित्रा
दत्तं कथञ्चन । ब्राह्मणी तदुरेत्कन्या तदपत्यस्य वा भवेत् ॥ १९८ ॥

अर्थ—परन्तु आसुरादि (३) विवाहों में जो स्त्री को दिया धन है, उस स्त्री के अपुत्रा सरने पर वह (धन) माता पिता का है ॥ १९७ ॥ स्त्री के पास जो कुछ धन किसी प्रकार पिता का दिया हो, वह उस की ब्राह्मणी कन्या ग्रहण करे, अथवा उस की सन्तान का होजावे ॥ १९८ ॥

न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः कुटुम्बाद्बहुमध्यगात् । स्वकादपि च वित्तादि-
स्वस्य भर्तुरनाज्ञया ॥ १९९ ॥ पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलङ्कारो
धृतो भवेत् । न तं भर्जेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते ॥ २०० ॥

अर्थ—बहुत कुटुम्ब के धन से स्त्रियें धनसञ्चय (कोरचा) न करें और न अपने धन से विना पति की आज्ञा अलङ्कारादि (कोरचा) करें ॥ १९९ ॥ पति के जीवते हुये (उस की सम्मति से) जो कुछ अलङ्कार स्त्रियों ने धारण किया हो, उस को (पति के सरने पर) दायाद लोग न बांटें । जो उस को बांटते हैं वे पतित होते हैं ॥ २०० ॥

अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धधरौ तथा । उन्मत्तजडमूकाश्च
ये च केचिन्निरिन्द्रियाः ॥ २०१ ॥ सर्वेषामपितुन्यायं दातुं शक्त्या
मनीषिणा । ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यददद्भवेत् ॥ २०२ ॥

अर्थ—नपुंसक, पतित, जन्मान्ध, धरि, उन्मत्त, जड़, मूक और जो कोई जन्म से निरिन्द्रिय हों; ये सब (पिता के धन के) भागी नहीं हैं ॥ २०१ ॥ इन सब (नपुंसकादि) को आयुःपर्यन्त न्याय से अन्न वस्त्र यथाशक्ति शास्त्र के ज्ञानने वाले धनस्वामी को देना चाहिये । यदि न देवे तो पतित हो ॥ २०२ ॥

यदर्थिता तुदारैः स्यात्कलीबादीनां कथञ्चन । तेषामुत्पन्नतन्त-
नामपत्यं दायमर्हति ॥ २०३ ॥ यत्किञ्चित्पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधि-
गच्छति । भागो यदीयसां तत्र यदि विद्वानुपालितः ॥ २०४ ॥

अर्थ—यदि कदाचित् नपुंसक को छोड़कर (अतद्गुणसंविधान बहुव्रीहि समास जानो) पतितादि का विवाह करने की इच्छा हो तो उन सन्तान वालों

के समस्तन धन के भागी हैं ॥२०३॥ पिता के मरने पर ज्येष्ठ पुत्र जो कुछ धन पावे, यदि छोटा भाई विद्वान् हो तो उस में भी उस का भाग है ॥ २०४ ॥

अविद्यानां तु सर्वेषामीहातश्चेद्गुणं भवेत् । समस्तत्र विभागः स्यादपित्र्यद्विधति धारणा ॥२०५॥ विद्याधनं तु यदास्य तत्तस्यैव धनं भवेत् । मैत्र्यमौद्वाहिकं चैव माधुपर्किकमेव च ॥२०६॥

अर्थ—सब विद्वान् भाइयों का यदि कृषि वाणिज्यादि से कमाया हुआ धन हो तो उस में पिता के कमाये धन को छोड़ कर सम विभाग करें (अर्थात् ज्येष्ठ को कुछ निकाल कर न दें) यह निश्चय है ॥२०५॥ विद्या, मैत्री, विवाह; इन से सम्पादित और मधुपर्कदान के काल में प्राप्त धन जिस को मिला हो उसी का हो ॥ २०६ ॥

भ्रातृणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्मणा । सनिर्भाज्यः स्वका- दंशात्किञ्चिद्द्रव्योपजीवनम् ॥२०७॥ अनुपघ्नन्पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जितम् । स्वयमोहितलब्धं तन्नाकामोदातुमर्हति ॥२०८॥

अर्थ—जो अपने पुरुषार्थ से धन कमा सकता है और भाइयों के साधारण धनों को नहीं चाहता, उस को अपने भाग में से कुछ निर्वोह योग्य धन देकर अलग करें (जिस से सब भाइयों के सामान्य कमाये धन में उस भाग न चाहने वाले के पुत्रादि झगडा न करें) ॥२०७॥ पिता के धन को न गमाता हुआ अपने श्रम से जो धन उपार्जित करे, वह धन न चाहे तो भाइयों को न दे ॥ २०८ ॥

पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात् । न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्ध- मकामः स्वयमर्जितम् ॥२०९॥ विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन् पुनर्यदि । समस्तत्र विभागः स्याज्जैयष्ठ्यं तत्र न विद्यते ॥२१०॥

अर्थ—पिता अपने न पाये हुये पैत्रिक द्रव्य को यदि फिर बड़े परिश्रम से पावे तो विना इच्छा के उस अपने कमाये धन को पुत्रों को न बांटे ॥२०९॥ पहिले अलग हुये हों और पश्चात् एकत्र हो व्यापारादि करते रहें और फिर यदि विभाग करें तो उस में सम विभाग हो, उस में बड़े का उद्धार नहीं है ॥२१०॥

येषां ज्येष्ठः कनिष्ठोवा हीयेतांशप्रदानतः । श्रियेतान्यतरोवापि तस्य भागो न लुप्यते ॥२११॥ सोदर्याविभजेरस्तं समेत्य सहिताः

समम् । भ्रातरोयं च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः ॥ २१२ ॥

अर्थ—जिन भाइयों के बीच में कोई छोटा वा बड़ा भाई विभागकाल में (संन्यासादि कारण से) अपने अंश से कट जावे अथवा मरजावे तो उस का भाग लुप्त न होगा ॥२११॥ किन्तु सहोदर भाई और सहोदर भगिनी और जो मिले हुये भाई हैं वे भी सब मिल कर उस में समान विभाग करलें ॥२१२॥ योऽप्येष्टो विनिकुर्वीत लोभाद्भ्रातृन्यवीयसः । सोऽज्येष्ठः स्याद्भागश्च नियन्तव्यश्च राजभिः ॥२१३॥ सर्व एव विकर्मस्या नार्हन्ति भ्रातरो धनम् । न चादत्त्वा कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठः कुर्वीत धीतकम् ॥२१४॥

अर्थ—जो ज्येष्ठ भ्राता लोभ से कनिष्ठ भाइयों की वस्त्रना (ठगई) करे, वह ज्येष्ठ भ्राता अपने (ज्येष्ठ) भाग से रहित और राजों के दण्ड योग्य होवे ॥ २१३ ॥ विरुद्ध कर्म करने वाले सब भाई धन का भाग पाने योग्य नहीं और ज्येष्ठ, कनिष्ठों को न देकर कोरचा न करे ॥२१४॥

भ्रातृणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत्सह । न पुत्रभागं विषमं पिता दद्यात्कथञ्चन ॥२१५॥ ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्गुणम् । संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजेत स तैः सह ॥२१६॥

अर्थ—भाइयों के साथ रहने वाले साभले भाई यदि (धन के उपार्जन को) साथ साथ ही उत्थान करें तो विभागकाल में पिता पुत्रों का विषम विभाग कभी न करे ॥ २१५ ॥ (यदि जीवते ही पिता ने पुत्रों की इच्छा से विभाग कर दिया हो) उस विभाग के पश्चात् पुत्र उत्पन्न हुवा, तो वह पुत्र पिता ही का भाग लेवे अथवा जो फिर से पिता के साथ रहते हों उन के साथ विभाग करे ॥ २१६ ॥

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् । मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्गुणम् ॥२१७॥ ऋणे धनं च सर्वस्मिन्प्रविभक्ते यथाविधि । पश्चाद्दृश्येत यकिञ्चित्सर्वं समतां नयेत् ॥ २१८ ॥

अर्थ—सन्तानरहित पुत्र का दाय माता ग्रहण करे और माता के भी मरने पर पिता की माता ग्रहण करे ॥२१७॥ ऋण और धन सब में यथाशास्त्र विभाग हो जाने पर पीछे से जो कुछ पता लगे तो उस सब को भी बराबर बांटलें (अर्थात् पता लगाने का वा ज्येष्ठ का उद्धार देना योग्य नहीं है) ॥ २१८ ॥

वस्त्रं पत्रमलङ्कारं कृतान्नमुदकं स्त्रियः। यौगक्षेमं प्रचारं च न
त्रिभाज्यं प्रचक्षते २१९ अयमुक्तो विभागो वपुत्राणां च क्रिया-
विधिः। क्रमशः क्षेत्रजादीनां, द्यूतधर्मं निबोधत ॥ २२० ॥

अर्थ—वस्त्र, वाहन, आभरण और पकाया हुआ अन्न, पानी (कूपादि) तथा स्त्री और निर्वाह की अत्यन्तोपयोगी वस्तु और प्रचार (मार्ग) ये विभाग योग्य नहीं हैं (अर्थात् जो जिस के काम में जिस प्रकार आरहा है वही उसे वैसे ही रखे) ॥२१९॥ यह क्षेत्रजादि पुत्रों का क्रमसे विभाग करने का प्रकार और क्रियाविधान तुम्हारे प्रति कहा। अब आगे द्यूतधर्म को सुनो ॥२२०॥

द्यूतं समाह्वयं चैव राजाराष्ट्रान्निवारयेत्। राज्यान्तकरणावेतौ
द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम् ॥२२१॥ प्रकाशमेतत्तास्कर्यं यद्देवन-
समाह्वयौ। तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान्भवेत् ॥२२२॥

अर्थ—द्यूत और समाह्वय (देखो २२३) को राजा राज्य में न होने देवे क्योंकि ये दोनों दोष राजाओं के राज्यका नाश करने वाले हैं ॥२२१॥ ये द्यूत और समाह्वय प्रकट चीजें हैं। इनके दूर करने में राजा नित्य यत्न वाला होवे ॥ २२२ ॥

अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते। प्राणिभिः क्रियते यस्तु
स विज्ञेयः समाह्वयः ॥२२३॥ द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात्कारयेत्
वा। तान्सर्वान्घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः ॥ २२४ ॥

अर्थ—(कौड़ी कांसा इत्यादि) बेजान वस्तुओं से जो हार जीत होती है उसको “जुवा” कहते हैं और (मेंढा मुर्गा इत्यादि) प्राणियों से जो हार जीत होती है उसको “समाह्वय” जानना चाहिये ॥२२३॥ द्यूत और समाह्वय को जो करे वा करावे, उन सबको राजा मरवा देवे (वा चोट का दण्ड देवे) और यज्ञोपवीतादि द्विजचिह्न धारण करने वाले शूद्रों को भी यही दण्ड देवे ॥२२४॥

कितवान्कुशीलवान्कूरान्पाषण्डस्यांश्च मानवान् विकर्मस्थान्
शौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत्पुरातनं २२५ एते राष्ट्रे वर्तमाना राज्ञः
प्रच्छन्नतस्कराः विकर्मक्रिययानित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः २२६

अर्थ—जुवारी, धूर्त, क्रूरता करने वाले, पापशही, विरुद्धकर्म करनेवाले तथा शराबी मनुष्यों को राजा शीघ्र नगर से निकाल देवे ॥२२५॥ क्यों कि राजा के राज्य में ये छिपे चोर रहते हुये कुकर्म से भली प्रजाओं की पीड़ा देते हैं ॥२२६॥ द्यूतमेतत्पुराकल्पे दृष्टं वैरकरं महद् । तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥२२७॥ प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा तन्निषेवेत योनरः । तस्य दण्डविकल्पः स्यादथेष्टं नृपतेस्तथा ॥२२८॥

अर्थ—यह द्यूत पहिले कल्प में बड़ा वैर बढ़ाने वाला देखा गया है, इस कारण बुद्धिमान् हास्यार्थ भी द्यूत न खेले ॥२२७॥ जो मनुष्य इस जुवे की गुप्त वा प्रकट खेले उस के दण्ड का विकल्प जैसी राजा की इच्छा हो वैसा करे ॥२२८॥

क्षत्रविदूश्शूद्रयोनिस्तु दण्डं दातुमशक्नुवन् । आनृण्यं कर्मणा गच्छेद्विप्रो ददाच्छनैः शनैः २२९ स्त्रीबालोन्मत्तवृद्धानां दरिद्राणां च रोगिणाम् । शिष्याविदलरज्जवाद्यैर्विदध्यान् नृपतिर्दमम् २३०

अर्थ—क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र निर्धन होने के कारण दण्ड देने की असमर्थ होवें तौ नौकरी करके दण्ड का अंश उतार दें और ब्राह्मण धीरे २ देवे (अर्थात् ब्राह्मण से नौकरी न करावे) ॥ २२९ ॥ स्त्री, बाल, उन्मत्त, वृद्ध, दरिद्र और रोगी का कम्ची, बेत, रस्सी आदि से राजा दमन करे ॥२३०॥ ये नियुक्तास्तु कार्येषु हन्युः कार्याणि कार्यिणाम् । धनोन्मणा पच्यमानास्तान्निस्स्वान्कारयेन्नृपः २३१ कूटशासनकर्तृंश्च प्रकृतीनां च दूषकान् । स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश्च हन्याद्द्विट्सेविनस्तथा २३२

अर्थ—जो पुरुष कार्यो (मुकद्दमों) में नियुक्त हों धन की गरमी से पकते हुवे कार्य वालों के कामों को बिगाड़ें, उन का सर्वस्व राजा हरण करवाले ॥२३१॥ राजा की मोहर करके वा अन्य किसी छल से राजकार्य करने वालों और अमात्यों के भेद करने वालों तथा स्त्री, बालक, ब्राह्मण को मारनेवालों और शत्रु से मिले रहने वालों का राजा हनन करे ॥ २३२ ॥

तीरितं चानुशिष्टं च यत्र क्वचन यद्वेत् ।

कृतं तदुर्मतो विद्वान्न तदभूयो निवर्तयेत् ॥ २३३ ॥

अर्थ—जहां कहीं ऋणाऽदानादि व्यवहार (मुकदमे) का न्याय से अन्त तक निर्णय और दण्डादि तक ठीक होगया हो, तौ उस को फिर से न लौटावे ॥

(२३३ से आगे एक श्लोक मिलता है, जो कि केवल अब दो पुस्तकों में पाया गया है। परन्तु यद्यर्थ में उस की यहां आवश्यकता थी। वह यह है:-

[तीरितं चानुशिष्टं च योमन्येत विकर्मणा ।

द्विगुणं दण्डमास्थाय तत्कार्यं पुनरुद्वरेत् ॥]

अर्थ—यदि कोई कार्य (मुकदमा) निर्णीत हो चुका हो और दण्ड भी हो चुका हो, परन्तु राजा की समझ में अन्याय हुआ हो तौ द्विगुण दण्ड (राजकर्मचारी पर) करके उस कार्य को राजा फिर से करे) ॥२३३॥

अमात्याः प्राड्विवाकोवा यत्कुर्युः कार्यमन्यथा ।

तत्स्वयं नृपतिः कुर्यात्तान्सहस्रं च दण्डयेत् ॥२३४॥

अर्थ—मन्त्री अथवा मुकदमा करने वाला जिस मुकदमे को अन्यथा करे उस मुकदमे को राजा आप करे और उन को “सहस्र” दण्ड देवे ॥ २३४ ॥
ब्रह्महा च सुरापश्च स्तेयी च गुरुतल्पगः। एते सर्वे पृथक्क्षेत्रा
महापातकिनो नराः ॥२३५॥ चतुर्णामपि त्रैतेषां प्रायश्चित्तमकु-
र्वताम् । शरीरं धनसंयुक्तं दण्डं धर्म्यं प्रकल्पयेत् ॥ २३६ ॥

अर्थ—ब्राह्मण का मारने वाला, मद्य का पीने वाला, चोर और गुरु की स्त्री में व्यभिचार करने वाला, इन सब प्रत्येक को महापातकी मनुष्य जानना चाहिये ॥ २३५ ॥ प्रायश्चित्त न करते हुवे इन चारों को (राजा) धर्मानुसार धनयुक्त शरीरसम्बन्धी दण्ड करे ॥ २३६ ॥

गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः । स्तेये श्वपदकं कार्यं
ब्रह्महृष्यशिराः पुमान् ॥२३७॥ असंभोज्याह्यसंयाज्या असंपा-
ट्याऽविवाहिनः। चरेयुः पृथिवीदीनाः सर्वधर्मग्रहिष्कृताः ॥२३८॥

अर्थ—गुरुपत्नी के व्यभिचार में पुरुष के ललाट में तप्त लोह से भगाकार चिह्न करना चाहिये और सुरा के पीने में सुरापान के आकार का चिह्न, तथा चोरी करने में कुत्ते के पैर के आकार का चिह्न करना चाहिये और ब्राह्मण के मारने में शिर काटना चाहिये ॥२३७॥ ये (महापातकी) पट्टि में भोजन

कराने और यज्ञ कराने तथा पढ़ाने और विवाह सम्बन्ध के भी अयोग्य सम्पूर्ण धर्मों से बहिष्कृत हुवे दीन (गरीब) पृथिवी पर पर्यटन करें ॥२३॥
 ज्ञातिसंबन्धिभिस्त्वेते त्यक्तव्याः कृतलक्षणाः । निदंयानिर्नम-
 स्कारास्तन्मनोरनुशासनमरुः प्रायश्चित्तंतु कुर्यात् । सर्ववर्णा-
 यथोदितम् । नाङ्क्याराज्ञाललाटेऽप्युर्दाप्यास्तूत्तमसाहसम् २४०

अर्थ—ये चिह्न वाले जाति विरादरी से त्यागने योग्य हैं, न इन पर दया करनी चाहिये और न ये नमस्कार करने योग्य हैं । इस प्रकार मुक्त) मनु की आज्ञा है ॥२३॥ परन्तु शास्त्रविहित प्रायश्चित्त किये हुवे ये सब वर्ण राजा को ललाट में चिह्न करने योग्य नहीं हैं किन्तु “उत्तम साहस” के दण्डयोग्य हैं ॥२४०॥
 आगः सुब्राह्मणस्यैव कार्यो मध्यमसाहसः । विवास्यो वा भवेद्वा-
 ष्ट्रात् सद्रव्यः स परिच्छदः ॥२४१॥ इतरे कृतवन्तस्तु पापान्येतान्य-
 ऽकामतः । सर्वस्वहारमर्हन्ति कामतस्तु प्रवासनम् ॥ २४२ ॥

अर्थ—इन अपराधों में ब्राह्मण को ही “मध्यम साहस” दण्ड करना चाहिये अथवा धन धान्यादि के सहित राज्य से निकाल देने योग्य है ॥२४१॥ ब्राह्मण से अन्य (क्षत्रियादि) ने यदि इन पापों को अनिच्छा से किया हो तो सर्वस्व हरण योग्य हैं और यदि इच्छा से किया हो तो देश से निकालने के योग्य हैं ॥२४२॥
 नाददीतनृपः साधुर्महापातकिनोधनम् । आददानस्तु तल्लोभा-
 त्तेन दोषेण लिप्यते ॥२४३॥ अप्सु प्रवेश्य तं दण्डं वरुणा यो-
 पपादयेत् । श्रुतवृत्तोपपन्ने वा ब्राह्मणे प्रतिपादयेत् ॥२४४॥

अर्थ—धार्मिक राजा महापातकी के धन को ग्रहण न करे; लोभ से उस को लेता हुआ उस पाप से लिप्त होता है ॥२४३॥ किन्तु उस दण्डधन को पानी में धुलवा कर वरुण के यज्ञ में लगा देवे अथवा वेदसम्पन्न ब्राह्मण को दे देवे ॥२४४॥
 ईशो दण्डस्य वरुणो राज्ञां दण्डधरो हि सः । ईशः सर्वस्य जगतो
 ब्राह्मणो वेदपारगः ॥२४५॥ यत्र वर्जयते राजा पापकृद्भयोधना-
 गमम् । तत्र कालेन जायन्ते मानवा दीर्घजीविनः ॥ २४६ ॥

अर्थ-दण्ड का स्वामी वरुण है क्योंकि राजाओं को भी दण्ड का धर्ता (प्रभु) वरुण है । सम्पूर्ण वेद का जानने वाला ब्राह्मण सब जगत् का स्वामी है (इस से दोनों दण्डधन लेने के योग्य हैं) ॥ २४१ ॥ जिस देश में राजा इन महापातकियों के धन को नहीं ग्रहण करता, उस देश में मनुष्य काल से दीर्घ आयु वाले होते हैं ॥ २४६ ॥

निष्पद्यन्ते च सस्यानि यथोप्तानि विशां पृथक् । बालाश्च न प्रमीयन्ते विकृतं न च जायते ॥२४७॥ ब्राह्मणान्बाधमानं तु कामादऽवरवर्णजम् । हन्याच्चित्रैर्वधोपायैरुद्वेजनकरैर्नृपः ॥२४८॥

अर्थ-और प्रजाओं के धान्यादि जैसे धोए गये वैसे ही अलग अलग उत्पन्न होते हैं और बालक नहीं मरते और कोई विकार नहीं होता ॥२४७॥ जान बूझ कर ब्राह्मणों को पीड़ा देने वाले शूद्र को भयानक कई प्रकार के मार पीट के उपायों से राजा दमन करे ॥ २४८ ॥

यात्रानऽवध्यस्य वधे तात्रान्वध्यस्य मोक्षणे । अधर्मानुपतेर्दृष्टो धर्मस्तु त्रिनियच्छतः ॥२४९॥ उदितोऽयं विस्तरशो मिथो विप्रद- मानयोः । अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः ॥ २५० ॥

अर्थ-अवध्य के वध में जैसा अधर्म शास्त्र से देखा गया है वैसा ही वध्य के छोड़ने में भी राजा को अधर्म होता है और निग्रह करने में धर्म होता है ॥२४९॥ यह अठारह प्रकार के मार्गों में परस्पर विवादियों (मुद्दई मुद्द ब्राह्मण) के मुकद्दमें का निर्णय विस्तार के साथ कहा ॥ २५० ॥

एवं धर्म्याणि कार्याणि सम्यक्कुर्वन्महीपतिः देशानलब्ध्यां लिप्सेत लब्ध्यांश्च परिपालयेत् ॥२५१॥ सम्यङ् निविष्टदेशस्तु कृतदुर्गश्च शास्त्रतः । कण्टकोदुरणे नित्यमातिष्ठेदलमुत्तमम् ॥२५२॥

अर्थ-इस प्रकार धर्म्य कार्यों को अच्छे प्रकार करता हुआ राजा अलब्ध देशों को पाने की इच्छा करे और लब्ध्यों का परिपालन करे ॥२५१॥ अच्छे प्रकार वसे देश में (नवमाध्याय में कही रीति के अनुसार) किले बना कर घोर ढाकू आदि कण्टकों के उद्धार में सर्वदा उत्तम यत्न करे ॥ २५२ ॥

रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात्नरेन्द्रास्त्रिदिव्यं
यान्ति प्रजापालनतत्पराः॥२५३॥ अशासंस्तस्करान्यस्तु बलिं
गृह्णाति पार्थिवः। तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते ॥२५४॥

अर्थ—अच्छे आचरण वालों की रक्षा और चौरादि के शोधन से प्रजा-
पालन में तत्पर राजा स्वर्ग को प्राप्त होते हैं ॥२५३॥ जो राजा चौरादि को
दण्ड न करके अपना बलि (मालगुजारी) लेता है, उस की प्रजा उस से
बिगड़ती है और वह स्वर्ग से भी हीन हो जाता है ॥ २५४ ॥

निर्भयं तु भवेदस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम्। तस्य तद्वधंते नित्यं
सिच्यमान इव द्रुमः॥२५५॥ द्विविधांस्तस्करान्बिद्यात्परद्रव्या-
ऽपहारकान्। प्रकाशांश्चाऽप्रकाशांश्च चारचक्षुर्महोपनिः॥२५६॥

अर्थ—जिस राजा के बाहुबल के आश्रय से प्रजा (चौरादि से) निर्भय
रहती है, उस राजा का राज्य नित्य सिंचते हुये वृक्ष के समान बढ़ता है ॥२५५॥
चार (गुप्त दूत) रूपी चक्षु वाला राजा दो प्रकारके परद्रव्य के हरण करने
वाले चोरों को जाने। एक प्रकट, दूसरे अप्रकट ॥ २५६ ॥

प्रकाशवज्रकास्तेषां नाना पण्योपजीविनः। प्रच्छन्नवज्रकास्त्वैते
ये सतेनाऽटविकादयः॥२५७॥ उत्कोचकाश्चोपधिका वज्रकाः
कितवास्तथा। मङ्गलादेशवृत्ताश्च भद्राश्चेक्षणिकैः सह॥२५८॥

अर्थ—उन (चौरादि) में नाना प्रकार की दुकानदारी से जीवन करने वाले
प्रकाशवज्रक (खुले ठग) हैं और चोर तथा जङ्गल आदिके लुटेरे लुपे वज्रक
हैं ॥२५७॥ उत्कोचक=रिश्वतखोर। उपधिक=भय दिखाकर धन लेने वाले।
वज्रक=ठग। कितव=जुवारी आदि। मङ्गलादेशवृत्त="तुम्हारी भलाई होने
वाली है" इत्यादि प्रकार प्रलोभन देने वाले। भद्र=भलमनसाहत से ठगई
करने वाले। ईक्षणिक=हाथ देखने वाले आदि ॥ २५८ ॥

असम्यक्कारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः। शिल्पोपचारयु-
क्ताश्च निपुणाः पण्यार्थोपनिः॥२५९॥ एवमादीन्विजानीयात्प्रकाशां
लोककण्टकान्। निगूढचारिणश्चान्याननार्थानार्थलिङ्गिनः॥२६०॥

अर्थ-धुरा करने वाले उच्च कर्मचारी, वैद्य, शिल्पादिजीवी और चालाक वेश्याओं-॥ २५९ ॥ इत्यादि प्रकार के प्रत्यह ठगों और दूसरे (ठग) आर्य वेप धारण करनेवाले अनार्यों को भी (राजा) जानता रहे ॥ २६० ॥

तान्त्रिदित्वा सुचरितैर्गूढैस्तत्कर्मकारिभिः। चारैश्चानेकसंस्थानैः
प्रोत्साद्य वशमानयेत् २६१ तेषां दोषानभिख्याप्य स्वे स्वे कर्मणि
तत्त्वतः । कुर्वीत शासनं राजा सम्यक्सारापराधतः ॥ २६२ ॥

अर्थ-उन पूर्वोक्त वज्रकों को सम्य, गुप्त, प्रकटमें उस काम को करने वाले तथा कोई जगह रहने वाले धारों (जासूसों) के द्वारा राजा चौर्यादि में प्रवृत्त कराकर (सजा देकर) दण्ड करे ॥ २६१ ॥ उन प्रकाश और अप्रकाश तस्क-
रोंके उन २ चौर्यादि दोषों को ठीक २ प्रकट करके उन के धन शरीरादि सामर्थ्य और अपराध के अनुसार राजा सम्यक् दण्ड देवे ॥ २६२ ॥

न हि दण्डाद् नेशक्यः कर्तुं पापविनिग्रहः । स्तेनानां पापबुद्धीनां
निभृतं चरतां क्षितौ ॥ २६३ ॥ सभाप्रपापूपशाला वेशमदाब्ज-
शिक्रयाः । चतुष्पथाश्चैन्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च ॥ २६४ ॥

अर्थ-पृथिवी में विनीत वेप करके रहने वाले पापाचरणबुद्धि चोरों को दण्ड के अतिरिक्त पापका निग्रह नहीं हो सकता ॥ २६३ ॥ सभा, प्याऊ, हलवाई की दूकान, रण्डीका मकान, कलाली, अनाज बिकने की जगह, चौराहे, बड़े और प्रसिद्ध वृक्ष, जनसमूहों के स्थान तथा तमाशे देखने की जगह ॥ २६४ ॥

जीर्णाद्यानान्यरण्यानि कारुकावेशनानि च । शून्यानि चार्य-
गाराणि वनान्युपश्रनानि च ॥ २६५ ॥ एवंविधानूपोदेशान्गुल्मैः
स्थावरजङ्गमैः । तस्करप्रतिषेधार्थं चारैश्चाप्यनुचारयेत् ॥ २६६ ॥

अर्थ-जीर्ण घाटिका, वन, शिल्पगृह, शून्यगृह तथा बाग-बगीचे ॥ २६५ ॥ इस प्रकार के देशों को राजा एक स्थान में स्थित सिपाहियों की चौकी और घूमने वाले चौकी पहरों और गुप्त चरों से चोरों के निवारणार्थ विचरित करावे (क्योंकि प्रायः तस्कर इन स्थानों में पड़ते हैं) ॥ २६६ ॥

तत्सहायैरनुगतैर्नानाकर्मप्रवृत्तिभिः । विद्यादुत्सादयेच्चैव नि-

पुणैःपूर्वतस्करैः ॥ २६७ ॥ भक्ष्यभोज्यापदेशैश्च ब्राह्मणानां च दर्शनैः । चौर्यकर्मापदेशैश्च कुर्युस्तेषां समागमम् ॥ २६८ ॥

अर्थ—उन की सहायता करने वाले और उन के पीछे चलने वाले और सेंध आदि अनेक कर्मों को जानने वाले पहिले चोर और उस कर्म में निपुण गुप्त चारों द्वारा (राजा) चोरों को जाने और निर्मूल करे ॥ २६७ ॥ वे (जामूस) उन चोरों को खाने पीने के बहानों और ब्राह्मणों के दर्शनों के मिय और शूरवीरता के काम के बहाने से राजद्वार में लिवालाकर पकड़वा दें ॥ २६८ ॥

ये तत्र नोपसर्पेयुर्मूलप्रणिहिताश्च ये । तान्प्रमह्य नृपोहन्यान् समित्रज्ञातिबान्धवान् ॥ २६९ ॥ न होढेन विना चौरं घातये दुर्मिकोनृपः । सहोढं सोपकरणं घातयेदऽविचारयन् ॥ २७० ॥

अर्थ—जो वहां पर पकड़े जाने की शङ्का से न जायें और उन गुप्त राजदूतों के साथ चालाकी-सावधानी से रहकर आपे को बचाते हों उनको राजा बलात्कारसे पकड़कर मित्र जाति भाइयों सहित वध करे ॥ २६९ ॥ धार्मिक राजा विना माल और सेंध आदि प्रमाण के चोर का वध न करे और माल तथा सेंध आदि के प्रमाण सहित हों तो विना विचारे मरवा देवे ॥ २७० ॥

ग्रामेऽपि च ये केचिच्चौराणां भक्तदायकाः । भाण्डावकाशदाश्चैव सर्वास्तानपि घातयेत् २७१ राष्ट्रपु रक्षाधिकृतान्सामन्तांश्चैव चोदितान् । अभ्याघातेषु मध्यस्थान् शिष्याञ्चौरानिवहुतम् २७२

अर्थ ग्रामों में भी जो चोरों के भोजनादि (मदद) देने वाले और पता वा जगह देने वाले हों उन सब को भी (राजा) मरवा देवे ॥ २७१ ॥ राज्य में रक्षा को नियुक्त (पुलिस) और सीमा पर रहने वालों में जो क्रूर चौरादि की घात के उपदेश में मध्यस्थ हों उन को भी चौरवत् शीघ्र दण्ड देवे ॥ २७२ ॥

यश्चापि धर्मसमयात् प्रच्युतो धर्मजीवनः । दण्डेनैव तस्योपेत स्वकादुर्माद्विविच्युतम् ॥ २७३ ॥ ग्रामघाते हिताभङ्गे पथियोपा- भिमर्शने शक्तितोनाभिधावन्तो निर्वास्याः सपरिच्छदाः ॥ २७४ ॥

अर्थ—जो कचहरी करने वाला (हाकिम) धर्म की मर्यादा से भ्रष्ट हो उस स्वधर्म से पतित को भी दण्ड से ही क्षेम दे ॥ २७३ ॥ डांकू चोर आदि से गांव के लुटने से, पुल के टूटने और मार्ग के चोरों की खोज में, स्त्री के साथ बलात्कार में जो आस पास के रहने वाले यथाशक्ति राजा की सहायतार्थ दीड़ धूप नहीं करते उन को असवाय के सहित (ग्राम से) निकाल देवे ॥ २७४ ॥

राज्ञः कोपापहर्तृश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान्। घातयेद्विप्रिधैर्दण्डै-
ररीणां चोपजापकान् ॥ २७५ ॥ सन्धिं छित्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति
तस्कराः। तेषां छित्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णौ शूले निवेशयेत् ॥ २७६ ॥

अर्थ—राजा के खजाने में चोरी करने वालों तथा आज्ञा भङ्ग करने वालों और शत्रु को भेद देने वालों को नाना प्रकार के दण्ड देकर मारे ॥ २७५ ॥ जो चोर रात को संध देकर चोरी करें, राजा उन के हाथ काट कर तेज शूली पर चढ़ावे ॥ २७६ ॥

अङ्गुलीर्ग्रन्थिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे। द्वितीये हस्तचरणौ
तृतीये व्रधमर्हति ॥ २७७ ॥ अग्निदान्मक्तदांश्चैव तथा शस्त्रावका-
शदान्। सन्निधातुंश्च मोषस्य हन्याच्चौरमिवेश्वरः ॥ २७८ ॥

अर्थ—गांठ काटने वाले की पहली वार चोरी करने में अङ्गुलियां और दूसरी वार करने में हाथ पैर कटवां दे और तीसरी वार में वध के योग्य है ॥ २७७ ॥ उन चोरों को अग्नि, अन्न, शस्त्र, स्थान देने वाले और चोरी का धन पास रखने वालों को भी राजा चोरवत् दण्ड देवे ॥ २७८ ॥

तडागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा। यद्वापि प्रतिसंस्क्रुर्याद्
दाप्यस्तूत्तमसाहसम् ॥ २७९ ॥ कोष्ठागारायुधागार देवतागार
भेदकान्। हस्त्यश्वरथहर्तृश्च हन्यादेवाऽविचारयन् ॥ २८० ॥

अर्थ—जो तालाब के जल को तोड़े उस को जल में डुबा कर वा सीधा ही मार डाले और यदि वह उस को फिर बनवा देवे तो “सहस्रगण” दण्ड दे ॥ २७९ ॥ राजा के धान्यागार (गोदाम) वा हथियारों के मकान अथवा यज्ञमन्दिर को तोड़ने वालों और हाथी, घोड़ा और रथ चुराने वालों को बिना विचार के हनन करे ॥ २८० ॥

यस्तु पूर्वनिविष्टस्य तडागस्योदकं हरेत् । आगमं वाप्यपां
भिन्दात्सदाप्यः पूर्वसाहसम् २८१ ममुत्सृजेद्राजमार्गं यस्त्वऽमे-
ध्यमनापदि । स द्वौ कार्पापणौ दद्यादमेध्यं चाशु गोधयेत् ॥ २८२ ॥

अर्थ—जो कोई पहले बने तालाब का (सय) पानी हरले या पानी के
स्रोत वा आगमन को बन्द करे, वह “ प्रथम साहस ” दण्ड देने योग्य है
॥ २८१ ॥ जो रोगादिरहित सरकारी सड़क पर मैला छाले यह दो सौ कायां-
पण दण्ड दे और उस मैले को शीघ्र दूधवा देवे ॥ २८२ ॥

आपद्गतोऽथवा वृद्धो गर्भिणी वालएव वा । परिभाषणमर्हन्ति
तच्च शोध्यमिति स्थितिः ॥ २८३ ॥ चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्या
प्रचरतां दमः । अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः ॥ २८४ ॥

अर्थ—(परन्तु) व्याधित, वृद्ध, बालक, गर्भिणी, ये धमकाने और उस मैले को
साफ़ कराने योग्य हैं (दण्डयोग्य नहीं) यह मयांदा है ॥ २८३ ॥ वे पढ़े उलटी
चिकित्सा करने वाले वैद्यों को दण्ड करना चाहिये । उस में गाय बैल आदि
की वृथा चिकित्सा करने वालों को “ प्रथम साहस ” और मनुष्य की उलटी
चिकित्सा करने वालों को “ मध्यम साहस ” दण्ड होना चाहिये ॥ २८४ ॥

संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः । प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं
पञ्च दद्याच्छतानि च ॥ २८५ ॥ अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे
भेदने तथा । मणीनामपवंधे च दण्डः प्रथमसाहसः ॥ २८६ ॥

अर्थ—लकड़ी के छोटे पुल वा ध्वजा की लकड़ी और किसी प्रतिमा
को तोड़ने वाला । उन सब को फिर बनवा देवे और पांच सौ पण दण्ड देवे
॥ २८५ ॥ अच्छी वस्तु को दूषित (खराब) करने, तोड़ने और मणियों के बुरा
बोधने में “ प्रथम, साहस ” दण्ड होना चाहिये ॥ २८६ ॥

समैर्ह विषमं यस्तु चरेद्वैमूल्यतोऽपि वा । समाप्नुयाद्दमं पूर्वं
नरो मध्यममेव वा ॥ २८७ ॥ वन्यनानि च सर्वाणि राजा मार्गं
निवेशयेत् । दुःखिता यत्र दृश्येरन्विकृताः पापकारिणः ॥ २८८ ॥

अर्थ—बराबर की वस्तुओं वा मूल्य से जो घटिया बढ़िया वस्तु देने का
व्यवहार करे उस को “ पूर्व ” या “ मध्यम ” साहस दण्ड मिले ॥ २८७ ॥ राजा

मार्ग में बन्धनगृहों को बनवावे, जहां दुःखित और विकृत पाप करने वाले (सव को) दीखें ॥ २८८ ॥

प्राकारस्य च भेत्तारं परिखाणां च पूरकम् ।

द्वाराणां चैव भङ्क्तारं क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥२८९॥

अर्थ प्राकार (सक्कील) के तोड़ने वाले और उसी की खाई को भरने वाले और उसी के द्वारों के तोड़ने वाले को शीघ्र ही (देश से) निकाल दे ॥ (२८८ के पूर्वार्ध से आगे(बीच में)यह श्लोक एक पुस्तक में देखा जाता है:-

[एतेनैव तु कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः ।

कर्माण्यारभमाणं तु पुरुषं श्रीर्निषेवते ॥]

परन्तु यह सर्वथा असंयद्गुहा है । इसका बीचमें कोई प्रसङ्ग समझमें नहीं आता, किन्तु इसी आशय का आगे ३०० वां श्लोक है सो वही ठीक है ॥२८९॥

अभिचारेषु सर्वेषु कर्तव्योद्विशतोदमः ।

मूलकर्मणि चानाप्तेः कृत्यासु विविधासु च ॥२९०॥

अर्थ-सम्पूर्ण अभिचारों (मारणादि) में यदि जिस का मारना चाह हो वह मरे नहीं और नाना प्रकार के (औषधादि द्वारा) उच्चाटनादि में दोसी पण दण्ड होना चाहिये ॥ २९० ॥

अग्नीजविक्रयी चैव धीजोत्कृष्टं तथैव च । मर्यादाभेदकश्चैव विकृतं प्राप्नुयाद्वधम् ॥२९१॥ सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः । प्रवर्त्तमानमन्याये छेदयेत्प्रवशः क्षुरैः ॥ २९२ ॥

अर्थ-योधे धीज को बेचने वाला, उसी प्रकार अच्छे धीज को घुरे के साथ मिलाकर बेचने वाला तथा सीमा (मर्यादा) का तोड़ने वाला; विकृत वध को प्राप्त हो ॥२९१॥ सब ठगों में अतिशय ठग अन्याय में चलने वाले कुनार की ती राजा चाकुओं से छोटी बौटी कटवावे ॥ २९२ ॥

सीताद्रव्यापहरणे शस्त्राणामौषधस्य चाकालमासाद्यकार्यं च राजा दण्डं प्रकल्पयेत् ॥२९३॥ स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोश-दण्डौ सुहृत्तया । सप्तप्रकृतयोह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥२९४॥

अर्थ—हल, बुदाल आदि और शस्त्रों तथा दवा के चुराने में समय और क्रिये हुवे अपराधको विचार कर राजा दण्ड नियत करे ॥२९३॥ राजा, मन्त्री, पुर, राट्ट, कोश, दण्ड और मित्र, ये सात प्रकृति राज्य के सप्ताङ्ग कहाती हैं ॥२९४॥ सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्यासां यथाक्रमम् । पूर्वं पूर्वं गुरुतरं जानीयाद्व्यसनं महत् ॥२९५॥ सप्ताङ्गस्येह राज्यस्य त्रिष्टयस्य त्रिदण्डवत् । अन्योन्यगुणवैशेष्यान् किञ्चिदतिरिच्यते ॥२९६॥

अर्थ—राज्य की इन सात प्रकृतियों में क्रम से पहिली २ को अतिशय बड़ा भारी व्यसन (उत्तरोत्तर एक से एक को अधिक) विगड़ने पर घुरा जाने ॥२९५॥ जैसे तीन दण्ड परस्पर एक दूसरे के सहारे ठहरे हों ऐसे ही यह सप्ताङ्ग राज्य ७ प्रकृतियों में एक दूसरे के सहारे ठहरा है। इन सातों में अपने-अपने गुण की विशेषता से कोई भी एक दूसरे से अधिक नहीं है (अर्थात् यद्यपि पूर्व श्लोक में एक से दूसरे को अधिक कहा था परन्तु पूर्व पूर्व इस भूल में भी न रहे कि अगले अगले हमारा कुछ कर ही नहीं सकते) ॥२९६॥

तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते । येन यत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिन् श्रेष्ठमुच्यते ॥२९७॥ चारेणोत्साहयोगेन क्रिययैव च कर्मणाम् । स्वशक्तिं परशक्तिं च नित्यं विद्वान्महीपतिः ॥२९८॥

अर्थ—उन उन कामों में वही २ अङ्ग बड़ा है, जिस २ से जो २ काम सिद्ध होता है, वह उस में श्रेष्ठ कहाता है ॥२९७॥ (सप्तमाध्याय में कहे) चारों (जासूनों) से, उत्साहयोग और कामों की कार्रवाई से अपने तथा शत्रु के सामर्थ्य को राजा नित्य जानता रहे ॥२९८॥

पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च । आरभेत ततः कार्यं संचिन्त्य गुरुलाघवम् ॥२९९॥ आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः । कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते ॥ ३०० ॥

अर्थ—काम क्रोध से हुवे सम्पूर्ण दुःखों और व्यसनों और गौरव लाघवों को सोच कर काम का आरम्भ करे ॥२९९॥ राज्य की वृद्धि होने के काम राजा दम लेले कर फिर २ करता ही रहै क्योंकि कामों के आरम्भ करनेवाले पुरुष को ही, लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥ ३०० ॥

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरैव च । राज्ञोवृत्तानि सर्वाणि
राजा हि युगमुच्यते ॥३०१॥ कलिः प्रसुप्तोभवति स जाग्रद्द्वापरं
युगम् । कर्मस्य भूयद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥ ३०२ ॥

अर्थ-सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग सब राजा ही के चेष्टा
विशेष हैं, क्योंकि राजा भी युग कहाता है ॥३०१॥ जब राजा निरुद्यम होता
है, वह कलियुग है और जब जागता हुआ भी कर्म नहीं करता, वह द्वापर है,
जब कर्मानुष्ठान में उद्यत होता है, उस समय त्रेता है और जब यथाशास्त्र
कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ विचरता है, उस समय सत्ययुग है ॥ ३०२ ॥

इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च । चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्य
व्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत् ॥३०३॥ वार्षिकं चतुरोमासान्यथे-
न्द्रोऽभिप्रवर्षति तथा भिवर्षेत्स्वराष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥३०४॥

अर्थ-इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्र, अग्नि और पृथिवी के
सामर्थ्यरूप कर्म को राजा करे ॥३०३॥ वर्षा ऋतु के चार मास में जैसे इन्द्र
(वायुविशेष) वर्षा करता है, वैसे ही इन्द्र के कान को करता हुआ राजा
स्वदेश में (इच्छित पदार्थों को) वर्षावे ॥ ३०४ ॥

अष्टौ मासान्यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः । तथा हरैत्कर्षं रा-
ष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥३०५॥ प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति
मारुतः । तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥ ३०६ ॥

अर्थ-आठ महीने जैसे सूर्य किरणों से जल लेता है वैसे (राजा) राज्य से
कर लेवे, यही नित्य सूर्य का काम है ॥ ३०५ ॥ जैसे वायु सब समुद्रादि में
प्रविष्ट रहता है वैसे राजा दूतों द्वारा सब में प्रवेश करे (अर्थात् सब के
चित्तवृत्तान्त ज्ञात कर लेवे) यही वायु का काम है ॥ ३०६ ॥

यथा यमः प्रियद्वेष्यी प्राप्ते काले नियच्छति तथा राज्ञः नियन्तव्या
प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥ ३०७ ॥ वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवा-
भिदृश्यते । तथा पापान्निगृह्णीयाद् व्रतमेतद्धि वारुणम् ॥३०८॥

अर्थ-जैसे यम (मृत्यु वा परमात्मा) प्राप्तकाल में मित्र, शत्रु सब का निग्रह करता है वैसे ही राजा को अपराध कालमें प्रजा देखनीय होनी चाहिये। यम का यही व्रत है ॥३०९॥ जैसे वरुण (वायुविशेष) के पाशों से प्राणी बंधे हुवे दीखते हैं, वैसे ही राजा पापियों का शासन करे। वरुण का यही व्रत है ॥३०८॥
परिपूर्णं यथाचन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः। तथा प्रकृतयो यस्मिन् स चान्द्रव्रतिको नृपः ॥३०९॥ प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पाप कर्मसु। दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥ ३१० ॥

अर्थ-जैसे पूर्ण चन्द्र को देखकर मनुष्य हर्ष को प्राप्त होते हैं वैसे ही अमा-त्यादि जिस राजा के देखने से प्रसन्न हों, वह राजा चन्द्रव्रत करने वाला है ॥ ३०९ ॥ पाप करने वालों पर सदा अश्रित जा उबल्यमान रहे, तथा दुष्ट वीरों की भी हिंसा के स्वभाववाला हो। यह अग्नि का व्रत है ॥ ३१० ॥
यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम्। तथा सर्वाणि भूतानि विभ्रतः पार्थिवं व्रतम् ॥ ३११ ॥ एतैरुपायैरन्यैश्च युक्तो नित्यं मतन्द्रितः। स्तेनान् राजानि गृह्णीयात्स्वराष्ट्रे पर एव च ॥ ३१२ ॥

अर्थ-जैसे पृथिवी सब को बराबर धारण करती है, वैसे राजा भी सब प्राणियों का बराबर पालन पोषण करे। यह पृथिवी का काम है ॥ ३११ ॥ इन उपायों तथा अन्य उपायों से सदा आलस्यरहित राजा चोरों को जो अपने या दूसरे के राज्य में (भाग गये) हों, वश में करे ॥ ३१२ ॥

परामर्ष्यापदं प्राप्तो ब्राह्मणान्न प्रकोपयेत् ।

ते ह्येनं कुपिता हन्युः सदाः सबलवाहनम् ॥ ३१३ ॥

“यैः कृतः सर्वभक्षोऽग्निरपेयश्च महोदधिः ।

क्षयी चाप्यायितः सोमः कोन नश्येत्प्रकोप्य तान् ॥ ३१३ ॥”

अर्थ-(कोशक्षयादि) बड़ी विपत्ति को प्राप्त हुवा भी राजा ब्राह्मणों को रुष्ट न करे क्योंकि वे कुटुम्ब हुवे, सेना हाथी घोड़ा आदि सहित इस राजा को शीघ्र नष्ट कर सकते हैं (दीर्घदृष्टि से विचारा जावे तो निस्सन्देह विद्या और विद्वानों के विरोधी का राज्य बहुत दिन तक नहीं रह सकता) ॥३११॥ जिन्होंने ने अग्नि को सर्वभक्षी और समुद्र को खारा कर दिया और क्षयी चन्द्रको आप्यायित किया उनको रुष्ट करके कौन नाशको प्राप्त न होगा ॥३१४॥

“लोकानन्यान्सृजेयुर्लोकपालांश्च कोपिताः । देवान्कुर्युरदेवांश्च
कःतियवस्तान्ससृभुयात् ॥ ३१५ ॥ यामुपाश्रित्य तिष्ठन्ति लोका
देवाश्च सर्वदा । ब्रह्म चैव धनं येषां कोहिंस्यात्तान्जिजीविषुः ॥ ३१६ ॥”

“अर्थ—जो कोप को प्राप्त हुवे दूसरे लोकों को उत्पन्न कर दें, ऐसी सम्भावना है । और देवतों को अदेव कर दें, तब उन को पीड़ा देता हुआ कौन वृद्धि को प्राप्त होगा ? ॥ ३१५ ॥ जिन का आश्रय करके सर्वदा देव तथा लोक ठहरे हैं और वेद है धन जिन का, उन को जीने की इच्छा करने वाला कौन दुःखी करेगा ? ॥ ३१६ ॥”

“अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणोदैवतं महत् । प्रणीतश्चाऽप्रणीतश्च
यपाग्निदैवतं महत् ॥ ३१७ ॥ श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको
नैव दुष्यति । हूयमानश्च यज्ञेषु भूयएवाभिर्वधते ॥ ३१८ ॥”

“अर्थ—जैसे अग्नि प्रणीत हो, वा अप्रणीत हो—महती देवता है, ऐसे ही सूर्य ब्राह्मण हो वा विद्वान् हो—महती देवता है ॥ ३१७ ॥ तेज वाला अग्नि श्मशानों में भी (शव को जलाता हुआ) दोषयुक्त नहीं होता, किन्तु फिर से यज्ञ में हवन किया हुआ वृद्धि को पाता है ॥ ३१८ ॥”

“एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु ।

सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत् ॥ ३१९ ॥”

“अर्थ—यद्यपि इस प्रकार सम्पूर्ण कुत्सित कर्मों में रहते हैं तथापि ब्राह्मण सर्व प्रकार से पूजनयोग्य हैं, क्योंकि वे महती देवता हैं ॥”

(३१४ से ३१९ तक ६ श्लोक ब्राह्मणों की असम्भव प्रशंसा से युक्त हैं क्योंकि अग्नि को सर्वभक्षी और समुद्र को अपेय (खारा) ब्राह्मणों ने नहीं किन्तु प्रथमाध्याय के अनुसार परमात्माने ही इन को अपने २ स्वभावयुक्त बनाया है । और चन्द्रमा की क्षय वृद्धि भी सूर्य के प्रकाश पहुँचने में विलक्षणता के कारण होती है । यह विषय निरुक्तादि के प्रमाणपूर्वक हमने सामवेदभाष्य में लिखा है । ब्राह्मणों का नवीनसृष्टि बना सकना भी कितनी अत्युक्ति नहीं वरन असंभव है। अविद्वान् को ब्राह्मण और पूज्य मानना भी पक्षपातपूर्वक लेख तथा “यथा काष्ठमयोहस्ती” इत्यादि पूर्वोक्त मनुवचनों से विरुद्ध है। यज्ञ में शूद्र के घर का अग्नि भी दर्जित है, तब श्मशान (चिता) के अग्नि को

निर्दोष मानना और उस दृष्टान्त से कुकर्मी ब्राह्मण को भी निर्दोष सिद्ध करना पूर्वोक्त अनेक मनुवचनों के साक्षात् विरुद्ध है) ॥ ३१९ ॥

क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान्प्रति सर्वशः ।

ब्रह्मैव संनियन्तु स्यात्क्षत्रं हि ब्रह्मसंभवम् ॥ ३२० ॥

अर्थ—ब्राह्मणों को सर्वथा पीड़ा देने में प्रवृत्त क्षत्रियों को ब्राह्मण ही अच्छी प्रकार नियम में रखें, क्योंकि क्षत्रिय ब्राह्मणों से (संस्कार के जन्म से) उत्पन्न हैं ॥ ३२० ॥

अद्वयोऽग्निर्ब्रह्मतःक्षत्रमश्मनोलोहमुत्थितम् । तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु श्राम्यति ॥ ३२१ ॥ नाऽब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाऽक्षत्रं ब्रह्म वर्धते । ब्रह्म क्षत्रं च संयुक्तमिह चामुत्र वर्धते ॥ ३२२ ॥

अर्थ—जल ब्राह्मण और पाषाण से उत्पन्न हुवे क्रम से अग्नि, क्षत्रिय और शस्त्रों का तेज सब जगह तीव्रता करता है, परन्तु अपने उत्पन्न करने वाले कारणों में शान्त हो जाता है ॥ ३२१ ॥ ब्राह्मणरहित क्षत्रिय वृद्धि को प्राप्त नहीं होता, वैसे ही क्षत्रियरहित ब्राह्मण भी वृद्धि को नहीं प्राप्त होता । इस लिये ब्राह्मण क्षत्रिय मिले हुवे इस लोक तथा परलोक में वृद्धि को पाते हैं ॥ ३२२ ॥

दत्त्वा धनं तु विप्रेभ्यः सर्वदण्डसमुत्थितम् । पुत्रे राज्यं समासृज्य कुर्वीत प्रायणं रणे ॥ ३२३ ॥ एवं चरन्सदा युक्तो राजधर्मेषु पार्थिवः । हितेषु चैव लोकस्य सर्वान्भृत्यान्वियोजयेत् ॥ ३२४ ॥

अर्थ—दण्ड का सम्पूर्ण धन ब्राह्मणों को देकर और पुत्र को राज्य समर्पण करके राजा रण में प्राणत्याग करे ॥ ३२३ ॥ राजधर्म से सदा युक्त रहकर इस प्रकार आपरण करता हुवा राजा जब लोगों के हित के लिये सम्पूर्ण नौकर चाकरों की योजना करे ॥ ३२४ ॥

एषोऽखिलः कर्मविधिरुक्त्तोरज्ञः सनातनः । इमं कर्मविधिं वि-
त्तात्कर्मवीश्वशूद्रयोः ॥ ३२५ ॥ वैश्यस्तुकृतसंस्कारः कृत्वादार
परिग्रहम् । वात्सीयां नित्ययुक्तः स्यात्पशूनां चैव रक्षणे ॥ ३२६ ॥

अर्थ—यह राजा का सम्पूर्ण सनातन कर्मविधि कहा। अथ (आगे कहा)
यह वैश्य शूद्रों का कर्मविधि जाने ॥३२५॥ उपनयनादि संस्कार किया हुआ
वैश्य विवाह करके व्यापार तथा पशुपालन में सदा युक्त होवे ॥ ३२६ ॥
प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून्। ब्राह्मणाय च राज्ञे च
सर्वाः परिददे प्रजाः ॥३२७॥ न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं
पशूनिति। वैश्ये चेच्छति नाऽन्येन रक्षितव्याः कथञ्चन ॥३२८॥

अर्थ—क्योंकि ब्रह्मा ने पशु उत्पन्न करके (रक्षा के लिये) वैश्य को दे दिये
और ब्राह्मण तथा राजा को सब प्रजा (रक्षा के लिये) दे दी हैं ॥ ३२९ ॥ मैं
पशुओं की रक्षा नहीं करूँ, ऐसी वैश्य की इच्छा न होनी चाहिये। और वैश्य
के चाहते हुये दूसरे को पशुपालनवृत्ति कभी न करनी चाहिये ॥ ३२८ ॥
मणिमुक्ताप्रबालानां लौहानां तान्तवस्य चागन्धानां च रसानां च
विद्यादर्घ्यमलावलम् ॥३२९॥ बीजानामुष्णिग्विचित्रस्यात्क्षेत्रदोष
गुणस्य च। मानयोगं च जानीयात्तुलायोगांश्च सर्वशः ॥३३०॥

अर्थ—मणि, मोती, मूंगा, लोहा और कपड़ा तथा कर्पूरादि गन्ध और
लवणादि रसों का घटी बट्टी का भाव वैश्य जाने ॥ ३२९ ॥ सब बीजों के
बोने की विधि और खेत के गुण दोष और सब प्रकार के माप तोल का
भी जानने वाला (वैश्य) हो ॥ ३३० ॥

सारासारं च भागडानां देशानां च गुणागुणान्। लाभालाभं च
पण्यानां पशूनां परिवर्धनम् ३३१ भृत्यानां च भृतिं विद्याद्वापाशं च
विविधानृणाम्। द्रव्याणां स्थानयोगांश्च क्रयविक्रयमेव च ॥३३२॥

अर्थ—अन्न के अच्छे दुरे का हाल और देशों में सरते महुँगे आदि गुण
अवगुण का भाव और विक्री के लाभ हानि का वृत्तान्त तथा पशुओं के बढ़ने
का उपाय (जाने) ॥ ३३१ ॥ और नौकरों के वेतनों तथा नाना देश के
मनुष्यों की बोली और माल के रखने की विधि तथा बेचने खरीदने का
तर्क (वैश्य को जानना चाहिये) ॥ ३३२ ॥

धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम्। दद्याच्च सर्वभूताना-
मन्नमेव प्रयत्नतः ॥ ३३३ ॥ विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां

यशस्विनाम् । शुश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्रेयसः परः ॥३३४॥

अर्थ—(वैश्य) धर्म से धन के बढ़ाने में पूरा यत्न करे और सब प्राणियों को यत्न से अन्न अवश्य पहुंचावे ॥३३३॥ वेद के जानने वाले विद्वान् गृहस्थ यशस्वी ब्राह्मणादि की सेवा ही शूद्र का परमसुखदायी धर्म है ॥ ३३४ ॥

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागऽनहङ्कृतः । ब्राह्मणाद्याश्रयोनित्य-
मुत्कृष्टां जातिमश्नुते ॥३३५॥ एषोऽनापदि वर्णानामुक्तः कर्म-
विधिः शुभः । आपदापि हि यस्तेषां क्रमशस्तं निबोधत ॥३३६॥

अर्थ—स्वच्छ रहने वाला, अच्छा मेहनती और नम्रता से बोलने वाला तथा अहङ्काररहित, नित्य ब्राह्मणादि की सेवा करने वाला शूद्र उच्चजाति को प्राप्त होजाता है ॥३३५॥ यह वर्णों का आपत्तिरहित समय में शुभ कर्म विधि कहा, अब जो उन का कर्मविधि है (दशमाध्याय में) उस को सुनो ॥३३६॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे (भृगुप्रोक्तायां संहितायां)

नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे

नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥



श्रीः

अथ दशमोऽध्यायः

अधीयीरंस्त्रयोवर्णाः स्वकर्मस्थाद्विजातयः । प्रब्रूयाद्ब्राह्मण-
स्त्वेषां नेतराविति निश्चयः ॥१॥ सर्वेषां ब्राह्मणोविद्याद् वृत्त्यु-
पायान्यथाविधि । प्रब्रूयादितरेभ्यश्च स्वयं चैव तथा भवेत् ॥२॥

अर्थ—अपने कर्म में स्थित द्विजाति (ब्राह्मणादि) तीन वर्ण (वेद)
पढ़ें और ब्राह्मण इन को पढ़ावे । इतर (क्षत्रिय वैश्य) न पढ़ावें । यह
निर्णय है ॥१॥ ब्राह्मण सब वर्णों का जीवनोपाय यथाशास्त्र जाने और उन
को बतावे और आप भी यथोक्त कर्म करे ॥ २ ॥

वैशेष्यात्प्रकृतिश्रैष्ठ्यान्नियमस्यचधारणात् । संस्कारस्यविशे-
षाच्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ३ ॥ ब्राह्मणः क्षत्रियोवैश्यस्त्रयो
वर्णाद्विजातयः । चतुर्थ्येकजातिस्तु शूद्रोनास्ति तु पञ्चमः ॥४॥

अर्थ—विशेषता, स्वाभाविक श्रेष्ठता, नियम के धारण करने तथा संस्कार
की अधिकता से सब वर्णों का ब्राह्मण प्रभु है ॥ ३ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य
ये तीन वर्ण द्विजाति हैं, चौथा शूद्र एकजाति है, पञ्चम वर्ण नहीं है ॥ ४ ॥
सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु । आनुलोम्येन संभूता
जात्या ज्ञेयास्तएव ते ॥५॥ स्त्रीष्वनन्तरजातासु द्विजैरुत्पादि-
तान्सुतान् । सदृशानेव तानाहुर्मातृदोषविगर्हितान् ॥ ६ ॥

अर्थ—ब्राह्मणादि चार वर्णों में अपने समान वर्ण की (विवाह से पूर्व) पुरुष
सम्बन्ध से रहित पत्नियों में क्रम से जो सन्तान उत्पन्न हों उन को जाति
से वे ही जानना चाहिये । (इस प्रकरण में जो जातियों का विचार है सो
इस लिये है कि गर्भाधान से लेकर जन्मपर्यन्त हुवे संस्कारों के प्रभाव से
जन्मकाल में वह उस २ नाम से पुकारने योग्य है परन्तु यह कथन उस अप-
वाद का बाधक नहीं जो विपरीत आचरणादि से वर्णव्यवस्थापन में मानव
शास्त्र का सिद्धान्त है) ॥५॥ क्रम के साथ अपने से (अर्थात् ब्राह्मण से क्षत्रिया

में, क्षत्रिय से वैश्या में, इस प्रकार) एक नीचे की हीन जाति की स्त्रियों में स्त्रियों के उत्पन्न किये हुवे सन्तानों को माता की जाति से निन्दित, पिता के समान ही (पतित) कहते हैं ॥ ६ ॥

अनन्तरासुजातानां विधिरेपसनातनः। द्व्येकान्तरासुजातानां धर्म्यं विद्यादिमं विधिम् ॥ ७ ॥ ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामभ्यष्टो नाम जायते। निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते ॥ ८ ॥

अर्थ—अपने से एक वर्णहीना स्त्रियों में उत्पन्न हुवों का यह सनातन विधि कहा, अब दो वर्णहीना स्त्रियों में (जैसे ब्राह्मण से वैश्या में) उत्पन्न हुवों का यह धर्मविधि जाने कि—॥७॥ ब्राह्मण से वैश्या कन्या में “अभ्यष्ट” नाम उत्पन्न होता है और ब्राह्मण से शूद्रा कन्या में “निषाद” जिस को “पारशव” भी कहते हैं ॥८॥

क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां क्रूराचारविहारवान्। क्षत्रशूद्रवपुर्जन्तु रग्नोनाम प्रजायते ॥ ९ ॥ विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु नृपतेर्द्वयोर्द्वयोः। वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन्पडेतोऽपसदाः स्मृताः ॥ १० ॥

अर्थ क्षत्रिय से शूद्र कन्या में क्रूर आचार विहार वाला और क्षत्रिय शूद्र शरीर वाला “उग्र” नामक उत्पन्न होता है ॥९॥ ब्राह्मण के तीन वर्ण (की क्षत्रियादि स्त्रियों) में और क्षत्रिय के २ (वैश्या वा शूद्रा) में, तथा वैश्य के १ (शूद्रा) में (उत्पन्न हुवे) ये छः “अपसद” कहे गये हैं ॥ १० ॥

क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः। वैश्यान्मागधवैदेहौ राजविप्राङ्गनासुतौ ॥ ११ ॥ शूद्रादायोगवः क्षत्ता चण्डालश्चाधमो नृणाम्। वैश्या राजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः ॥ १२ ॥

अर्थ—(ये अनुलोम कहकर, अब प्रतिलोम कहते हैं) क्षत्रिय से ब्राह्मण की कन्या में “सूत” नाम जाति से होता है और वैश्य से क्षत्रिया में “मागध” तथा वैश्य से ब्राह्मणी में “वैदेह” नाम उत्पन्न होते हैं ॥११॥ शूद्र से वैश्या, क्षत्रिया तथा ब्राह्मणी में क्रम के साथ “आयोगव”, “क्षत्ता” और “चण्डाल” अधम, ये श्लोक ६ से यहां तक कहे) मनुष्यों में वर्णसङ्कर उत्पन्न होते हैं ॥१२॥ एकान्तरे त्वानुलोम्यादभ्यष्टोग्रौ यथास्मृतौ। क्षत्तुवैदेहकौ

तद्वत्प्रातिलोभ्येऽपिजन्मनि ॥१३॥ पुत्रायेऽनन्तरं जन्मनि
त्वा द्विजन्मनाम्ताननन्तरनाम्नस्तु भ्रातृदोषात्प्रचक्षते ॥१४॥

अर्थ-एक को अन्तर वाले वर्ण में अनुलोम से जैसे अम्बष्ठ और उग्र कहे हैं, वैसे ही प्रतिलोम से जन्म में "क्षत्ता" और "वैदेह" कहे हैं ॥ १३ ॥ द्विजन्माओं को क्रम से कहे हुवे अनन्तर (एक वर्ण नीची) स्त्री से उत्पन्न हुवे पुत्रों को माता के दोष से "अनन्तर" नाम से कहते हैं ॥ १४ ॥

ब्राह्मणादुग्रकन्यायामावृतोनामजायते। आभीरीऽम्बष्ठकन्या-
यामायोगव्यांतुधिग्वणः ॥१५॥ आयोगवश्चक्षत्ताचचण्डालश्चा-
ऽधमो नृणाम्। प्रातिलोभ्येन जायन्ते शूद्रादपसदास्त्रयः ॥ १६ ॥

अर्थ-ब्राह्मण से "उग्र" कन्या में "आवृत" नाम सन्तान और "अम्बष्ठ" कन्या में "आभीर" नाम उत्पन्न होता है तथा "आयोगव" कन्या में उत्पन्न हुवा "चिन्मण" कहाला है ॥ १५ ॥ आयोगव, क्षत्ता, चण्डाल; ये मनुष्यों में तीन अधम प्रतिलोम से उत्पन्न शूद्र से भी निकट हैं ॥ १६ ॥

वैश्यान्मागधवैदेही क्षत्रियात्सूतएव तु। प्रतीपमेते जायन्ते
परेऽप्यपसदास्त्रयः ॥१७॥ जातो निपादाच्छूद्रायां जात्या भवति
पुक्लसः। शूद्राज्जातो निपादायां तु स वै कुक्कुटकः स्मृतः ॥१८॥

अर्थ-पूर्वाक्त प्रकार वैश्य से मागध और वैदेह तथा क्षत्रिय से सूत; ये भी प्रतिलोम से अन्य ३ निकट उत्पन्न होते हैं ॥ १७ ॥ निपाद से शूद्र में उत्पन्न हुवा "पुक्लस" जाति से होता है और शूद्र से निपाद की कन्या में उत्पन्न हुवा "कुक्कुटक" कहा गया है ॥ १८ ॥

क्षत्तुर्जातस्तथोग्रायां श्वपाक इति कीर्त्यते। वैदेहकेन त्वम्ब-
ष्ठ्यामुत्पन्नो वेण उच्यते ॥१९॥ द्विजातयः सवर्णासु जनयन्त्यव्रतां-
स्तु यान्ता न्सावित्रीपरिभ्रष्टान् ब्राह्मणानिति विनिर्दिशेत् ॥२०॥

अर्थ-ऐसे ही क्षत्ता से उग्र की कन्या में उत्पन्न हुवा "श्वपाक" कहाला और वैदेह से अम्बष्ठ में (उत्पन्न हुवा) "वेण" कहाला है ॥ १९ ॥ द्विजाति अपने वर्ण की स्त्री में संस्काररहित जिन पुत्रों को उत्पन्न करते हैं उन समय पर उपनयनवेदारम्भरहितों को "ब्राह्मण" कहना चाहिये ॥ २० ॥

ब्राह्म्यात्तु जायते विप्रः। तपापात्मा भूर्जकण्टकः। आवन्त्यवाट-
धानौ च पुष्पधः शैख एव च ॥ २१ ॥ भ्रूलोमल्लश्रराजन्याद् ब्राह्म्या
निच्छि विरेव च। नटश्च करणश्चैव खसोद्रविड एव च ॥ २२ ॥

अर्थ—ब्राह्म्य ब्राह्मण से पापात्मा “ भूर्जकण्टक ” उत्पन्न होता है और उसी को (देशभेद से) आवन्त्य, वाटधाम, पुष्पध और शैख भी कहते हैं ॥ २१ ॥ (ब्राह्म्य) क्षत्रिय से भृल्ल, भृल्ल, निच्छि, नट, करण, खस और द्रविड नामक उत्पन्न होते हैं ॥ २२ ॥

वैश्यात्तु जायते ब्राह्म्यात्सुधन्वाचार्य एव चाकारूपश्च विजन्मा च
मैत्रः सात्वत एव च ॥ २३ ॥ व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेद-
नेन च। स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसङ्कराः ॥ २४ ॥

अर्थ—ब्राह्म्य वैश्य से सुधन्वाचार्य, कारूप, विजन्मा, मैत्र और सात्वत नाम वाले उत्पन्न होते हैं (ये सब नाम पर्यायवाची देशभेद से समझे) ॥ २३ ॥ ब्राह्मणादि वर्णों से अन्योन्य स्त्री के गमन और सगोत्रादि अगत्या में विवाह करने तथा अपने कर्म के छोड़ने से वर्णसङ्कर उत्पन्न होते हैं ॥ २४ ॥

संकीर्णयोनि योये तु प्रतिलोमाऽनुलोमजाः। अन्योन्यव्यति-
षक्ताश्च तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २५ ॥ सूनुवैदेहकश्चैव चण्डाल-
श्च जराधमः। मागधः क्षत्तृजातिश्च तथा ऽऽयोगव एव च ॥ २६ ॥

अर्थ—जो संकीर्णयोनि प्रतिलोम अनुलोम के परस्पर सम्बन्ध से उत्पन्न होती हैं, उन को विशेष करके मैं आगे कहता हूँ ॥ २५ ॥ भूत, वैदेह, चण्डाल ये अधम मनुष्य और मागध, क्षत्तृ तथा आयोगव—॥ २६ ॥

एते षट् सदृशान्वर्णाञ्जनयन्ति स्वयोनिषु मातृजात्यां प्रसूयन्ते
प्रवरासु च योनिषु ॥ २७ ॥ यथा त्रयाणां वर्णानां द्वयोरात्मा
ऽस्य जायते। आनन्तर्यात्स्वयोन्यां तु तथावाहोऽपि क्रमात् २८

अर्थ—ये छः स्वयोनि में स्वतुल्य सुतोत्पत्ति करते हैं और अपने से उत्तम योनियों में जन्में तौ मातृजाति में गिने जाते हैं ॥ २७ ॥ जैसे तीनों वर्णों में दो में से इस पुरुष का आत्मा उत्पन्न होता है और अनन्तर होने से अपनी योनि में गिना जाता है, वैसे ही इन बाह्य वर्णसङ्करों में भी क्रम से जानो २८

ते चापि बाह्यान्सुबहूस्ततोऽप्यधिकदूषितान् । परस्परस्य
दारेषु जनयन्ति विगर्हितान् ॥२९॥ यथैव शूद्रो ब्राह्मण्यां बाह्यं
जन्तुं प्रसूयते । तथा बाह्यतरं बाह्यश्चातुर्वर्ण्ये प्रसूयते ॥ ३० ॥

अर्थ-वे (पूर्वोक्त , आयोगवादि भी परस्पर जाति की स्त्री में बहुत
से उन से भी अधिक दुष्ट और निन्दित सन्तान उत्पन्न करते हैं ॥२९॥ जैसे
शूद्र ब्राह्मणी में अधम जीव को उत्पन्न करता है, वैसे ही चारों वर्णों में वे
अधम उन से भी अधमों को उत्पन्न करते हैं ॥ ३० ॥

प्रतिकूलं वर्तमाना बाह्याबाह्यतरान्पुनः । हीनाहीनान्प्रसूयन्ते
घर्णान्पञ्चदशैव तु ॥ ३१ ॥ प्रसाधनोपचारज्ञमदासं दासजीव-
नम् । सैरिन्द्रं वागुरावृत्तिं सूते दस्युरयोगवे ॥ ३२ ॥

अर्थ-प्रतिकूल चलने वाले अधम घरहालादि तीन, चारों वर्णों की स्त्रियों
में अपने से अधिक अधम सन्तान को उत्पन्न करते हैं, ती एक से एक हीन
पन्द्रह वर्ण उत्पन्न होते हैं (चार वर्णों की स्त्रियों में तीन अधमों के तीन २
ऐसे बारह निरुष्ट सन्तान और उन के पिता तीन अधम, ऐसे पन्द्रह अधम
उत्पन्न होते हैं) ॥३१॥ बालों में कंधी आदि करना और चरणादि का धोना
और स्नानादि करवाना, इस प्रकार के काम से वा जाल फांसे बांध कर जीने
वाला "सैरिन्द्र" नाम (आगे कहे हुये) दस्यु से आयोगव उत्पन्न होता है ॥३२॥

मैत्रेयकं तु वैदेहो माधूकं संप्रसूयते । नृन्प्रशंसत्यजस्रं यो
घण्टाताडोऽरुणोदये ॥३३॥ निषादी मार्गवं सूने दासनौकर्म
जीविनम् । कैवर्त्तमिति यं प्राहुरार्यावर्तनिवासिनः ॥ ३४ ॥

अर्थ-आयोगवी वैदेह से मधुरभाषी "मैत्रेयक" को उत्पन्न करती है
जो कि प्रातःकाल घण्टा बजाकर राजा आदिकों की निरन्तर स्तुति करता
है ॥३३॥ निषाद और आयोगवी से "दास" इस दूसरे नाम वाला नाव के
घलाने से जीवन वाला " मार्गव " उत्पन्न होता है, जिस को आर्यावर्त
निवासी लोग " कैवर्त्त " कहते हैं ॥३४॥

मृतवस्त्रभृत्सुनारीषु गर्हितान्नाशनासुचाभवन्त्यायोगवीष्वेते

जातिहीनाः पृथक् त्रयः ॥ ३५ ॥ कारावर्गो निपादात्तु चर्मकारः
प्रसूयते । वैदेहिकादन्ध्रमेदौ वहिर्ग्रामप्रतिश्रयो ॥ ३६ ॥

अर्थ—मृतक के वस्त्र को पहरने वाली और उच्छिष्ट अन्न को भोजन करने वाली आयोगवी में अलग २ जातिहीन (तीन पुरुषों के भेद से) ये तीन उत्पन्न होते हैं ॥ ३५ ॥ नियाम से तौ कारावराख्य “चर्मकार” उत्पन्न होता है और वैदेह से “अन्ध्र” और “मेद” ग्राम के बाहर रहने वाले उत्पन्न होते हैं ॥ ३६ ॥

चण्डालात्पाण्डुसोपाकस्त्वक्सारव्यवहारवान् । आहिगिडको
निषादेन वैदेह्यामेव जायते ॥ ३७ ॥ चण्डालेन तु सोपाको भूल
व्यसनवृत्तिमान् । पुक्कस्यां जायते पापः सदा सज्जनगर्हितः ॥ ३८ ॥

अर्थ—चण्डाल से वैदेही में “पाण्डु सोपाक” नामक वांस के रूप पट्टा
आदि बनाने से जीने वाला उत्पन्न होता है । और निषाद से वैदेही में ही
“आहिगिडक” उत्पन्न होता है ॥ ३७ ॥ चण्डाल से पुक्कसी में पापात्मा सदा
सज्जनों से निन्दित और जल्लाद वृत्ति वाला “सोपाक” उत्पन्न होता है ॥ ३८ ॥

निषादस्त्री तु चण्डालात्पुत्रमन्तयायसायिनम् । श्मशानगोचर
सूते बाह्यानामपि गर्हितम् ॥ ३९ ॥ सङ्कुरेजातयस्त्वेताः पितृमातृ
प्रदर्शिताः । प्रच्छन्नावा प्रकाशावा वेदितव्याः स्वकर्मभिः ॥ ४० ॥

अर्थ—निषाद की स्त्री चण्डाल में अधमों में भी निन्दित और चण्डालों
से अतिनिकट श्मशाननिवासी और उसी वृत्ति से जीने वाला पुत्र उत्पन्न
करती है ॥ ३९ ॥ वर्णसङ्कुरों में ये जाति बाप और मा के भेद से दिखाई ।
इन ठकी वा खुली हुइयों को अपने २ कर्मों से जानना चाहिये ॥ ४० ॥

सजातिजानन्तरजाः षट्सुताद्विजधर्मिणः । शूद्राणां तु सध-
र्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः ॥ ४१ ॥ तपोबीजप्रभावेस्तु
ते गच्छन्ति युगे युगे । उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः ॥ ४२ ॥

अर्थ—द्विजातियों के समान जाति वाले (तीन पुत्र अर्थात् ब्राह्मण ब्राह्मणी
से, इन क्रम से ३ और अनुलोम से तीन अर्थात् ब्राह्मण से क्षत्रिया,
वैश्या में ये दो और क्षत्रिय से वैश्या में एक मिलकर ३ इस प्रकार) ये छः

पुत्र द्विजधर्मो है । और (सूतादि) प्रतिलोमज सब शूद्रों के समान कहे हैं ॥४१॥ तपःप्रभाव से (विश्वामित्रवत्) और बीजप्रभाव से (ऋष्यशृङ्गादिवत्) सब युगों में मनुष्य जन्म की उच्चता और (आगे कहे अनुसार) नीचता को भी प्राप्त होते हैं ॥ ४२ ॥

शनकैस्तुक्रियालोपादिमाक्षत्रियजातयः । वृषलत्वंगतालोके
ब्राह्मणादर्शनेनच ॥४३॥ पौण्ड्रकाश्रीद्रविडाःकाम्बोजायव-
नाःशकाः । पारदापल्हवाश्चीनाः किरातादरदाःखशाः॥४४॥

अर्थ—ये क्षत्रियजातियें, क्रियालोप से और (याजन अध्यापन प्रायश्चित्तादि के लिये) ब्राह्मणों के न मिलने से लोगों में धीरे धीरे शूद्रता को प्राप्त हो गईं (जैसे—) ॥ ४३ ॥ पौण्ड्रक, प्रौड्र, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, अपल्हव, चीन, किरात, दरद और खश ॥ ४४ ॥

मुखब्राह्मरूपज्जानां या लोके जातयोद्यहिः । म्लेच्छवाचश्चायं
वाचः सर्वेतेदस्यवःस्मृताः ॥४५॥ येद्विजानामपसदा येवापध्वं-
सजाःस्मृताः । ते निन्दितैर्वर्तयेयुर्द्विजानामेव कर्मभिः ॥४६॥

अर्थ—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रों की (क्रियालोप से) अधम जातियें म्लेच्छभाषायुक्त वा आर्यभाषायुक्त सब “दस्यु” कही गई हैं ॥४५॥ जो पूर्व द्विजों के अनुलोम से अपसद और प्रतिलोम से अपध्वंस कहे हैं, वे द्विजों के ही निन्दित कर्मों से आजीवन करें ॥ ४६ ॥

सूतानामश्वसारथ्यमम्बाष्ठानांचिकित्सनम् । वैदेहकानांस्त्रीकार्यं
मागधानां वर्णिकपथः ॥४७॥ मत्स्यघातोनिषादानां त्वष्टिस्त्वा-
योगवस्य च । मेदान्ध्रचुञ्चमदगूनामारण्यपशुहिंसनम् ॥४८॥

अर्थ—सूतों का (काम) अश्व का सारथि होना, अम्बष्ठों का चिकित्सा, वैदेहों का अन्तःपुर का काम और मागधों का बनियापन, (इन कामों को करके ये जीवन करते हैं) ॥४७॥ निषादों का मच्छी मारना और आर्योगव का लकड़ी तोड़ना और मेद अन्ध्र चुञ्च और मदगुनों का जङ्गली जानवरों को मारना (पेशा) है ॥ ४८ ॥

क्षत्रगुपक्रमानां तु धिलोकोवधन्नधनम् । धिग्भणानां चर्म
कार्यं वेणानां भाण्डादनम् ॥४९॥ चैत्यद्रुमश्मशानेषु शैलेषु-
पत्रनेषु च । वसेयुरेते विज्ञाता वर्तयन्तः स्वकर्मभिः ॥ ५० ॥

अर्थ-जता, उग्र, पुच्छ; इन का (रोज़गार) बिल के रहने वाले जानवरों
को मारना और दान्धना और धिग्बणों का चमड़े का काम बनाना और
वेणों का बाजा बजाना (काम) है ॥ ४९ ॥ ग्राम के समीप द्यौ २ वृत्तों
के नीचे और श्मशान तथा पर्वत याग दग्गीचों के पास अपने २ कामों को
करने से प्रसिद्ध हुवे ये निवास करें ॥ ५० ॥

चण्डालश्चपचानांतु बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रयः । अपपात्राश्च कर्तव्या
धनमेषांश्च गर्दभम् ॥५१॥ वासांसि धृतचैलानि भिन्नभाण्डेषु
भोजनम् । कार्णायसमलङ्कारः परिव्रज्या च नित्यशः ॥५२॥

अर्थ-चण्डालों और श्वपचों का निवास ग्राम के बाहर हो और निषिद्ध
पात्र वाले रखने चाहिये और इन का धन कुत्ता और गधा है ॥५१॥ इन के
कपड़े मुरदे के वस्त्र वा पुराने चिथड़े हों तथा फूटे बरतनों में भोजन, लोहे
के आभूषण और घूमना स्वभाव (यह इन का लक्षण है) ॥५२॥

न तैः समयमन्विच्छेत्पुरुषो धर्ममाचरन् । व्यवहारो मिथस्तेषां
विवाहः सदृशैः सह ॥ ५३ ॥ अन्नं तेषां पराधीनं देयं स्याद्
भिन्नभाजने । रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च ॥५४॥

अर्थ-धर्मानुष्ठान के समय में इन (चण्डाल श्वपाक इत्यादि) के साथ
देखना बोलना आदि व्यवहार न करे । उन का व्यवहार और विवाह बराबर
वालों के साथ हो ॥५३॥ इन को खपरे आदि में रख कर अलग से पराधीन
अन्न देना चाहिये और वे रात को ग्रामों और नगरों में न घूमें ॥ ५४ ॥

दिवाचरेयुः कार्यार्थं चिह्निताराजशासनैः । अब्रान्धवं शवं चैव
निर्हरेयुरिति स्थितिः ॥ ५५ ॥ वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं
नृपाज्ञया । वध्यवासांसि गृह्णीयुः शय्याश्चाभरणानि च ॥५६॥

अर्थ-वे राजा की आज्ञा से चिन्ह पाये हुवे काम के लिये दिन में घूमें और सेवारिस मुरदे को ले जावें । यह मर्यादा है ॥५३॥ यथाशास्त्र राजा की आज्ञा से निरन्तर कांसी के योग्यों को कांसी दें और उस वध्य के कपड़े, शय्या और आभरणों को ग्रहण करें ॥

(३९ वें तक मनु ने व्यभिचारोत्पन्न वर्णसङ्करों की नाना प्रकार के नामों से उल्लेख कही । उस का तात्पर्य यह है कि उन की व्यभिचारजनित वर्ण-सङ्करता की प्रसिद्धि रहे, आगे को लोग व्यभिचार न करें, वर्णसङ्करों को उत्पन्न न करें, आर्यसन्तान की उत्तरोत्तर वृद्धि हो । परन्तु ४२ वें में यह बताया दिया है कि तप आदि के प्रभाव से नीचे ऊंचे होजाते हैं । तथा ४३ । ४४ में पौबहुकादि का ऊंचे से नीचा हो जाना कहा है । ४६ से ५६ तक वर्णसङ्करों के नीचे तथा निन्दित कामराजद्वारा नियत किये हैं, जिस से उनकी नीचे दशा को देखकर अन्यो को नीचत्व के भयके कारण व्यभिचारादि से घिन हो) ५६

वर्णापेतमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम् । आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत् ॥ ५७ ॥ अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता । पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ॥ ५८ ॥

अर्थ-(सङ्कर से हुवे) रङ्ग बदले और नहीं पहचाने जाते हुवे देखने में आर्य से परन्तु यथार्थ में अनार्य, अधम पुरुष का निज २ कर्मों में निश्चय करे ॥ ५७ ॥ असभ्यपन और कठोरभाषणशीलता तथा कर्मानुष्ठान से रहितता; ये लक्षण इस लोक में नीचयोनिज पुरुष को प्रकट करते हैं ॥ ५८ ॥

पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वाभयमेव वा । न कथंचन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति ॥ ५९ ॥ कुले मुख्येऽपि जातस्य यस्य स्यादयोनिः सङ्करः । संश्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमपि वा बहु ॥ ६० ॥

अर्थ-यह वर्णसङ्कर से उत्पन्न हुवा पुरुष, पितृसम्बन्धी दुष्टस्वभाव अथवा माता का या दोनों का स्वभाव स्वीकार करता है, किन्तु अपनी असलियत छिपा नहीं सकता ॥ ५९ ॥ बड़े कुल में उत्पन्न हुवे का भी जिस का योनि से सङ्कर (ढका छिपा) हुवा है, वह मनुष्य योनि का स्वभाव छोड़ा या बहुत पकड़ता ही है ॥ ६० ॥

यन्न त्वेते परिध्वंसाज्जायन्ते वर्णदूषकाः । राष्ट्रकैः सह न द्राष्टुं
क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ ६१ ॥ ब्राह्मणार्थं गवार्थं वा देहत्यागोऽनुप-
स्कृतः । स्त्रीबालाभ्युपपत्तौ च बाह्यानां सिद्धिकारणम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—जिस राज्य में ये वर्णसङ्कर बहुत उत्पन्न होते हैं, वह राज्य वहाँ
के निवासियों के सहित शीघ्र ही नाश को प्राप्त हो जाता है ॥ ६१ ॥ ब्राह्मण,
गाय, स्त्री, बालक, इन की रक्षा में दुष्ट प्रयोजन से रहित होकर प्रतिलोमजों
का प्राणत्याग सिद्धि (उद्धृता) का हेतु है ॥ ६२ ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ ६३ ॥

“ शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा धेतुप्रजायते ।

अश्रेयान्श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासमाद्युगात् ॥ ६४ ॥ ”

अर्थ—हिंसा न करना, सत्यभाषण, दूसरे का धन अन्याय से न लेना,
पवित्र रहना और इन्द्रियों का निग्रह करना, यह संक्षेप से चारों वर्गों का
धर्म (मुक्त) मनु ने कहा है ॥ ६३ ॥ “ शूद्रों में ब्राह्मण से पारश्वरस्य वर्ण
उत्पन्न होता है, यदि वह दैववश से स्त्रीगर्भ हो और वह स्त्री दूसरे ब्राह्मण
से विवाह करे और फिर उस की कन्या तीसरे ब्राह्मण से विवाह करे, इस
प्रकार सातवें जन्म में ब्राह्मणता को प्राप्त होता है ॥ ”

(यह श्लोक इस लिये अमान्य है कि शूद्रागामी ब्राह्मण तृतीयाध्याया-
नुसार पतित हो जाता है, तो ऐसे सात ब्राह्मणों को ७ पीढ़ी तक पतित
कराने वाला श्लोक मनु का सम्मत हो, सो ठीक नहीं जान पड़ता) ॥ ६५ ॥
शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रतामाक्षत्रियाज्जातमेवन्तु
विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ ६५ ॥ अनार्यायां समुत्पन्नो ब्राह्मणास्तु
यदृच्छया । ब्राह्मणायामप्यनार्यास्तु श्रेयस्त्वक्नेति चेद्वेत् ॥ ६६ ॥

अर्थ—ब्राह्मण शूद्रता को प्राप्त हो जाता है और शूद्र ब्राह्मणता को प्राप्त हो
जाता है । क्षत्रिय से उत्पन्न हुवा भी इसी प्रकार और वैसे ही वैश्य से हुवा पुरुष
भी अन्य वर्ण को प्राप्त होता जानना चाहिये ॥ ६५ ॥ जो संयोग वश ब्राह्मण से
शूद्रा में उत्पन्न हुवा और जो शूद्र से ब्राह्मणी में उत्पन्न हुवा, इन दोनों में
अच्छापन किस में है ? यदि यह शंसय हो (तो उत्तर यह है कि—) ॥ ६६ ॥

जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्यो भवेद्गुणैः । जातोऽप्यनार्या-
दार्यायामनार्य इति निश्चयः ॥६७॥ तावुभावप्यसंस्कार्याविति
धर्मो व्यवस्थितः । वैगुण्याज्जन्मनः पूर्व उत्तरः प्रतिलोमतः ॥६८॥

अर्थ—१ अनार्या स्त्री में आर्य से उत्पन्न हुवा, गुणों से आर्य हो सकता है
और दो २ शूद्र से ब्राह्मणी स्त्री में उत्पन्न हुवा गुणों से शूद्र उत्पन्न होना
संभव है । यह निश्चय है ॥ ६७ ॥ धर्म की मर्यादा है कि १ पहला शूद्रा में
उत्पन्न होने रूप जाति की विगुणता से और २ दूसरा प्रतिलोम से उत्पन्न
होने के कारण; ऐसे ये दोनों उपमयन के अयोग्य हैं ॥६८॥

सुवीजं चैव सुक्षेत्रे जातं संपद्यते यथा । तथार्याज्जात आर्यायां
सर्वं संस्कारमर्हति ॥६९॥ वीजमेके प्रशंसन्ति क्षेत्रमन्ये मनी-
षिणः । वीजक्षेत्रे तथैवान्ये तत्रेयं तु व्यवस्थितिः ॥ ७० ॥

अर्थ—जैसे अच्छा वीज खेत में बोया हुआ समृद्ध हो जाता है, वैसे ही
आर्या में आर्य से उत्पन्न हुवा संपूर्ण उपमयनादि संस्कार के योग्य है ॥६९॥
कोई विद्वान् वीज को और कोई खेत को और अन्य कोई दोनों को प्रधान
कहते हैं, उन में यह व्यवस्था है कि—॥ ७० ॥

अक्षेत्रे वीजमुत्सृष्टमन्तरेव विनश्यति ।

अवीजकमपि क्षेत्रं केवलं स्थण्डिलं भवेत् ॥७१॥

“यस्माद्बीजप्रभावेण तिर्यग्जाऋपयोऽभवन् ।

पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद्बीजं प्रशस्यते ॥७२॥”

अर्थ—ऊपर में बोया हुआ वीज भीतर ही नाश को प्राप्त हो जाता है
और वीजरहित अच्छा भी खेत कोरा चोंतरा ही रहेगा (इससे दोनों ही
नापने २ गुण में मुख्य हैं ॥ यहां तक वीज और क्षेत्र की प्रधानता के विवाद
में गुण कर्मों का वर्णन नहीं है किन्तु स्वभाव जो कि प्रायः रज वीर्य के
शुद्धाशुद्ध होने से शुद्धाशुद्ध होता है, उस में ही यह विचार प्रवृत्त किया है
कि दोनों में प्रचलता किस को है) ॥७१॥ “वीज के साहात्म्य से तिर्यग् योनि
(अर्थात् हरिणादि से उत्पन्न हुवे शृङ्गी ऋष्यादि) ऋषित्व, पूजन और
स्तुति को प्राप्त हुवे । इस से वीज की प्रधानता है” (प्रथम तो तिर्यग्योनि

में मनुष्ययोनि उत्पन्न नहीं हो सकती । दूसरे शृङ्गी आदियादि की कयार्थ पीछे की हैं । मनु उम का भूतकाल करके वर्णन नहीं कर सकते थे) ॥७२॥

अनार्यमार्यकर्माणमार्यं चानार्यकर्मिणम् ।

संप्रधार्याऽब्रवीद्भ्राता न समी नाऽसमाश्रिति ॥७३॥

अर्थ—द्विज, शूद्रों के कर्म करने वाले और शूद्र, द्विजों के कर्म करने वाले, इन को ब्रह्मा ने विचार कर कहा कि न ये सम हैं, न असम हैं ॥ (क्योंकि गुणों और स्वभावों के बिना केवल कर्म से अनार्य आर्य नहीं हो सकते । और गुणों तथा स्वभावों से युक्त आर्य, केवल कर्महीन हो जाने से अनार्य नहीं हो सकता । अर्थात् मनु जी कहते हैं कि केवल कर्म से हम कोई व्यवस्था नहीं दे सकते । किन्तु गुण कर्म स्वभाव सब पर दृष्टि डाल कर व्यवस्थापक विद्वान् वा सभा को व्यवस्था देनी चाहिये । मेधातिथि कहते हैं कि यहां तक वर्णसङ्घर्षों की निन्दा और कर्मों की प्रशंसारूप अर्थवाद ही है । विधि वा निषेध कुछ नहीं) ॥ ७३ ॥

ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ये स्वकर्मण्यवस्थिताः ।

ते सम्यगुपजीवेयुः षट् कर्माणि यथाक्रमम् ॥७४॥

अर्थ—जो ब्रह्मयोनिस्थ ब्राह्मण हैं और अपने कर्म से रहते हैं वे क्रम से अच्छे प्रकार (इन) छः कर्मों का अनुष्ठान करें ॥ ७४ ॥

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहश्चैव षट् कर्माण्यग्रजन्मनः ॥७५॥ पण्डां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका । याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥ ७६ ॥

अर्थ—१ पढ़ना, २ पढ़ाना, ३ यज्ञ करना और ४ कराना, ५ दान देना और ६ लेना; ब्राह्मण के ये छः कर्म हैं ॥७५॥ छः कर्मों में से इस ब्राह्मण की तीन कर्म जीविका हैं । १ यज्ञ कराना, २ पढ़ाना और ३ शुद्ध (द्विजातियों) से दान लेना ॥ ७६ ॥

अथोधर्मानि वर्तन्ते ब्राह्मणात्क्षत्रियं प्रति । अध्यापनं याजनं च तृतीयं प्रतिग्रहः ॥७७॥ वैश्यं प्रति तथैवैते निवर्तन्ते रक्षिते स्थितिः । न तौ प्रति हि तान्धर्मान्मनुराह प्रजापतिः ॥ ७८ ॥

अर्थ—ब्राह्मण के धर्मों से क्षत्रिय के तीन धर्म छूटे हैं, १ पढ़ाना, २ यज्ञ कराना और ३ दान लेना (अर्थात् इन को क्षत्रिय न करे) ॥ ७७ ॥ वैश्य के भी इसी प्रकार तीन धर्म छूटें । इस प्रकार मर्यादा है क्योंकि क्षत्रिय वैश्यों की जीविकार्थे इन धर्मों को (मुक्त) मनु प्रजापति ने नहीं कहा है ॥ ७८ ॥
 शास्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वाणिज्यपशुकृषिर्विशः।आजीवनार्थं धर्म-
 रंतु दानमध्ययनं यजिः॥७९॥वेदाभ्यासोब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य
 च रक्षणम् । धार्ताकर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु ॥८०॥

अर्थ—क्षत्रियों का शस्त्र अस्त्र धारण करना और वैश्य का व्यापार, गाय बैल आदि का रखना और खेती; ये दोनों कर्म दोनों के आजीवनार्थे कहे हैं और दान देना, पढ़ना, यज्ञ करना, (दोनों का) १ धर्म कहा है ॥ ७९ ॥ ब्राह्मण का वेदाभ्यास करना, क्षत्रिय का रक्षा करना और वैश्य का वाणिज्य करना; अपने २ धर्मों में विशेष कर्म हैं ॥ ८० ॥

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः रवेन कर्मणा।जीवेत्क्षत्रियधर्मेण
 स ह्यस्य प्रत्यन्तरः ॥८१॥ उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति
 चेद्भवेत् । कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम् ॥८२॥

अर्थ—ब्राह्मण अपने यथोक्त कर्म से निर्वाह न कर सका हुआ (आपत्काल में) क्षत्रिय के धर्म से अपना आजीवन करे क्योंकि वह इस के समीप है ॥ ८१ ॥ दोनों (ब्राह्मण और क्षत्रियों की जीविकाओं) से न जी सकता हुआ कैसे जीवित करे ? ऐसा संशय हो ती कृषि और गोरक्षा करके (ब्राह्मण) वैश्य की जीविका करे ॥ ८२ ॥

वैश्यवृत्त्यापि जीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा । हिंसाप्रायां
 पराधीनां कृपिं यत्नेन वर्जयेत्कृषिं साधिवति मन्यन्ते सावृत्तिः
 सद्विगर्हिता॥भूमिंभूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम् ॥८३॥

अर्थ—ब्राह्मण और क्षत्रिय वैश्यवृत्ति करके जीते हुये भी बहुत हिंसा वाली और पराधीन खेती को यत्न से छोड़ दें ॥ ८३ ॥ “ खेती अच्छी है ” ऐसा (कोई) कहते हैं । परन्तु यह वृत्ति साधुओं से निन्दित है क्योंकि कुदाल हलादि लोहा लगा हुआ काष्ठ भूमि और भूमि के रहने वाले जन्तुओं का भी नाश करता है ॥ ८४ ॥

इदं तु वृत्तिवैकल्यात्त्यजतो धर्मनैपुणम् । विट्पण्यमुदधृतो-
द्वारं विक्रेयं वित्तवर्धनम् ॥ ८५ ॥ सर्वान् रसानपोहेत कृतान्नं च
तिलैः सह । अश्मनोलवणं चैव पशवोये च मानुषाः ॥ ८६ ॥

अर्थ-ब्राह्मण क्षत्रियों को अपनी वृत्ति के न होने या धर्म की यथोक्त
निष्ठा को छोड़ते हों तब वैश्य के बेचने योग्य द्रव्यों में से आगे कहे हुवे को
छोड़कर धनवृद्धिकारक विक्रय करना 'योग्य' है ॥ ८५ ॥ सम्पूर्ण रसों, दकाये
अनाज तिलों के सहित, पत्थर, नमक और मनुष्यों के पालनीय पशु; इन को
न बेचे ॥ ८६ ॥

सर्वं च तान्तवं रक्तं शाणक्षौमाविकानि च । अपि चेत्स्युरऽ-
रक्तानि फलमूले तथौषधीः ॥ ८७ ॥ अपः शस्त्रं विषं मांसं सोमं
गन्धांश्च सर्वशः । क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुडं कुशान् ॥ ८८ ॥

अर्थ-सब रङ्ग के तथा सन के कपड़े और रेशमी ऊनी कपड़े रङ्गे वा विना
रङ्गे भी हों और फल मूल तथा औषधियों को (न बेचे) ॥ ८७ ॥ जल, शस्त्र, विष,
मांस, सोमवस्त्री तथा सब प्रकार के गन्ध, दूध, शहद, दही, घी, तैल, मधु, (एक
पुस्तक में मधु=मज्जा पाठ है) गुड़ और कुशा (इन को भी न बेचे) ॥ ८८ ॥

आरण्यांश्च पशून्सर्वान्दंष्ट्रिणश्च वयांसि च । मद्यं नीलिं च लाक्षां
च सर्वांश्चैकशफारं तथा ॥ ८९ ॥ काममुत्पाद्य कृष्यां तु स्वयमेव कृ-
षीबलः । विक्रीणीत तिलान्शूद्रान्धर्मार्थमचिरस्थितान् ॥ ९० ॥

अर्थ-जङ्गली सब पशु तथा दांतों वाले (कुत्ते आदि) और पक्षियों
तथा मद्य, नील, लाख और एक खुर वाले घोड़े आदि (इनको भी न बेचे)
॥ ८९ ॥ खेती वाला आप ही खेती में तिलों को उत्पन्न करके दूसरे द्रव्य से
विना मिलाये हुवे तिलों का बहुत दिन न रखकर धर्मकार्य में लगाने निमित्त
चाहे तो शूद्रों को विक्रय करदे ॥

“शूद्रान्” की जगह “शुद्रान्” पाठ की ज्यों टीकाकारों ने व्याख्या
की है, “शूद्रान्” की किसी ने नहीं । परन्तु ५ मूल पुस्तकों को छोड़ शेष
२५ पुस्तकों में मूल का पाठ “शूद्रान्” ही है । ८९ वें से आगे एक पुस्तक
में यह श्लोक अधिक है कि-

[त्रपु सीसं तथा लोहं तैजसानि च सर्वशः ।

घालांश्चर्म तथाऽस्थीनि सस्नायूनि च वर्जयेत्]

इस पर नन्दन का भाष्य भी है । अर्थ यह है कि रांग, सीसा तथा लोहा और सब चमकीले धातु और घाल, चमड़ा तथा तांत लिपटी हड्डी (न बेचे)॥ जैसा महाभाष्य में तैल मांस विक्रय का निषेध और सरसों तथा गौ आदि के विक्रय की विधि कही है वैसा ही यह है । क्योंकि अत्यन्त मलिन और पापजनक वृत्ति से वचना चाहिये) ॥९०॥

भोजनाभ्यञ्जनादानादन्यत्कुरुते तिलैः । कृमिभूतः श्वविष्टायां पितृभिः सह मज्जति ॥ ९१ ॥ सद्यः पतनि मांसेन लाक्षया लवणेन च । त्र्यहेण शूद्रीभवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ॥ ९२ ॥

अर्थ-भोजन, अभ्यञ्जन और दान के सिवाय जो कोई तिलों से और कुछ करता है, यह कृमि बनकर पितरों के सहित कुत्ते की विष्टा में डूबता है ॥९१॥ मांस, लाख और लवण के बेचने से ब्राह्मण उसी समय पतित हो जाता है और दूध के बेचने से (ब्राह्मण) तीन दिन में शूद्रता को प्राप्त होता है ॥९२॥ इतरेषां तु पण्यानां विक्रयादिह कामतः । ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैश्यभावं नियच्छति ॥ ९३ ॥ रसरसैर्निमातव्या न त्वेव लवणं रसैः । कृतान्नं चाकृतान्नेन तिलाधान्येन तत्समाः ॥ ९४ ॥ *

अर्थ-ब्राह्मण उक्त मांसादि से अतिरिक्त पण्यों को इच्छापूर्वक बेचने से सात दिन में वैश्य हो जाता है ॥९३॥ गुड़ादि का घृतादि से बदला कर लेवे परन्तु लवण का इन से बदला न करे । सिद्ध किया अन्न बिना सिद्ध किये अन्न से बदल ले और तिल धान्य के समान हैं (धान्य से बदल लेवे) ॥९४॥

नेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः । न त्वेव ज्यायसीं वृत्ति न्येत कर्हिचित् ॥ ९५ ॥ योलोभादधमोजात्या जीवेदुष्कृष्ट

। तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥ ९६ ॥

९५ से ९४ तक १० श्लोकों को पहले ४ बार छापे में और इस सूची में प्रक्षिप्त लिखा गया, परन्तु अब विचार से वह अयुक्त दिया है ॥ तु० रा० स्वामी

अर्थ—आपत्ति को प्राप्त क्षत्रिय भी इस विधि से (वैश्यवत्) जीवन करे, परन्तु कदापि ब्राह्मण की वृत्ति का अभिमान न करे ॥९५॥ जो निरुद्ध जाति से उत्पन्न हुआ, (बिना व्यवस्थापकों से विधिपूर्वक उन्नता पाये, आप ही आप) लोभ से उत्कृष्ट जाति की वृत्ति करे, उस को राजा निर्धन करके देश से निकाल देवे ॥ ९६ ॥

वरं स्वधर्मे विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः । परधर्मण जीवन्हि सदाः पतति जातितः ॥९७॥ वैश्योऽजीवन्स्वधर्मण शूद्रवृत्त्यापि वर्तयेत् । अनाचरत्त कार्याणि निवर्त्तेत च शक्तिमान् ॥९८॥

अर्थ—अपना धर्म (कान) छोटा मोटा भी श्रेष्ठ है और दूसरे का अकृष्ट अनुष्ठान किया हुआ भी श्रेष्ठ नहीं क्योंकि पराये धर्म (पेशे) का आचरण करके जीविका करता हुआ उसी समय अपनी जाति से पतित हो जाता है ॥९७॥ वैश्य अपनी वृत्ति से जीवन न कर सकता हुआ शूद्रवृत्ति (द्विजातियों की सेवा) भी करले परन्तु अकार्य को छोड़कर, और हो सके तो सर्वथा ही धर्मे ॥९८॥

अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्त्तुं द्विजजन्मनाम् । पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत्कारुक्कर्मभिः ॥९९॥ यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः । तानि कारुक्कर्मणि शिल्पानि विविधानि च ॥१००॥

अर्थ—द्विजों की शुश्रूषा करने को असमर्थ शूद्र क्षुधा से पुत्र कलत्र आदि को कष्ट प्राप्त होते हुवे कारुक्क कर्मों (सूपकारत्वादि) से जीवन करे ॥९९॥ जिन प्रचरित कर्मों से द्विजातियों की शुश्रूषा करते हैं, उन को और नाना प्रकार के शिल्पों को भी कारुक्क कर्म कहते हैं ॥ १०० ॥

“वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन् ब्राह्मणः स्वे पथि स्थितः । अवृत्तिकर्षितः सीदन्निभं धर्मं समाचरेत् ॥ १०१ ॥ सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद् ब्राह्मण-स्त्वनयं गतः । पवित्रं दुष्यतीत्येतद् धर्मतो नोपपद्यते ॥ १०२ ॥”

“अर्थ—अपने मार्ग में स्थित ब्राह्मण जीविका के न होने से पीड़ा को प्राप्त हुआ वैश्यवृत्ति को भी न कर सके तो इस वृत्ति को करे कि—॥१०१॥ विपत्ति को प्राप्त हुआ ब्राह्मण सब से दान लेलेवे, क्योंकि पवित्र को दोष लगना धर्म से नहीं पाया जाता ॥ १०२ ॥”

“ नाध्यापनाद्याजनाद्वा गहिताद्वा प्रतिग्रहात् ।

दोषोभवति विप्रार्णा ज्वलनाम्बुसमा हि ते ॥ १०३ ॥ ”

“ जीवितात्ययनापन्नो योजनमस्ति यतस्ततः ।

आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते ॥ १०४ ॥ ”

“अर्थ-ब्राह्मणों को निन्दित पढ़ाने और यज्ञ कराने तथा प्रतिग्रह से दोष नहीं होता, क्योंकि वे पानी तथा आग के समान हैं। दो पुस्तकों में ‘ज्वलनार्कसमा हि ते, और एक में ‘ज्वलनार्कसमाहितः’ भी पाठभेद है) ॥१०३॥ जो प्राणात्यय को प्राप्त हुवा जहां तर्हा अन्न भोजन करता है, वह कीचड़ से आकाश के समान उस पाप से लिप्त नहीं होता ॥ १०४ ॥”

“ अजीगर्तः सुतं हन्तुमुपासपद्वुभुक्षितः ।

न चालिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकारमाचरन् ॥ १०५ ॥ ”

श्वसांसमिच्छन्तार्तुं धर्माधर्मविचक्षणः ।

प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवोन लिप्तवान् ॥ १०६ ॥ ”

“अर्थ-अजीगर्त नाम ऋषि सुभुक्षित हुवा, पुत्र को मारने को चला, परन्तु क्षुधा के दूर करने को वैसा करता हुवा पाप से लिप्त नहीं हुवा १०५ वामदेव धर्म अधर्म का जानने वाला, क्षुधा से पीड़ित हुवा, प्राण की रक्षार्थ कुत्ते के मांस खाने की इच्छा करता हुवा पाप से लिप्त नहीं हुवा ॥१०६॥”

“भरद्वाजः क्षुधार्तस्तु सुपुत्रोविजने वने ।

वृद्धीर्गाः प्रतिजग्राह वृधोस्तक्षोमहातपाः ॥१०७॥”

“क्षुधार्तश्चात्तुमभ्यागाद्विश्वामित्रः श्वजाघनीम् ।

चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्मविचक्षणः ॥ १०८ ॥ ”

“अर्थ-बड़े तपस्वी पुत्र के सहित निर्जम वन में क्षुधा से पीड़ित हुवे भरद्वाज ने वृधुनामा बड़ई की बहुत सी गायों को ग्रहण किया ॥१०७॥ धर्म अधर्म के जानने वाले विश्वामित्र ऋषि क्षुधा से पीड़ित हुवे, चण्डाल के हाथ से लेकर कुत्ते की जांघ का मांस लेकर खाने को तैयार हुवे । ”

(यद्यपि १०१ से १०४ तक भी श्लोक असमान्य हैं । क्योंकि आपत्काल में भी आपद्धर्म से नीचे न गिरना चाहिये और पूर्व मनुजी कह भी आये हैं कि स्वधर्मत्याग से पतितता होती है, परन्तु यदि यहां आपत्काल का तात्पर्य प्राणसङ्कट ही, अर्थात् कभी दैवयोग से कहीं ऐसा अवसर आ जावे कि सर्वथा ही प्राण न बच सकते हों तौ प्राणरक्षार्थ ये श्लोक मान्य भी समझे जा सकते

हैं और प्राणों को भी धर्मार्थ न्यौछावर कर देना तो बहुत ही अच्छा है । परन्तु कोई २ विद्वान् जगत् के महान् उपकारक हैं, यदि वे अपने प्राणों को परोपकारार्थ बचाते हुवे निपिदु प्रतिग्रहादि ले भी लें और इसको धर्म भी मान लिया जावे तो इसमें तो सन्देह ही नहीं कि १०५ से १०८ तक के ४ श्लोक तो अवश्य ही मनुप्रोक्त वा भृगुप्रोक्त भी नहीं । जिनमें मनु से पश्चात् हुवे अजीगर्त वामदेव आदि की कथा को भूतकाल से वर्णन किया है ॥ १०८ ॥

प्रतिग्रहाद्याजनाद्वा तथैवाध्यापनादपि । प्रतिग्रहः प्रत्यवरः
प्रेत्य विप्रस्य गार्हतः १०९ याजनाध्यापने नित्यं क्रियेते संस्कृ-
तात्मनाम् । प्रतिग्रहस्तु क्रियते शूद्रादप्यन्त्यजन्मनः ॥ ११० ॥

अर्थ—प्रतिग्रह, याजन, अध्यापन; इन में घुरा दान लेना ब्राह्मण को पर लोक में बहुत नीचता का हेतु है (इस लिये याजन अध्यापन से जय तक काम चले तब तक निन्दित प्रतिग्रह न लेवे) ॥ १०९ ॥ क्योंकि याजन और अध्यापन तो उपनयनादि संस्कार वाले द्विजों ही का सर्वदा किया कराया जाता है परन्तु प्रतिग्रह तो अन्त्यजन्म वाले शूद्र से भी लिया जाता है ॥ ११० ॥

जपहोमैरपैत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम् । प्रतिग्रहनिमित्तं तु
त्यागेन तपसैव च ॥ १११ ॥ शिलोञ्छमप्याददीन विप्रोऽजीवन्य-
तस्ततः । प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयांस्ततोऽप्युञ्छः प्रशस्यते ॥ ११२ ॥

अर्थ—अर्थात् असत् याजन और अध्यापन से उत्पन्न हुवा पाप तो जप होमों से दूर हो जाता है, परन्तु प्रतिग्रहनिमित्तक पाप, त्याग तथा तप से ही दूर होता है ॥ १११ ॥ ब्राह्मण अपनी वृत्ति से जीवन न कर सकता हुवा इधर उधर से शिलोञ्छों को भी ग्रहण करे (अर्थात् शिलोञ्छों के होते हुवे भी निन्दित प्रतिग्रह न ले) क्योंकि प्रतिग्रह से शिल चुगना श्रेष्ठ है और शिल से भी उञ्छ (चुगे पर चुगना) श्रेष्ठ है ॥ ११२ ॥

सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिर्धनं वा पृथिवीपतिः । याच्यः स्यात्स्ना-
तकैर्विप्रैरदित्संस्त्यागमर्हति ११३ अकृतं च कृतात्क्षेत्राद् गौर-
जाधिकमेव च । हिरण्यं धान्यमन्नं च पूर्वं पूर्वमदोषवत् ॥ ११४ ॥

सप्तवित्तागमाधर्म्या दायोलाभः क्रयोजयः । प्रयोगः कर्मयोगश्च
सत्प्रतिग्रहएव च ॥ ११५ ॥ विद्याशिल्पभृतिः सेवा गोरक्षं विपणिः
कृषिः । धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः ॥ ११६ ॥

अर्थ—धान्य कुप्य और धन की इच्छा करने वाले, कुटुम्बादि पोषण के
लिये धन के न होने से पीड़ित हुये स्नातक विप्रों को राजा से याचना करनी
योग्य है, परन्तु जो राजा देना नहीं चाहता वह याचना करने के योग्य नहीं
है ॥ ११३ ॥ बनाये हुये खेत से वे बनाया खेत, गाय बकरी भेड़, सौना, धान्य
और अन्न में (यथासंभव) पहिले २ में कम दोष है ॥ ११४ ॥ धर्म से प्राप्त इन
सात प्रकार के धनों का आगम धर्मानुकूल है—प्रथम वंश से चले आये हुये
धन का दायभाग, दूसरा भूमि आदि में दवा धन मिल जाना, तीसरे बेचना,
चौथे संग्राम में जय करना, पांचवें व्याज आदि से बढ़ाना वा खेती करना
आदि, छठा नौकरी करना और सातवां सज्जन से दान लेना ॥ ११५ ॥ ये दश
जीवन के हेतु हैं—१ विद्या, २ कारीगरी, ३ नौकरी, ४ सेवा, ५ पशुरक्षा,
६ दुकानदारी, ७ खेती, ८ सन्तोष, ९ भिक्षा और १० व्याज ॥ ११६ ॥

ग्राह्यः क्षत्रियो वापि वृद्धिर्नैव प्रयोजयेत् । कामं तु खलु धर्माथं
दद्यात्पापीयसेऽल्पकामम् ॥ ११७ ॥ चतुर्थमाददानोऽपि क्षत्रियो
भागमापदि । प्रजारक्षन्परं शक्त्या किलिब्रषात्प्रतिमुच्यते ॥ ११८ ॥

अर्थ—ग्राह्य और क्षत्रिय सूद से धन बढ़ाने को न दे । आपत्काल में
चाहे तो धर्मकर्मनिर्वाहार्थ नीच लोगों को थोड़ा धन देदे और थोड़ी सी
वृद्धि लेले ॥ ११७ ॥ आपत्काल में धनादि का चतुर्थ भाग भी चाहे ग्रहण
करता हो, परन्तु शक्ति से प्रजा की रक्षा करता हुआ राजा उस (अधिक
कर लेने के) पाप से छूट जाता है ॥ ११८ ॥

स्वधर्मो विजयस्तस्य नाहवे स्यात्पराङ्मुखः । शस्त्रेण वैश्यान्
रक्षित्वा धर्म्यमाहारयेद्वलिम् ॥ ११९ ॥ धान्येऽष्टमं विशां शुल्कं
विंशं कापीपणावरम् । कर्मापकरणः शूद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा

अर्थ—शत्रु का जय करना राजा का स्वधर्म है । संग्राम में पीठ न देवे ।
शस्त्र से वैश्यों की रक्षा करके उन से उचित कर लेवे ॥ ११९ ॥ वैश्यों के धान्य

में उपचय (नफे) में आठवें भाग को राजा ग्रहण करे । और कार्यापण तक सराफ़ के भाग पर २० वां भाग ले (पहिले धान्य का १२ वां और सुवर्णादि का ५० वां कहा था, यहां आपत्काल में अधिक कहा है) । तथा शूद्र कारीगर बढ़ई आदि काम करके कार्यरूप ही कर देने वाले हैं (इन से विपत्ति में भी कर न लेवे) ॥ १२० ॥

शूद्रस्तुवृत्तिमाकाङ्क्षन्क्षत्रमाराधयेदादि। धनिनंवाप्यपाराध्य
वैश्यंशूद्रोजिजीविषेत् ॥१२१॥ स्वर्गार्थमुभयार्थं वा विप्राना-
राधयेत्तुसः। जातब्राह्मणशब्दस्य सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥१२२॥

अर्थ—शूद्र यदि जीविका चाहे तो क्षत्रिय की सेवा करे अथवा धनी वैश्य की सेवा करके निर्वाह करे ॥ १२१ ॥ स्वर्ग और अपनी वृत्ति की इच्छा वाला शूद्र ब्राह्मण की सेवा करे । “ब्राह्मण का सेवक” इस शब्द ही से इस की कृतकृत्यता है (“या तु ब्राह्मणसेवाऽस्य” यह एक पुस्तक में तृतीय पाद का पाठान्तर है) ॥ १२२ ॥

विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते। यदतोऽन्यद्वि कुरुते
तद्व्यवत्यस्य निष्फलम् ॥१२३॥ प्रकल्प्यातस्य तैर्वृत्तिः स्वकुटुम्बा-
दयार्हतः। शक्तिंचावेक्ष्य दाक्ष्यं च भृत्यानां च परिग्रहम् ॥१२४॥

अर्थ—क्योंकि ब्राह्मण की सेवा शूद्र को अन्य कर्मों से श्रेष्ठ कर्म कहा है इसलिये इस से अतिरिक्त जो कुछ करता है, वह इस का निष्फल है ॥१२३॥ उस परिचारक शूद्र की परिचर्या सामर्थ्य और काम में चतुराई तथा उस के घर के पोष्यवर्य का व्यय देख कर अपने घर के अनुसार उन (द्विजों) की जीविका नियत कर देनी चाहिये ॥ १२४ ॥

उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानिवसनानि च। पुलाकाश्चैव धान्यानां
जीर्णाश्चैव परिच्छदाः ॥१२५॥ न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कार
मर्हति। नास्याधिकारो धर्मोऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम् ॥१२६॥

अर्थ—भोजन से बचा अन्न और पुराने कपड़े और धान्यों की छटन तथा पुराना बरतन भाखड़ा देना चाहिये ॥१२५॥ सेवक शूद्र को (द्विजों) के घर

का) कोई पातक नहीं है और न कोई संस्कार योग्य है । क्योंकि न तौ (उन द्विजों के) धर्म में इस को अधिकार है और न (अपने) धर्म से इस को निषेध है ॥ १२६ ॥

समैऽसवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः ।

मन्त्रवर्जं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥ १२७ ॥

अर्थ-धर्म की इच्छा वाले तथा धर्म को जानने वाले शूद्र मन्त्रवर्जित सत्-पुरुषों का आचरण करते हुवे दोष को नहीं किन्तु प्रशंसा को प्राप्त होते हैं ॥

(भाव यह है कि धर्मकार्य यज्ञादि करने का शूद्रों को अधिकार [इस्तहकाफ़] नहीं है । अर्थात् यदि द्विज लोग किसी शूद्र को अयोग्य समझ कर रोकें तौ उस का यह अधिकार [इस्तहकाफ़] नहीं है कि वह राजद्वारादि से कानूनन अपना स्वत्व सिद्ध कर पावे । परन्तु उस को धर्म करने की सनाई भी नहीं है कि शूद्र धर्म करे ही नहीं, किन्तु [धर्मैऽसवः] यदि शूद्र धर्म करना चाहें और (धर्मज्ञाः) धर्म करना जानते भी हों तौ बिना वेदमन्त्रों के उच्चारण ही यज्ञ होमादि कर सकते हैं, उस में उन को अमन्त्र होम का कोई दोष नहीं [क्योंकि वे पढ़ना जानते ही नहीं] प्रत्युत उन की प्रशंसा होती है कि वे धर्म में श्रद्धा करते हैं) ॥ १२७ ॥

यथा यथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः ।

तथा तथेमं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यऽनिन्दितः ॥ १२८ ॥

अर्थ-निन्दारहित शूद्र जैसे २ गर्व छोड़ कर अच्छे आचरण कहता है, वैसे २ इस लोक तथा परलोक में उत्कृष्टता को प्राप्त होता है ॥ १२८ ॥

शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसञ्चयः । शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते ॥ १२९ ॥ एते चतुर्णां वर्णानामापद्धर्माः प्रकीर्त्तिताः । यान्सम्यगनुतिष्ठन्तो ब्रजन्ति परमां गतिम् ॥ १३० ॥

अर्थ-समर्थ शूद्र को भी धनसञ्चय न करना चाहिये क्योंकि शूद्र धनको पाकर ब्राह्मणादि को ही बाधा देता है ॥ १२९ ॥ ये चारों वर्णों के आपत्काल के धर्म कहे । जिन को अच्छे प्रकार आचरण करते हुवे (मनुष्य) मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ १३० ॥

एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः ।

अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभम् ॥१३१॥

अर्थ—यह सम्पूर्ण चारों वर्णों की कर्मविधि कही । इस के उपरान्त शुभ प्रायश्चित्तविधि कहूंगा ॥ १३१ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे (भृगुप्रोक्तायां संहितायां)

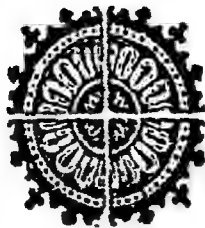
दशमोऽध्यायः

॥ १० ॥

इति श्री तुलसीराम स्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे

दशमोऽध्यायः

॥ १० ॥



अथ एकादशोऽध्यायः

सान्तानिकं यक्ष्यमाणमध्वरं सर्ववेदसम् । गुर्वर्थं पितृमात्रार्थं
स्वाध्यायाध्युपतापितौ ॥१॥ नवैतान्स्नातकान्विद्याद्ब्राह्मणान्
धर्मभिक्षुकान् । निःस्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्याविशेषतः ॥२॥

अर्थ—सन्तानार्थे विवाह के प्रयोजन वाला और उद्योतिष्ठोमादि यज्ञ करने
की इच्छा वाला तथा मार्ग चलने वाला और जिसने सम्पूर्ण धन दक्षिणा
देकर यज्ञ में लगा दिया वह, और गुरु तथा माता और पिता के लिये धन
का अर्थी और विद्यार्थी और रोगी ॥ १ ॥ इन ९ स्नातकों को धर्मभिक्षुक
ब्राह्मण जाने और ये निर्धन हों तो इन को विद्या की विशेषता के अनुसार
दान देना चाहिये ॥ २ ॥

एतेभ्यो हि द्विजाग्रेभ्यो देयमन्नं सदक्षिणम् । इतरेभ्यो बहि-
र्वेदि कृतान्नं देयमुच्यते ॥३॥ सर्वरत्नानि राजा तु यथाहं प्रति
पादयेत् । ब्राह्मणान्वेदविदुषो यज्ञार्थं चैव दक्षिणाम् ॥ ४ ॥

अर्थ—इन द्विजश्रेष्ठों को दक्षिणा के साथ अन्न देना चाहिये और दूसरों
को वेदी के धारक पका अन्न देना कहा है ॥ ३ ॥ राजा वेद के जानने वाले
ब्राह्मणों को यज्ञ के लिये सम्पूर्ण रत्न दक्षिणा यथायोग्य देवे ॥ ४ ॥

कृतदारोऽपरान्दारान्भिक्षित्वा योऽधिगच्छति । रतिमात्रं फलं
तस्य द्रव्यदातुस्तु सन्ततिः ॥५॥ धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु
प्रतिपादयेत् । वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ॥६॥

अर्थ—जो विवाहित पुरुष भिक्षा मांग कर दूसरा विवाह करता है उस
को रतिमात्र फल है । और उस की सन्तति द्रव्य देने वाले की है ॥ ५ ॥
यथाशक्ति वेद के जानने वाले निःसङ्ग ब्राह्मणों को धन देवे (उस से)
परलोक में स्वर्ग को पाता है ॥ ६ ॥

यस्य त्रैवर्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये । अधिकं वापि त्रिद्योत
स सोमं पातुमर्हति ॥७॥ अमःस्वल्पीयसि द्रव्ये यः सोमं पिबति
द्विजः । स पीतसोमपूर्वोऽपि न तस्याप्नोति तत्फलम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जिस के आवश्यक व्यय तीन वर्ष तक कुटुम्बियों के निर्वाह योग्य
धन वा इस से अधिक हो, वह सोमयज्ञ करने योग्य है ॥ ७ ॥ इस से कम
द्रव्य होने में जो द्विज सोमयज्ञ करता है उस का प्रथम सोमयज्ञ भी नहीं
सम्पन्न होता । (इस से दूसरा यज्ञ करना ठीक नहीं है) क्योंकि—॥ ८ ॥

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखर्जाग्निनि । मध्वापातोविपा-
स्वादः स धर्मप्रतिरूपकः ॥९॥ भृत्यानामुपरोधेन यत्करोत्यौ-
र्ध्वदहिकम् । तद्वत्तसुखोदकं जीवतश्च मृतस्य च ॥ १० ॥

अर्थ—जो कुटुम्बियों के दुःखी भूखे मरते हुवे परजन को देता है, वह
मधु का त्याग और विष का चाटने वाला धर्मविरोधी है ॥ ९ ॥ पुत्र स्त्री
इत्यादि को क्लेश देकर जो परलोक के लिये दानादि करते हैं, वह दान
इस लोक तथा परलोक में उत्तरोत्तर दुःख देने वाला है ॥

(इस से आगे ५ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक प्रसिद्ध है—

[वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या शिशुः सुतः ।

अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्त्तव्या मनुरब्रवीत्]

अर्थ—बूढ़े मा बाप, सती स्त्री, बालक पुत्र; इन का भरण पोषण १००
अकाज करके भी करना चाहिये, यह मनु ने कहा है) ॥ १० ॥

यज्ञश्चेत्प्रतिरुद्धः स्यादेकेनाङ्गेन यज्वनः । ब्राह्मणस्य विशेषेण
धार्मिके सति राजनि ॥ ११ ॥ यो वैश्यः स्याद्वहुपशुर्होतृक्रतु-
रसोमपः । कुटुम्बात्तस्य सद् द्रव्यमाहरेदज्ञसिद्धये ॥ १२ ॥

अर्थ—धार्मिक राजा के होते हुवे (क्षत्रियादि यजमानों का और)
विशेष करके ब्राह्मण का यज्ञ किसी एक अङ्ग से रुका हो तो—॥ ११ ॥ जो
वैश्य बहुत से गाय बैल वाला और यज्ञ न करने वाला तथा सोमयज्ञ
रहित हो, उस के घर से यज्ञ की सिद्धि को वह द्रव्य ले आवे ॥ १२ ॥

अ। हरेत्रो। णेवाद्वे वा कामं शूद्रस्य वेश्मनः। न हि शूद्रस्य यज्ञेषु
कश्चिदस्ति परिग्रहः ॥१३॥ योऽनाहिताग्निः शतगु-रयज्वा
च सहस्रगुः । तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदऽविचारयन् ॥१४॥

अर्थ-दो अङ्ग अथवा तीन अङ्ग की हीनता में चाहे शूद्र के घर से भी
अपने यज्ञसिद्धयर्थ उन रवा ३ वस्तुओं को ले आवे क्योंकि शूद्र का यज्ञों में खर्च
भी कुछ नहीं है ॥१३॥ जो अग्निहोत्री नहीं है और शत १०० गौ परिमित
धन उस के पास है, तथा जिस ने यज्ञ न किया हो और उस के पास सहस्र
१००० गौ परिमित धन है, उन दोनों के कुटुम्बों से भी विना विचारे ले आवे ॥१४॥

आदाननित्याच्चादातुराहरेदप्रयच्छतः । तथा यथाऽस्य प्रथते
धर्मश्चैव प्रवर्धते ॥१५॥ तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडऽनश्नता ।
अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥ १६ ॥

अर्थ-जिस के यहां (प्रतिग्रहादि से) धन ग्रहण तौ नित्य है और दान
नहीं है, उस से यज्ञ के लिये न देते हुवे से भी ले आवे, ऐसा करने से यज्ञ
फैलता और धर्म बढ़ता है ॥ १५ ॥ तीन दिन के भूखे को छः वार भोजन
न मिला हो तौ ७ वीं वार भोजनार्थ अगले दिन के लिये न लेकर हीन-
कर्मी से विना आज्ञा भी ले लेने में दोष नहीं है ॥ १६ ॥

खलात्क्षेत्रादगाराद्वा यतोवाप्युपलभ्यते । आख्यातव्यं तु
तत्तस्मै पृच्छते यदि पृच्छति ॥१७॥ ब्राह्मणस्वं न हर्तव्यं क्षत्रियेण
कदाचन । दस्युनिष्क्रिययोस्तु स्वमऽजीवन्हर्तुमर्हति ॥१८॥

अर्थ-खलिहान सेवा खेत से वा मकान से वा जिस जगह से मिलजावे
वहीं से (पूर्व श्लोकोक्त अवस्था में) ले लेना चाहिये । यदि धनस्वामी पूछे
तौ उस को कह दे (कि छः वार की भूख में लिया है) ॥१७॥ (इस दशा
में भी) क्षत्रिय को ब्राह्मण की वस्तु कभी न लेनी चाहिये । क्षुधित क्षत्रिय
को निष्क्रिय और दस्यु का धन लेना योग्य है ॥ १८ ॥

योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः संप्रयच्छति । स कृत्वा प्लव-
मात्मानं संतारयति तावुभौ ॥१९॥ यद्वनं यज्ञशीलानां देवस्वं
तद्विदुर्बुधाः । अयज्वनां तु यद्वित्तमासुरस्वं तदुच्यते ॥२०॥

अर्थ—जो असाधुओं से धन लेकर साधुओं को देता है, वह अपने को नाव बनाकर दोनों को पार उतारता है ॥१९॥ सर्वदा यज्ञ करने वालों का जो धन है उस को पण्डित “देवधन” समझते हैं और यज्ञ न करने वालों का जो धन है वह “आसुरधन” कहाता है ॥ २०॥

न तस्मिन्धारयेद्दण्डं धार्मिकः पृथिवीपतिः। क्षत्रियस्य हि यालि श्याद्ब्राह्मणः सीदति क्षुधा ॥२१॥ तस्य भृत्य जनं ज्ञात्वा स्वकुटुम्बान्महीपतिः। श्रुतशीले च विज्ञाय वृत्तं धर्म्यां प्रकल्पयेन् ॥२२॥

अर्थ—उस (६ वार की भूख में परधन लेने वाले) को धार्मिक राजा दण्ड न देवे। क्योंकि राजा ही के मूढ़ होने से ब्राह्मण क्षुधा से पीड़ित होता है ॥ २१ ॥ (बलिक) उस ब्राह्मण के पुत्रादि पोष्यवर्गों और विद्या तथा सदाचार को जानकर राजा अपने निज से उस को धर्मानुकूल जीविका का प्रबन्ध करदे ॥ २२ ॥

कल्पयित्वाऽस्य वृत्तिं च रक्षेदेनं समन्ततः। राजा हि धर्म षड्भागं तस्मात् प्राप्नोति रक्षितात् ॥२३॥ न यज्ञार्थं धनं शूद्राद्विप्रो भिक्षेत कर्हिचित्। यजमानो हि भिक्षित्वा चण्डालः प्रेत्य जायते ॥२४॥

अर्थ—इस (ब्राह्मण) की जीविका नियत करके सब ओर से इस की रक्षा करे। क्योंकि उस की रक्षा से धर्म का छठा भाग राजा को प्राप्त होता है ॥ २३ ॥ यज्ञ के लिये ब्राह्मण शूद्र से धन कभी न मांगे, क्योंकि (शूद्र से) भिक्षा मांग कर यज्ञ करने वाला मरने पर चण्डाल होता है ॥२४॥

यज्ञार्थं मर्थं भिक्षित्वा यो न सर्वं प्रयच्छति। स याति भासतां विप्रः काकतां वा शतं समाः ॥२५॥ देवस्त्वं ब्राह्मणस्त्वं वा लोभेनोपहिनस्ति यः। स पापात्मा परे लोके गृध्रोच्छिष्टेन जीवति ॥२६॥

अर्थ—यज्ञ के लिये भिक्षा मांग कर जो सब नहीं लगाता, वह सौ वर्ष तक भास (गोष्ठकुक्कुट) वा काक होता है ॥२५॥ देवधन और ब्राह्मणधन को जो लोभ से हरता है, वह पापात्मा परलोक में गिद्ध की झूठ से जीवता है ॥२६॥

“इष्टिं वैश्वानरीं नित्यं निर्वपेदब्दपर्यये ।

क्लृप्तानां पशुसोमानां निष्कृत्य रथमसम्भवे ॥२७॥”

आपन्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः ।

स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम् ॥ २८ ॥

—“ (वर्ष के समाप्त होने में दूसरे वर्ष की प्रवृत्ति को अर्द्धपर्यय कहते हैं) उस चैत्र शुक्ल से आदि लेकर वर्ष की प्रवृत्ति में विहित सोमयज्ञ के न हो सकने में उस के दोष दूर करने को सर्वदा शूद्रादि से उक्त धनहरण रूप पाप के प्रायश्चित्ताऽर्थे वैश्वानरी इष्टि करे” ॥४॥ २६-२७ के हेतुओं से भी यह प्रक्षिप्त है) ॥ २७ ॥ जो द्विज आपत्काल के धर्म को अनापत्काल में करता है उस का कर्म पर लोक में निष्फल होता है । ऐसा विचार है ॥ २८ ॥

विश्वैश्च देवैः साधयैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः । आपत्सु मरणा-
द्वीतैर्विधेः प्रतिनिधिः कृतः ॥ २९ ॥ प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनु-
कल्पेन वर्त्तते । न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥ ३० ॥

अर्थ—क्योंकि सब देवों और साध्यों तथा महर्षि और ब्राह्मणों ने आ-
पत्काल में मरण से डर कर विधि का प्रतिनिधि आपद्धर्म नियत किया है
॥ २९ ॥ जो मुख्यानुष्ठान करने की शक्ति वाला होकर, आपत् के लिये विहित
प्रतिनिधि अनुष्ठान करता है, उस दुर्बुद्धि को पारलौकिक फल नहीं है
(इस से ऐसा न करे) ॥ ३० ॥

न ब्राह्मणो वेदयेत् किञ्चिद्वाजनि धर्मवित् । स्ववीर्येणैव तान्
शिष्यान्मानवान्ऽपकारिणः ॥ ३१ ॥ स्ववीर्याद्वाजधीर्याच्च स्ववीर्यं
घलवत्तरम् । तस्मात्स्वेनैव वीर्येण निगृह्णीयादरीन्द्रिजः ॥ ३२ ॥

अर्थ—धर्म का जानने वाला ब्राह्मण कुछ थोड़े (लुकसान हुवे) को
राजा से न कहे किन्तु अपने ही पुत्रपार्थ से उन अपकार करने वाले मनुष्यों
को शिक्षा देवे ॥ ३१ ॥ अपना सामर्थ्य और राजा का सामर्थ्य, इन दोनों
में अपना सामर्थ्य अधिक बलवान् है । इस कारण ब्राह्मण अपने ही सामर्थ्य
से शत्रुओं का नियंत्रण करे ॥ ३२ ॥

श्रुतीरयवीङ्गिरसीः कुर्यादित्यविचारयन् । वाक्शस्त्रं वै ब्राह्मण-
स्य तेन हन्यादरीन्द्रिजः ॥ ३३ ॥ क्षत्रियोऽप्यहो वीर्येण तरेदापद-
मात्मनः । धनेन वैश्यशूद्रौ तु जपहोमैर्द्विजोत्तमः ॥ ३४ ॥

अर्थ—अथर्ववेद की दुष्टाभिचार श्रुतियों का (विना विचार) शीघ्र प्रयोग करे । इसी अभिचार के उच्चारण रूप शस्त्र वाला होने से ब्राह्मण की वाणी शस्त्र है । ब्राह्मण उस से शत्रुओं को मारे ॥ ३३ ॥ क्षत्रिय बाहुबल से अपनी आपत्ति दूर करे, वैश्य और शूद्र धन से तथा ब्राह्मण जप होम से आपद् को दूर करे ॥

(३१ से ३४ तक चारों वर्णों को अपनी २ आपत्ति से बचने के लिये उपदेश हैं । क्षत्रिय बल से और वैश्य, शूद्र धन वा दीनता से आपे को बचावे । परन्तु ब्राह्मण का धन वेद है, वह वेद से आपे को बचावे । अथर्ववेदादि में जो शत्रु से अपनी रक्षा की प्रार्थना और शत्रु के नाश की प्रार्थना है, उन्हीं को परमात्मा से सहायतार्थ मांगे । परमात्मा उस के सच्चे ब्राह्मणत्व को जानता हुआ अवश्य उस की रक्षा का साधन कुछ न कुछ उत्पन्न कर देगा । आस्तिकों को उस में कुछ सन्देह नहीं हो सकता । परन्तु ऐसे ब्राह्मण सहस्रों वर्ष में कोई २ कभी २ होते हैं, बहुत नहीं । तथा सय के हितकारी होने से उन के साथ शत्रुता भी बहुत ही थोड़े लोग करते हैं । परन्तु तौ भी ३३ वें में जो ब्राह्मण को पराये हनन के लिये प्रार्थना करने को उत्तेजित किया है सो कुछ अनुचित जान पड़ता है । यं तौ अपने २ दुःखों और दुःखदायकों का निवारण सभी चाहते हैं, परन्तु ब्राह्मण को इस प्रकार उत्तेजित करना कि (हन्यादेव) “ मारे ही ” और (अविचारयन्) विना विचारे शीघ्र ही । भला कुछ ठीक है ? इन के अतिरिक्त इस में (इत्यविचारयन्) में “ इति ” शब्द खेदङ्गा और निरर्थक है जो मनु की शैली से नहीं मिलता । तथा एक पुस्तक में इस की जगह (इत्यवधारितम्) और अन्य दो पुस्तकों में (इत्यभिचारयन्) पाठान्तर हैं और “ इति ” शब्द सब पाठों में व्यर्थ ही रहता है । तथा इस से आगे ३० पुस्तकों में से १ में नीचे लिखा श्लोक अधिक मिलता है । जिस से यह सन्देह पुष्ट सा होता है कि ऊपर का ३० वां भी जिस के पाठ भी कई प्रकार के मिलते हैं और शैली भी भिन्न है, कदाचित् पीछे का बना ही हो । अधिक श्लोक जो सब पुस्तकों में नहीं मिलने पाया है, यह है—

[तदस्त्रं सर्ववर्णानामऽनिवार्यं च शक्तितः ।]

तपोवीर्यप्रभावेण अवध्यानपि बाधते] ॥

अर्थात् तप वीर्य के प्रभाव से जो अवधियों को भी बाधा कर सकता है, वह यह अस्त्र शक्ति में किसी वर्ण से निवारित नहीं हो सकता । ३४ वें श्लोक के बीच में ही पूर्वार्ध से आगे आधा श्लोक दो पुस्तकों में और मिलाया दीख पड़ता है कि:-

[तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्]

इस से यह भी पाया जाता है कि कई श्लोकों में अर्ध भाग भी मिलित हुआ है) ॥ ३४ ॥

विधाता शासिता वक्ता मैत्रो ब्राह्मण उच्यते । तस्मै नाऽकुशलं ब्रूयान्न शुष्कांगिरमीरयेत् ३५ न वै कन्या न युवतिर्नाल्पत्रिदो न बालिशः । होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो नासत्कृतस्तथा ॥ ३६ ॥

अर्थ-विहित कर्मों का अनुष्ठान करने वाला, पुत्र शिष्यों की शिक्षा करने वाला और प्रायश्चित्तादि धर्मों का बताने वाला, सब का मित्र ब्राह्मण कहा है, उस से कोई बुरी बात न बोले और रूखी बोली भी न बोले ॥ ३५ ॥ कन्या, युवति, थोड़ा पढ़ा और कुपढ़ तथा बीमार और संस्काररहित; ऐसे लोग अग्निहोत्र के होता नियत न हों (इस से बृद्धा स्त्रियों को भी होता बनाना पाया जाता है) ॥ ३६ ॥

नरके हि पतन्त्येते जुहुतः स च यस्य तत् । तस्माद्वै तानकुशलो होता स्याद्वेदपारगः ॥ ३७ ॥ प्राजापत्यमदत्त्वा अग्न्याधेयस्य दक्षिणाम् । अनाहिताग्निर्भवति ब्राह्मणो विभवे सति ॥ ३८ ॥

अर्थ-(कन्यादि) होता बनाये जाने के अनधिकारी (होता बन कर) और जिस का वह अग्निहोत्र है वह (यजमान) भी नरक को प्राप्त होता है । इस कारण अतः कर्म में प्रवीण और सम्पूर्ण वेद का जानने वाला होता होना चाहिये ॥ ३७ ॥ धन के होते हुवे प्रजापति देवता के निमित्त अश्व और अग्न्याधेय की दक्षिणा न देवे तौ ब्राह्मण अनाहिताग्नि हो जाता है (अर्थात् उस को आधान का फल प्राप्त नहीं होता) ॥ ३८ ॥

पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्धधानो जितेन्द्रियः । न त्वल्पदक्षिणैर्यज्ञैर्यजेतेह कथञ्चन ॥ ३९ ॥ इन्द्रियाणि यशः स्वर्गमायुः कीर्त्तिं प्रजापशून् । हन्त्यल्पदक्षिणो यज्ञस्तस्मान्नाल्पधनो यजेत् ४०

अर्थ-जितेन्द्रिय श्रद्धा वाला अन्य पुरय कर्मों को करे, परन्तु थोड़ी दक्षिणा के यज्ञ से कभी यजन न करे ॥३९॥ इन्द्रियों, यश, स्वर्ग, आयु, कीर्ति, प्रजा और गौ आदि पशुओं को थोड़ी दक्षिणा वाला यज्ञ नष्ट करता है, इस लिये थोड़े धन वाला यज्ञ न करे (तात्पर्य यह है कि थोड़े धन वाला यज्ञ करे तो ऋत्विजों को थोड़ी दक्षिणा से दुःख होगा, यजमान भी निर्धन हो जायगा, भूखा मरेगा और तब ४० वें में कही हानियें होंगी ही । परन्तु यह थोड़ी दक्षिणा के यज्ञ की दुराई [निन्दार्थवाद] कुछ अत्युक्ति सी प्रतीत होती है और ४० वें से आगे ६ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक भी पाया जाता है:-

[अन्नहीनोदहेद्राष्ट्रं मन्त्रहीनस्तु ऋत्विजः ।

दीक्षितं दक्षिणाहीनोनास्ति यज्ञसमोरिपुः]

अन्नहीन यज्ञ राज्य को फूंकता है । मन्त्रहीन ऋत्विजों का नाश करता है । दक्षिणाहीन दीक्षित को नष्ट करता है । यज्ञ के समान कोई शत्रु नहीं ॥ इस से यह भी सन्देह होता है कि ४० वां श्लोक भी कदाचित् हीन यज्ञ की निन्दापरक पीछे से ही बढ़ाया गया हो, जैसे कि यह केवल छः पुस्तकों में ही है) ॥ ४० ॥

अग्निहोत्र्यपविध्याग्नीन् ब्राह्मणः कामकारतः । चान्द्रायणं चरैन्मासं वीरहत्यासमंहितत् ॥४१॥ ये शूद्रादधिगम्यार्थमग्निहोत्रमुपासते। ऋत्विजस्ते हि शूद्राणां ब्रह्मवादिषु गर्हिताः ४२

अर्थ-अग्निहोत्री ब्राह्मण इच्छा से अग्नि में सायं प्रातः होम न करे तो एक मास पर्यन्त चान्द्रायण व्रत करे । क्योंकि वह पुत्रहत्यासम पाप है ॥४१॥ जो शूद्र से धन लेकर अग्निहोत्र किया करते हैं, वे वेदपाठियों में निन्दित हैं क्योंकि (एक प्रकार से) वे शूद्रों के ऋत्विज हैं ॥ ४२ ॥

तेषां सततमज्ञानां वृषलाग्न्युपसेविनाम् । पदा मस्तकमाक्रम्य दाता दुर्गाणि संतरेत् ॥४३॥ अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् । असक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥ ४४ ॥

अर्थ-उन शूद्रों के धन से सदा यज्ञ करने वाले मूर्ख ब्राह्मणों के शिर पर पैर रख कर वह दाता (शूद्र) दुःखों से तरता है (अर्थात् यज्ञ कराने

वालों को सदा शूद्र से दबना पड़ता है) ॥४३॥ विहित कर्म को न करता और निन्दित को करता हुआ तथा इन्द्रियों के विषय में आसक्त मनुष्य प्रायश्चित्त के योग्य हो जाता है ॥ ४४ ॥

अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः। कामकारकृतेऽप्याहु-
रेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥४५॥ अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन
शुद्ध्यति । कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥४६॥

अर्थ—विद्वान् लोग विना इच्छा से किये पाप पर प्रायश्चित्त कहते हैं, दूसरे
आचार्य वेद के देखने से कहते हैं कि इच्छा से किये में भी (प्रायश्चित्त होना
चाहिये) ॥४५॥ विना इच्छा से किया पाप वेदाभ्यास से शुद्ध होता है और मोह
वश इच्छा से किया हुआ पाप नाना प्रकार के प्रायश्चित्तों से शुद्ध होता है ॥४६॥

प्रायश्चित्त का विचार

प्रायः पापं विजानीयाच्चित्तं वै तद्विशोधनम्

और

प्रायेणम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चयउच्यते ।

तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तं तदुच्यते ॥

प्रायशश्च समं चित्तं चारयित्वा प्रदीयते ।

पर्षदा कारयते यत्तु प्रायश्चित्तं तदुच्यते ॥

तथा—

योऽप्यदृष्टजन्मवेदनीयोऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः । कृतस्याऽपक्वस्य
नाशः, प्रधानकर्मण्यवापगमनं वा, नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा
चिरमवस्थानमिति । यथा शुक्तकर्मादयादिहैव नाशः कृष्णस्य । यत्रेदमुक्तं, द्वे
द्वे कर्मणी वेदितव्ये (इत्यादि) ॥ यह व्यासभाष्य, योगदर्शन के—

सति मूले तद्विपाकोजात्यायुर्भोगाः ॥ २ । १३ ॥

इस सूत्र पर है । जिस का तात्पर्य यह है कि जो पूर्व जन्म का जानने
योग्य अनियतविपाक कर्म है, उस की ३ गति हैं । १—अपक्व कृत का नाश,
२—वा प्रधान कर्मके भीतर भुगता जाना, ३—वा नियतविपाक प्रधान कर्मसे दबे

हुये का बहुत काल तक स्थित रहना । जैसे पुण्य कर्म के उदय से पाप का वा श्वेतकर्म-वस्त्र धोने आदि से कलोंस का यहीं नाश हो जाता है, जिस में यह कहा गया है कि दो दो कर्म पाप पुण्य भेद से जानने चाहियें इत्यादि ॥

अब जानना यह है कि पाप क्या वस्तु है और उस की निवृत्ति किस प्रकार हो सकती है? जिस प्रकार एक लकड़ी को मोड़ते रहने से वह तिरछी हो जाती है और वह सीधे कर्मों के योग्य नहीं रहती, इसी प्रकार आत्मा भी पराश्रयकारादि पाप से अवस्थान्तर को प्राप्त होकर शुद्ध अवस्था से भोग्य शुभ फलों के योग्य नहीं रहता । वा जिस प्रकार स्वच्छ वस्त्र पर जो रङ्ग काले या अच्छे लगाये जावें, उन २ से वस्त्र की वह २ रङ्गत होजाती हैं । और उस रङ्ग विशेष से वह वस्त्र रङ्गानुसार पुष्ट वा क्षीण भी होता है । इसी प्रकार आत्मा भी विचित्र कर्मों के करने से विचित्र अवस्थाओं को प्राप्त हो जाता है और अवस्थानुसार ही फलभोग की योग्यता वा अयोग्यता होती है । इसी प्रकार कुकर्म से आत्मा में एक प्रकार की वासना, विषमता वा मलिनता उत्पन्न हो जाती है । उस को दूर करने का उपाय भोग है । वह भोग दो प्रकार का है । एक ईश्वर वा राजा की व्यवस्था से परवश होकर भोगना । दूसरा अपने आप ही समझ कर कि मैंने यह झुरा किया है, जिस से मेरे आत्मा में पाप वास करता है, जो मुझे अनिष्ट है (स्मरण रहे कि यहां "आत्मा" शब्द का प्रयोग हमने अन्तःकरण सहित आत्मा के लिये किया है । केवल आत्मा में पाप पुण्य नहीं लग सकते) । मनुष्य विद्वान् लोगों से कहे कि मैंने यह पाप किया है इस से मेरा आत्मा घुटता है, इस की निवृत्ति का उपाय बताइये । तब वे लोग देश काल अवस्था के विचार से शास्त्रानुसार वा शास्त्र में स्पष्ट न कहा हो तौ शास्त्र की अधिरोधिनी अपनी कल्पना से प्रायश्चित्त बतावें । वह पापी श्रद्धा और नम्रता और पश्चात्ताप से युक्त उस २ प्रकार से अनुष्ठान करे । जो कष्ट हों, उन को सहें, आगे की अपना सुधार करे । यथार्थ में राजदण्डादि से भी तौ इस से अधिक फल नहीं होता । क्योंकि एक पुरुष ने दूसरे पुरुष को थप्पड़ से मारा और मारने वाले को राजदण्ड होगया तौ उस राजदण्ड से जिस के थप्पड़ लगा था, उस की चोट दूर नहीं हुई, किन्तु एक तौ उस थप्पड़ से पिटने वाले को जो दुःख था सो इस अपराधी को दण्ड मिलने से शान्ति वा सन्तोष सा होकर चित्तविषमता का निवारक हुवा । दूसरे अपराधीको यह बलपूर्वक ज्ञात कराया

गया कि ऐसा काम करना योग्य न था । जिससे इसके चित्त की भी आगे के लिये और देखने वालों को पाप करने से पूर्व ही ग्लानि होकर उत्तरोत्तर संसार में शान्ति का प्रसार हुवा । तो प्रायश्चित्त का फल सोचें तो एक प्रकार से राजदण्ड से भी उत्तम हो सकता है । क्योंकि बलात्कार से जब कभी एक पुरुष हानि उठाकर हानिकारक को राजद्वार से दण्ड दिलाता है तो कभी २ ऐसा देखा गया है कि कारागार से छुटते ही आकर पूर्व द्वेष से उसी अपराधी ने उसी पुरुष को द्वेष के शब्द प्रकट करके कि "तू ने ही मुझे जेल में भेजवाया था" उससे भी अधिक हानियें फिर की हैं, परन्तु जब कि मनुष्य स्वयं अपराध स्वीकार करके प्रायश्चित्त करता है, तब ऐसा नहीं हो सकता ॥

प्रायः ऐसे भी प्रायश्चित्त हैं, जिनमें बड़ा अपराध है और भोग थोड़ा जान पड़ता है, परन्तु देश काल अवस्था के विचार से ऐसा होना ही चाहिये । एक पुरुष को बेट मारने से जितनी शिक्षा मिल सकती है, दूसरे को "तुम ने घुरा किया" इतना कहने का ही उस बेट खाने वाले से भी अधिक शिक्षा दायक प्रभाव हो जाता है । ऐसे ही देश और काल से भी भेद समझिये । सम्प्रदेशों के समझदार मनुष्यों को तो "क्षमा मांगने" से ही जितनी शिक्षा होती है उतनी असम्प्रदेशीय अशिक्षितों को कभी २ बध से भी नहीं होती । इत्यादि बहुत दूर तक विचार फैलाने से प्रायश्चित्त की सार्थकता समझ में आ सकती है । यहां थोड़ा ही लिख कर समाप्त करते हैं) ॥ ४६ ॥

प्रायश्चित्तीयतां प्राप्य दैवात्पूर्वकृतेन वा । न संसर्गं ब्रजेत्सद्भिः
प्रायश्चित्तेऽकृते द्विजः ॥ ४७ ॥ इह दुश्चरितैः केचित्केचित्पूर्वं
कृतैस्तथा । प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नरा रूपविपर्ययम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—दैववश वा पूर्वजन्म के पाप से द्विज प्रायश्चित्त के योग्य होकर प्रायश्चित्त विना किये सज्जनों के साथ संसर्ग न करे (४७ वें से आगे एक पुस्तक में "प्रायो नाम तपः प्रोक्तम् " इत्यादि श्लोक अधिक हैं) ॥ ४७ ॥ कोई इस जन्म के और कोई पूर्व जन्म के दुराचरण से दुरात्मा मनुष्य, रूप की विपरीतता को प्राप्त होते हैं ॥ ४८ ॥ जैसा कि:-

सुवर्णचौरः कौनख्यं सुरापः श्यावदन्तताम् । ब्रह्महाक्षयरो गित्वं
दौश्चर्म्यं गुरुतल्पगः ॥ ४९ ॥ पिशुनः पीतिनासिक्यं सूचकः पूति-
वक्त्रताम् । धान्यचौरोऽङ्गहीनत्वमातिरेक्यं तु मिश्रकः ॥ ५० ॥

अर्थ—सोने का चुराने वाला कुनखी होता है और मदिरा पीने वाला काले दांत को और ब्रह्महत्या करने वाला क्षयरोगिता को तथा गुरु की स्त्री से गमन करने वाला दुष्ट चर्म को पांता है ॥५९॥ चुगली करने वाला दुर्गन्ध नासिका को और झूठी निन्दा करने वाला दुर्गन्ध मुख को और धन का चुराने वाला अङ्गहीनता को और धान्य में अन्य वस्तु मिलाने वाला अधिकाङ्गता को (प्राप्त होता है) ॥ ५० ॥

अन्नहर्ताऽमयावित्त्वं मौक्यं वांगऽपहारकः ।

वस्त्रापहारकः श्वैत्र्यं पङ्गुनामश्वहारकः ॥५१॥

अर्थ—अन्न चुराने वाला मन्दाग्निता को, वाणी का चुराने वाला गुं-पन को, कपड़े का चुराने वाला श्वेत कोढ़ और घोंड़े का चुराने वाला पङ्गुपने को (प्राप्त होता है) ५१ वें से आगे अर्द्ध श्लोक १० पुस्तकों में अधिक है और रामचन्द्र ने उस पर टीका भी की है:—

[दीपहर्ता भवेदन्यः काणोनिर्वापकोभवेत्]

दीपक चुराने वाला अन्या और (चोरी से) दीपक धुमाने वाला काणा होता है । अन्य ९ पुस्तकों में इसी से आगे उत्तरार्धरूप और भी अर्ध श्लोक उपस्थित है कि:—

[हिंसया व्याधिभूयस्त्वमरोगित्वमहिंसया]

(हिंसा से बहुत रोगीपना और अहिंसा से नीरोगता होती है) ॥५१॥

एवं कर्मविशेषेण जायन्ते सद्विगर्हिताः ।

जडमूकान्धबधिरा विकृताकृतयस्तथा ॥५२॥

अर्थ—इस प्रकार कर्मविशेष से सज्जनों में निन्दित जड़, मूक, अन्ध, बधिर और विकृत आकृति वाले उत्पन्न होते हैं ॥ ५२ ॥

चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्ध्ये । निन्द्यैर्हि लक्षणैर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैः नसः ॥५३॥ ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः । महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥५३॥

अर्थ—बिना प्रायश्चित्त करने वाले निन्द्य लक्षणों से युक्त उत्पन्न होते हैं । इस कारण शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त अवश्य करना चाहिये ॥५३॥ ब्रह्महत्या,

मदिरापान, चोरी, गुरु, की स्त्री से व्यभिचार; इन को महापातक कहते हैं और इन महापातकियों के साथ रहना भी (उसी के समान है) ॥ ५४ ॥

अनृतं च समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम्। गुरोश्चालीकनिर्वन्धः
समानि ब्रह्महत्याया ॥५५॥ ब्रह्मोज्झता वेदनिन्दा कौटसाक्ष्यं
सुहृद्वधः। गर्हितानादयोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट् ॥५६॥

अर्थ—अपनी बड़ाई के लिये असत्यभाषण करना, राजा से चुगली करना और गुरु से झूठी खबर कहना, ये ब्रह्महत्या के समान हैं ॥५५॥ वेदको त्यागना वेद की निन्दा करना, झूठी गवाही देना तथा मित्र का वध, निन्दित लशुनादि और पुरीषादि अभक्ष्य का भक्षण, ये छः सुरापान के समान हैं ॥ ५६ ॥

निक्षेपस्यापहरणं नराश्वरजतस्य च । भूमिवज्रमणीनां च
रुक्मस्तेयसमं स्मृतम् ॥५७॥ रेतःसेकः स्वयोनीषु कुमारीष्व-
न्त्यजासु च । सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतल्पसमं विदुः ॥५८॥

अर्थ—धरोहर और मनुष्य, घोड़ा, चान्दी, भूमि, हीरा और मणियों का हर लेना स्वर्ण की चोरी के समान है ॥ ५७ ॥ सहोदरा भगिनी, कुमारी, चण्डाली, सखा और पुत्र की स्त्री, इन से व्यभिचार करना गुरुभार्यागमन के समान (महापातक) है ॥ ५८ ॥

गोवधोऽयाज्यसंयाज्यपारदायात्मविक्रयाः । गुरुमातृपितृ-
त्यागः स्वाध्यायाग्नेयोः सुतस्य च ॥५९॥ परिवित्तिस्तानुजेऽनूढे
परिवेदनमेव च । तयोर्दानं च कन्यायास्तयोरेव च याजनम् ॥६०॥

अर्थ—गाय का मारना, दुष्टों को यज्ञ कराना, परस्त्रीगमन करना, आत्मा का बेचना, गुरु-माता-पिता-ब्रह्मयज्ञ-श्रौतस्मार्त अग्नि में होम और पुत्र का त्यागना ॥५९॥ छोटे का पहिले विवाह करने में ज्येष्ठ की परिवित्तिता, कनिष्ठ को परिवेत्ता होना, उन दोनों को कन्या देना और उन दोनों को यज्ञादि कराना ॥ ६० ॥

कन्यायादूषणं चैव वार्धप्यं व्रतलोपनम् । तडागारामद्वाराणा-
मपत्यस्य च विक्रयः ॥६१॥ ब्र. त्यतावाधवत्यागो भृत्याध्याप-
नमेव च । भृताञ्चाध्ययनादानमपश्यानां च विक्रयः ॥६२॥

अर्थ-और कन्या का दूषित करना, (वैश्य न होकर) सूद का लेना; व्रतभङ्ग करना, तालाब बगीचा, स्त्री और सन्तान का बेचना ॥६१॥ यथोचित काल में उपनयन का न होना, बान्धवों का त्याग, नियत वेतन लेकर पढ़ाना, और ऐसे ही देकर पढ़ने का ग्रहण, बेचने के अयोग्य वस्तु का बेचना ॥६२॥ सर्वाकरेण अधीकारो महायन्त्रप्रवर्त्तनम्। हिंसापधीनां रुद्राजीवोऽभिचारो मूलकर्म च ॥६३॥ इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामथ पातनम्। आत्मार्यं च क्रियारम्भो निन्दितान्नादनं तथा ॥६४॥

अर्थ-सुवर्णोदि सम्पूर्ण खानों में अधिकार, बड़े भारी यन्त्र का चलाना ओषधियों का काटना, भार्यादि स्त्रियों से (वैश्यावत् करके) आजीवन करना, मारण और वशीकरण, ॥६३॥ इन्धन के लिये हरे वृक्षों को काटना, (देव-पितरों के उद्देश विना केवल) आत्मार्य पाकादि काम करना और निन्दित अन्न का भक्षण ॥ ६४ ॥

अनाहिताग्नितास्तेयमृणानामनपक्रिया । असच्छास्त्राधिगमनं कौशीलव्यस्य चक्रिया ॥६५॥ धान्यकुप्यपशुस्तेयं मदपस्त्रीनिषेवणम् । स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकम् ॥६६॥

अर्थ-अग्निहोत्र न करना, चोरी करना, ऋणों का न चुकाना, असत् शास्त्रों का पढ़ना, नाचने गाने बजाने का सेवन, ॥ ६५ ॥ धान्य कुप्य और पशुओं की चोरी, नद्य पीनेवाली स्त्री से व्यभिचार, स्त्री शूद्र वैश्य क्षत्रिय का वध और नास्तिकता (ये सब) उपपातक हैं ॥

(तड़ागादि के बेचने से पुण्य कर्म रुकता है । नौकरी के पढ़ने पढ़ाने में गुरु शिष्य का पूर्ण भाव नहीं रहता । खानि खुदवाने के ठेके लेने और सहायन्त्रों के चलवाने में जीवों की हिंसा है । उस के प्रायश्चित्त उन लोगों को करने चाहिये । मारण में दूसरे का स्पष्ट अपकार है । वशीकरण में दूसरे को अज्ञानी वा पराधीन करना बुरा है । वशीकरण किसी के पास सुन्दर स्त्री आदि भेज कर उस को मोहित करने से होता है) ॥ ६६ ॥

ब्राह्मणस्य रुजः कृत्यां प्रातिरध्रेयमदयोः । जैह्वयं च मैयुनं पुंसि जातिशंकरं स्मृतम् ॥६७॥ खराश्वोष्ट्रमृगेभानामजाविकवधस्तथा । संकरीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च ॥ ६८ ॥

अर्थ—ब्राह्मण की लाठी आदि से पीड़ा देने की क्रिया करना, दुर्गन्ध और मद्य का सूँघना, कुटिलता करना, तथा पुरुष से नैथुन करना, इन को जातिभ्रंशकर पातक कहा है ॥ ६७ ॥ गर्दभ, तुरङ्ग, चट्ट, सुग, हस्ती, बकरा, भेड़, मत्स्य, सर्प, महिष, इन में प्रत्येक के वध को "सङ्करीकरण" कहते हैं ॥ ६८ ॥
निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम् । अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम् ॥ ६९ ॥ कृमिकीटवयो ह तथा मदानुगतभोजनम् । फलैश्च कुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम् ॥ ७० ॥

अर्थ—अप्रतिग्राह्य पुरुषों के धन का प्रतिग्रह लेना, (वैश्य न होकर) वाणिज्य करना, शूद्र की परिचर्या और झूठ बोलना, इन को "अपात्रीकरण" जाने ॥ ६९ ॥ कीड़े सकौड़े पक्षी की हत्या, मद्य के साथ मिला भोजन, फलश्च न्यून और पुष्प का चुराना और अधीरता को "मलिनीकरण" कहते हैं ॥ ७० ॥
एतान्येनांसि सर्वाणि यथोक्तानि पृथक्पृथक् कुर्यादैर्व्रतैरपोह्यन्ते तानि सम्यङ् निबोधत ॥ ७१ ॥ ब्रह्महा द्वादशसमाः कुटीं कृत्वा वने वसेत् । भिक्षाश्यात्मविशुद्ध्यर्थं कृत्वा शवशिरोध्वजम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—ये सब ब्रह्महत्यादि पाप जैसे अलग अलग कहे गये, वे जिन जिन व्रतों से नाश को प्राप्त किये जाते हैं, उन को शब्दों के प्रकार सुनो ॥ ७१ ॥
ब्राह्मण का हत्यारा वन में कुटी बना कर सुरदे के सिर का चिह्न करके, भोजन मांग कर खाता हुआ, अपनी शुद्धि के लिये बारह वर्ष रहे ॥ ७२ ॥

लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्याद्विदुषामिच्छयात्मनः । प्रास्येदात्मानमग्निं वा समिद्धे त्रिरवा विशराः ॥ ७३ ॥ यजेत वाश्वमेधेन स्वर्जिता गोसवेन वा । अभिजिद्विश्वजिद्व्यां वा त्रिवृताग्निष्टुतापि वा ॥ ७४ ॥

अर्थ—अथवा शस्त्रधारण करने वाले विद्वानों का अपनी इच्छा से निशाना बने । अथवा नीचे सिर करके जलती हुई अग्नि में अपने को तीन बार डाले ॥ ७३ ॥ अथवा अश्वमेध यज्ञ करे वा स्वर्जित, गोसवन, अभिजित्, विश्वजित्, त्रिवृत् वा अग्निष्टत् (ये यज्ञविशेष) करे ॥ ७४ ॥

जपन्वाऽन्यतमं वेदं योजनानां शतं व्रजेत् । ब्रह्महत्यापनोदाय

मितभुङ्निधतेन्द्रियः ॥ ७५॥ सर्वस्वं वेदविदुषे ब्राह्मणायो-
पपादयेत् । धनं वा जीवनायाऽलं गृहं वा सपरिच्छदम् ॥ ७६॥

अर्थ—अथवा ब्रह्महत्या के दूर करने को किसी एक वेद का जप करता
हुवा सौ योजन गमन करे, थोड़ा खावे और जितेन्द्रिय होकर रहे ॥ ७५ ॥
अपनी सब जमा पूंजी अथवा जीवनार्थ पुष्कल धन वा असवाय सहित घर,
वेद जानने वाले ब्राह्मण को देदेवे ॥ ७६ ॥

हविष्यभुग्वाऽनुसरेत्प्रतिस्नोतः सरस्वतीम् । जपेद्वानियता-
हारस्त्रिवे वेदस्य संहिताम् ॥ ७७॥ कृताश्रपनो निवसेद् ग्रामान्ते
गोव्रजेऽपि वा । आश्रमे वृक्षमूले वा गोब्राह्मणहिते रतः ॥ ७८॥

अर्थ—अथवा हविष्य भोजन करता हुवा सरस्वती—नदी के स्नोत की
श्रीर गमन करे वा नियमपूर्वक आहार करता हुवा वेद की संहिता को ३ बार
पढ़े ॥ ७७ ॥ बारह वर्ष तक सिर मुंडाये गौ ब्राह्मण के हित में रत होकर ग्राम
के बाहर वा गौ के गोष्ठ में, शुद्ध देश में वा वृक्ष के नीचे वास करे ॥ ७८ ॥

ब्राह्मणार्थं गवार्थं वा सदाः प्राणान्परित्यजेत् । मुच्यते ब्रह्मह-
त्याया गोप्रा गोब्राह्मणस्य चाऽऽश्रित्वारं प्रतिरोद्ध्वा सर्वस्वम-
वजित्य वा । विप्रस्य तन्निमित्ते वा प्राणालाभे विमुच्यते ॥ ८०॥

अर्थ—अथवा ब्राह्मण वा गौ के अर्थ यदि उसी समय प्राण दे देवे तो
वह गौ ब्राह्मण की रक्षा करने वाला ब्रह्महत्या से छूट जाता है ॥ ७९ ॥ यदि
ब्राह्मण का सर्वस्व चोर ले जाते हों उसको तीन बार वचावे (अथवा ४
पुस्तक और राघवानन्द के टीकास्थ पाठभेद से “ ज्यवरम् ” कम से कम
तीन ब्राह्मणों के सर्वस्व की चोरी को वचाने वाला) अथवा ऐसा यत्न ही
करके चाहे धन भी न छुड़ाने पाया हो, अथवा इस निमित्त प्राण त्यागने
पर (अथवा कुल्लूक के अनुमत “प्राणलाभे” पाठ में, धन वचाने से ब्रा-
ह्मण का प्राण वचाने पर ब्रह्महत्या से) छूटता है ॥ ८० ॥

एवं दृढव्रतो नित्यं ब्रह्मचारी समाहितः । समाप्ते द्वादशे वर्षे
ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥ ८१॥ शिष्ट्वा वा भूमिदेशातां नरदेव-
समागमै । स्वमेनोऽवभृथस्नातो हयमेधे विमुच्यते ॥ ८२ ॥

अर्थ—इस प्रकार दृढ़ व्रत करता हुआ, प्रतिदिन ब्रह्मचर्य से रहने वाला समाधान किये चित्त से बारह वर्ष व्यतीत होने पर ब्रह्महत्या को दूर करता है ॥८१॥ अथवा अश्वमेधयज्ञ में ब्राह्मणों और राजा के समक्ष में (ब्रह्महत्या के पाप का) निवेदन करके यज्ञ के अन्त में अवश्य स्नान करता हुआ (ब्रह्महत्या के पाप से) छूट जाता है ॥ ८२ ॥

धर्मस्य ब्राह्मणो मूलमग्रं राजन्य उच्यते । तस्मान्न समागमे तेषा-
मेनो विख्याप्य शुध्यति ॥८३॥ ब्राह्मणः संभवं नैव देवानामपि
दैवतम् । प्रमाणं चैव लोकस्य ब्रह्माऽत्रैव हि कारणम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—ब्राह्मण धर्म का मूल है और राजा अग्र है । इस कारण उन के समागम में पाप का निवेदन करके शुद्ध होता है ॥ ८३ ॥ ब्राह्मण (सावित्री के) जन्म से ही देवतों का देवता और लोक को प्रमाण है, इस में वेद ही कारण है ॥ ८४ ॥

तेषां वेदविदो ब्रह्मयुस्त्रयोऽप्येनः सु निष्कृतिम् । सा तेषां पावनाय
स्यात्पवित्रा विदुषां हि वाक् ॥८५॥ अतोऽन्यतममास्थाय विधिं
विप्रः समाहितः । ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहत्यात्मवत्तया ॥८६॥

अर्थ—उन (ब्रह्महत्यादि करने वालों) को वेद के जानने वाले तीन भी विद्वान्, पापों के जो प्रायश्चित्त यतार्थे वही उन पापियों की शुद्धि के लिये हों । क्योंकि विद्वानों की वाणी पवित्र है ॥ ८५ ॥ स्वस्थ चित्त ब्राह्मण इन में से कोई एक विधि ही करके आत्मवान्=मनस्वी होने से ब्रह्महत्या से किये पाप को दूर देता है ॥ ८६ ॥

हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेत् ।

राजन्यवैश्यौ चैजानावात्रेयीमेव च स्त्रियम् ॥ ८७ ॥

अर्थ—जिना जाने गर्भ को मार कर वा यज्ञ करते हुवे क्षत्रिय, वैश्य और गर्भवती स्त्री का वध करके भी यही ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करे ॥

(८७ वें से आगे एक पुस्तक में आत्रेयी का लक्षण करने के लिये एक यह श्लोक अधिक पाया जाता है:—

[जन्मप्रभृतिसंस्कारैः संस्कृता मन्त्रवाचया ।

गर्भिणी त्वथ वा स्यात्तामात्रेयी च विदुर्बुधाः] ॥

अर्थात् जो जन्म से लेकर संस्कारों से मन्त्रपूर्वक संस्कृता स्त्री अथवा गर्भिणी हो, उसे विद्वान लोग " आत्रेयी " जानते हैं) ॥ ८७ ॥

उक्त्वा शैवानृतं साक्षये प्रतिरुद्धं गुरुं तथा ।

अपहत्य च निःक्षेपं कृत्वा च स्त्रीसुहृद्वधम् ॥ ८८ ॥

अर्थ-गवाही में झूठ बोल कर, गुरु का विरोध करके, धरोहर को हड़म करके और स्त्री तथा मित्र का वध करके (भी यही प्रायश्चित्त करे) ॥ ८८ ॥

इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाण्याऽकामतोद्विजम् । कामतोब्राह्मण
वधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥ ८९ ॥ सुरां पीत्वा द्विजोमोहादग्नि
वर्णां सुरां पिबेत् । तथा स काये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्तत

अर्थ-यह शुद्धि विना इच्छा ब्राह्मण के वध में कही है और इच्छा से ब्राह्मण के वध करने में प्रायश्चित्त ही नहीं कहा ॥ ८९ ॥ द्विज अज्ञान से (दूसरे महापातक) मदिरा पीकर, आग के समान गरम मदिरा पीवे, उस मद्य से शरीर जलने पर वह (द्विज) उस पाप से छुटता है ॥ ९० ॥

गोमूत्रमग्निवर्णं वा पिबेदुदकमेव वा । पयोघृतं वाऽऽमरणाद्
गोशकृद्रसमेव वा ॥ ९१ ॥ कणान्वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा
सकृन्निशि । सुरापानापनुर्यथं बालवासा जटी ध्वजी ॥ ९२ ॥

अर्थ-अथवा गोमूत्र वा जल अग्निवर्ण गरम करके पीवे अथवा मरण पर्यन्त दुग्ध घृत ही पीकर रहे अथवा गोबर का रस पीवे (मद्यपान का पाप छूट जावेगा) ॥ ९१ ॥ अथवा चावल की खुट्टी वा कुटे तिल एक समय रात को १ वर्ष तक भक्षण करे । सुरापान के पाप दूर होने को कम्बल वा कपड़ा पहिने और सिर के बाल रक्खे तथा सुरापान के चिह्न युक्त होकर रहे ॥ ९२ ॥

सुरा वैमलमन्वानां पाप्मा च मलमुच्यते । तस्माद्ब्राह्मणरा-
जन्थौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥ ९३ ॥ गौडीपैष्टीचमाध्वीच विज्ञे
यान्निविधासुरा । यथैवैकातथा सर्वा नपानव्याद्विजोत्तमैः ॥ ९४ ॥

अर्थ-सुरा अन्न का मल है और मल को पाप कहते हैं। इस कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य मदिरा को न पीवें॥९३॥ गुड़ की और पिट्टी की तथा महुवे की; ये तीन प्रकार की सुरा जाननी चाहियें। जैसी एकवैसी ही सब द्विजोत्तमों को न पीनी चाहियें ॥ ९४ ॥ क्योंकि:—

यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम् । तद्ब्राह्मणेन ना-
त्तव्यं देवानामश्रुता हविः॥९५॥ अमेध्ये वा पतेन्मत्तो वैदिकं
वाप्युदाहरेत् । अकार्यमन्यत्कुर्याद्वा ब्राह्मणो मदमोहितः॥९६॥

अर्थ-यह राक्षस पिशाचों के अन्न-मद्य, मांस, सुरा, आसव; देवतों का हवि खाने वाले ब्राह्मण को भक्षण करने न चाहियें॥९५॥ मद्य पीकर उन्मत्त हुआ ब्राह्मण अशुचि स्थान (मोरी आदि) में गिरेगा वा वेद की बकवाद करेगा वा और कोई निषिद्ध कार्य करेगा (इस कारण मद्य न पीवे) ॥९६॥

यस्य कायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लाव्यते सकृत् । तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं
शूद्रत्वं च स गच्छति॥९७॥ एषा विचित्राभिहिता सुरापानस्य
निष्कृतिः । अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सुवर्णस्तेयनिष्कृतिम् ॥९८॥

अर्थ-जिस ब्राह्मण के देह में रहने वाला वेदज्ञान एक बार भी मद्य से डूब जाता है, उस की ब्राह्मणता नष्ट हो जाती है और वह शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है ॥ ९७ ॥ यह सुरापान की विचित्र निष्कृति कही। अब (तीसरे महापातक) सौने की चोरी का प्रायश्चित्त कहता हूँ ॥ ९८ ॥

सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो राजानमभिगम्य तु । स्व कर्म ख्यापयन् ब्रूयान्
मां भवाननुशास्त्विति ॥९९॥ गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्गुन्यात्तु
तं स्वयम् । वधेन शुध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव तु ॥१००॥

अर्थ-सौने की चोरी करने वाला ब्राह्मण, राजा के पास जाकर अपने किये की प्रसिद्ध करके कहे कि मुझे आप शिक्षा दें ॥९९॥ राजा (उसके कंधे पर लिये हुवे) मूसल को लेकर उस (चोर) को एक बार मारे, मारने (पीटने) से ब्राह्मण चोर शुद्ध होता है और तप करने से भी (शुद्ध होता है) ॥१००॥ तपसाऽपनुत्सुस्तु सुवर्णस्तेयजं मलम् । चीरघासा द्विजोऽरण्ये च रेद्वह्महणो ब्रतम् ॥१०१॥ एतैर्व्रतैरपीहेत पापं स्तेयकृतं

द्विजः । गुरुस्त्रीगमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥ १०२ ॥

अर्थ—धोरी के पाप को तप से दूर करने की इच्छा करने वाला द्विज धीरे को पहन कर वन में ब्रह्महत्या का व्रत करे ॥१०१॥ द्विज इन व्रतों से चोरी के पाप को दूर करे । और गुरु स्त्री के व्यभिचार सम्बन्धी पाप(चाँचे महापातक) को इन (आगे कहे) व्रतों से दूर करे- ॥ १०२ ॥

गुरुतल्प्यभिभाष्यैनस्तप्ते स्वप्यादयोमये । सूर्मो ज्वलन्तीं स्वा-
शिलप्येन्मृत्युना स विशुध्यति १०३ स्वयं वा शिश्रुवृषणावुत्कृत्या-
धाय चाञ्जलौ । नैर्ऋतीं दिशमातिष्ठेदानीपातादजिह्म गः ॥ १०४ ॥

अर्थ—गुरुभार्यागामी पाप को प्रसिद्ध करके लोहे की तप्तशय्या में सोवे और लोहे की स्त्री लाल करके उस के साथ आलिङ्गन करे । उस से मृत्यु पाकर वह शुद्ध होता है ॥१०३॥ वा आप ही लिङ्ग तथा वृषणों को काट कर अञ्जलि में लेकर जब तक शरीर न गिरजावे तब तक टेढ़ी चाल को न चलता हुवा सीधा नैर्ऋत्य दिशा में गमन करे ॥ १०४ ॥

खट्वाङ्गी चोरवासा वा श्मश्रुलोविजने वने । प्राजापत्यं चरेत्
कृच्छ्रमब्दमेकं समाहितः ॥ १०५ ॥ चान्द्रायणं वा त्रयोमासानभ्य-
स्येन्नियतेन्द्रियः । हविष्येण यवाग्वा वा गुरुतल्पापनुत्तये १०६

अर्थ—अथवा खट्वाङ्ग चिह्न और केश नख लोम श्मश्रु का धारण करने वाला यति होकर निर्जन वन में एक वर्ष पर्यन्त प्राजापत्य व्रत करे ॥१०५॥ अथवा जितेन्द्रिय रह कर ३ मास तक हविष्य तथा यवागु के भोजन से गुरु-भार्यागमनसम्बन्धी पाप दूर करने के लिये चान्द्रायण व्रत करे ॥ १०६ ॥

एतैर्व्रतैरपोहेयुर्महापातकिनोमलम् । उपपातकिनस्तत्रैव-
मेभिर्नानाविधैर्व्रतैः ॥ १०७ ॥ उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं यवान्
पिबेत् । कृतवापो वसेद्गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः ॥ १०८ ॥

अर्थ—इन व्रतों को करके महापातकी पाप को दूर करें । और उपपा-तकी (आगे कहे हुवे) नानाप्रकार के व्रतों से पाप दूर करें ॥१०७॥ उपपातक से संयुक्त गौ का मारने वाला एक मास पर्यन्त यवों को पीवे, मुखन किया हुवा और गौ के चर्म से वेष्टित होकर गोष्ठ में रहे ॥ १०८ ॥

चतुर्थकालमश्रीयादक्षारलवण मितम् । गोमूत्रेणाचरेत्स्नानं
द्वीमासीनियतेन्द्रियः ॥१०९॥ दिवानुगच्छेद्गुगास्तास्तु तिष्ठन्नुध्वं
रजःपित्रेत्शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनं वसेत् ॥११०॥

अर्थ—और इन्द्रियों को वश में करता हुआ दो मास पर्यन्त गोमूत्र से
स्नान किया करे और खारी लवण वज्रित हविष्य अन्न का चौथे काल में
थोड़ा भोजन किया करे ॥१०९॥ और दिन में उन गायों के पीछे चले और
(सुर से ऊपर उड़ी) घूल को खड़ा हुआ पीवे और सेवा तथा अन्न से
सत्कार करके रात को “ वीरासन ” होकर पहरा देवे ॥ ११० ॥

तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु ब्रजन्तीष्वप्यनुब्रजेत् । आसीनासु तथा-
सीनो नियतो ब्रीतमत्सरः ॥१११॥ आतुरामभिशस्तां वा चौरव्याघ्रा-
दिभिर्भयैः । पतितां पङ्कलग्नां वा सर्वोपायैर्विमोचयेत् ॥११२॥

अर्थ—और मत्सरतारहित नियमपूर्वक दृढ़ होकर बैठी हुई गौ के पीछे
बैठ जावे और चलती हुई के पीछे चले और खड़ी हुई के साथ खड़ा रहे
॥ १११ ॥ व्याधियुक्ता और घोर व्याघ्रादि के भयों से आक्रान्ता तथा गिरी
हुई और कीचड़ लगी हुई गौ को सब उपायों से छुड़ावे ॥ ११२ ॥

उष्णे वर्षति शीते वा मारुते वा तिवामृशम् । न कुर्वीतात्मनस्त्राणं
गोरकृत्वा तु शक्तितः ॥११३॥ आत्मनो यदि वाऽन्येषां गृहे क्षेत्रे-
ऽथवा खले । भक्षयन्ती न कथयेत्पिबन्तं चैव वत्सकम् ॥११४॥

अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गामनुगच्छति । स गोहत्याकृतं प्रापं
त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति ॥ ११५ ॥ वृषभैकादशागाश्च दद्यात्सु-
चरितव्रतः । अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्वद्योनिवेदयेत् ॥११६॥

अर्थ—उष्ण काल, शीत, वर्षा और अधिक वायु के चलने में यथाशक्ति
गौ का बचाव न करके (गोहत्यारा) अपना बचाव न करे ॥११३॥ और अपने
या दूसरे के घर में या खेत में या खलियान में भक्षण करती हुई गौ को
और दूध पीते हुवे उस के दूध को प्रसिद्ध न करे ॥ ११४ ॥ इस विधान से
जो गोहत्या वाला गौ की सेवा करता है वह उस गोहत्या के पाप को तीन

सहीने में दूर करता है ॥ ११५ ॥ अच्छे प्रकार प्रायश्चित्तव्रत करके एक बैल और दूध गाय और इतना न हो तो अपना सर्वस्य धन वेद के जानने वाले ब्राह्मणों को देदेवे ॥ ११६ ॥

एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः । अवकीर्णिर्व्रजं शुद्ध्यर्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥ ११७ ॥ अवकीर्णी तु काणेन गदभेन चतुष्पथे । पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्व्रतिं निशि ॥ ११८ ॥

अर्थ—अवकीर्णी को छोड़ अन्य उपपातक वाले द्विज भी यही व्रत अथवा चान्द्रायण करें ॥ ११७ ॥ अवकीर्णी, काने गधे पर घड़ कर रात को चौराहे में जा, पाकयज्ञ के विधान से निर्व्रति देवता का यज्ञ करे ॥ ११८ ॥

हुत्वाग्नीविधिवद्भोमानन्ततश्च समेत्यृचा । घातेन्द्रगुरुबहूनां जुहुयात्सर्पिषाहुतीः ॥ ११९ ॥ कामतोरेतसः सेकं व्रतस्यस्य द्विजन्मनः । अतिक्रामं व्रतस्याहुर्धर्मज्ञा ब्रह्मवादिनः ॥ १२० ॥

अर्थ—विधिवत् अग्नि में होम करके उस के अनन्तर “ सं मा सिध्वन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः । सं मायमग्निः सिध्वतु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ अथर्व ७ । ३ । ३३ । १ ” इस ऋचा के साथ मरुत, इन्द्र, बृहस्पति और अग्नि को घृत से आहुति दे ॥ ११९ ॥ (ब्रह्मचर्य) व्रत को धारण करने वाले द्विज के इच्छा से धीर्यस्खलन को वेद के जानने वाले धर्मज्ञ लोग ब्रह्मचर्य का खण्डित होना (अवकीर्णित्व) कहते हैं ॥ १२० ॥

मारुतं पुरुहूतं च गुरुं पावकमेव च । चतुरोव्रतिनोऽभ्येति ब्राह्मं तेजोऽवकीर्णिनः ॥ १२१ ॥ एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा गर्दभाजिनम् । सप्तागारांश्चरेद्द्वैक्षं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥ १२२ ॥

अर्थ—व्रतवाले अवकीर्णी का ब्रह्मसम्बन्धी तेज मारुत, इन्द्र, गुरु और अग्नि इन चारों में चला जाता है (इस कारण इन को आहुति देकर फिर प्राप्त करे) ॥ १२१ ॥ इस पातक के प्राप्त हुवे पर गधे के चमड़े को लपेट कर अपने किये अवकीर्णिरूप पाप को प्रसिद्ध करता हुवा सात घरों से भिक्षा मांगे ॥ १२२ ॥

तेभ्योलब्धेन भिक्षेण वर्त्तयन्नेककालिकम् । उपस्पृशंस्त्रिषवणं
त्वद्धेन स विशुद्ध्यति ॥१२३॥ जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वान्यतममि-
च्छया । चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥ १२४ ॥

अर्थ—उन घरों से प्राप्त हुवे भिक्षात्त से एक काल में भोजन से निर्वाह करता हुआ त्रिकाल स्नान करने वाला वह (पापी) एक वर्ष में शुद्ध होता है ॥ १२३ ॥ इच्छा से कोई जातिभ्रंशकर कर्म करके (आगे कहा) सान्तपन कृच्छ्र और विना इच्छा से (कत्ते पर) प्राजापत्य व्रत करे ॥ १२४ ॥

संकराऽपात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम् । मलिनीकरणीयेषु
तप्तः स्यादावकैस्त्रयहम् ॥१२५॥ तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य
वधे स्मृतः । वैश्येऽष्टमांशो वृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडशः ॥१२६॥

अर्थ—(पूर्वोक्त) संकरीकरण और अपात्रीकरण करने पर शुद्धि के लिये एक महीने तक चान्द्रायण व्रत करे और मलिनीकरणों में शुद्धि के लिये तीन दिन गरम यवागू पीवे ॥ १२५ ॥ अच्छे आचरण करने वाले क्षत्रिय के वध में ब्रह्महत्या का चौथाई प्रायश्चित्त है । वैसे ही वैश्य के (वध) में आठवां और शूद्र के (वध) में सोलहवां भाग प्रायश्चित्त होना चाहिये ॥ १२६ ॥

अकामतस्तु राजन्यं त्रिनिपात्य द्विजोत्तमः । वृषभैकसहस्राणां
दद्यात्सुचरितव्रतः ॥१२७॥ त्र्यब्दं चरेद्वा नियतो जटी ब्रह्म-
हणो व्रतम् । वसन्दूरतरे ग्रामाद् वृक्षमूलनिकेतनः ॥ १२८ ॥

अर्थ ब्राह्मण विना इच्छा से क्षत्रिय को मारकर अच्छे प्रकार व्रत करके एक बैल के सहित १ सहस्र गीशों का दान करे ॥१२७॥ अथवा जटा धारण करके दृढ़ होकर तीन वर्ष तक ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त ग्राम से बहुत दूर वृक्ष के नीचे रहता हुआ करे ॥ १२८ ॥

एतदेव चरेदब्दं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमः । प्रमाप्य वैश्यं वृत्तस्थं
दद्याच्चैकशतं गवाम् ॥१२९॥ एतदेव व्रतं कृत्स्नं परमासाञ्छूद्रहा-
चरेत् । वृषभैकादशा वापि दद्याद्विप्राय गाः सिताः ॥१३०॥

अर्थ—इसी व्रत को (विना इच्छा से) अच्छे आचरण वाले वैश्य की हत्या में ब्राह्मण एक वर्ष तक करे और एक सौ गौओं का दान देवे ॥१२९॥
इसी सम्पूर्ण व्रत को (विना इच्छा से) शूद्र का मारने वाला छः महीने तक करे अथवा एक बैल तथा दश श्वेत गौ ब्राह्मण को देवे ॥ १३० ॥

मार्जारनकुलौ हत्वा चापमण्डूकमेव च । श्वगोधोलूककाकांश्च
शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥१३१॥ पयःपित्रेतित्ररात्रं वा योजनं वाऽध्व-
नोव्रजेत् । उपरुपशोःस्त्रवन्त्यां वा सूक्तं वा वदैवतं जपेत् ॥१३२॥

अर्थ—मार्जार, नेवला, चिड़िया, मेंढक, कुत्ता, गोधा, उलूक, काक, इन को मारकर शूद्रहत्या का प्रायश्चित्त करे ॥१३१॥ अथवा तीन दिन दुग्धपान करे वा योजन भर तीन दिन रास्ता चले वा तीन दिन नदी में स्नान करे वा तीन दिन जलदेवता वाले (आपोहिष्ठा० इत्यादि ऋ० १० । ८) सूक्त को जपे ॥ १३२ ॥

अभिं कार्णायसीं दद्यात्सर्पं हत्वा द्विजोत्तमः । पलालभारकं
षण्ढेसैसकं चैकमाषकम् ॥१३३॥ घृतकुम्भं वराहे तु तिलद्रोणं
तु तित्तिरौ । शुके द्विहायनंवत्सं क्रौञ्चं हत्वा त्रिहायणम् ॥१३४॥

अर्थ—ब्राह्मण सर्प को मारकर लोहे की करछुलका दान करे । और नपुंसक के मारने पर धान्य के पलाल का भार और १ माया मात्र सीसा देवे ॥ १३३ ॥ सूकर के मर जाने पर घी भर कर घड़ा और तीतर मर जाने में चार आठक तिल और तोते के मर जाने पर दो वर्ष का बछड़ा और क्रौञ्च पक्षी को मार कर तीन वर्ष का (वत्स देवे) ॥ १३४ ॥

हत्वा हंसं बलाकां च वक्रं बर्हिणमेव चावानरं श्येनभासौ च
स्पर्शयेद्ब्राह्मणाय गाम् ॥१३५॥ वासोदद्यादुयं हत्वा पञ्चनीला-
न्वृपान्गजम् । अजमेषावनडूवाहं खरं हत्वैकहायनम् ॥१३६॥

अर्थ—हंस, बलाका, वक्र, मोर, वानर, श्येन और भास; इन को मार कर ब्राह्मण को गाय देवे ॥ १३५ ॥ अश्व को मारकर बख देवे और गज को मार कर पांच नील बैल; बकरे, और मेंढे को मार कर बैल देवे और गधे को मारकर एक वर्ष का (वत्स) देवे ॥ १३६ ॥

क्रव्यादांस्तु मृगान्हत्वा धेनुं दद्यात्पयस्विनीम्। अक्रव्यादान्व-
त्सतरीमुष्ट्रं हत्वा तु कृष्णलम् १३७ जीनकार्मुकवस्तावीन्पृथग्द-
द्याद्विशुद्धये। चतुर्णामपि वर्णानां नारीर्हत्वाऽनवस्थिताः॥१३८॥

अर्थ-क्रव्याद् व्याघ्रादि को मार कर दूध वाली गौ और हरिणादि को मारकर बलिया और कंट को मारकर १ कृष्णल मात्र (सोना) देवे ॥१३७॥ चारों वर्णों की क्रम से बिगड़ी हुई स्त्रियों के बिना जाने मर जाने पर शुद्धि के लिये चर्मपुट, धनुष्, बकरा और मेष पृथक् २ देवे ॥

(१३८ वें से आगे यह श्लोक ५ पुस्तकों में अधिक मिलता है:-

[वर्णानामानुपूर्व्येण त्रयाणामविशेषतः ।

अमत्या च प्रमाप्य स्त्रीं शूद्रहत्याव्रतं चरेत्]

(क्रम से तीनों वर्णों में से किसी स्त्री को भूल से मारने वाला शूद्रहत्या का प्रायश्चित्त करे) ॥ १३८ ॥

दानेन वधनिर्णयं सर्पादीनामशक्नुवन्। एकैकशश्चरेत्कृच्छ्रं
द्विजःपापापनुत्तये ॥१३९॥ अस्थिमतां तु सत्त्वानां सहस्रस्य
प्रमापणे। पूर्णं चानस्यनस्थनां तु शूद्रहत्याव्रतं चरेत्॥ १४० ॥

अर्थ-सर्पादि के वध के प्रायश्चित्तार्थ दान करने को असमर्थ द्विज पाप दूर करने को एक एक कृच्छ्र व्रत करे ॥ १३९ ॥ अस्थि वाले सहस्र शूद्र-
जीवों के वध में शूद्रवध का प्रायश्चित्त करे और अस्थिरहित जीवों के एक गाड़ी भर के वध में भी (उसी प्रायश्चित्त को करे) ॥ १४० ॥

किञ्चिदेवतुविप्रायदद्यादस्थिमतांवधे। अनस्थनां चैव हिंसायां
प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥१४१॥ फलदानांतु वृक्षाणां छेदने जप्यमु-
क्ताशतम्। गुल्मवल्लीलतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम् ॥१४२॥

अर्थ-अस्थि वाले शूद्रजन्तुओं के वध में ब्राह्मण को कुछ देदेवे और अस्थिरहित शूद्रजन्तुओं के वध में प्राणायाम से शुद्ध होता है ॥ १४१ ॥ फल देने वाले वृक्षों, गुल्म, बेल, लता और पुष्पित वीरुधों के काटने में सौ (सावित्र्यादि) ऋचाओं को जपे ॥ १४२ ॥

अन्नाद्यजानांसत्त्वानांसजानांचसर्वशः। फलपुष्पोद्भवानांच
घृतप्राशोविशोधनम् ॥१४३॥ कृष्टजानामोषधीनां जातानांच
स्वयं वने । वृथालम्भेऽनुगच्छेद्ग्रां दिनमेकं पयोव्रतः ॥१४४॥

अर्थ—अन्नादि और गुड़ादि रसों और फलपुष्पादि में उत्पन्न हुवे जीवों
के वध में “ घृत का प्राशन ” पापशोधन है ॥ १४३ ॥ खेती से उत्पन्न हुवे
और वन में स्वयं उत्पन्न हुवे धान्यों के वृथा छेदनमें दुग्ध का आहार करता
हुवा एक दिन गौ के पीछे चले ॥ १४४ ॥

एतैर्व्रतैरपोह्यं स्यादेनोहिंसासमुद्भवम् । ज्ञानाज्ञानकृतं कृतरं
शृणु तानाद्यभक्षणे ॥१४५॥ अज्ञानाद्वारुणीं पीत्वा संस्कारेणैव
शुद्ध्यति । मतिपूर्वमनिर्देश्यं प्राणान्तिकमिति स्थितिः ॥१४६॥

अर्थ—इन प्रायश्चित्तों को करके हिंसाजनित पाप, जो कि जाने वा विना
जाने किया हो उसको दूर करना चाहिये। अब आगे अभक्ष्यभक्षण के प्रायश्चित्त
सुनो ॥ १४५ ॥ अज्ञान से वारुणी मदिरा पीकर संस्कार से ही शुद्ध होता है
और इच्छापूर्वक पीने से प्राणान्तिकवध अनिर्देश्य है । यह सग्योदा है ॥ १४६ ॥

अपःसुराभाजनस्थामद्यभाण्डस्थितास्तथा। पञ्चरात्रं पिबेत्पी-
त्वाशङ्खपुष्पीशृतं पयः ॥१४७॥ स्पृष्ट्वा दत्त्वा च मदिरां विधिवत्प्र-
तिगृह्य च। शूद्रोच्छिष्टाश्च पीत्वापःकुशवारि पिबेत्त्रयहम् ॥१४८॥

अर्थ—मद्य की बोतल में रक्खा पानी तथा मद्य के करवे के पानी को
पीने वाला शङ्खपुष्पी को पानी में औटाकर पांच दिन पीवे ॥ १४७ ॥ मदिरा
को स्पर्श करके वा देकर तथा ग्रहण करके और शूद्र के उच्छिष्ट पानी को
पी कर तीन दिन विधिपूर्वक कुशों का काढ़ा पीवे ॥ १४८ ॥

ब्राह्मणस्तुसुरापस्य गन्धमाघ्राय सोमपः । प्राणानप्सु त्रिरा-
यम्य घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥१४९॥ अज्ञानात्प्राश्यविष्मूत्रं सुरासं-
स्पृष्टमेव च । पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयोवर्णाद्विजातयः ॥ १५० ॥

अर्थ—सोमयज्ञ किया हुआ ब्राह्मण मद्य पीने वाले को सूँघ कर पानी
में तीन बार प्राणायाम कर घृत का प्राशन करके शुद्ध होता है ॥ १४९ ॥ विना

जाने मल मूत्र और शुरा से स्पर्श हुवे को प्राशन करके तीनों द्विजवर्ग फिर से संस्कार के योग्य हैं ॥ १५० ॥

वपनं मेखलादण्डोभैक्षचर्याव्रतानि च । निवर्तन्ते द्विजातीनां पुनःसंस्कारकर्मणि ॥ १५१ ॥ अभोजयानां तु भुक्तान्नं स्त्रीशूद्रोच्छिष्टमेव च । जग्ध्वामांसमभक्ष्यं च सप्ररात्रं यवान्निषेवेत् ॥ १५२ ॥

अर्थ—द्विजातियों के फिर से उपनयन होने में मुण्डन, मेखला का धारण, दण्डधारण, भिक्षा और व्रत (ये सब) नहीं होते हैं ॥ १५१ ॥ जिन का भोजन करने के योग्य नहीं, उन का अन्न और स्त्री का तथा शूद्र का उच्छिष्ट और मांस और अन्य अभक्ष्य खावे तो सात दिन जी के सत्तू पीवे ॥ १५२ ॥

शुक्तानि च कषायांश्च पीत्वामेध्यानपि द्विजः । तावद्भवत्यप्रयतो यावत्तन्नं व्रजत्यधः ॥ १५३ ॥ विड्वराहखरोष्ट्राणां गोमायोः कपिकाकयोः । प्राश्य मूत्रपुरीषाणि द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥ १५४ ॥

अर्थ—सिरका आदि सड़ी ग्राह्य वस्तु भी और काढ़ा पीकर तब तक द्विज अशुद्ध रहता है जब तक वह पच कर नीचे नहीं जाता ॥ १५३ ॥ ग्राम का शूकर, खर, उष्ट्र, शृगाल, वानर और काक के मूत्र वा मल को द्विजाति भक्षण करले तो चान्द्रायण व्रत करे ॥ १५४ ॥

शुष्काणि भुक्त्वा मांसानि भौमानि कवकानि च ।

अज्ञातं चैव सूनास्यमेतदेव व्रतं चरेत् ॥ १५५ ॥

“क्रव्यादसूकरोष्ट्राणां कुक्कुटानां च भक्षणे ।

नरकाकखराणां च तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ॥ १५६ ॥”

अर्थ—सूखे मांस और पृथिवी में उत्पन्न हुवे कुरुरमुत्ता और बेजाने हिंसा स्थान के मांस को भक्षण करले तो भी यही (चान्द्रायणव्रत) करे ॥ १५५ ॥

“कञ्चे मांस के खाने वाले और शूकर, उष्ट्र, मुरगा, नर और काक को भक्षण करले तो (आगे कहे हुवे) तप्तकृच्छ्रव्रत को करे । यह शोधन है” ॥ १५६ ॥

“मांसिकान्नं तु योऽश्नीयादसमावर्त्तको द्विजः । स त्राण्यहान्युपवसेदेकाहं चोदकं वसेत् ॥ १५७ ॥ ब्रह्मचारी तु योऽश्नीयान्मधुमांसं कथञ्चन । सकृत्वा प्राकृतं कृच्छ्रं व्रतशेषं समापयेत् ॥ १५८ ॥”

अर्थ—“जो द्विज ब्रह्मचारी मासिक आहु के अन्न को भोजन करे, वह तीन दिन उपवास करे और एक दिन जल में निवास करे ॥ १५७ ॥ जो ब्रह्मचारी मद्य मांस को किसी प्रकार भक्षण करे वह प्राकृत कृच्छ्रव्रत करके व्रत शेष को समाप्त करे ” ॥

(१५७ । १५८ श्लोक भी मृतकआहु और मांस के प्रचारकों ने मिलाये जान पड़ते हैं । भला जब आहु को वैदिककर्म बताते हैं तौ उस में भोजन करने वाले को प्रायश्चित्ती क्यों बतलाते हैं । यह विरोध । और मांस सभी को अभक्ष्य है तौ ब्रह्मचारी को मद्य मांस के सेवन में प्राकृत कृच्छ्रमात्र अल्प प्रायश्चित्त क्यों ?) ॥ १५८ ॥

त्रिडालकाकाखूच्छिष्टं जग्धवाश्चनकुलस्य च । केशकीटावपन्नं च पिबेद् ब्रह्मसुवर्चलाम् ॥ १५९ ॥ अभोज्यमन्नं नात्तव्यमात्मनः शुद्धिमिच्छता ॥ अज्ञानभुक्तंतूत्तार्यं शोध्यं वाऽप्याशुशोधनैः ॥ १६० ॥

अर्थ—बिल्ली, काक, मूसा, कुत्ता और नेवला के उच्छिष्ट और केश तथा कीट से युक्त अन्न को भोजन करके ब्रह्मसुवर्चला का काढ़ा पीवे (दो पुस्तकों में “ब्राह्मीं सुवर्चलाम्” पाठ है) ॥ १५९ ॥ अपने को पवित्र रहने की इच्छा करने वाला भोजन के अयोग्य अन्न का भोजन न करे और विना जाने खाये को वमन करके निकाले वा शोधन द्रव्यों से शीघ्र शोधन करे ॥ १६० ॥

एषोऽनाद्यादनस्योक्तो व्रतानां विविधो विधिः । स्तेयदोषापहर्तृणां व्रतानां श्रूयतां विधिः ॥ १६१ ॥ धान्यान्मन्धनचौर्याणि कृत्वा कामादुद्विजोत्तमः । स्वजातीयगृहादेव कृच्छ्राब्देन विशुद्ध्यति ॥ १६२ ॥

अर्थ—अभक्ष्यभक्षण में जो प्रायश्चित्त हैं, उन के ये नाना प्रकार के विधान कहे । अब चोरी के दोष दूर करने वाले व्रतों का विधान सुनिये ॥ १६१ ॥ ब्राह्मण अपने जाति वालों ही के घर से धान्य; अन्न और धन की चोरी इच्छा से करके एक वर्ष कृच्छ्रव्रत करने से शुद्ध होता है ॥ १६२ ॥

मनुष्याणां तु हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च । कूपवापी जलानां च शुद्धिश्चान्द्रायणं समृतम् ॥ १६३ ॥ द्रव्याणामल्पसाराणां स्तेयं कृत्वाऽन्यवेशमतः । चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं तन्निर्यात्यात्मशुद्ध्ये ॥ १६४ ॥

अर्थ-पुरुष, स्त्री, क्षेत्र, गृह, कुवा, बावड़ी और पानी के हरण करने में चान्द्रायणव्रत कहा है ॥१६३॥ दूसरे के घर से (खीरा, ककड़ी, मूली इत्यादि) तुच्छ वस्तुओं की चोरी करके अपनी शुद्धि के लिये वह वस्तु जिस की है उस को देकर (आगे कहा) सान्त्तपन रुच्छव्रत करे ॥ १६४ ॥

भक्ष्यभोज्यापहरणे यानशय्यासनस्य च । पुष्पमूलफलानां च पञ्चगव्यं विशोधनम् ॥१६५॥ तृणकाष्ठद्रुमाणां च शुष्कान्नस्य गुडस्य च । चैलचर्माभिषाणां च त्रिरात्रं स्यादभोजनम् ॥१६६॥

अर्थ-(मोदक खीर आदि) भक्ष्य भोज्य पदार्थों और सवारी, शय्या, आसन तथा पुष्प, मूल और फल के चुराने में पञ्चगव्य का पान करना (और वस्तु उस की उसी को दे देना) शोधन है ॥ १६५ ॥ घास, लकड़ी, वृक्ष, शुष्कान्न, गुड़, कपड़ा, चमड़ा और मांस के चुराने में तीन रात्रिदिन उपवास करे ॥ १६६ ॥

मणिमुक्ताप्रवालानां ताम्रस्य रजतस्य च । अयःकांस्योपलानां च द्वादशाहं कणान्नता ॥१६७॥ कार्पासकीटजीर्णानां द्विशफैकशफस्य च । पक्षिगन्धौषधीनां च रज्ज्वाश्रैव त्र्यहं पयः ॥१६८॥

अर्थ-मणि, मोती, मूंगा, तांबा, चांदी, लोहा, कांसी और उपल (पत्थर) के चुराने में १२ दिन चावल की खुद्दी का भोजन करे ॥१६७॥ कपास, रेशम, कन और धूलआदि दो खुर वाले, घोड़ा आदि एक खुर वाले, पक्षी, चन्दनादि गन्ध और औषध तथा रस्सी के चुराने में तीन दिन पानी पीकर रहे ॥१६८॥

एतैर्ब्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः । अगम्यागमनीयं तु ब्रतैरेभिरपानुदेत् ॥१६९॥ गुरुतल्पव्रतं कुर्याद्वैतः सिक्ता स्वयोनिषु । सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च ॥१७०॥

अर्थ-द्विज इन व्रतों से चोरी के पाप को दूर करे और जो गमन करने के अयोग्य है उस के साथ गमन के पाप को इन आगे कहे व्रतों से दूर करे ॥१६९॥ अपनी सगी बहन तथा मित्र की भार्या और पुत्र की स्त्री तथा कुमारी और अगहवाली के साथ गमन करने से गुरुस्त्रीगमन का प्रायश्चित्त करे ॥१७०॥

पैतृष्वसेयीं भगिनीं स्वस्त्रीयां मातुरेव च । मातुश्च भ्रातुस्तनयां
गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥१७१॥ एतास्तिस्त्रस्तु भार्यायै नोपय-
च्छेत्तुषुद्धिमान् । ज्ञातित्वेनानुपेयास्ताः पतात ह्युपयन्तधः ॥१७२॥

अर्थ—पिता की बहन की लड़की तथा माता की बहन की लड़की और माता के भाई की बेटी (इन ३ बहनों) के साथ गमन करने से चान्द्रायण व्रत करे ॥१७१॥ इन तीनों को सुद्धिमान् भार्या के अर्थ न ग्रहण करे । ज्ञाति होने से ये विवाह करने के अयोग्य हैं, इन के साथ विवाह करने वाला नीचता को प्राप्त हो जाता है ॥ १७२ ॥

अमानुषीषु पुरुष उदक्यायामयोनिषु ।

रेतः सिक्त्वा जले चैव कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥१७३॥

“मैथुनं तु समासेवय पुंसि योषिति वा द्विजः ।

गोयानेऽप्यु दिवा चैव सवासाः स्नानमाचरेत् ॥१७४॥

अर्थ—अमानुषी योनियों और रजस्वला और जल में वीर्य को स्खलित करके पुरुष सान्तपन कृच्छ्रव्रत करे ॥१७३॥ “ द्विज-पुरुष में वा स्त्री में मैथुन करके तथा बैल की गाड़ी में या पानी में वा दिन में मैथुन करके सचेल स्नान करे ॥” (१७४ वां श्लोक प्रक्षिप्त है । क्योंकि इस में कोई प्रायश्चित्त विशेष नहीं कहा “ स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ” यह तौ विहित मैथुन में भी स्नान का विधान है । फिर भला ऐसे बड़े अप्राकृत पापकर्म में इतना अल्प स्नान और वस्त्र धोलेना मात्र भी कोई प्रायश्चित्त गिना जा सकता है ?) ॥१७४॥

चण्डालान्त्यस्त्रियोगत्वा भुक्त्वा च प्रतिग्रह्य च । पतत्यज्ञानतो
विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति ॥१७५॥ विप्रदुष्टांस्त्रियं भर्ता निरु-
न्ध्यादेकवेशमनि।यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद्ब्रतम् ॥१७६॥

अर्थ—चण्डाल और नीच की स्त्रियों से गमन और इन के यहाँ भोजन करके तथा प्रतिग्रह लेकर विना जाने विप्र पतित हो जाता और जान कर करने से उन्हीं में मिल जाता है ॥१७५॥ दुष्ट स्त्री को भर्ता एक घर में बन्द रखे और जो पुरुष को पराई स्त्री के गमन करने में प्रायश्चित्त कहा है वह उस (स्त्री) से करावे ॥ १७६ ॥

सा चेत्पुनःप्रदुष्येत्तु सदृशेनोपयन्त्रिता ।

कृच्छं चान्द्रायणं चैव तदस्याः पावनं स्मृतम् ॥१७७॥

अर्थ—यदि अपने सजातीय पुरुष की बहकाई हुई फिर बिगड़ जावे, तो इस का पवित्र करने वाला कृच्छ्रचान्द्रायण व्रत कहा है ॥

(१७७ ये से आगे ३ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:—

[ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रियः शुद्धेऽपसंगताः ।

अप्रजाताविशुध्येयुः प्रायश्चित्तेन नेतराः]

द्विजों की जो स्त्रियें शुद्ध से सङ्ग करें, वे सन्तान उत्पन्न न करें तब तो (उक्त, प्रायश्चित्त से शुद्ध हों, परन्तु सन्तान उत्पन्न कर लेने वाली नहीं) ॥१७७

यत्करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनादुद्विजः ।

तद्वैक्ष्यभुग्जपन्नित्यं त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति ॥१७८॥

अर्थ—वेश्या वा शूद्रागमन में एक रात्रि में द्विज जो पाप करता है, उस (पाप) को नित्य भिक्षा मांग कर भोजन और गायत्री का जप करने से तीन वर्ष में दूर कर पाता है ॥ १७८ ॥

एषापापकृतामुक्ताचतुर्णामपिनिष्कृतिः।पतितैःसं प्रयुक्ताना-
मिमाः शृणुत निष्कृतीः ॥ १७९ ॥ संवत्सरेण पतति पतितेन
सहाचरन् । याजनाध्यापनादीनान्न तु यानसनाशनात् ॥१८०॥

अर्थ—यह पाप करने वाले चारों वर्णों की निष्कृति (प्रायश्चित्त) कही । अथ इन पतितों के साथ मिलने वालोंके प्रायश्चित्तों को सुनिये—॥१७९॥ एक वर्ष तक पतित के साथ मिल कर यज्ञ कराने, पढ़ाने और योनिसंवन्ध करने से पतित हो जाता है, परन्तु सहयान, सह-आसन और सहभोजन से नहीं ॥१८०॥

योयेन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः ।

स तस्यैव व्रतं कुर्यात्तत्संसर्गविशुद्धये ॥ १८१ ॥

“पतितस्योदकं कार्यं सपिण्डैर्धान्धवैर्बहिः ।

निन्दितेऽहनि सायाह्ने ज्ञातृत्विवगुरुसन्निधौ ॥१८२॥”

अर्थ—जो मनुष्य इन पाप करने वालों में से जिन के संसर्ग को पाकर पतित होता है, वह उस के संसर्ग की शुद्धि के लिये वही व्रत करे ॥ १८१ ॥

“सपिण्ड बान्धव लोग ग्राम के बाहर जीते हुवे ही पतित की उदयक्रिया निन्दित दिनके सायंकाल में ज्ञाति वाले ऋत्विज् और गुरु के सामने करें ॥१८२॥”

“दासी घटमपां पूर्णं पर्यस्येत्प्रेतवत्पदा। अहोरात्रमुपासीरन्ना-
शौचं बान्धवैः सह ॥१८३॥ निवर्तेरंश्च तस्मात्तु संभाषणसहासने।
दायादस्य प्रदानं च यात्रा चैव हि लौकिकी ॥ १८४ ॥”

“अर्थ—और दासी जल भरे घड़े को प्रेतवत् (दक्षिणाभिमुख होकर) पैर से गिरावे और बान्धवों के साथ एक दिन रात अशौच रखें ॥ १८३ ॥ और उस पतित से बोलना, साथ बैठना और दायभाग देना और नीता खीत सब छोड़ दें ॥ १८४ ॥”

ज्येष्ठता च निवर्तेत ज्येष्ठावाप्यं च यदुनम् । ज्येष्ठांशं प्राप्नु-
याच्चास्य यवोयान्गुणतोऽधिकः ॥१८५॥ प्रायश्चित्ते तु चरिते पूर्ण-
कुम्भमपां नवम् । तेनैव सार्धं प्रास्येयुः स्नात्वा पुण्ये जलाशये ॥१८६॥

“अर्थ—और बड़ाई और ज्येष्ठपने का उद्धार धन भी छूट जावे तथा बड़े का भाग, जो छोटा गुण में अधिक हो, वह पावे ॥ १८५ ॥ परन्तु प्रायश्चित्त करने पर पानी में भरे हुवे नये घड़े को उस के साथ बान्धव लोग पवित्र जलाशय में स्नान करके डाल दें ॥ १८६ ॥

“स त्वं सु तं घटं प्रास्य प्रविश्य भवनं स्वकम् । सर्वाणि ज्ञाति-
कार्याणि यथापूर्वं समाचरेत् ॥१८७॥ एतमेव विधिं कुर्यादोषि-
त्सु पतितास्वपि वस्त्रान्नपानं देयं तु वसेयुश्च गृहान्तिके ॥१८८॥”

अर्थ—और वह उस घड़े को पानी में फेंक कर अपने मकान में आकर यथोक्त सम्पूर्ण ज्ञातिकर्मों को करने लगे ॥ १८७ ॥ पतित स्त्रियों के विषय में भी यही विधि करे और खाना कपड़ा देवे तथा घर के पास दूसरे मकान में रहने दे” (१८२ से १८८) तक ७-श्लोक भी प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं क्योंकि प्रथम तौ सृतकश्राद्ध ही वैदिक नहीं। फिर पतित का जीवते हुवे ही सृतकवत् श्राद्ध आशीचांदि सब व्यर्थ हैं। पतित के साथ सब प्रकार के सम्बन्ध छोड़ देना पूर्व कह ही आये। इस के दायभाग का निषेध दायभाग प्रकरण में कर आये। यहां प्रायश्चित्तमात्र का प्रकरण है। आशीच और दायभाग का वर्णन यहां प्रकरण विरुद्ध भी है। ॥१८८॥

एनस्विभिरनिर्णिक्तैर्नीथं किञ्चित्सहाचरेत्। कृननिर्णजनांश्चैव
न जुगुप्सेत कर्हिचित् ॥१८९॥ बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च त्रिशुद्धानपि
धर्मतः । शरणागतहन्तृंश्च स्त्रीहन्तृंश्च न संवसेत् ॥ १९० ॥

अर्थ—बिना प्रायश्चित्त किये हुवे पाप करने वालों के साथ कुछ भी व्यव-
हार न करे और प्रायश्चित्त किये हुवों की कभी निन्दा न करे ॥१८९॥ परन्तु
बालक को मारने वाले और किये उपकार को दूर करने वाले तथा शरण
आये की और स्त्री को मारने वाले के साथ धर्म से शुद्ध होने पर भी न रहे ॥१९०॥
येषां द्विजानां सावित्रीनानूचयेत यथाविधा तांश्चारयित्वा त्रीन्
कृच्छ्रान्यथाविधयुपनाययेत् ॥१९१॥ प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति विकर्म-
स्थास्तु ये द्विजाः ब्राह्मणाचपरित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत् ॥१९२॥

अर्थ—जिन द्विजातियों का उक्तकाल में यथाशास्त्र गायत्री उपदेश और
उपनयन न किया गया हो उन का तीन कृच्छ्रव्रत कराकर यथाशास्त्र उपनयन
करे ॥१९१॥ विरुद्ध कर्म करने वाले और वेद को न पढ़े हुवे द्विज प्रायश्चित्त
करना चाहें तो उन को भी यह तीन कृच्छ्र का प्रायश्चित्त बतावे ॥ १९२ ॥
यद्गर्हितेनार्जयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम् । तस्योत्सर्गेण शुद्ध्य-
न्ति जपेन तपसैव च ॥१९३॥ जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि
समाहिनः । मासं गोष्ठे पयः पीत्वा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥१९४॥

अर्थ—जो ब्राह्मण निन्दितकर्म करके धन कमाते हैं वे उसके छोड़ने और
जप तप से शुद्ध होते हैं ॥ १९३ ॥ एकाग्रचित्त हुआ तीन सहस्र गायत्री का
जप कर गोष्ठ में एक महीने भर दुग्धाहार करके भुरे दान लेने के पाप से
छूटता है ॥ १९४ ॥

उपवासकृशतंतुं गोत्रजात्पुनरागतम् । प्रणतं प्रतिपृच्छेयुः साम्यं
सौम्येच्छसीति किम् ॥१९५॥ सत्यमुक्त्वा तु विप्रेषु विकिरेद्वसं
गवाम् । गोभिः प्रवर्तिते तीर्थे कुर्युस्तस्य परिग्रहम् ॥१९६॥

अर्थ—उस उपवास से कृश हुवे और गोष्ठ से आये तथा नष्ट हुवे को
(ब्राह्मण) पूछे कि सौम्य । क्या तू इस लोगों के बराबर होना चाहता है ?
॥१९५॥ ब्राह्मणों के आगे ठीकर कह कर गायों को घास देवे । गायों के पवित्र

क्रिये तीर्थ में वे (ब्राह्मण) उस का समान व्यवहार आरम्भ करें ॥ १९६ ॥
 ब्र त्यानां याजनं कृत्वा परेषामन्त्यकर्म च । अभिचारमहीनं च
 त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति ॥ १९७ ॥ शरणागतं परिन्यज्य वेदं
 विप्लाव्य च द्विजः । संवत्सरं यवाहारस्तत्पापमपसेधति ॥ १९८ ॥

अर्थ—(पूर्वोक्त) ब्राह्मणों को यज्ञ कराने और दूसरों की अन्त्येष्टि कराने
 तथा अहीन अभिचार कराने पर ३ कृच्छ्रों से शुद्ध होता है ॥ १९७ ॥ शरण आये
 को परित्याग करके और पढ़ाने के अयोग्य को वेद पढ़ा कर उस से उत्पन्न हुये
 पाप को एक वर्ष तक जो का आहार करने वाला दूर करता है ॥ १९८ ॥

श्वशृगालखरैर्दष्टो ग्राम्यैः क्रव्याद्विरेव च ।

नराश्वोष्ठ्वराहैश्च प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥ १९९ ॥

अर्थ—कुत्ता, सियार, खर, मनुष्य, घोड़ा, कुंठ, सूकर वा अन्य ग्रामवासी
 मांसाहारियों से काटा हुआ मनुष्य प्राणायाम से शुद्ध होता है ॥

(१९९ वें से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है—

[शुना घ्रातोपलीढस्य दन्तैर्विदलितस्य ।

अद्विः प्रक्षालनं प्रोक्तमग्निना चोपचूलनम्] ॥

अर्थात् जो वस्तु कुत्ते ने सूंघी चाटी वा दांतों से चाबी हो, उस का
 पानी से धोना और अग्नि से पकाना कहा है) ॥ १९९ ॥

षष्ठान्नकालता मासं संहिताजपएव वा ।

होमाश्च सकला नित्यमपाङ्क्त्यानां विशोधनम् ॥ २०० ॥

अर्थ—पङ्क्तिरहितों का विशेष करके शोधन यह कहा है कि तीन दिन
 उपवास करके एक मास तक सायङ्काल में भोजन करना और वेदसंहिता का
 पाठ और संपूर्ण होमों को करना (आठ पुस्तकों में—सकला=शाकला पाठ
 भेद है) ॥ २०० ॥

उष्ट्रयानं समारुह्य खरयानंतुकामतः । स्नात्वा तु विप्रो दिग्वासाः
 प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥ २०१ ॥ विनाद्विरप्सु वाप्यार्तः शारीरं
 सन्निवेश्य च । सच्चैलो बहिराप्लुत्य गामालभ्य विशुद्ध्यति ॥ २०२ ॥

अर्थ-जंत तथा गधे की सवारी पर इच्छा से चढ़ कर ब्राह्मण नग्न हो, स्नान करके प्राणायाम से शुद्ध होता है ॥ २०१ ॥ विना जल से या जल में ही मलमूत्रादि करके चाहे रोगी भी हो, वस्त्र के सहित नगर के बाहर (नदी में) स्नान करके और पृथिवी को छूकर शुद्ध होता है ॥ २०२ ॥

वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे । स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम् ॥२०३॥ हुङ्कारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वङ्कारं च गरीयसः । स्नात्वाऽनश्नन्नहःशेषमभिवाद्य प्रसादयेत् ॥२०४॥

अर्थ-वेद में कहे हुवे नित्यकर्म के छूटने और स्नातक ब्रह्मचारी के व्रत लोप में भोजन न करना प्रायश्चित्त कहा है ॥२०३॥ ब्राह्मण को “ हुम् ” ऐसा कह कर और विद्यादि में बड़े को “ तू ” ऐसा कह कर स्नान करके भूखा रह, दिन भर हाथ जोड़ कर अभिवादन से प्रसन्न करे ॥ २०४ ॥

ताडयित्वा तृणेनापि कण्ठे वावध्य वाससा ।

विवादे वा त्रिनिर्जित्य प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥२०५॥

“अवगूर्य त्वद्दशतं सहस्रमभिहत्य च ।

जिघांसया ब्राह्मणस्य नरकं प्रतिपद्यते ॥२०६॥

अर्थ-तृण से भी (ब्राह्मण) को मार कर वा गले में कपड़ा डाल कर तथा बकवाद में जीते ती हाथ जोड़ उसे प्रसन्न करे ॥ २०५ ॥ “ब्राह्मण को मारने की इच्छापूर्वक दण्ड उठाने से सौ वर्ष तक नरक को प्राप्त होता है और यदि दण्ड से मारे ती १००० वर्ष तक नरक में रहता है ॥ २०६ ॥

“ शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति महीतले ।

तावन्त्यव्यसहस्राणि तत्कर्त्ता नरके वसेत् ॥२०७॥”

“अर्थ-(मारे हुवे ब्राह्मण का) रुधिर भूमि के जितने रजः कणों को भिगोता है उतने हजार वर्ष रुधिर निकालने वाला नरक में वास करता है ॥” (२०६ । २०७ भी प्रकरणविरुद्ध और अत्युक्त तथा पुनरुक्त भी हैं । यहां प्रायश्चित्तमात्र का प्रकरण है, सो २०८ वें में ब्राह्मण को दण्डा उठाने, मारने और रुधिर निकालने के प्रायश्चित्त कहे ही हैं, फिर पूर्ववर्णित नरकादि गति की यहां दुबारा वर्णन करने की आवश्यकता कुछ भी नहीं है । ॥ २०७ ॥

अत्रगूर्यं चरेत्कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने ।

कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कुर्वीत विप्रस्योत्पाद शोणितम् ॥२०८॥

अर्थ—ब्राह्मण को मारने के लिये दण्ड उठाने से कृच्छ्र प्रायश्चित्त करे और दण्ड मारने से (आगे कहा) अतिकृच्छ्र और रुधिर निकल आवे तो दोनों प्रायश्चित्त करे ॥ २०८ ॥

अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानामपनुत्तये । शक्तिंचावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् २०९ यैरभ्युपायैरेनांसि मानवो व्यपकर्षति । तान्वोऽभ्युपायान्वक्ष्यामि देवर्षिपितृसेवितान् ॥२१०॥

अर्थ—जिन पापों का प्रायश्चित्त नहीं कहा है उन पापों के दूर करने को शक्ति और पाप को देख कर प्रायश्चित्त की कल्पना करलेवे ॥ २०९ ॥ जिन उपायों से मनुष्य पापों को दूर करता है, उन देव, ऋषि, पितरों के किये हुवे उपायों को तुम से कहता हूँ ॥ २१० ॥

त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्याद्याचितम् । त्र्यहं परं च नाश्रीयात्प्राजापत्यं चरन् द्विजः ॥२११॥ गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् । एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम् ॥२१२॥

अर्थ—प्राजापत्य कृच्छ्र के आचरण करने वाला द्विज तीन दिन प्रातः काल और तीन दिन सायंकाल भोजन करे और तीन दिन अयाचित अन्न का भोजन करे तथा परले तीन दिन उपवास करे, (यह बारह दिन का एक " प्राजापत्य " व्रत होता है ॥ २१२ ॥ गोमूत्र, गोबर, दुग्ध, दधि, घृत और कुशा के पानी का एक दिन भक्षण करे और इसके पश्चात् एक दिन रात्रि का उपवास करे । इस को " सान्तपन कृच्छ्र " कहा है ॥ २१२ ॥

एकैकं ग्रासमश्रीयात् त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत् । त्र्यहंचोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन् द्विजः ॥२१३॥ तप्तकृच्छ्रं चरन् विप्रोजलक्षीरघृतानिलान् । प्रतित्र्यहं पिबेदुष्णान्सकृत्स्नायो समाहितः ॥२१४॥

अर्थ—(कृच्छ्रवत्) " अतिकृच्छ्र " आचरण करने वाला ३ सायं, ३ प्रातः, ३ अयाचित; इन ९ दिन में एक एक ग्रास भोजन करे और अन्त के ३ दिन

उपवास करे ॥२१३॥ "तप्तकच्छू" का आधरण करने वाला द्विज, स्थिरचित्त हुवा एक बार स्नान करके तीन दिन उष्ण जल पीवे और तीन दिन उष्ण दूध, इसी प्रकार तीन दिन उष्ण घृत और ३ दिन उष्ण वायु पीवे ॥ २१४ ॥

(२१४ से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:-

[अपां पिवेच्च त्रिपलं पलमेकं च सर्पिषः ।

पयः पिवेत्तु त्रिपलं त्रिमात्रं चोक्तमानतः]

जल ३ पल, घृत १ पल, दूध ३ पल; उक्त प्रमाण से ३ मात्रा [उस २ दिन में उस २ वस्तु की] पिया करे) ॥

यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम् पराकोनामकृच्छ्रोयं सर्वपापापनोदनः ॥ २१५ ॥ एकैकं हासयेत्पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत् । उपस्पृशंस्त्रिपवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥ २१६ ॥

अर्थ-स्वस्य और स्वाधीन चित्त वाले का बारह दिन भोजन न करना " पराक " नाम कच्छू, सब पाप दूर करता है ॥ २१५ ॥ तीन काल स्नान करता हुआ कृष्णपक्ष में एक एक पिण्ड=ग्रास को घटावे और शुक्लपक्ष में एक एक बढ़ावे । इस व्रत को " चान्द्रायण " कहा है ॥ २१६ ॥

एतमेवविधिंकृत्स्नमाचरेद्यवमध्यमे । शुक्लपक्षादिनियतश्चरं-
श्चान्द्रायणव्रतम् ॥ २१७ ॥ अष्टावष्टौसमश्नीयात्पिण्डान्मध्यन्दिने स्थिते । नियतात्मा हविष्याशी यतिश्चान्द्रायणं चरन् ॥ २१८ ॥

अर्थ-इसी पिण्ड=ग्रास के घटाने बढ़ाने और त्रिकालस्नानात्मक "यव मध्याह्न्य चान्द्रायण" को शुक्लपक्ष से प्रारम्भ करके जितेन्द्रिय होकर करे ॥ २१७ ॥ जितेन्द्रिय, हविष्य अन्न का भोजन करने वाला "यतिश्चान्द्रायण" व्रत का आचरण करता हुवा मध्याह्न में आठ २ पिण्ड=ग्रास भोजन करे ॥ २१८ ॥ चतुरःप्रातरश्नीयात्पिण्डान्विप्रःसमाहितः । चतुरोऽस्तमितेसूर्ये

#यवमध्याह्न्य=जिस चान्द्रायण में जैसे " यव " बीज में मोटा और किनारों पर पतला होता है, तद्वत शुक्लपक्ष में आरम्भ करने के कारण ग्रास वृद्धि करके फिर कृष्णपक्ष में ग्रास घटने से बिच के ग्राहों का भोजन यव-मध्य के समान मोटा हो जाता है ॥

शिशुचान्द्रायणं स्मृतम् ॥२१९॥ यथाकथञ्चित्पिण्डानां तिस्रो
ऽशीतीः समाहितः। मासेनाश्वन्हविष्यस्य चन्द्रस्यैतिसलोकताम्

अर्थ—विप्रः प्रातःकाल चार ग्रास और चार सायंकाल में भक्षण करे।
इस को “शिशुचान्द्रायण” कहते हैं ॥२१९॥ स्वस्य हुवा जैसे बने वैसे हविष्य
अन्न के १ महीने में तीन अस्सी $3 \times 50 = 250$ दो सौ चालीस ग्रास भोजन
करने वाला चन्द्रलोक को प्राप्त होता है ॥ २२० ॥

एतद्ब्रुवास्तथादित्या वसवश्चाचरन्व्रतम्। सर्वाऽकुशलमोक्षाय
मरुतश्च महर्षिभिः ॥ २२१ ॥ महाव्याहृतिभिर्होमः कर्त्तव्यः
स्वयमन्वहम्। अहिंसा सत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत् ॥२२२॥

अर्थ—इस “चान्द्रायण” व्रत को रुद्र आदित्य वसु मरुत इन संज्ञा वाले
विद्वानों ने महर्षियों के साथ सम्पूर्ण पाप के नाशार्थ किया है (२२०। २२१
भी अनावश्यक और अत्युक्त तथा भिन्न शैली के जान पड़ते हैं) ॥ २२१ ॥
(व्रती) आप नित्य महाव्याहृतियों से होम करे तथा अहिंसा सत्य
अक्रोध और सरलता का आचरण करे ॥ २२२ ॥

त्रिरहस्त्रिर्निशायां च सवासाजलमाविशेत्। स्त्रीशूद्रपतितांश्चैव
नाभिभाषेत कर्हिचित् ॥२२३॥ स्थानासनाभ्यां विहरेदशक्तोऽधः
शयीत वा। ब्रह्मचारी व्रती च स्याद्गुरुदेवद्विजार्चकः ॥२२४॥

अर्थ—दिन में ३ बार और रात्रि में ३ बार सचैल गोता लगाकर स्नान करे
तथा स्त्री, शूद्र और पतिता के साथ कभी न बोले ॥२२३॥ स्थान और आसन पर
उठा बैठा करे और यदि अशक्त होवे तौ भूमि पर नीचे सोवे। व्रती ब्रह्मचर्य
को धारण करने वाला तथा गुरु देव द्विज का पूजन करने वाला हो ॥२२४॥

सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः। सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं
प्रायश्चित्तार्थमाहुतः ॥२२५॥ एतैर्द्विजातयः शोध्या व्रतैरावि-
ष्कृतैर्नसः। अनाविष्कृतपापांस्तु मन्त्रैर्होमैश्च शोधयेत् ॥२२६॥

अर्थ—यथाशक्ति नित्य गायत्री और अन्य पवित्र मन्त्रों को जपे, सम्पूर्ण
व्रतों में इसी प्रकार प्रायश्चित्त के लिये श्रद्धा से अनुष्ठान करे ॥ २२५ ॥ लोक

विदित पाप वाले द्विजाति इन व्रतों से शोधने योग्य हैं और गुप्तपाप वालों को मन्त्रों और होमों से शुद्ध करे ॥ २२६ ॥

ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च । पापकृन्मुच्यते पापा-
त्तथा दानेन चापदि ॥२२७॥ यथायथानरोऽधर्मं स्वयं कृत्वाऽनु
भाषते । तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाऽधर्मेण मुच्यते ॥२२८॥

अर्थ—पाप करने वाला पाप के प्रकाश करने और पश्चात्ताप करने तथा तप और अध्ययन करने से और यदि इन में असमर्थ हो तो दान करने से पाप से छूटता है ॥ २२७ ॥ मनुष्य जैसे जैसे अधर्म करके उसे कहता है, वैसे वैसे उस अधर्म से छूटता है । जैसे सांप कांचली से ॥ २२८ ॥

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति । तथा तथा शरीरं त-
त्तेनाऽधर्मेण मुच्यते ॥२२९॥ कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात्
प्रमुच्यते । नैवं कुर्यां पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः ॥२३०॥

अर्थ—जैसे जैसे उस का मन दुष्कृत कर्म की निन्दा करता है, वैसे वैसे वह शरीर उस अधर्म से छूटता है ॥ २२९ ॥ पाप करने के पश्चात् सन्तापयुक्त होने से उस पाप से बचता है और “ फिर ऐसा न करूँ ” इस प्रकार कह कर निवृत्त होने से वह पवित्र होता है ॥ २३० ॥

एवं संचिन्त्य मनसा प्रेत्य कर्म फलोदयम् । मनोवाङ्मूर्त्तिभिर्नित्यं
शुभं कर्म समाचरेत् ॥२३१॥ अज्ञानादपि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्म
विगर्हितम् । तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत् ॥२३२॥

अर्थ—इस प्रकार मरने पर परलोक में कर्म के फलोदय को विचार कर मन वाणी शरीर से नित्य शुभ कर्म करे ॥ २३१ ॥ समझे वा बिना समझे अशुभ कर्म करके उस से छूटने की इच्छा करने वाला फिर उस को दूसरी बार न करे ॥ २३२ ॥

यस्मिन्कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादऽलाघवम् । तस्मिंस्तावत्तपः
कुर्यादावत्तुष्टिकरं भवेत् ॥२३३॥ तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं
सुखम् । तपोमध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेददर्शिभिः ॥ २३४ ॥

अर्थ—इस (पाप करने वाले) के मन का जिस कर्म के करने में भारी-पन हो उस में इतना प्रायश्चित्त करे जितने से इस को तृप्ति करने वाला हो जावे ॥ २३३ ॥ इस सब देव मनुष्यों के सुख का आदि, मध्य और अन्त वेद के जानने वाले पण्डितों ने तप को ही कहा है ॥ २३४ ॥

ब्राह्मणस्य तपोज्ञानं तपःक्षत्रस्य रक्षणम्। वैश्यस्य तु तपोवार्ता
तपःशूद्रस्य सेवनम् ॥ २३५ ॥ ऋषयः संयतात्मानः फलमूलानि-
लाशनाः । तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ २३६ ॥

अर्थ—ब्राह्मण का वेदशास्त्र जानना, क्षत्रिय का रक्षा करना, वैश्य का व्यापार करना और शूद्र का सेवा करना तप है ॥ २३५ ॥ इन्द्रियों को जीतने वाले और कन्द मूल फल के भोजन करने वाले ऋषि संपूर्ण तीनों लोकों के चर तथा अचर को तप ही से देखते हैं ॥ २३६ ॥

औषधान्यगदोविद्या दैवी च विविधा स्थितिः । तपसैव प्रसि-
द्ध्यन्ति तपस्तेषां हि साधनम् ॥ २३७ ॥ यदुस्तरं यदुरापं यदुर्गं
यच्च दुष्करम् । सर्वं तु तपसा साध्यं तपोहि दुरतिक्रमम् ॥ २३८ ॥

अर्थ—औषध, आरोग्य, विद्या और नाना प्रकार की देवतों की स्थिति सब तप ही से प्राप्त होते हैं क्योंकि उन का साधन तप ही है ॥ २३७ ॥ जो दुस्तर है और दुःख से पाने योग्य है, जहां दुःख से जाया जाता है और जो दुःख से किया जाता है, वह सब तप से सधने योग्य है क्योंकि तप दुर्लभ है ॥ २३८ ॥

महापातकिनश्चैव शेषाश्चाऽकार्यकारिणः । तपसैव सुतप्तेन
मुच्यन्ते किल्बिषात्ततः ॥ २३९ ॥ कीटाश्चाऽहिपतङ्गाश्च पञ्चवश्च
वयांसि च । स्थावराणि च भूतानि दिवं यान्ति तपोबलात् २४०

अर्थ—महापातकी और शेष उपपातक वाले, उक्त प्रकार से तप ही के अनुष्ठान करने से उस पाप से छूटते हैं ॥ २३९ ॥ कीड़े, सांप, पतङ्ग, पशु, पक्षी और वृक्ष लता इत्यादि सब तप के प्रभाव से स्वर्ग को प्राप्त होते हैं (जड़ पदार्थों का तप और स्वर्गति चिन्त्य है) ॥ २४० ॥

यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति मनोवाङ्मूर्तिभिर्जनाः । तत्सर्वं निर्दह-

न्त्याशु तपसैव तपोधनाः ॥२४१॥ तपसैव विशुद्धस्य ब्राह्मणस्य
दिवौकसः । इज्याश्च प्रतिगृह्णन्ति कामान्संवर्धयन्ति च ॥२४२॥

अर्थ—मनुष्य, मन, वाणी, काय से जो कुछ पाप करते हैं, उन सब को तप करने वाले तप से ही जलाते हैं ॥ २४१ ॥ तप करने से शुद्ध हुवे ब्राह्मण के यज्ञ में देवता आहुति को ग्रहण करते और उन के मनोवाञ्छित फलों की वृद्धि करते हैं ॥ २४२ ॥

“ प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासृजत्प्रभुः ।

तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ २४३ ॥ ”

अर्थ—प्रजापति ने तप ही से इस शास्त्र को बनाया । उसी प्रकार ऋषियों ने तप ही से वेदों को पाया ” ॥

(२४३ वां श्लोक तौ स्पष्ट ही मनु से भिन्न पुरुष का वचन है । परन्तु इसी से यह भी प्रतीत होता है कि कदाचित् यह तप का सब ही व्याख्यान अन्यर्कित हो । क्योंकि मनु की शैली यह नहीं देखी जाती कि वह एक बात का इतना बड़ा गीत बढावें । जो हो, परन्तु नन्दन टीकाकार ने “शास्त्रं= सर्वम्” माना है । तदनुसार तौ यह श्लोक मनुप्रोक्त ही है । परन्तु नन्दन ने भी लिखा है कि (इदं शास्त्रमिति च पठन्ति) इस से जान पड़ता है कि नन्दन के समय में भी “ शास्त्रम् ” पाठ चल गया था) ॥ २४३ ॥

इत्येतत्तपसोदेवा महाभाग्यं प्रवक्षते ।

सर्वस्यास्य प्रपश्यन्तस्तपसः पुण्यमुत्तमम् ॥ २४४ ॥

अर्थ—इस सम्पूर्ण तप के उत्तम पुण्य को इस प्रकार देखते हुवे देवता लोग यह तप का माहात्म्य कहते हैं ॥

(२४४ से आगे दो पुस्तकों में यह श्लोक अधिक पाया जाता है और इस पर रामचन्द्र ने टीका भी की है—

[ब्रह्मचर्यं जपोहोम काले शुद्धाल्पभोजनम् ।

अरागद्वेषलोभाश्च तप उक्तं स्वयंभुवा] ॥

ब्रह्मचर्य, जप, होम, समय पर शुद्ध थोड़ा भोजन, राग द्वेष लोभों का त्यागना, यह ब्रह्मा ने तप कहा है) ॥ २४४ ॥

वेदाभ्यासोऽन्वहं शस्तया महायज्ञक्रिया क्षमा। नाशयन्त्याशु
पापानि महापातकजान्यपि २४५ यथैधते जसां वह्निः प्राप्तं निर्द-
हति क्षणात्। तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित् ॥ २४६ ॥

अर्थ—प्रतिदिन यथाशक्ति वेद का अध्ययन और पञ्चमहायज्ञों का अनु-
ष्ठान करना तथा अपराध को सहन करना; ये महापातकों के भी (कुसंस्का-
ररूप) पापों का शीघ्र नाश करते हैं ॥ २४५ ॥ जैसे अग्नि तेज से पाप के दहन
को क्षण में सर्वथा जला देता है, वैसे ही वेद का जानने वाला ज्ञानाग्नि
से सम्पूर्ण (कुसंस्काररूपी) पापों को जला देता है ॥ २४६ ॥

“इत्येतदेन सामुक्तं प्रायश्चित्तं यथाविधि। अत ऊर्ध्वं रहस्यानां
प्रायश्चित्तं निबोधत ॥ २४७ ॥ सव्याहृतिप्रणवकाः प्राणायामास्तु
षोडश। अपि भूणहणं मासात्पुनन्त्यहरह कृताः ॥ २४८ ॥”

“अर्थ—इस प्रकार ये पापों के प्रायश्चित्त यथाविधि कहे। अब अप्रकाश
(छुपे) पापों का प्रायश्चित्त सुनो ॥ २४७ ॥ प्रणव और व्याहृति के साथ प्रति
दिन किये हुवे सोलह प्राणायाम महीने भर में भूणहत्या वाले को भी पवित्र
कर देते हैं”। (२४७ से २५१ तक ५ श्लोक भी प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं क्योंकि
२४७ वें में जो कहा है कि यह प्रत्यक्ष पापों का प्रायश्चित्त कहा। अब छुपों
का प्रायश्चित्त सुनो। प्रथम ती प्रायश्चित्त छिपाने पर होता नहीं। प्रत्युत
छिपाना भी एक और पाप है और पूर्व कह आये हैं कि पाप का स्वीकार
करके प्रकट करना भी एक प्रकार से प्रायश्चित्ताङ्ग है। दूसरे यह प्रतिज्ञावाक्य
सब पुस्तकों में पुराने समय में न था क्योंकि कुल्लूक टीकाकार कहते हैं
कि “यह श्लोक गोविन्दराम टीकाकार ने नहीं लिखा परन्तु मेधातिथि ने
लिखा है” तथा राघवानन्द टीकाकार ने इस का पूर्वार्ध इस प्रकार लिखा
है कि “इत्येषोऽभिहितः कत्स्नः प्रायश्चित्तस्य बोधिः” यदि यह पाठ ठीक
मानें तो प्रायश्चित्तों की समाप्ति यहीं हो जानी चाहिये तथा छिपे पाप का
गुरुतर=बड़ा भारी प्रायश्चित्त होना चाहिये। यहां २५१ में ती गुरुस्त्रीगमन
के शरीरत्यागरूप प्रायश्चित्त के स्थान में कुछ ऋचाओं, मन्त्रों और सूक्तों
का पाठमात्र ही विधान किया है। इत्यादि हेतुओं से यह २५१ तक कल्पना
प्रतीत होती है) ॥ २४८ ॥

“कौत्सं जपत्वाप इत्येतद्वा सिद्धं च प्रतीत्यृचम् । माहित्रं शुद्धव-
त्यश्च सुरापोऽपि विशुद्ध्यति ॥२४९॥ सकृज्जपत्वास्यवामीयं शिव-
सङ्कल्पमेव च । अपहृत्य सुवर्णं तु क्षणाद्व्रति निर्मलः ॥२५०॥”

“अर्थ-कौत्स ऋषि वाला “अप नः शोशुचदयम्” ८ ऋचा ऋग्वेदस्य १ ।
८७ सूक्त और वसिष्ठ ऋषि वाली “प्रतिस्तोमेभिरुपसं वसिष्ठः” इत्यादि ७ ।
८० । १ ऋचा “माहित्रीणामवोस्तु” इत्यादि १० । १८५ । १ और “एतुन्विन्द्रं
स्तवाम शुद्धं शुद्धेन” इत्यादि ८ । ८५ । ७ शुद्धवती ऋचाओं का जप करके
सुरापान करने वाला भी शुद्ध हो जाता है (दो पुस्तकों में-माहित्रं=माहेन्द्रम्
पाठ है) ॥ २४९ ॥ सौना घुराकर एक बार प्रतिदिन “अस्य वामीयं=जिसमें
‘अस्यवामः’ शब्द है (मतौ छः सूक्तसाम्नौः । अष्टा ७ ५ । २ । ५९) उस “अस्य
वामस्य पलितस्य होतुः” इत्यादि १ । १६५ । १-५२ ऋचा के सूक्त को पढ़ कर
वा “शिवसङ्कल्पः” (यजुः ३४ । १-६ इस सूक्त को पढ़ कर क्षण भर में निर्मल
हो जाता है ॥ २५० ॥

“हविष्यन्तीयमभ्यस्य न तमंहतीति च ।

जपित्वा पौरुषं सूक्तं मुच्यते गुरुतल्पगः ॥ २५१ ॥”

एनसां स्थूलसूक्ष्माणां चिकीर्षन्नपतोदनम् ।

अवेत्यृचं जपेदब्दं यत्किञ्चेदमितीति वा ॥ २५२ ॥

“अर्थ- हविष्यान्तमजरं स्वर्विदि ० ऋ ० १० । ८८ इस ११ ऋचा के सूक्त को
और “न तमंहोन दुरितम् ० २ । २३ । ५ अथवा १० । १२६ । १ और “ इति
वा इति मे मनः” १० । ११९ । १ इस को तथा “सहस्रशीर्षा ०, इत्यादि १०
८० । १-१६ ऋचाओं के सूक्त को पढ़ कर गुरुस्त्रीगमन का पाप छूट जाता है ॥२५१॥
छोटे बड़े पापों का प्रायश्चित्त करने की इच्छावाला मनुष्य “अव ते
हेष्ठ वरुण तमोभिः” इत्यादि १ । २५ । १४ ऋचा को अथवा “ यत्किञ्चेदं
वरुण दैव्ये जने ० ” इत्यादि ७ । ८९ । ५ ऋचा को एक वर्ष तक जपे ॥ २५२ ॥

प्रतिगृह्याप्रतिग्राह्यं भुक्त्वा चान्नं विगर्हितम् । जपं स्तरत्समन्दीयं
पूयते मानवस्त्रयहात् ॥२५३॥ सौमारीद्रं तु ब्रह्मेना मासमभ्यस्य
शुद्ध्यति । स्ववन्त्यामाचरन्स्नानमर्थम्णामिति च तृचम् ॥२५४॥

अर्थ—प्रतिग्रह के अयोग्य का प्रतिग्रह लेकर और निन्दित अन्न भोजन करके “तरत्स मन्दी धावति,” यहजिन में आता है उन पवमान देवता की ऋ० ९।५८।१-४ ऋचाओं को तीन दिन पढ़ने से मनुष्य पवित्र होता है ॥२५३॥ “सोमारुद्रा धारयेथाः० ऋ० ६।७४।१-४ सूक्त और “अर्यम्णामिति—” [“अर्यमणं वरुणं मित्रं०” ऋ० ४।२।४] (ठीक ‘अर्यम्णाम्’ प्रतीक वाला ३ ऋचा का कोई सूक्त नहीं मिलता) इन ३ ऋचाओं का एक मास अभ्यास करने से नदी में स्नान करता हुआ बहुत पापों वाला शुद्ध हो जाता है ॥२५४॥

मद्धार्धमिन्द्रमित्येतदेनस्वी सप्तकं जपेत्। अप्रशस्तं तु कृत्वाप्सु मासमासीत् भैक्षभुक् ॥२५५॥ मन्त्रैः शाकलहोमीयैरब्दं हुत्वा घृतं द्विजः। सुगुर्वप्यपहन्त्येनोजप्त्वा वा नम इत्युचम् ॥२५६॥

अर्थ—पापी पुरुष छः मास तक “इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं सूतये” ऋ० १।१०६।१-७ इत्यादि ७ ऋचा का जप करे और जिसने जल में कोई न करने का काम किया हो, वह एक मास तक भिक्षा भोजन से निर्वाह करे ॥२५५॥ (३ पुस्तकों में अप्रशस्तम् = अप्रकाशम् पाठ है) “देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि०” यजुः ८।१३ इत्यादि ८ मन्त्र कात्यायन श्रौत सूत्र १०।८।६ के अनुसार शाकल होमीय कहाते हैं। इन का पाठ करके हवन करने वाला वा “नमः कपर्दिने०” इत्यादि यजुः १६।२९ (वा “नम आशवे० यजुः १६।३१ इत्यादि वा “नमो मित्रस्य वरुणस्य०” इत्यादि ऋ० १०।३७।१) ऋचा को जप कर एक वर्ष में बड़े पाप को भी नष्ट कर देता है ॥ २५६ ॥

महापातकसंयुक्तोऽनुगच्छेद्भाः समाहितः। अभ्यस्याब्दं पावमानीर्भैक्षाहारो विशुद्ध्यति ॥२५७॥ अरण्ये वा त्रिरभ्यस्य प्रयतो वेदसंहिताम्। मुच्यते पातकैः सर्वैः पराकैः शोधितस्त्रिभिः ॥२५८॥

अर्थ—बड़े २ पातकों से युक्त हुवा जितेन्द्रिय होकर गायों को चरावे और पावमानी = पवमान देवता की (ऋ० ९।१।१ से ९।११४।४ तक अर्थात् ९ वें मण्डल की समस्त) ऋचों को एक वर्ष पर्यन्त पढ़ कर भिक्षा-भोजन करे तब शुद्ध होता है (दो पुस्तकों में महापातक के स्थान में उप-पातक पाठ है, वही ठीक भी जान पड़ता है) ॥२५७॥ पूर्वोक्त तीन पराकों से पवित्र हुवा और बाह्य आभ्यन्तर शौचयुक्त होकर वन में वेदसंहितामात्र को पढ़ कर सम्पूर्ण पातकों से छूट जाता है ॥ २५८ ॥

अथ हं तूपवसेदयुक्तस्त्रिरहोऽभ्युपयन्तपः। मुच्यते पातकैः सर्वै-
स्त्रिर्जपित्वाऽघमर्पणम् ॥२५९॥ यथाश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापा-
ऽपनोदनः। तथाऽघमर्पणं सूक्तं सर्वपापापनोदनम् ॥ २६० ॥

अर्थ—संयत होकर त्रिरात्र उपवास करे और प्रतिदिन त्रिकाल स्नान करता रहे। जल में खड़ा हुआ—“ऋतं च सत्यं” ऋ० १०। १९०। १-३ इस अघमर्पण सूक्त को त्रिरावृत्ति पढ़ कर सब पापों से बच जाता है ॥२५९॥ जैसे अश्वमेध यज्ञ सब यज्ञों में श्रेष्ठ और सब पापों को दूर करने वाला है, वैसे ही सब पापों को दूर करने वाला यह अघमर्पण सूक्त है ॥ २६० ॥

हत्वा लोकानपीमांस्त्रीनश्नन्नपि यतस्ततः। ऋग्वेदं धारयन्विप्रो
नैनः प्राप्नोति किञ्चन ॥२६१॥ ऋक्संहितां त्रिरभ्यस्य यजुषां वा
समाहितः। साम्नां वा सरहस्यानां सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥२६२॥

अर्थ—इन तीन लोकों को मारकर और जहां तहां के भी अन्न को भोजन करता हुआ ऋग्वेद को धारण करने वाला विप्र कुछ पाप को नहीं प्राप्त होता (यह ऋग्वेदधारण की अत्युक्ति से प्रशंसा मात्र है। यथार्थ नहीं जानपड़ती। असम्भव सी भी है) ॥२६१॥ ऋक्संहिता वा यजुःसंहिता अथवा सामसंहिता की ब्राह्मणोपनिषदादिसहित समाहितचित्त होकर तीन आवृत्ति करने से सब पापों से बच जाता है ॥ २६२ ॥

यथामहाह्रदं प्राप्य क्षिप्रं लोष्टं विनश्यति। तथा दुश्चरितं सर्वं
वेदे त्रिवृत्ति मज्जति ॥२६३॥ ऋचो यजूंषि चान्यानि सामानि
विविधानि च। एष ज्ञेयस्त्रिवृद्धेदो यो वेदैर्न स वेदवित् ॥२६४॥

अर्थ—जैसे यही नदी में डाला हुआ डेला गल जाता है, वैसे सम्पूर्ण पाप त्रिरावृत्ति वेद में डूब जाता है (यह भी वेदों की प्रशंसा है) ॥२६३॥ ऋग्यजुः और साम के नाना प्रकार के मन्त्र, यह त्रिवृद्धेद जानने के योग्य है। जो इस को जानता है, वह वेदवित् है ॥ २६४ ॥

आद्यं यत्त्रयक्षरं ब्रह्म त्रयोयस्मिन्प्रतिष्ठिताः ।

स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्धेदोयस्तं वेद स वेदवित् ॥ २६५ ॥

—०*०—

इति मानवे धर्मशास्त्रे (भृगुप्रोक्तायां संहितायाम्)

एकादशोऽध्यायः

॥ ११ ॥

अर्थ—सब वेदों का जो प्राथमिक तीन अक्षरयुक्त ओंकाररूप वेद है, जिस में तीनों वेद स्थित हैं, वह दूसरा त्रिवृद्धेद ओंकार गुप्त (बीजरूप) है। जो इस के स्वरूपार्थ (परमात्मा) को जानता है, वह वेदवित् है ॥

(तीन प्राचीन पुस्तकों में श्रीर राघवानन्द के भाष्य में नीचे लिखा श्लोक अधिक मिलता है, जिस की आवश्यकता भी है क्योंकि उपसंहार करना उचित भी था, जैसा कि मनु की शैली है। तदनुसार इस श्लोक में पूर्वाध्याय के विषय का उपसंहार और अगले अध्याय के विषय का प्रस्ताव है। अनुमान है कि १२ द्वादशाध्याय के आरम्भ के दो प्रक्षिप्त श्लोकों को बढ़ाने वाले ने यह श्लोक मनुसंहिताको भृगुसंहिता बनाने के लिये निकाल दिया है। वह यह है:—

[एष वोभिहितः कृत्स्नः प्रायश्चित्तस्य निर्णयः ।

निश्चयेयसं धर्मविधिं विप्रस्येमं निबोधत]

यह तुम से समस्त प्रायश्चित्त का निर्णय कह दिया। अब ब्राह्मण के इस मौल्यधर्मविधान को सुनो ॥ तथा इसी से आगे दो पुस्तकों में अर्ध श्लोक यह अधिक पाया जाता है:—

[पृथग्ब्राह्मणकल्पाभ्यां स हि वेदस्त्रिवृत्स्मृतः ।

यह ब्राह्मणग्रन्थों और कल्पग्रन्थों से पृथक् “ त्रिवृत् ” वेद कहा गया है) ॥ २६५ ॥

—०*०—

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे

एकादशोऽध्यायः

॥ ११ ॥

श्री३म्

अथ द्वादशोऽध्यायः

“चातुर्वर्ण्यस्य कृत्स्नोऽयमुक्तो धर्मस्त्वयाऽनघा कर्मणां फलनिवृत्तिं शंस नस्तत्त्वतः पराम् ॥१॥ स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन् मानवाभृगुः । अस्य सर्वस्य शृणुत कर्मयोगस्य निर्णयम् ॥२॥”

अर्थ—हे पापरहित । तुमने चारों वर्णों का यह सम्पूर्ण धर्म कहा । अथ कर्मों की शुभाशुभ परमार्थरूप फलप्राप्ति हम से कहिये (इस प्रकार महर्षि लोगों ने भृगु जी से पूछा) ॥१॥ वह धर्मात्मा मनु के पुत्र भृगु उन महर्षियों से बोले कि इस सम्पूर्ण कर्मयोग के निश्चय को सुनिये ॥

(स्पष्ट है कि इन १ । २ श्लोकों का कर्ता न मनु है, न भृगु । किन्तु कोई ग्रन्थ का सम्पादक वा संपादक कहता है, जिस ने इस धर्मशास्त्र में भृगु का श्रवियों से संवाद मान रखा है) ॥ २ ॥

शुभाऽशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम् । कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाऽधममध्यमाः ॥३॥ तरुण्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः । दशलक्षणयुक्तस्य मनोविद्यात्प्रवर्त्तकम् ॥ ४ ॥

अर्थ—मन, वाणी तथा शरीर से उत्पन्न शुभाशुभ फल वाले कर्म से मनुष्यों की उत्तम, मध्यम, अधम गति (जन्मान्तर की प्राप्ति) होती है ॥३॥ उस देही के उत्तम, मध्यम, अधम और मन, वाणी, शरीर के आश्रित फल के देने वाले तीन प्रकार के १० लक्षणयुक्त कर्म का चलाने वाला मन को जानो । यहां से कर्मफल कहते हुवे क्रमपूर्वक मोक्ष का वर्णन करेंगे) ॥ ४ ॥

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसाऽनिष्टचिन्तनम् । वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥५॥ पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः । असंचदुप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ ६ ॥

अर्थ—अन्याय से परद्रव्य लेने की इच्छा और मन से (पराया) बुरा चाहना तथा “परलोक में कुछ नहीं है” ऐसा विश्वास; यह तीन प्रकार का मानस (पाप) ।

कर्म है ॥ ५ ॥ कठोर और अतत्यभाषण तथा सब प्रकार की चुगली और असम्बद्ध बकवाद करना; यह चार प्रकार का वाङ्मय (पाप) कर्म है ॥ ६ ॥
अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाऽविधानतः परदारोपसेवा च
शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥ ७ ॥ मानसं मनसैवाऽयमुपभुङ्क्ते
शुभाऽशुभम् । वाचा वाचाकृतं कर्म कायेनैव च कायिकम् ॥ ८ ॥

अर्थ—अन्याय से दूसरे का धन लेना और शास्त्र के विधान (दण्डनीय=वध्य के वधादि) से अतिरिक्त हिंसा तथा दूसरे की स्त्री से गमन करना; यह तीन प्रकार का शारीरिक (पाप) कर्म है ॥ ७ ॥ मन से किये हुवे शुभ अशुभ कर्मफल का मन ही से, वाणी से किये हुवे का वाणी से और शरीर से किये हुवे का शरीर ही से यह (प्राणी) भोग करता है ॥

(८ वें से आगे एक पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:—

[त्रिविधं च शरीरेण वाचा चैव चतुर्विधम् ।

मनसा त्रिविधं कर्म दशाधर्मपथास्त्यजेत्]

३ प्रकार का शारीरिक, ४ प्रकार का वाचिक और ३ तीन प्रकार का मानसिक; यह १० अधर्म के मार्ग त्यागने चाहिये) ॥ ८ ॥

शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ।

वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥ ९ ॥

अर्थ—शरीर के कर्मदोषों से मनुष्य वृक्षादि योनि और वाणी के कर्मदोष से पक्षी और सृग की योनि तथा मन के कर्मदोषों से चण्डालादि कुल में उत्पत्ति पाता है ॥ (९ वें श्लोक से आगे ४ पुस्तकों में यह श्लोक अधिक है:—

[शुभैः प्रयोगैर्देवत्वं व्यामिश्रैर्मानवो भवेत् ।

अशुभैः केवलैश्चैव तिर्यग्योनिषु जायते] ॥ १ ॥

शुभ कर्मों से देवभाव, शुभाशुभ मिश्रितों से मनुष्यभाव की प्राप्ति और केवल अशुभों से नीच योनियों में जन्म पाता है ॥ एक अन्य पुस्तक सहित ५ पुस्तकों में निम्नलिखित श्लोक और भी मिलता है:—

[वाग्दण्डो हन्ति विज्ञानं मनोदण्डः परां गतिम् ।

कर्मदण्डस्तु लोकांस्त्रीन्हन्यादपरिरक्षितः] ॥ २ ॥

बिना रक्षा किया हुआ वाग्दण्ड विज्ञान को, मनोदण्ड परमगति को और कर्मदण्ड तीनों लोकों को नष्ट करता है ॥ तथा एक अन्य पुस्तक सहित छः पुस्तकों में यह श्लोक और भी पाया जाता है:-

[वाग्दण्डोऽथ भवेन्मौनं मनोदण्डस्त्वनानाशनम् ।

शारीरस्य हि दण्डस्य प्राणायामोविधीयते] ॥ ३ ॥

मौन को वाग्दण्ड, अन्नऽशन को मनोदण्ड और प्राणायाम को शारीरिक दण्ड कहते हैं) ॥ ९ ॥

वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च ।

यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डोति स उच्यते ॥ १० ॥

अर्थ-वाणी का दमन (अशुभकर्म से रोकना), तथा मन का दमन और काय का दमन; ये तीनों जिस की बुद्धि में स्थित हैं वह “त्रिदण्डी” कहा जाता है ॥ १० ॥

त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः । कामक्रोधौ तु संयम्य ततःसिद्धिं नियच्छति ॥ ११ ॥ योऽस्यात्मनःकारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते । यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥ १२ ॥

अर्थ-मनुष्य सम्पूर्ण जीवों पर इन तीनों प्रकार का दमन करके काम, क्रोधों को रोक कर फिर निद्रि को प्राप्त होता है ॥ ११ ॥ जो इस आत्मा को कर्म में प्रवृत्त कराने वाला है उस को “क्षेत्रज्ञ” कहते हैं और जो कर्म करता है, बुद्धिमान् लोग उस को भूतात्मा कहते हैं ॥ १२ ॥

जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजःसर्वदेहिनाम् । येन वेदयते सर्वं सुखं दुखं च जन्मसु ॥ १३ ॥ तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान्क्षेत्रज्ञ एव च । उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ॥ १४ ॥

अर्थ-सम्पूर्ण देहियों के साथ होने वाला दूसरा जीवसंज्ञावाला (अन्तःकरण) अन्तरात्मा है, जिस से जन्मों में सम्पूर्ण सुख दुःख जाना जाता है ॥ १३ ॥ वे दोनों महान् और क्षेत्रज्ञ जो कि पृथिव्यादि पञ्चभूतों से मिले हुवे हैं, ऊँच नीच सब भूतों में स्थित उस (परमात्मा) के आश्रय रहते हैं ॥

(१४ वें से आगे एक श्लोक तीन पुस्तकों में मिलता है और वह इसी प्रकरण में गीता में भी आया है । गीता से मनु प्राचीन है । इस लिये कदाचित् मनु से गीता में गया हो । यहां अन्तःकरण शरीर और जीवात्मा का वर्णन किया तो साथ में प्रसङ्गोपयोगी १४ वें श्लोकोक्त “तम्” पदवाक्य परमात्मा के वर्णन की आवश्यकता भी थी । अनुमान है कि यह श्लोक वास्तव में हो, पीछे जाता रहा हो वा अद्वैतियों ने निकाल दिया हो ॥

[उत्तमःपुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।

योलोकत्रयमाविश्य त्रिभर्त्यव्ययईश्वरः] ॥

उत्तम पुरुष तो अन्य है जो “ परमात्मा ” कहाता है और जो तीन लोकों में प्रविष्ट, समर्थ और अविनाशी होने से इन का धारण पोषण करता है ॥ और अगले २५ वें में भी उसी का प्रसङ्ग है) ॥ १४ ॥

असंख्यामूर्त्तयस्तस्य निष्पतन्ति शरीरतः। उच्चावचानिभूतानि सततं चेष्टयन्ति याः ॥ १५ ॥ पञ्चभ्यएव माप्राभ्यः प्रेत्य दुष्कृतिनां नृणाम् । शरीरं यासनार्थं यमन्यदुत्पद्यते ध्रुवम् ॥ १६ ॥

अर्थ—उस (परमात्मा) के शरीरतुल्य पञ्चभूतसमुदाय से असंख्य शरीर निकलते हैं जो कि उत्कृष्ट निकृष्ट प्राणियों को निरन्तर कर्म कराते हैं ॥ १५ ॥ दुष्ट कर्म करने वाले मनुष्यों का मरकर पञ्चतन्मात्रा से दुःख सहन करने के लिये दूसरा शरीर अवश्य उत्पन्न होता है ॥ १६ ॥

तेनानुभूय ता यामीः शरीरेणेह यातनाः । तास्वेष भूतमाप्रासु प्रलीयन्ते विभागशः ॥ १७ ॥ सोऽनुभूयासुखोदकांन्दोषान्विषय सङ्गजान् । व्यपेतकलमषोऽभ्येति तावेवोभी महौजसो ॥ १८ ॥

अर्थ—उस शरीर से यम की दी हुई यातनाओं को यहां भोग कर प्राणी उन्हीं भूतमात्रों में विभाग से फिर छिप जाते हैं ॥ १७ ॥ वह प्राणी निषिद्ध विषयों के उपभोगजनित दुःखों को भोग कर पाप को दूर करके बड़े पराक्रम वाले उन्हीं दोनों (महान् और क्षेत्रज्ञ) को प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

तौ धर्मं पश्यतस्तस्य पापं चातन्द्रितौ सह । याभ्यां प्राप्नोति संपृक्तः प्रेत्येह च सुखाऽसुखम् ॥ १९ ॥ यदाचरति धर्मं स प्रायशोऽधर्ममल्पशः । तैरेव चावृतोभूतैः स्वर्गं सुखमुपाश्नुते ॥ २० ॥

अर्थ-वे आलस्यरहित (महान् और क्षेत्रज्ञ दोनों) उस प्राणी के पुण्य और पाप को साथ २ देखते हैं । जिन से मिला हुआ इस लोक तथा परलोक में सुख और दुःख को प्राप्त होता है ॥१९॥ वह जीव यदि अधिक धर्म कर्म करता है और अधर्म न्यून, तो उन ही उत्तम पञ्चभूतों से युक्त स्वर्ग में सुख को भोगता है ॥ २० ॥

यदि तु प्रायशीऽधर्मं सेवते धर्ममल्पशः । तैर्भूतैः स परित्यक्तो यामीः प्राप्नोति यातनाः ॥२१॥ यामीस्तायातनाः प्राप्य सजीवो धीतकल्मषः । तान्येव पञ्च भूतानि पुररप्येति भागशः ॥२२॥

अर्थ-और यदि वह जीव पाप अधिक और पुण्य थोड़ा करे तो उन उत्तम भूतों से त्यक्त हुआ यम की यातनाओं को प्राप्त होता है ॥२१॥ उन यम की यातनाओं को प्राप्त होकर वह जीव (भोग से) पापरहित होने पर फिर उन्हीं उत्तम पञ्चभूतों को क्रम से प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥

एता दृष्ट्वाऽस्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा । धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मेदध्यात्सदामनः ॥२३॥ सत्त्वं रजस्तमश्चैव त्रीन्विद्यादात्मनो गुणान् । यैर्व्याप्येमान्स्थितोभावान्महान्सर्वानशेषतः ॥ २४ ॥

अर्थ-इस जीव की धर्म और अधर्म से इन गतियों को अपने मन से ही देख कर सर्वदा मन को धर्म में लगावे ॥२३॥ सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण इन तीनों को आत्मा (प्रकृति) के गुण जाने, जिन से व्याप्त हुआ यह "महान्" स्थावर जङ्गमरूप सम्पूर्ण भावों को अशेषता से व्याप कर स्थित है ॥२४॥

यो यद्वैषां गुणोदेहे सा कल्येनातिरिच्यते । स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥२५॥ सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम् । एतद्द्वयाग्निमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥ २६ ॥

अर्थ-जिस शरीर में गुणों में से जो गुण पूरा पूरा जब अधिक होता है, तब वह उस प्राणी को उसी गुण के अधिक लक्षणयुक्त कर देता है ॥ २५ ॥ यथार्थ वस्तु का जानना सत्त्व का लक्षण और उस के विपरीत=न जानना=अज्ञान=तम का और रागद्वेष रजके लक्षण हैं । इन सब प्राणियों का आश्रित शरीर इन सत्त्वादि गुणों की व्याप्ति वाला होता है ॥ २६ ॥

तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत् । प्रशान्तमिव
शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत् ॥२७॥ यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकर-
मात्मनः । तद्रजोऽप्रतिपं विद्यात्सुततंहारि देहिनाम् ॥२८॥

अर्थ—उन तीनों में से जो कुछ प्रीति से मिला हुआ और शान्त प्रकाश
रूप का आत्मा में जाना जाये उस को सत्य जाने ॥२७॥ और जो दुःख से
मिला हुआ तथा आत्मा की अप्रीति करे और सर्वदा शरीरियों की विषयों
की ओर प्रतिकूल खींचने वाला है, उस को रज जाने ॥ २८ ॥

यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम् । अप्रतयर्थमविज्ञेयं
तमस्तदुपधारयेत् ॥ २९ ॥ त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः
फलोदयः । अग्रयोर्मध्योजघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥३०॥

अर्थ—जो मोह से युक्त हो, प्रकट न हो तथा विषय वाला हो और
तर्क और बुद्धि द्वारा जानने के योग्य न हो उस को तम समझे ॥२९॥ इन
(सत्त्वादि) तीनों गुणों का यथाक्रम उत्तम, मध्यम, अधम जो फलोदय है,
उस सम्पूर्ण को आने कहता हूँ ॥ ३० ॥

वेदाभ्यासस्तपोज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धर्मक्रियात्मचिन्ता
च सार्विकं गुणलक्षणम् ॥३१॥ आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्य
परिग्रहः । विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—वेद का अभ्यास, तप, ज्ञान, शौच, इन्द्रियों का निग्रह, धर्मक्रिया
और आत्मा का मनन, ये सत्त्वगुण के लक्षण हैं ॥ ३१ ॥ आरम्भ में रुचि
होना, फिर अधैर्य; निपिढ़ कर्म को पकड़ना और निरन्तर विषयभोग;
यह रजोगुण का लक्षण है ॥ ३२ ॥

लोभःस्वप्नोऽधृतिःक्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तित्वा । याचिष्णुता
प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥३३॥ त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां
त्रिषु तिष्ठताम् । इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशोगुणलक्षणम् ॥३४॥

अर्थ—लोभ, नींद, अधीरता, क्रूरता, नास्तिकता, अनाचारीपना, याचन
स्वभाव और प्रमाद; यह तमोगुण का लक्षण है ॥३३॥ इन तीनों (सत्त्वादि)

गुणों का, जो कि तीनों में रहने वाले हैं, यह क्रम से संचित गुणलक्षण जानना चाहिये कि-॥ ३४ ॥

यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति । तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं
तामसं गुणलक्षणम् ॥३५॥ येनास्मिन्कर्मणालोकेख्यातिमिच्छति
पुष्कलाम् । न च शोचत्यसंपत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥३६॥

अर्थ जिस कर्म को करके और करते हुवे और आगे करने का विचार करते हुवे (तीनों काल में) लज्जा करता है, उस सब को विद्वान् तम का लक्षण जाने ॥३५॥ जिस कर्म से इस लोक में बड़ी प्रसिद्धि को चाहता है और असम्पत्ति (असिद्धि) में शोक नहीं करता, उस को राजस जाने ॥ ३६ ॥

यत्सर्वेणैच्छति ज्ञातुं यन्नलज्जति चाचरन् येन तुष्यति चात्मा
ऽस्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥३७॥ तमसोलक्षणं कामोरजसस्त्वर्थ
उच्यते । सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रेष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥३८॥

अर्थ-जिस कर्म की सर्वथा जानने के लिये इच्छा करता है और जिस कर्म को करता हुवा (तीनों काल में) लज्जित नहीं होता, तथा जिस कर्म से इस के मन को आनन्द हो, वह सत्त्वगुण का लक्षण है ॥ ३७ ॥ तम का प्रधान लक्षण काम है और रज का प्रधान लक्षण अर्थ कहाता है । तथा सत्त्व का प्रधान लक्षण धर्म है । इन में उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है ॥ ३८ ॥

येन यस्तु गुणेनैषां संसारान्प्रति पद्यते । तान्समासेन वक्ष्यामि
सर्वस्यास्य यथाक्रमम् ॥३९॥ देवत्वं सात्त्विकायान्ति मनुष्यत्वं च
राजसाः । तिर्यक्तं तामसानित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥४०॥

अर्थ-इन सत्त्वादि गुणों में जिस गुण से जीव जिस गति को प्राप्त होता है, इस सब के उभ गुण को संक्षेप से यथाक्रम कहता हूँ-॥ ३९ ॥ सात्त्विक देवत्व और राजस मनुष्यत्व को तथा तामस सदा तिर्यक् योनि को प्राप्त होते हैं । इस प्रकार तीन प्रकार की गति है ॥ ४० ॥

त्रिविधा त्रिविधैषा तु विज्ञेया गौणिकी गतिः । अधमा मध्यमा
ऽग्र्या च कर्मविद्याविशेषतः ॥ ४१ ॥ स्यादराः कृमिकीटाश्च
मत्स्याः सर्पाः सक्छपाः पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः

अर्थ—जो सखादिगुणत्रयनिमित्त तीन प्रकार की गति कही, यह देशकालादि जेद से फिर भी उत्तम मध्यम अधम तीन तीन प्रकार की है और फिर कर्म का विशेष (अनन्त) जानना चाहिये ॥४१॥ वृद्धादि, रुमि, कीट, मत्स्य, सर्प, कछुवे, पशु और मृग; यह तमोनिमित्त निकृष्ट गति है ॥ ४२ ॥

हस्तिनश्चतुरङ्गाश्चशूद्रास्तेच्छाश्चगर्हिताः।सिंहाव्याघ्रावराहाश्च
मध्यमा तामसी गतिः ॥४३॥ चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव
दाम्भिकाः।रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीपूत्तमागतिः॥४४॥

अर्थ—हाथी, घोड़े, शूद्र, निन्दित स्तेच्छ, सिंह, व्याघ्र और मूकर; यह तमोनिमित्त मध्यम गति है ॥ ४३ ॥ और चारण (सुगामदी) तथा पक्षी और दम्भ करने वाले पुरुष और राक्षस (हिंसक) तथा पिशाच (अनाधारी) यह तमोगतियों में उत्तम गति है ॥ ४४ ॥

भक्ष्या मल्ला नटाश्चैव पुरुषाःशस्त्रवृत्तयः।द्यूतपानप्रसक्ताश्च
जघन्या राजसी गतिः ॥४५॥ राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञां चैव
पुरोहिताः।वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥४६॥

अर्थ—(दशम अध्याय में कहे हुवे) भक्ष्य मल्ल और नट तथा शस्त्र से आजीविका वाले मनुष्य और जुवा तथा मद्यपान में आसक्त पुरुष; यह रजोगुण की निकृष्ट गति है ॥ ४५ ॥ राजा लोग तथा क्षत्रिय, और राजों के पुरोहित और वाद वा भगड़ा करने वाले, यह मध्यम राजस गति है (राघवानन्द ने—“ प्रधानाः=प्रसक्ताः ” की और रामचन्द्र ने “ वाद=दान ” की व्याख्या की है) ॥ ४६ ॥

गन्धर्वागुह्यकायक्षा विबुधाऽनुचराश्चये।तथैवाप्सरसःसर्वा
राजसीपूत्तमा गतिः ॥४७॥ तापसायतयोविप्रा येचवैमानिका
गणाः।नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः ॥४८॥

अर्थ—गन्धर्व, गुह्यक, यक्ष और देवतों के अनुचर तथा सब अप्सरा; यह रजोगुण की गतियों में उत्तम गति है ॥ ४७ ॥ तप करने वाले, यति, विप्र और विमानों पर घूमने वाले, तथा (चमकते) नक्षत्र और दैत्य; सखगुण की अधम गति है ॥ ४८ ॥

यज्वानऋषयोदेवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः । पितरश्चैव सा-
ध्याश्च द्वितीयासात्त्विकीगतिः ॥४९॥ ब्रह्माविश्वसृजोधर्मोमहा-
नऽव्यक्तमेव च । उत्तमांसात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥५०॥

अर्थ—यज्ञ करने वाले, ऋषि लोग, देव और वेद, तारे और काल के
ज्ञाता, पितर और साध्य, यह मध्यमा सात्त्विक गति है ॥४९॥ ब्रह्मा और
विश्व को उत्पन्न करने वाले (सृष्टि के आरम्भ के ब्रह्माण्डादि) और धर्म
तथा महत्तरव और अव्यक्त (मूलप्रकृति) को विद्वान् लोग उत्तम सात्त्विक
गति कहते हैं ॥ ५० ॥

एष सर्वः समुद्दिष्टस्त्रिप्रकारस्य कर्मणः । त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः
संसारः सार्वभौतिकः ॥ ५१ ॥ इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्याऽसे-
वनेन च । पापान् संयान्ति संसारानऽविद्वांसो नराधमाः ॥५२॥

अर्थ—यह संपूर्ण तीन २ प्रकार के कर्म की सार्वभौतिक ३ प्रकार की
सब सृष्टि कही ॥ ५१ ॥ इन्द्रियों के प्रसङ्ग से और धर्म के आचरण न करने
से मूढ़ अधम मनुष्य कुत्सित गतियों को प्राप्त होते हैं ॥ ५२ ॥

यां यां योनिं तु जीवोऽयं येन येनेह कर्मणा ।

क्रमशो याति लोकेस्मिंस्तत्तत्सर्वं निबोधत ॥ ५३ ॥

“ बहून्वर्षगणान्घोरान्नरकान्प्राप्य तत्क्षयात् ।

संसारान्प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस्त्विमान् ॥ ५४ ॥ ”

अर्थ—यह जीव जो जो कर्म करके जिस जिस योनि में इस सृष्टि में
जन्म लेता है, वह वह सब सुनो ॥ ५३ ॥ “ (ब्रह्महत्यादि) महापातक करने
वाले जीव बहुत वर्ष पर्यन्त घोर नरकों में पहुँच कर उस के क्षय से संसार में
ये जन्म धारण करते हैं कि—” ॥

(५३ वें में योनिप्राप्ति की प्रतिज्ञा करके ५५ वें में योनियों का वर्णन है,
इस लिये बीच के ५४ वें की कुछ भी आवश्यकता नहीं है) ॥ ५४ ॥

श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम् चण्डालपुच्छानां च
ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥५५॥ कृमिकीटपतङ्गानां विड्भुजां चैव
पक्षिणाम् हिंस्रानां चैव सर्पानां सुरापो ब्राह्मणो ब्रजेत् ॥५६॥

अर्थ कुत्ता, सूकर, गर्दभ, चंड, बैल, बकरा, भेड़, मृग, पक्षी, चण्डाल-और पुच्छस योनि को ब्रह्महत्यारा प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥ मद्य पीने वाला ब्राह्मण कीड़े, सकौड़े, पतङ्ग, मैला खाने वाले पक्षियों और हिंसा करने वाले प्राणियों की (योनि को) प्राप्त होता है ॥ ५६ ॥

लूताहिसरटानां च तिरश्चांचाम्युचारिणाम्। हिंसाणां च पिशा-
चानां स्तेनोविप्रः सहस्रशः ॥ ५७ ॥ तृणगुल्मलतानां च क्रव्यादां
दंष्ट्रिणामपि । क्रूरकर्मकृतां चैव शतशोगुरुतल्पगः ॥ ५८ ॥

अर्थ—चोरी करने वाला ब्राह्मण-सकड़ी, सर्प, घिरगट, जल में रहने वाले तथा हिंसा करने वाले पिशाचों के जन्म को हजारों बार प्राप्त होता है ॥ ५७ ॥ गुरुपत्नी से गमन करने वाला—घास, गुच्छे, लता, कच्चे मांस को खाने वाले और क्रूर कर्म करने वाले का जन्म सैंकड़ों बार पाता है ॥ ५८ ॥

हिंसाभवन्ति क्रव्यादाः कृमयोऽभक्ष्यभक्षिणः । परस्परदिनः
स्तेनाः प्रेत्यान्त्यस्त्रीनिषेविणः ॥ ५९ ॥ संयोगं पतितैर्गत्वा पर-
स्यैव च योषितम्। अपहृत्य च विप्रस्वं भवति ब्रह्मराक्षसः ॥ ६० ॥

अर्थ—प्राणियों का वध करने के स्वभाव वाले=(मार्जारदि) कच्चे मांस के खाने वाले होते हैं और अभक्ष्य के भक्षण करने वाले=कृमि और चोर=परस्पर एक दूसरे को खाने वाले होते हैं। तथा चण्डाल की स्त्री से गमन करने वाले भी मर कर इसी गति को प्राप्त होते हैं। (दो पुस्तकों के अतिरिक्त अन्यो में 'प्रेत्यान्त्य' अशुद्ध पाठ है) ॥ ५९ ॥ पतितों के साथ रहने और पराई स्त्री से मैथुन करने तथा ब्राह्मण का धन चुराने से ब्रह्मराक्षस होता है ॥ ६० ॥

मणिसुक्ताप्रबालानि हत्वा लोभेनमानवः। विविधानि चरत्तानि
जायते हेमकर्तृषु ॥ ६१ ॥ धान्यं हत्वा भक्षत्याखुः कांस्यं हंसो
जलं प्लवः । मधु दंशः पयःकाको रसं श्वानकुलोद्यतम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—सखि, मोती, मूंगा और नाना प्रकार के रत्नों को चुराकर हेमकार पक्षियों में जन्म होता है ॥ ६१ ॥ धान्य को चुराने से चूहा, कांसे के चुराने से हंस, जल के चुराने से मेंढक, मधु को चुराने से मक्खी वा डांस दूध के चुराने से कौवा, रस को चुराने से कुत्ता और घृत को चुराने से नेवला होता है ॥ ६२ ॥

मांसं गृध्रोवपां मदगुस्तैलं तैलपकः खगः । चोरोवाकस्तु वणं
बलाका शकुनिर्दधि ॥६३॥ कौशेयं तित्तिरिहृत्वा क्षीमं हत्वा तु
वर्दुरः । कापीसतान्तवं क्रौञ्चो गोधा गां वाग्गुदो गुडम् ॥ ६४ ॥

अर्थ—मांस को चुराने से गिहु, वपा (चरबी) के चुराने से जलकौवा नाम
पक्षी, तैल को चुराने से तैल पीने वाला पक्षी, लवण को चुराने से क्षींगरी और
दधि के चुराने से बलाका नाम पक्षी होता है ॥ ६३ ॥ रेशमी कपड़े चुराने से
तीतर, अलसी का वस्त्र चुराने से मेंढक, कपास के कपड़े चुराने से सारस, गाय
के चुराने से गोधा और गुड़ के चुराने से वाग्गुद नाम पक्षी होता है ॥६४॥

छुच्छुन्दरिः शुभान्गन्धान्पत्रशकं तु बर्हिणः । श्वावित्कृतान्नं
विविधमकृतान्नं तु शल्यकः ६५ बको भवति हत्वाग्निं गृहकारी
ह्युपस्करम् । रक्तानि हत्वा वासांसि जायते जीवजीवकः ॥६६॥

अर्थ—अच्छे सुगन्धित पदार्थों को चुराने से छुच्छुन्दर, सागपात के चुराने
से मोर, विविध सिद्ध अन्न चुराने से गीदड़ और कच्चे अन्न चुराने से शल्यक
होता है ॥६५॥ आग को चुराने से बक, शूर्पमुसलादि चुराने से गृहकारी पक्षी
(मकड़ी) और रंगे वस्त्रों के चुराने से जीवजीवक (चकोर) होता है ॥६६॥

वृकोमृगेभं व्याघ्रोश्च फलमूलं तु मर्कटः । स्त्रीमृक्षः स्तोकको
वारि यानान्युष्टुः पशूनजः ॥६७॥ यद्वा तद्वा परद्रव्यमपहत्य
बलान्नरः । अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाऽहुतं हविः ॥६८॥

अर्थ—मृग हाथी को चुराने से भेड़िया, घोड़े के चुराने से व्याघ्र, फल मूल
के चुराने से वन्दर और स्त्री के चुराने से रीछ, पीने के पानी चुराने से चातक
पक्षी, सवारियों के चुराने से जूट तथा पशुओं के चुराने से बकरा होता है ।
(एक पुस्तक में स्तोकक=चातक है) ॥ ६७ ॥ मनुष्य को दूसरे का कुछ असार
पदार्थ भी चुराने और बिना होम किये हवि के भोजन करने से अवश्य
तिर्यग्योनि प्राप्त होती है ॥ ६८ ॥

स्त्रियोप्येतेन कल्पेन हत्वादोषमवाप्नुयुः । एतेषामेव जन्तूनां
भार्यात्वमुपयान्ति ताः ६९ स्त्रेभ्यः स्त्रेभ्यस्तु कर्मभ्यश्च्युता वर्णा
ह्यनापदि । पापान्संसृत्य संसारान् प्रेष्यतां यान्ति शत्रुषु ॥७०॥

अर्थ—स्त्री भी इसी प्रकार घुराने से दोषों को प्राप्त होती हैं और उसी पाप से उन्हीं जन्तुओं की स्त्री बनती हैं ॥ ६९ ॥ चारों वर्ण विना आपत्ति अपने नित्य कर्म न करने से कुत्सितयोनि को प्राप्त होकर फिर शत्रुओं के दासत्व को प्राप्त होते हैं ॥ ७० ॥

वान्ताशयुत्कामुखः प्रेतोविप्रो धर्मात्स्वकाञ्चयुनः । अमेधय
कुणपाशी च क्षत्रियः कटपूतनः ७१ मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतो वैश्यो
भवति पूयभुक् । चैलाशकश्च भवति शूद्रो धर्मात्स्वकाञ्चयुतः ७२ ॥

अर्थ—अपने कर्म से भ्रष्ट ब्राह्मण मर कर वसन का भोजन करने वाला ज्वालामुख, स्वकर्मभ्रष्ट क्षत्रिय पुरीष और शव का भोजन करने वाला कट-पूतनाख्ययोनिविशेष में उत्पन्न होता है ॥ ७१ ॥ स्वकर्मभ्रष्ट वैश्य मरकर पीब का भक्षण करने वाला मैत्राक्षज्योति नाम उत्पन्न होता और वैसे ही स्वकर्मभ्रष्ट शूद्र कपड़े की जूँ आदि खाने वाला चैलाशक नाम होता है ॥ ७२ ॥

यथा यथा निषेवन्ते विषयान्विषयात्मकाः । तथा तथा कुशलता
तेषां तेषूपजायते ॥ ७३ ॥ तेऽभ्यासात्कर्मणां तेषां पापानामरूप
बुद्ध्यः । संप्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु ॥ ७४ ॥

अर्थ—विषयासक्त पुरुष जैसे जैसे विषयों को सेवन करते हैं, वैसे वैसे उन में उन की कुशलता हो जाती है ॥ ७३ ॥ वे निर्बुद्धि उन पापकर्मों के अभ्यास से यहां उन उन योनियों में दुःखों को प्राप्त होते हैं ॥ ७४ ॥

तामिस्रादिषु चोग्रेषु नरकेषु विवर्तनम् । असिपत्रवनादीनि
बन्धनच्छेदनानि च ॥ ७५ ॥ विविधाश्चैव संपीडाः काकोलूकैश्च
भक्षणम् । कर्मभवालुकातापान्कुम्भीपाकांश्च दारुणान् ॥ ७६ ॥

अर्थ—तामिस्रादि उग्र नरकों में दुःख का अनुभव करते हैं तथा असि-पत्रवनादि बन्धनच्छेदन वाले घोर नरकों को प्राप्त होते हैं ॥ ७५ ॥ और नाना प्रकार की पीड़ा तथा काक उलूक आदि से भक्षण और तप्त बालुकादि से तपाये जाते और दारुण कुम्भीपाकों को प्राप्त होते हैं ॥ ७६ ॥

संभवांश्च विद्योनीषु दुःखप्रायासु नित्यशः । शीतातपाभिघा-
तांश्च विविधानि भयानि च ॥ ७७ ॥ असकृद्गर्भवासेषु वासं
जन्मचदारुणम् । बन्धनानि च कष्टानि परप्रेष्यत्वमेव च ॥ ७८ ॥

अर्थ—अधिक दुःख वाली तिर्यक्योनियों में नित्य २ उत्पन्न होते और
नाना प्रकार की शीत आतप की पीड़ा तथा अनेक प्रकार के भयों की
प्राप्त होती हैं ॥ ७७ ॥ द्वारम्बार गर्भस्थान में वास अतिकठिन उत्पत्ति तथा
उत्पन्न होने पर शङ्खलादि के बन्धनों और दूसरे के हलकारेण के दुःखों की
प्राप्त होते हैं ॥ ७८ ॥

बन्धुप्रियवियोगांश्च संवासं चैव दुर्जनैः । द्रव्यार्जनं च नाशं च
मित्रामित्रस्य चार्जनम् ७९ जरां चैवाऽप्रतीकारां त्रयाधिभिश्चो-
पपीडनम् । क्लेशांश्च विविधांस्तांस्तान्मृत्युमेव च दुर्जयम् ॥ ८० ॥

अर्थ—बन्धु और प्यारों की जुदाई तथा दुर्जनों के साथ रहना और धन
कमाने का परिश्रम और धन का नाश और क्लेश से मित्र का मिलना तथा
विना कारण शत्रुओं का उत्पन्न होना (ये सब प्राप्त होते हैं) ॥ ७९ ॥ अनि-
वारणीय वृद्धावस्था और व्याधियों से क्लेशित होना तथा नाना प्रकार के
(क्षुत्पिपासादि) क्लेशों और दुर्जय मृत्यु की प्राप्त होते हैं ॥ ८० ॥

यादृशेन तु भावेन यदात्कर्म निषेवते । तादृशेन शरीरेण
तत्तत्फलमुपाश्नुते ॥ ८१ ॥ एष सर्वः समुद्दिष्टः कर्मणां वः
फलोदयः । नैश्व्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधत ॥ ८२ ॥

अर्थ—जिसजिस (सात्त्विक, राजस, तामस) भाव से जो जो कर्म करता
है वैसे वैसे शरीर से उसउसफल का भोग करता है ॥ ८१ ॥ यह सब कर्मों
का फलोदय तुम से कहा । अब आगे ब्राह्मण का कल्याण करने वाले इस
कर्म को सुनोः ॥ ८२ ॥

वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः । अहिंसा गुरुसेवा
च निश्व्रेयसकरं परम् ॥ ८३ ॥ सर्वेषामपि चैतेषां शुभानामिह
कर्मणाम् । किञ्चिच्छ्रेयस्करतरं कर्मोक्तं पुरुषं प्रति ॥ ८४ ॥

अर्थ—वेद का अभ्यास, तप, ज्ञान, इन्द्रियों का रोकना तथा हिंसा न करना और गुरु की सेवा; यह परम कल्याण का देने वाला है ॥८३॥ इन सब कर्मों में कुछ अधिक श्रेय का देने वाला कर्म पुरुष के लिये कहा है (कि:-) ॥८४॥
 सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् । तद्व्यग्रथं सर्वविद्यानां
 प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥ ८५ ॥ परमासेषां तु सर्वेषां कर्मणां
 प्रेत्य चेह च । श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—इन सब में आत्मज्ञान श्रेष्ठ कहा है। वह संपूर्ण विद्याओं में प्रधान है, क्योंकि उस से मोक्ष प्राप्त होता है ॥८५॥ इन छः कर्मों में इस लोक तथा परलोक में सर्वदा अतिशय श्रेय को देने वाला वैदिक कर्म जानिये ॥ ८६ ॥
 वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशीषतः । अन्तर्भवन्ति क्रमशः
 स्तस्मिंस्तस्मिन्क्रियाविधौ ॥ ८७ ॥ सुखाभ्युदयिकं चैव नैश्रेय-
 सिकमेव च । प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥ ८८ ॥

अर्थ—वैदिक (परमात्मा की उपासनादि) कर्मयोग में ये सब पुरण उस उस कर्मविधि में संपूर्णता से क्रमपूर्वक आजाते हैं ॥८७॥ सुख का अभ्युदय करने वाला और मोक्ष का देने वाला एक प्रवृत्त, दूसरा निवृत्त, यह दो प्रकार का क्रम से वैदिक कर्म है ॥ ८८ ॥

इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते ।

निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥ ८९ ॥

अर्थ—इस लोक तथा परलोक में भोगार्थ जो कामना से कर्म किया जाता है उस को प्रवृत्त कहते हैं और जो निष्काम तथा ज्ञानपूर्वक किया जाता है उस को निवृत्त कहते हैं। (८९ वें से आगे १ पुस्तक में यह श्लोक अधिक है:-

[अकामोपहतं नित्यं निवृत्तं च विधीयते ।

कामतस्तु कृतं कर्म प्रवृत्तमुपदिश्यते ॥]

अकाम से उपहत कर्म निवृत्त और काम से किया कर्म प्रवृत्त कहा जाता है ॥८९॥

प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम् ।

निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै ॥ ९० ॥

अर्थ-प्रवृत्त कर्म करने से देवताओं के साम्य को प्राप्त होता है तथा निवृत्त कर्म के करने से पञ्चभूतों को लांघ कर मोक्ष को प्राप्त होता है ॥८०॥
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । समं पश्यन्नात्मयाजी
स्वाराज्यमधिगच्छति ॥ ८१ ॥ यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय
द्विजोत्तमः । आत्मज्ञानेशमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान् ८२

अर्थ-सब भूतों में आत्मा को और आत्मा में सब भूतों को बराबर देखने वाला आत्मयाजी (आत्मयज्ञ करने वाला) स्वाराज्य (मोक्ष) को प्राप्त होता है ॥ ८१ ॥ ब्राह्मण यथोक्त कर्मों को छोड़ कर भी आत्मज्ञान और इन्द्रियनिग्रह तथा वेद के अभ्यास में यत्न करे ॥ ८२ ॥

एतद्विजन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः । प्रार्षेयैतत्कृतकृत्यो
हि द्विजोभवति नान्यथा ॥८३॥ पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः
सनातनम् । अशक्यं चाऽप्रमेयं च वेदशाल्ममिति स्थितिः ॥८४॥

अर्थ-ब्राह्मण का विशेष करके जन्मसाफल्य यही है । क्योंकि इस को पाकर द्विज कृतकृत्य होता है, दूसरे प्रकार नहीं ॥८३॥ पितर, देव और मनुष्यों की वेद आंख है और वह सनातन है तथा (अन्य ग्रन्थ पढ़ने मात्र से जानने को) अशक्य और अप्रमेय है । इस प्रकार (वेदशास्त्र की) स्थिति है ॥८४॥

यावेदब्राह्मणः स्मृतयोयाश्च काश्चकुटुम्बयः । सर्वास्तानिष्फलाः प्रेत्य
तमोनिष्ठाहिताः स्मृताः ८५ उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि
कानिचित् । तान्यर्वाङ्मालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥८६॥

अर्थ-जो स्मृति वेदवाच्य हैं और जो कुटुम्बि हैं वे सब निष्फल हैं क्योंकि ग्रन्थकार में ले जाने वाली हैं (एक प्रकार से मानो मनु अपनी ही स्मृति को भी किसी अंश में वेदविरुद्ध हो जाना सम्भव मानते हुवे यह वचन कहते हैं । क्योंकि मनु के लक्ष्य में रखने को अन्यस्मृति तौ उस समय दीं ही नहीं) ॥ ८५ ॥ वेद से अन्यमूलक जो कुल ग्रन्थ हैं वे उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं, वे अर्वाञ्जल के होने से निष्फल और असत्य हैं (इस लिये जो वेद से प्रमाणित है, वही प्रमाण है) ॥ ८६ ॥

चातुर्वर्ण्यं त्रयोलोकान् श्रुत्वा श्रमाः पृथक् । भूतं भव्यं भविष्यं

च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति ॥ ९७ ॥ शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो
गन्धश्च पञ्चमः । वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिर्गुणकर्मतः ॥ ९८ ॥

अर्थ—चार वर्ण, तीन लोक, अलग २ चार आश्रम, तथा भूत भविष्यत्
वर्तमान, सब वेद ही से प्रसिद्ध है ॥ ९७ ॥ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, ये
५ भी वेद ही से उत्पन्न हैं । यद्यपि उत्पत्ति (सत्त्वादि) गुणों के कर्म से है ॥
(अर्थात् यद्यपि सब पदार्थ अपने २ उपादान से उत्पन्न हैं, परन्तु उन सब
का ज्ञान वेद से ही आरम्भ हुवा, इस लिये शब्दादि विषयों की उत्पत्ति वेद
से ही कही गई) ॥ ९८ ॥

विभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् । तस्मादेतत्परममन्ये
यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥ ९९ ॥ सैनापत्यं च राज्यं च दण्डने-
तृत्वमेव च । सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदहति ॥ १०० ॥

अर्थ—सनातन वेदशास्त्र सर्वदा संपूर्ण जीवों का धारण और पोषण करता
है । इस प्राणी के लिये इस वेद के साधन को मैं (मनु) परम मानता हूँ
॥ ९९ ॥ सैनापत्य और राज्य तथा दण्डनेतापन और सब लोगों पर आधिपत्य
को वही पाने योग्य है, जो वेदशास्त्र का जानने वाला है ॥ १०० ॥

यथा जालवलोवह्निर्दहत्यार्द्रानपि दुमान् ।

तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः ॥ १०१ ॥

अर्थ—जैसे जलवान् हुवा अग्नि गीले वृक्षों को भी जला देता है, वैसे
ही वेद का जानने वाला अपने कर्मज दोष को जला देता है ॥

(१०१ से आगे ३ पुरुषों में यह श्लोक मिलता है, जो कि आवश्यक भी था:—

[न वेदबलमाश्रित्य पापकर्मरुचिर्भवेत् ।

अज्ञानाच्च प्रमादाच्च दहते कर्म नेतरत्]

परन्तु वेदबल के भरोसे मनुष्य को (निर्भय हो) पापकर्म में रुचिवाला
नहीं बनना चाहिये । क्योंकि अज्ञान वा प्रमाद से जो कर्म बन जाते हैं,
उन्हीं का [पूर्व श्लोकानुसार] हनन हो सकता है, अन्यो का नहीं) ॥ १०१ ॥

वेदशास्त्रार्थतरवज्ञो यत्र तन्नाश्रमे वसन् ।

इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १०२ ॥

अर्थ-वेद शास्त्रार्थ का तत्त्व जानने वाला, चाहे जिस आश्रम में रह कर इसी लोक में रहता हुवा वह मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ १०२ ॥

अज्ञेभ्योग्रन्थिनः श्रेष्ठाग्रन्थिभ्योधारिणोवराः। धारिभ्योज्ञानिनः
श्रेष्ठाज्ञानिभ्योव्यवसायिनः ॥ १०३ ॥ तपोविद्या च विप्रस्य निश्रे-
यसकरं परम्। तपसा किलिष्यं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ १०४ ॥

अर्थ-विना पढ़ने वालों से ग्रन्थ के पढ़ने वाले श्रेष्ठ हैं, उन से (करुणस्य) धारण करने वाले तथा उन से भी उससे अर्थ जानने वाले और अर्थज्ञानियों से अनुष्ठान करने वाले श्रेष्ठ हैं ॥ १०३ ॥ तप और विद्या ब्राह्मण का परम कल्याण-प्रद है। तप से पाप दूर होता है और विद्या से मोक्ष प्राप्त होता है ॥ १०४ ॥

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्। त्रयं सुविदितं
कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ १०५ ॥ अपि धर्मेपदेशं च वेदशास्त्रा-
ऽविरोधिना। यस्तर्कणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ १०६ ॥

अर्थ-धर्म के तत्त्व को जानने की इच्छा करने वाले को प्रत्यक्ष, अनु-मान और विविध शास्त्र; इन तीनों को भले प्रकार से जानना चाहिये ॥ १०५ ॥ अपियों के कहे हुवे उपदेशरूप धर्म को वेदशास्त्र के अविरोधी तर्क से जो खोज करता है वह धर्म को जानता है; अन्य नहीं ॥ १०६ ॥

“नैश्रेयसमिदं कर्म यथोदितमशेषतः।

मानवस्यास्य शास्त्रस्य रहस्यमुपदिश्यते ॥ १०७ ॥”

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।

यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥ १०८ ॥

अर्थ-“यह निश्रेयस का साधन कर्म निःशेष यथावत् कहा। अब इस मनु के शास्त्र का रहस्य बताया जाता है” (यह स्पष्ट ही अन्यकृत है। तथा इस के विना भी प्रसङ्ग में कुछ भेद नहीं पड़ता) ॥ १०७ ॥ जहां पर सामान्य विधि हो और विशेष न हो वहां कैसा होना चाहिये, इस शङ्का पर कहते हैं कि जो शिष्ट ब्राह्मण कहें वहां वही अशङ्कित धर्म है ॥ १०८ ॥

धर्मणाधिगतोयैस्तु वेदः सपरिवृंहणः। तेशिष्टाब्राह्मणाज्ञेयाः
श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः १०९ दशावरा वा परिषदां धर्मं परिकल्प-

येत् । अथवा वाऽपि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥ ११० ॥

अर्थ-ब्रह्मचर्यादियुक्त धर्म से जिन्होंने पटङ्गादि सहित वेद पढ़ा है, वे श्रुति के प्रत्यक्ष करने वाले लोग शिष्टब्राह्मण जानने चाहिये, ॥१०९॥ (१११ में कहे हुवे) दश भी श्रेष्ठ विद्वान् जिस धर्म को कहें, वा (उन के अभाव में) सदाचारी तीन भी कहें; उस धर्म को न लांघे ॥

(११० वें से आगे चार पुस्तकों में १ यह श्लोक प्रक्षिप्त है:-

[पुराणं मानवोधर्मः साङ्गोपाङ्गचिकित्सकः ।

आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः] ॥

१ पुराण, २ मनुप्रोक्त धर्म, ३ साङ्गोपाङ्ग चिकित्सा शास्त्र, ४ साधु आदि की आज्ञा से सिद्ध, इन ४ को हेतुओं से खण्डित न करे) ॥ ११० ॥

त्रैविद्यो हैतुकर्तर्को नैरुक्तो धर्मपाठकः । अथश्चाश्रमिणः पूर्वं परिषत्स्याद्दशावरा ॥ १११ ॥ ऋग्वेदविदयजुर्विच्च सामवेद विदेव च । अथवा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ ११२ ॥

अर्थ-१-३ तीन वेदों के जानने वाले और ४ (श्रुतिस्मृति के अविरोध) न्यायशास्त्र का जानने वाला तथा ५ (मीमांसक) तर्क का जानने वाला और ६ निरुक्त जानने वाला तथा ७ धर्मशास्त्र का जानने वाला और ८-१० पूर्व के तीन (ब्रह्मचारी गृही वनी) आश्रम वाले, यह दशावरा सभा (परिषत्) है ॥ १११ ॥ ऋक् यजुः, साम; इन तीन वेदों को जानने वालों की धर्मसंशय निर्णय के लिये अथवा सभा जाननी चाहिये ॥ ११२ ॥

एकोऽपि वेदविदुर्मयं व्यवस्येद्विजोत्तमः । सविज्ञेयः परो धर्मो नाऽज्ञाना मुदितोऽयुतैः ॥ ११३ ॥ अव्रतानामऽमन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् । सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विदुते ॥ ११४ ॥

अर्थ-वेद का जानने वाला ब्राह्मण एक भी जिस धर्म को कहे उस को श्रेष्ठ धर्म जानना चाहिये और अज्ञों का दश हजार का भी कहा कुछ नहीं ॥ ११३ ॥ व्रत और वेदमन्त्रों से रहित तथा केवल जातिमात्र से जीते हुवे सहस्रों भी इकट्ठे हुवों को परिषत्त्व (धर्मनिर्णय का सभात्व) नहीं है ॥ ११४ ॥ यं वदन्ति समोभूता मूर्खा धर्ममऽतद्विदः । तत्पापं शतत्रया भूत्वा ।

तद्वक्तृननुगच्छति ॥११५॥ एतद्वोऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं
परम् । अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥११६॥

अर्थ—तमोगुरुप्रधान, सूर्य, धर्मप्रमाणवेदार्थ को न जानने वाले लोग जिस
को (प्रायश्चित्तादि) धर्म बताते हैं, उस का पाप सौगुणा होकर उन बताने वालों
को लगता है ॥११५॥ यह निःश्रेयस का साधन धर्मादि सब तुम से कहा । इस
के अनुष्ठान से न गिरने वाले ब्राह्मणादि परमगति को प्राप्त होते हैं ॥११६॥

“ एवं स भगवान्देवो लोकानां हितकाम्यथा ।

धर्मस्य परमं गुह्यं ममेदं सर्वमुक्तवान् ॥११७॥ ”

सर्वमात्मनि संपश्येत्सञ्चाऽसञ्च समाहितः ।

सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाऽधर्मे कुरुते मनः ॥११८॥

अर्थ—“ इस प्रकार उस भगवान् देव (मनु) ने लोगों के हित की इच्छा
से धर्म का परमगुह्य यह सब मुझ को उपदेश किया ॥ (भृगु वा सम्पादक
कोई कहता है) ॥ ११७ ॥ मत् और असत् सब को समाहितचित्त होकर
आत्मा में देखे, क्योंकि सब की आत्मा में देखने वाला (परमात्मा के भय से)
अधर्म में मन नहीं लगाता ॥ ११८ ॥

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् । आत्मा हि जनय-
त्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥११९॥ खं सन्निवेशयेत्स्वेषु चेष्टनस्प-
र्शनेऽनिलम् । पक्तिदृष्टयोः परं तेजः स्नेहेऽपोगां च मूर्तिषु ॥१२०॥

अर्थ—आत्मा ही संपूर्ण देवता है, क्योंकि सब कुछ आत्मा में ही स्थित
है और इन शरीरियों (जीवात्माओं) के कर्मयोग को आत्मा ही उत्पन्न
करता है ॥ ११९ ॥ आकाशों में आकाश को निविष्ट करे और चेष्टा तथा
स्पर्श में वायु को और जाठराग्नि तथा दृष्टि में परमतेज को और शरीर के
स्नेह में जल को तथा मूर्तियों (शरीरों) में पृथिवी को सन्निविष्ट करे (इस
क्रम से ध्यानावस्थित होवे) ॥ १२० ॥

मनसीन्दुं दिशः श्रोत्रे क्रान्ते विष्णुं बले हरम् । वाच्यग्निं मित्र-
मुत्सर्गे प्रजने च प्रजापतिम् ॥१२१॥ प्रशासितारं सर्वेषामणीयां-
समणोरपि । रुक्माभं स्वप्रयोगमयं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥१२२॥

अर्थ—मन में चन्द्र को, कान में दिशाओं का, गति में विष्णु को, बल में शिव को, वाणी में अग्नि को और गुदा में मित्र को, लिङ्ग में प्रजापति को निवेशित करे । इन २ इन्द्रियों के ये २ अधिष्ठातृदेवता=दिव्यगुण हैं । ध्यान करने वाला प्रथम उस २ इन्द्रिय के साथ उस २ के अधिष्ठातृ देवता की भले प्रकार स्थिति सम्पादन करे अर्थात् इन्द्रियों से अनुचित विषय ग्रहण को वर्जे) ॥ १२१ ॥ सब के नियन्ता और अणु से अणु तथा सुवर्ण की सी आभा वाले और स्वप्न की सी (एकाग्र) बुद्धि से गम्य को परम पुरुष जानना चाहिये ॥ १२२ ॥

एतमेके वदन्त्याग्निंमनुमन्ये प्रजापतिम् । इन्द्रमेके परे प्राण-
मपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १२३ ॥ एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिव्याप्य
मूर्त्तिभिः । जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥ १२४ ॥

अर्थ—इस को कोई अग्नि कहते हैं और कोई मनु, कोई इन्द्र, कोई प्राण और कोई शाश्वतब्रह्म कहते हैं ॥ १२३ ॥ यह आत्मा सब जीवों को पञ्चमहाभूतों रूप मूर्त्तियों से व्याप्त करा कर नित्य चक्र के समान जन्म वृद्धि क्षयों से घुमता है ॥ १२४ ॥

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।

स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माऽभ्येति परं पदम् ॥ १२५ ॥

“ इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन्द्बिजः ।

भक्षत्याचारवान्नित्यं यथेष्टं प्राप्नुयाद्भक्तिम् ” ॥ १२६ ॥

अर्थ—इस प्रकार जो सब में आत्मा से परमात्मा को देखता है, वह समदृष्टि होकर परमपद ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ १२५ ॥ “ इस प्रकार यह मनु का शास्त्र भृगु ने कहा है । इस को पढ़ने वाला द्विज सर्वदा आचार वाला और यथेष्ट गति को प्राप्त होता है ” ॥ (यह वचन भृगु से भी पीछे बनाकर मिलाया गया स्पष्ट है) ॥ १२६ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे (भृगुप्रोक्तायां संहितायां)

द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

समाप्तैषा मनुसंहिता च

इति श्री तुलसीरामस्वामिविरचिते मनुभाषानुवादे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

नवीन पुस्तकें

भीम प्रश्नोत्तरी

पं० भीमसेन शर्मा इटावा निवासी की रचित

“ आर्यमतनिराकरण प्रश्नावली ” का उत्तर—

इस में ३६० प्रश्नों के उक्त पुस्तक का उत्तर प्रौढ़ता से दिया गया है। पं० छुहलाल स्वामी जो कई वर्षों से इस का उत्तर वेदप्रकाश द्वारा दे रहे थे, उन्होंने ने बहुविलम्बित समय जान कर अब स्वतन्त्र पुस्तक रूप में प्रकाशित किया है। अनेक पत्र वेदप्रकाश कार्यालय में इसके उत्तर छाप कर स्वतन्त्र पुस्तक प्रकाशनार्थ प्रेरणा वा प्रार्थना के आ रहे थे। आज यह पुस्तक तیار होगया। दयानन्द ति० भा० के उत्तर “ भास्करप्रकाश ” के छपने से पश्चात् जो शङ्का शास्त्रों के आधार पर आर्यधर्म पर उठायी जा सकती थीं, प्रायः वे सब ही पं० भीमसेनजी ने एकत्र करदी थीं, इस कारण इन शङ्काओं पर आर्यसमाज की ओर से उत्तर की बड़ी आवश्यकता थी, वह इस “ भीमप्रश्नोत्तरी ” ने पूर्ण करदी है। स्वर्गवासी श्री स्वामी नित्यानन्द जी ने, तथा राणा हीरासिंह साहब धामीनरेश ने भी इस के उत्तर छापने की प्रेरणा की थी, अब यह स्वामी जी के स्मारक में अर्पित है।

अवध प्रदेशान्तर्गत “ अमेठी ” के राजकुमारों ने जो इस के छापने में सहायतार्थ धन भेजा है, उस के लिये ग्रन्थकार ने उन्हें धन्यवाद दिया है ॥ मूल्य ॥)

सन्ध्या

पद २ के सरल संक्षिप्त सुगम अर्थों सहित यह सन्ध्या यद्यपि १० सहस्र तौ आर्यप्रतिनिधिसभा ने प्रथम बार प्रकाशित की, और फिर १०।१० सहस्र करके १२ वर्ष में १ लाख २० सहस्र फिर मैंने स्वयं प्रकाशित की। इस बार इसका मूल्य धर्मार्थ बांटने में सुगमता हो, इस लिये नयी छाप कर केवल ॥) की १०० कर दी गई है। डाकव्यय १०० पर १०) लगता है। इस लिये जो आर्य वा आर्यसमाजें उत्सवों वा मेलों पर बांटने की इच्छा से मंगावें उन्हें ३) की ४०० रेल में मंगावें तौ ५०० मील तक ॥) में पहुंच जावेंगी ॥ २५० मील तक १) में ॥ और सुविधा—

१००० एक साथ का ५) मात्र लागत से भी आधा मूल्य कर दिया है ॥ पता—तुलसीराम स्वामी स्वामियन्त्रालय—मेरठ

नागरी रीडर नं० ४ मूल्य =)

(सत्यार्थ सार)

इस पुस्तक में बड़े रोचक रूप में ६० पृष्ठों पर सत्यार्थप्रकाश के ११ समुदासों का सार लिखा गया है। ३४ पृष्ठों पर स्त्री पुरुषों के पत्र लिखने का प्रकार धर्मशिक्षा आदि ३६ विषय हैं। यवन ज्योतिष और राधास्वामी मत की समालोचना अपूर्व है ॥

सत्यार्थप्रकाश का सार

देखना हो, बालकों को शिक्षा देनी हो, धार्मिक बनाना हो तौ संगठन देखिये। चारों रीडर सजिल्द १-) में मिलेंगी ॥

बुधनलाल स्वामी स्वामी पुस्तकालय—मेरठ

OM

MANU-SMṚITI

Translated

IN-TO

HINDI

Printed and Published

By

P. TILSIRAMSWAMI

At The Swami Machine Press, Deccan.

Price Rs. 1-4-0

Seventh Edition.

1914

